Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपाध्याय श्री मान विजय जी रचित

धर्म संग्रह

(द्वितीय भाग)

पन्यास

श्री पदम विजय महाराज गणीवर्य

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

For Private and Personal Use Only

।। कोबातीर्थमंडन श्री महावीरस्वामिने नमः ।।

।। अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामिने नमः ।। ।। गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामिने नमः ।।

।। योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।। ।। चारित्रचूडामणि आचार्य श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरेभ्यो नमः ।।

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

(जैन व प्राच्यविद्या शोधसंस्थान एवं ग्रंथालय)

पुनितप्रेरणा व आशीर्वाद

राष्ट्रसंत श्रुतोद्धारक आचार्यदेव श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा.

जैन मुद्रित ग्रंथ स्केनिंग प्रकल्प

ग्रंथांक : १८६३

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
कोबा, गांधीनगर-३८२००७ (गुजरात)
(079) 23276252, 23276204
फेक्स : 23276249
Websiet : www.kobatirth.org
Email : Kendra@kobatirth.org

शहर शाखा

आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
शहर शाखा
आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
त्रण बंगला, टोलकनगर
हॉटल हेरीटेज़ की गली में
पालडी, अहमदाबाद – ३८०००७
(079) 26582355

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

卐 नमः श्री जिन प्रवचनाय 卐

धर्म संग्रह

(विशेष गृहस्थ जीवन पर अनेक शास्त्रों का आस्वादन)

दूसरा भाग

ग्रन्थकार व स्वोपज्ञकार :

पूज्य परम गुरु भट्टारक श्री विजयानंद सूरीश्वर जी के प्रशिष्य रत्न
परम पूज्य महोपाध्याय श्रीमान् विजय जी गणीवर्यः

संशोधक-संयोजक :

परम पूज्य विद्वच्छिरोमणि न्याय विशारद न्यायाचार्य
महोपाध्याय श्री यशो विजय जी गणीवर्यः

卐 卐 卐

अनुवाद कर्ता :

परमपूज्य आचार्य श्री आत्म वल्लभ, ललित, पूर्णानंद सूरीश्वर जी
के कृपापात्र, अनेक तीर्थ उद्धारक
आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी
के शिष्य रत्न पन्यास प्रवर श्री पद्म विजयजी महाराज गणीवर्य

प्रकाशक :

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

हस्तिनापुर-250 404 (मेरठ) (यू० पी०)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्रन्थ का नाम .

धर्म संग्रह

ग्रन्थकार व व्याख्याकार :

महोपाध्याय श्री मान विजय जी

संशोधक :

महोपाध्याय श्री यशो विजय जी

हिन्दी अनुवादक :

पन्यास श्री पद्मविजय जी

भाग-द्वितीय

प्रकाशक :

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

आवृत्ति :

प्रथम 2200 प्रतियां

संस्करण :

प्रथम 1994

मूल्य : 60-00 रुपये

मुद्रक :

प्रिन्टोनिक्स

वैस्टर्न कचहरी रोड,

मेरठ-250 001 । फोन : 542302

❊ प्राप्ति स्थान ❊

श्री आत्मानन्द जैन बालाश्रम
हस्तिनापुर, मेरठ, यू० पी०
पिन कोड - २५०४०४

श्री नगीन चन्द जैन
नगीन प्रकाशन
वैस्टर्न कचहरी रोड,
मेरठ (यू० पी०)

कस्तूर चन्द अमीचन्द
१६, खान बिल्डिंग,
नवाव टेंक ब्रिज,
मझगांव, बम्बई-10

सरस्वती पुस्तक भंडार
रतन पोल, हाथी खाना,
अहमदाबाद (गुजरात)

सोमचन्द डी० शाह
जीवन निवास के सामने
पो०- पालीताणा (गुजरात)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुरोवाक्

ज्ञान ही अमृत है, ज्ञान ही रसायन है और ज्ञान ही ऐश्वर्य है। अमृत समुद्र से उत्पन्न होता है, रसायन औषधियों से बनता है तथा ऐश्वर्य भौतिक सामग्री से अपेक्षित है, किन्तु ज्ञान समुद्र के बिना उत्पन्न होने वाला अमृत है। ज्ञान औषधियों के बिना बनने वाला रसायन है और ज्ञान भौतिक सामग्री के बिना हीं उत्कृष्ट ऐश्वर्य है। ज्ञान प्रकाश का पुंज है। यह विशाल जगत् के संस्कारी जीवन को प्रकाश देने वाला है। मोक्ष सुख रूप सम्पत्ति का बीज भूत ज्ञान ही है। ज्ञान दान से जीव पुण्य-पाप आदि को समग्र रूप से जान लेता है। इससे अनेक प्रकार के पापों से निवृत्ति और समग्र पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । पुण्य कार्य में प्रवृत्ति करने वाला शीघ्र ही मनुष्य एवं देवलोक के सुख को प्राप्त करता है। पाप की निवृत्ति से नरक एवं तिर्यंच के दु:खों से मुक्त होता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष सुख भी परम्परा से मिलता है। इसलिए तीर्थंकर भगवंतों ने ज्ञान का अमूल्य दान दिया है। यह 'धर्म संग्रह' महान ग्रन्थ उसका ही एक अंश है।

यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७३१ वर्ष में वैशाख सुदि तीज (अक्षय तृतीया) के दिन उपाध्याय श्रीमान विजय जी गणीवर्य द्वारा की गई है। इस उल्लेख से सहज ही यह जानकारी प्राप्त होती है कि यह ग्रन्थ अर्वाचीन है फिर भी इसकी महत्ता कम नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार श्री ने इस ग्रन्थ में अनेकों प्राचीन शास्त्रों का सार संग्रह किया है। इसमें नया कुछ भी नहीं है। श्री तीर्थंकर परमात्मा ने भी जगत् का जो त्रिकालिक स्वरूप है उसे ही जगत् के सामने यथा स्वरूप वर्णित किया है। उसी अर्थ को श्रीगणधर देवों ने ग्रन्थ रूप में गुन्थन कर जगत् को शास्त्र रूप में अमूल्य भेंट दी है। यह काल बल से कम न हो जाय, इसलिये अमूल्य शास्त्र सम्पत्ति में से ही उद्धरित कर अनेक पूर्ववर्ती महर्षियों ने तत्वों को अखण्ड रखकर विशाल संख्या में संकलित-संग्रहीत कर ग्रन्थ रूप में विकसित किया है। ग्रन्थकार ने इन सबको (श्री तीर्थंकर परमात्मा, गणधर देव एवं पूर्वधर आचार्यों) के बचनों के १५० ग्रन्थों के सार रूप खजाने को एकत्र- संग्रहीत कर दिक् दर्शन कराया है। इस प्रकार तीन शताब्दी पूर्व रचित ग्रन्थ होने पर भी इसकी वस्तुत: प्राचीनता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

इन प्रमाणों से केवल प्राचीनता ही ग्रन्थ की विशेषता नहीं है अपतु ग्रन्थकार जी ने जो भिन्न-भिन्न शास्त्र आधारों को मूल रूप में उल्लिखित करके (उत्सर्ग-अपवाद अथवा निश्चय-व्यवहार) इत्यादि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पारस्परिक(एक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दूसरे के) सम्बन्धों की अखण्डता को अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। इसी प्रकार द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव एवं पुरुष आदि अनेक अपेक्षाओं के अनुरूप जो व्याख्या संकलना (संग्रह) की है, वे ही इस ग्रन्थ की मुख्य विशिष्टतायें हैं ।

इस ग्रन्थ के अभ्यास से यह स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है कि ग्रन्थकार श्री स्वयं भी शास्त्रों के पारगामी थे। उनमें ज्ञान की श्रेष्ठ प्रतिभा थी । उन्होंने विपुल ज्ञान गर्भित प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन करते समय पूर्वाचार्य भगवंतों के उस विषय के अनेक ग्रन्थों के ग्रन्थकारों की दृष्टि भी अपने सामने रक्खी है। अपने निरूपण में स्थान-स्थान पर उन-उन ग्रन्थों का साक्षी पाठ भी उन्होंने विपुल मात्रा में नाम पूर्वक उल्लिखित किया है। बहुत स्थानों पर तो प्रतिपाद्य विषय का विवेचन भी अन्य ग्रन्थों अथवा ग्रन्थ की टीका से लगभग अक्षरशः ग्रन्थकार का ही अवतरित किया है। ऐसा करने में व्याख्या भले ही बड़ी हो गई हो परन्तु उस विषय का भावार्थ सम्पूर्ण रूप से ग्रन्थकार महापुरुष के आशय के अनुरूप ही किया गया है। अनेक स्थानों पर उन ग्रन्थों के समान पाठों की तुलना भी की है और भिन्न-भिन्न अनेक ग्रन्थों में उक्त विषयक चर्चा मतभेद-पाठान्तर आदि का उल्लेख भी किया है। इतनी सुन्दर रचना होने पर भी इसमें कथंचित् भी दोष न रह जाय, इसके लिये अपने समकालीन विद्वान् मनीषी पूज्य प्रवर न्याय विशारद न्यायाचार्य उपाध्याय प्रवर श्री मद् यशोविजय जी महाराज द्वारा इस अदभुत ग्रन्थ का संशोधन कराया है। पूज्य उपाध्याय भगवन्त ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को सर्वप्रकोरण शुद्ध संशोधित करके कितनी ही आवश्यक वृद्धि करके अपने हाथों से सुशोभित किया है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति के तेरहवें श्लोक में यह स्पष्ट लिखा है कि- आगम- व्याकरण- छंद शास्त्र तथा काव्य शास्त्र आदि सर्वशास्त्रों में निष्णात वाचकेन्द्र श्री लावण्य विजय जी ने इस ग्रन्थ को सम्यग् प्रकार से शुद्ध किया है। यह इस ग्रन्थ की दूसरी विशिष्टता है। हो सकता है उन्होंने व्याकरण व छन्द आदि की दृष्टि से इस ग्रन्थ का संशोधन किया हो ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम 'जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग' (पालीताणा) नामक संस्था द्वारा वि० सं० १९६० में 'धर्म संग्रह' भाग प्रथम रूप प्रसिद्ध हुआ था । इस संस्करण में प्रस्तुत ग्रन्थ की २९ गाथाएं, टीका और उसका गुजराती भाषान्तर छपा है, उसके बाद आगे का भाग प्रकाशित न हो सका। इसके बाद यह ग्रन्थ सम्पूर्ण सटीक दो विभागों में "श्री देवचंद लाल भाई पुस्तकोद्धार फण्ड" द्वारा अनुक्रम से वि० सं० १९७१ तथा १९७४ में प्रसिद्ध हुआ। इसका संशोधन, सम्पादन प० पू० पन्यास श्री आनंद सागर जी (श्री सागरानंद सूरीश्वर)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महाराज द्वारा हुआ है। इसके पश्चात् इसका सम्पूर्ण गुजराती अनुवाद करके दो विभागों में मुनिराज श्री भद्रंकर विजय जी महाराज ने वि० सं० २०१२ तथा २०१४ में छपवाया है। श्री सुबा जी खचंद जैन विद्याशाला की ओर से उनकी आवृत्ति बहुत बार छप चुकी है। वर्तमान आचार्य श्री भद्रंकर सूरीश्वर जी तथा प० पू० श्री विजय भुवन भानु के प्रशिष्य श्री हेमचंद विजय जी (वर्तमान आचार्य श्री) की प्रेरणा से वही दो विभाग तीन विभागों में "श्री जिन शासन आराधना ट्रस्ट" बम्बई-2 से वि० सं० २०४० तथा २०४३ में छपे हैं। उन्ही तीन भागो को मैंने हिन्दी भाषा में अनुवाद करके तीन भागों में ही प्रथम बार छपाने का उपक्रम किया है।

पूज्य आचार्य श्री सागरानंद सूरी जी (उस समय पन्यास पद पर सुशोभित थे) ने धर्म संग्रह की संस्कृत प्रस्तावना में इस ग्रन्थ को 'ग्रन्थराज' रूप में स्वीकार किया है एवं महत्वपूर्ण अग्रस्थान दिया है। इसकी यथार्थ सार्थकता तो इस महाग्रन्थ राज को यथा स्वरूप अभ्यास करने वाले सुधिजनों को ही हो सकती है।

इस ग्रन्थ को चार विभागों में विभाजित किया गया है। (पहले) विभाग में सामान्य गृहस्थ धर्म के वर्णन का अधिकार आया है। (दूसरे) विभाग में विशेष गृहस्थ धर्म का वर्णन करने का अधिकार आया है। (तीसरे) विभाग में सापेक्ष यति धर्म के वर्णन का अधिकार आया है तथा (चौथे) विभाग में निरपेक्ष यति धर्म वर्णन का अधिकार कहा गया है। इसकी विशेष विषय की सूची विषयानुक्रमणिका में दी गई है, उसी से जान लें।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचयिता श्री महामहोपाध्याय श्रीमान विजय जी ने चौदह हजार छः सौ दो श्लोक प्रमाण में इसकी रचना की है। इन्हीं ग्रन्थकार के समान नाम वाले अन्य बहुत से ग्रन्थकार हुए हैं। तपागच्छ में पाँच तथा खरतर गच्छ में दो मान विजय जी का नामोल्लेख मिलता है। इसे उपरान्त एक मान मुनि का नाम भी आया है। 'धर्म संग्रह' रचयिता के जन्म तथा स्वर्गवास की तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। ये महान विद्वान् थे। अहमदाबाद के प्रसिद्ध अग्रेसर सेठ श्री जवेरी शान्तिदास जी की प्रार्थना से उन्होंने यह एक अद्‌भुत ग्रन्थ रचा था, इनकी और भी श्रेष्ठ रचनायें हैं। "नय विचार" नामक ग्रन्थ का प्रमाण २४० श्लोक है जो वि० सं० १७२८ के आस-पास रचा गया था। इसी प्रकार "नय तत्व प्रकरण विवरण" वि० सं० १७३५, "सुमति कुमति (जिन प्रतिमा) स्तवन" वि० सं० १७२८, "गुरु तत्व प्रकाश" चौबीसी सं० १७२५ के आसपास "गजसुकुमार रास", "भगवती रास" अर्थात् सज्झाय पोढी वि० सं० १७४३ तथा "मद की सज्झाय" इत्यादि कृतियां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्ति भाव से परिपूर्ण हैं एवं गायी जा रही हैं। इस प्रकार इनकी साहित्य साधना अद्वितीय है।

मैंने यह महाग्रन्थ स्वोपज्ञवृति सहित पढ़ा और सर्व शास्त्रों की अमूल्य निधि का आभास हुआ, तभी यह भावना जागृत हुई कि इस महानतम ग्रन्थ को सम्पूर्ण व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाय कि सर्व साधारण जन भी पूज्य उपाध्याय भगवंत के अनुभव वचनों से लाभान्वित हो सकें। तद्भाव को साकार रूप देने के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद लिखने का साहस किया। परम पूज्य गुरुदेवों की परम कृपा से लगभग डेढ़ वर्ष में लिखकर सुज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सका हूँ।

वस्तुतः इस महानतम ग्रन्थ का अनुवाद करने में भी आगम के गहन ज्ञान, अभ्यास एवं अनुभव की आवश्यकता है। इस सबके अभाव में अवश्य ही त्रुटियां रही होंगी। छद्मस्थावस्था के कारण अथवा असावधानी या दृष्टिदोष के कारण कोई भी आगम सिद्धान्त विरुद्ध बात लिखी गई हो या मेरे द्वारा इस ग्रन्थ में पूज्य ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उन सबका यहाँ मिच्छामि दुक्कड़म् देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि ऐसी क्षतिपूर्ण त्रुटियों के लिये विद्वान्, आगम अभ्यासी, सुविज्ञ पाठक वृन्द मुझे सुझायेंगे तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूंगा।

अन्त में मैं आशा करता हूँ कि धर्म प्रेमी पाठक गण इस ग्रन्थराज का पठन-पाठन करने व कराने से अधिकाधिक लाभ उठाकर, श्रुत ज्ञान प्राप्त करें तथा भव्य आत्मा, आत्म विकास करें। इसी शुभ आकांक्षा के साथ-

- पन्यास पद्म विजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकाशकीय

परम पूज्यपाद श्रमणसंघ शरणदाता, महामहोपाध्याय श्रीमान विजय जी रचित एवं परम पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजय जी संशोधित, अलौकिक ग्रन्थ रत्न 'धर्म संग्रह' का यह द्वितीय भाग प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्षानुभूति हो रही है। इसमें भी विशेष रुप से श्रावक जीवन की क्रियाओं पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इन दोनो विभागों को सम्पूर्ण पढ़ने से सम्पूर्ण गृहस्थ धर्म की जानकारी मिलती है। गृहस्थ को जन्म से लेकर मृत्यु तक शारीरिक तथा आत्मिक सुख के लिए क्या-क्या करना चाहिए, उसका सम्यक् वर्णन किया गया है। वह भी केवल निरुपण मात्र ही न करके, स्थान-स्थान पर उन विषयों का अनेक ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा रचित शास्त्रों के पाठों के आधार पर अन्तिम निष्कर्ष भी दिया हुआ है तथा विस्तारपूर्वक वास्तविकता की सिद्धि की है।

पूर्व में ये दोनों भाग एक भाग में ही छापे गये हैं परन्तु इस प्रकार विशाल काय आकार हो जाने के कारण अब दो भागों में छाप रहे हैं। इससे इन दानों भागों को अनुक्रम से पढ़ना आवश्यक है। इसमें गृहस्थ जीवन धर्म की उत्तमोत्तम साधना के नाना प्रकारों का विधि विधान बताया गया है। यह ग्रन्थ गृहस्थ के आत्म विकास का सर्व श्रेष्ठ मार्ग दर्शक है तथा प्रत्येक विषय के औचित्य-अनौचित्य का पूर्णतया विवेक समझाने में सक्षम है। कौनसी भूमिका वाले जीव को कौनसा और कितना धर्म किस रुप में मोक्ष का हेतु बनता है। इस प्रकार धर्म के प्रत्येक विषय का महत्व रुप सुस्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है तथा अनेक आचार्यों का इस विषय पर महान दोहन रुप सृजित साहित्य का आस्वादन मिलता है।

गृहस्थ जीवन का श्रेष्ठ कक्षा का जीवन व्यतीत करने के लिए यह प्रथम एवं दूसरा भाग पढ़ना अति आवश्यक है। इस ग्रन्थ के दिये गये पदार्थ हृदयंगम करने योग्य एवं जीवन के अनुरुप हैं। अत: दोनों भाग ही गृहस्थ (श्रावक-श्राविका) के लिए परम उपयोगी व हितकारी हैं। यह महाग्रन्थ साधु-साध्वी के लिए भी बहुत उपयोगी है। पठनीय एवं मननीय है क्योंकि साधु-साध्वी को भी गृहस्थ धर्म के ज्ञान बिना श्रावक-श्राविका को धर्म मार्ग में प्रतिबोध कराने के लिए भी इसकी अपेक्षा है। इस तरह यह महान ग्रन्थ चतुर्विध श्री संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) के लिए नितान्त आवश्यक एवं उपादेय है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस महानतम ग्रन्थ के प्रकाशन में माननीय श्री नगीन चंद जी जैन मालिक फर्म नगीन प्रकाशन, मेरठ वालों का अत्यधिक सहयोग रहा है। एतर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। ग्रन्थ के अति शीघ्र मुद्रण कार्य के लिये श्री सुभाष जैन (प्रिन्टोनिक्स, वैस्टर्न कचहरी रोड, मेरठ) को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपने समस्त आवश्यक कार्यों को स्थगित करते हुए ग्रन्थ को संशोधित कराकर इसके मुद्रण एवं प्रकाशन को प्राथमिकता प्रदान की। अन्त में उन सभी ज्ञात-अज्ञात महानुभावों को धन्यवाद दिये बगैर नहीं रह सकता जिन्होंने ज्ञानावरणीय क्षेत्र के कारण जो भी सहयोग प्रदान किया है, उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो भी मति दोष अथवा दृष्टि दोष से त्रुटि रह गई है, वह हमारे प्रमादवश है। सुविज्ञ पाठक वृन्द भूल सुधार करते हुए, चिन्तन एवं मनन पूर्वक पढ़ें, यही शुभ अभिलाषा है।

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

मन्त्री

प्रो० जे० पी० सिंह (जैन)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परम पूज्य पन्यास श्री पद्म विजय जी महाराज साहब के द्वारा प्रकाशित सरल अध्यात्म हिन्दी साहित्य

		रू०- पै०
१.	योग शास्त्र	६०-००
२.	संवेग रंगशाला	३०-००
३.	जैन रामायण	१५-००
४.	महाभारत (पांडव चरित्र)	१५-००
५.	उपदेश माला	१५-००
६.	वंदित्तु सूत्र	२५-००
७.	समरादित्य महाकथा	३०-००
८.	अध्यात्म सार	१२-५०
९.	युगादि देशना	५-००
१०.	पूर्व कथा संग्रह	३-००
११.	ज्ञान सार	१-५०
१२.	प्रशम रति	२-००
१३.	देव वंदन माला	७-००
१४.	पूजा कैसे करनी चाहिये	२-००
१५.	तीर्थ हस्तिनापुर	०-५०
१६.	प्राचीन तीर्थ पुरिमताल (इलाहाबाद)	५-००
१७.	ललित भक्ति दर्पण	०-३५
१८.	श्री शान्तिनाथ चरित्र	२५-००
१९.	श्री नेमिनाथ चरित्र	२०-००
२०.	श्री पार्श्वनाथ चरित्र	२५-००
२१.	श्री धर्म संग्रह भाग-१	४०-००
२२.	श्री धर्म संग्रह भाग-२	५०-००
२३.	श्री धर्म संग्रह भाग-३	५५-००
२४.	श्री वीस स्थानक तप आराधना विधि	१२-००

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समर्पण

परम पूज्य महातपस्वी, अनेक तीर्थोद्धारक
आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी
के मुख्य शिष्य, महातपस्वी, सरल आत्मा पूज्य मुनिराज
श्री नन्दन विजयजी महाराज साहब

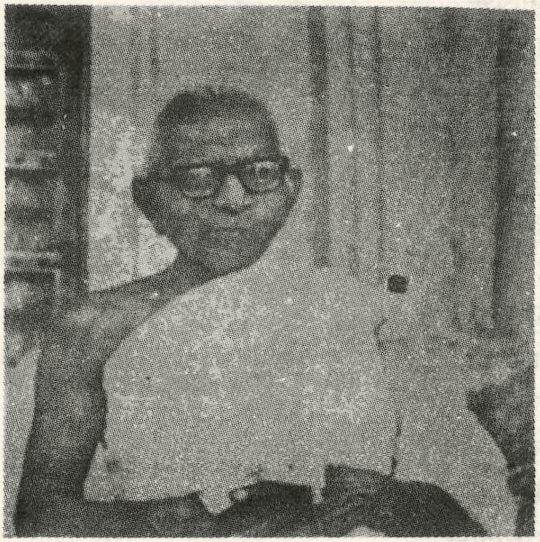

मेरे पूज्य वडिल बन्धु महातपस्वी मुनि प्रवर श्री नंदन विजय जी म० जिन्होंने आजीवन गुरु सेवा की है । करोड़ों महामंत्र नवकार का जाप किया है तथा जीवन पर्यन्त घी त्यागमय एकासना किया है । उन सरल आत्मा को भाव पूर्वक यह दूसरा भाग
सादर समर्पित करता हूँ ।

चरण रज
पन्यास पद्म विजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस ग्रन्थ में आधारभूत ग्रन्थों की नामावली

१. अध्यात्म मत परीक्षा
२. अनुयोग द्वार मूल
३. अनुयोग द्वार टीका
४. अनेकार्थ संग्रह
५. अयोग व्यव० द्वाद्विंशिका
६. अष्टक प्रकरण मूल
७. अस्वाध्याय निर्युक्ति
८. आचारांग सूत्र
९. आचारांग सूत्र टीका
१०. आचारांग सूत्र चूर्णि
११. आयुर्वेद
१२. आवश्यक सूत्र मूल
१३. आवश्यक निर्युक्ति
१४. आवश्यक चूर्णि
१५. आवश्यक भाष्य
१६. आवश्यक संग्रहणी
१७. उत्तराध्ययन मूल
१८. उत्तराध्ययन टीका
१९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति
२०. उपदेश पद
२१. उपदेश माला
२२. उपदेश रत्नाकर
२३. उपासक दशांग सूत्र
२४. ओघ निर्युक्ति मूल
२५. ओघ निर्युक्ति चूर्णि
२६. ओघ निर्युक्ति टीका
२७. ओघ निर्युक्ति भाष्य
२८. कम्म पयडी टीका
२९. कल्प व्यवहार
३०. कल्प सूत्र टीका
३१. कल्याण कलिका
३२. किरातार्जुनीयम्
३३. गणि विज्ज प्रकीर्णक
३४. गच्छा प्रकीर्णक
३५. गुरु वंदन भाष्य
३६. चउसरण पयन्ना
३७. चरमावर्त द्वात्रिंशिका
३८. चेइयवंदन महा भाष्य
३९. चैत्यवंदन भाष्य
४०. चैत्यवंदन संघाचार भाष्य
४१. जीवाभिगम सूत्र
४२. ठाणांग सूत्र
४३. तत्वार्थ सूत्र
४४. त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र
४५. दशवैकालिक सूत्र
४६. दशवैकालिक टीका
४७. दशवैकालिक निर्युक्ति
४८. दशाश्रुत स्कंध चूर्णि
४९. दर्शन शुद्धि प्रकरण
५०. दिनचर्या
५१. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
५२. धर्म बिन्दु प्रकरण
५३. धर्म बिन्दु टीका
५४. धर्म रत्न प्रकरण
५५. धर्म संग्रहणी
५६. ध्यान शतक
५७. नव तत्त्व प्रकरण
५८. नव्य यति जित कल्प
५९. निशीथ सूत्र
६०. निशीथ चूर्णि
६१. निशीथ भाष्य
६२. नीति शास्त्र
६३. पच्चक्खान लघुभाष्य
६४. पंचकल्प भाष्य
६५. पंच निर्ग्रन्थी प्रकरण
६६. पंच वस्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६७. पंच वस्तु टीका
६८. पंच संग्रह
६९. पंचाशक
७०. पंचाशक टीका
७१. पद्म चरित्र
७२. परिशिष्ट पर्व
७३. पाक्षिक सूत्र चूर्णि
७४. पाक्षिक सूत्र वृत्ति
७५. पाराशर स्मृति
७६. पिण्ड निर्युक्ति
७७. पिण्ड निर्युक्ति टीका
७८. पिण्ड विशुद्धि
७९. पिण्ड विशुद्धि टीका
८०. पूजा प्रकरण
८१. पूजा विधि प्रकरण
८२. पूजा विंशिका
८३. पज्ञापना सूत्र
८४. प्रतिक्रमण हेतु गर्भ
८५. प्रतिष्ठा पद्धत्ति
८६. प्रवचन सारो द्वार
८७. प्रवचन सारोद्वार वृत्ति
८८. प्रशमरति प्रकरण
८९. प्राचीन समाचारी
९०. बुद्ध शास्त्र
९१. वृहत्कल्प सूत्र मूल
९२. वृहत्कल्प भाष्य
९३. वृहत्छान्ति
९४. वृहत्संग्रहणी
९५. भगवती सूत्र
९६. भगवती सूत्र टीका
९७. भाषा रहस्य
९८. मनु स्मृति
९९. महानिशीथ सूत्र
१००. यति दिनचर्या
१०१. योग दृष्टि समुच्चय
१०२. योग बिन्दु
१०३. योग विधि
१०४. योग शास्त्र मूल
१०५. योगशास्त्र वृत्ति
१०६. योग सूत्र (पात०)
१०७. रायपसेणीय सूत्र
१०८. लघु क्षेत्र समास
१०९. ललित विस्तरा
११०. लोक व्यवहार शास्त्र
१११. लौकिक नीति शास्त्र
११२. वसुदेव हिंडी
११३. व्यवहार पीठिका
११४. व्यवहार चूर्णि
११५. व्यवहार चूला
११६. व्यवहार भाष्य
११७. व्यवहार सूत्र मूल
११८. विचारामृत सार संग्रह
११९. विचार सार प्रकरण
१२०. विवाह चूलिका
१२१. विवेक विलास
१२२. विशेषावश्यक भाष्य
१२३. वीतराग स्तोत्र
१२४. शतक वृहत्चूर्णि
१२५. शिव पुराण
१२६. श्रवण प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति
१२७. श्राद्ध जित कल्प
१२८. श्राद्ध दिन कृत्य
१२९. श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि
१३०. श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति
१३१. श्राद्ध विधि प्रकरण
१३२. श्राद्ध समाचारी
१३३. श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति
१३४. श्रावक धर्म विधि प्रकरण
१३५. श्रावक व्रत भंगावचूरि
१३६. षोडशक मूल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१३७. षोडशक वृत्ति
१३८. सद्धर्म विंशिका
१३९. सन्मति प्रकरण
१४०. समवायाङ्ग सूत्र
१४१. संबोध प्रकरण
१४२. सम्यकत्व विंशिका
१४३. संसक्त निर्युक्ति
१४४. स्कन्द पुराण
१४५. समाचारी प्रकरण
१४६. सिद्ध प्राभृत
१४७. सिद्ध सेनीय द्वात्रिंशिका
१४८. सिद्ध हेम शब्दानुशासनम्
१४९. सुदंसणा चरित्रम्
१५०. सूत्रकृताङ्ग सूत्र
१५१. हितोपदेश माला
१५२. विचारामृत सार संग्रह
१५३. विचार सार प्रकरण

इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही ग्रन्थों का आधार लिया गया है, उनके स्थान और नाम नहीं मिले हैं।

श्रुत ज्ञान की भक्ति का लाभ लेने वालों की शुभ नामावली

२१०००/= मैसूर श्री संघ के ज्ञान खाता की चन्द्र प्रभु मंदिर शताब्दी निमित्त।
२१०००/= सुलै श्री संघ, मद्रास ज्ञान खाता।
२००००/= मद्रास सिद्धाचल चौमासा आराधना संघ।
११००१/= बेलगाम श्री संघ ज्ञानखाता।
११०००/= गुजराती श्री संघ, गांधी नगर, बेंगलौर।
११०००/= श्री चन्द्र प्रभु जुना मंदिर, ज्ञानखाता।
५५०१/= चूलै श्री संघ, मद्रास ज्ञान पेटी में से मंदिर जी की शताब्दी के निमित्त।
५१०१/= गुजराती वाडी जैन संघ, मद्रास।
५०००/= श्री राजस्थान श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संघ, कोयम्बटूर।
२१००/= साध्वी कल्पलता श्री के उपदेश से साधारण भवन की बहिनों के ज्ञानखाता में, मद्रास।
११००/= साध्वी श्री कल्पलता श्री के उपदेश से आयंबिल खाता की बहिनों की ओर से, मद्रास।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषयानुक्रमणिका

विभाग दूसरा पूर्वप्रकरण तीसरा

श्रावक की दिनचर्या	१
घर मंदिर में जिनपूजा विधि	१२
श्री संघ के जिन मंदिर में पूजा विधि	३२
बहृत् देव वंदन की विधि	३७
श्री जिन मंदिर तथा धार्मिक द्रव्य के विषय में श्रावक विशेष कर्त्तव्यादि	४४
गुरु वंदन अधिकार	१४६
पच्चक्खान अधिकार	१८७
पच्चक्खान के बाद का कर्त्तव्य	२२६
धन किस तरह प्राप्त करना	२३५
औचित्य धर्म	२४६
मध्याह्नादि समय करने योग्य कार्य	२५७
शाम को जिन पूजन आदि विधि	२७२
प्रतिक्रमण अधिकार	२७३
शेष सूत्रार्थ व प्रतिक्रमण के बाद का कर्त्तव्य	
रात्रि का कर्त्तव्य	३५६

विभाग दूसरा प्रकरण चौथा

श्रावक के पर्व कृत्य	३६६
चौमासी कृत्य	३७१
वार्षिक कृत्य	३७८
जन्म कृत्य	४०५
ग्यारह श्रावक प्रतिमा	४२३
उपसंहार	

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ॐ अर्हते नमः

श्री आत्म वल्लभ ललित पूर्णानंद प्रकाश सूरि सद्गुरुभ्यः नमः

श्रावक की चर्या

प्रकरण तीसरा

द्वितीय विभाग

अब महा श्रावक की दिनचर्या रूप विशेष गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हैं–

नमस्कारेणाऽवबोध, स्व द्रव्याद्युपयोजनम् ।
सामायिकादि करणं, विधिना चैत्य पूजनम् ॥६०॥

मूलार्थ– "प्रातःकाल में श्री नमस्कार मंत्र के ध्यान पूर्वक जागना चाहिए फिर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मैं स्वयं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? और कौन से व्रतादि स्वीकार किये हैं ? इत्यादि स्मरण करना चाहिए । सामायिक आदि करना तथा विधिपूर्वक जिन पूजा करना– यह गृहस्थ का विशेष धर्म है ।"

व्याख्या– सम्पूर्ण कल्याण रूप मोक्ष नगर के उत्तम राजा के समान श्री पंचपरमेष्ठि से अधिष्ठित, "नमो अरिहंताणं" आदि नौ पद जिसमें प्रसिद्ध हैं, उस श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते हुए निद्रा का त्याग करना– यह गृहस्थ का विशेष धर्म है, इस तरह अब जो दैनिक कर्त्तव्य कहा जायेगा वह भी सब गृहस्थ का विशेष धर्म है इस प्रकार स्वयं समझना ।

इस विधि से जागने के बाद द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से आत्मा का चिंतन करना। जैसे द्रव्य से = मैं कौन हूँ ? श्रावक हूँ या अन्य हूँ ? अथवा मेरा गुरु कौन है ? इत्यादि विचार करना । क्षेत्र से = मैं किस गाँव या नगर का हूँ, उसमें भी मैं अपने अथवा अन्य के मकान में निवास करता हूँ ? और उस घर में भी नीचे या पहली, दूसरी मंजिल पर हूँ ? इत्यादि स्मरण करना । काल से = अभी दिन है या रात्रि है ? उसमें भी अब कौन सा प्रहर का समय है ? आदि नक्की करना और भाव से = मैं किस कुल से हूँ ? मेरा धर्म कौन सा है ? अथवा मैंने कौन कौन से व्रत–नियम आदि स्वीकार किये हैं ? इत्यादि धर्म के विषय में स्मरण या चिन्तन करना । उसमें आगे जागने की विधि इस तरह है कि– मुख्यतया तो श्रावक अल्प निद्रा वाला होता है कि जिससे पिछली रात्रि में वह स्वयं जाग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाय । अल्प निद्रा से इस लोक के तथा परलोक के कार्यों की सिद्धि आदि अनेक लाभ होते हैं । जिसे अल्प निद्रा से निर्वाह न हो तो रात्रि के कुल पंद्रह मुहूर्त्त होते हैं । उसमें चौदहवां मुहूर्त्त ब्रह्म कहलाता है अर्थात् सूर्योदय के पहले चार घड़ी तो श्री नवकार मन्त्र का स्मरण करते हुए अवश्य ही उठ जाना चाहिए । उसके बाद द्रव्य, क्षेत्र आदि उपयोग देना चाहिए । इतना करने पर निद्रा न जाये तो नासिका दबाकर श्वास को रोके और इस तरह स्वस्थ बनकर लघु शंका से निवृत्त होकर खाँसी आदि आए तो भी बड़ी आवाज न होने दें, क्योंकि इससे अन्य हिंसक जीव जागृत होते हैं और अपना पाप कर्म प्रारंभ करते हैं। इस तरह आवाज से हिंसा आदि अनर्थों का प्रारंभ होता है अर्थात् उन पापकर्मों में स्वयं निमित्त रूप बनता है । इससे उसे कर्म बन्धन होता है । उठने के समय जिस नासिका से श्वास-उच्छ्वास चालू हो उसी तरफ का दांयां, बायां पैर पहले जमीन पर रखना- ऐसा नीति शास्त्र में कहा है ।

अब जागने के बाद श्री नवकार मंत्र का स्मरण किस तरह करना चाहिए, वह कहते हैं-नवकार मंत्र का स्मरण जागने के समय परम मंगल के लिए अतीव बहुमानपूर्वक मन में ही करें, ऊँचे स्वर से नहीं बोलें । पंचाशक-गाथा एक ४२ वीं टीका में कहा है कि-

परमेट्ठि चिंतण माणसंमि सिज्जा गएणं कायव्वं ।
सुत्ताऽविणय पवित्ती, निवारिआ होइ एवं नु ॥१॥

अर्थात्- "शय्या में पड़े पड़े या बैठे बैठे श्री पंच परमेष्ठि नवकार मंत्र का मन में चिन्तन करना चाहिए । क्योंकि इस प्रकार मन में स्मरण करने से सूत्र-मन्त्र का अविनय नहीं होता । यह मन्त्र अत्यन्त प्रभावशाली और सर्व में उत्तम है । पलंग पर अथवा शय्या पर बैठे बैठे उच्चारण पूर्वक जाप करना अविनय है ।"

अन्य किसी आचार्य का मत है कि-स्पष्ट उच्चारण करने में भी कोई हर्ज नहीं है । ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें पंच नमस्कार रूप मन्त्र गिनने का अधिकार न हो । इससे स्पष्ट हुआ कि उच्चारण पूर्वक भी जाप कर सकते हैं । यह दोनों मान्यता पहला पंचाशक की गाथा ४२ की टीका आदि में बतलायी गयी हैं । श्राद्ध दिन कृत्य में पूज्य श्री देवेन्द्र सूरी जी महाराज तो कहते हैं कि-

सिज्जाठाणं पमुत्तूणं, चिट्ठिज्जा धरणी अले ।
भाव बन्धु जगन्नाहं, नमुक्कारं तओ पढे ॥६॥

अर्थात्- "श्री नवकार मंत्र इस लोक और परलोक में सर्वत्र सहायता करने वाला होने से वास्तव में बन्धु समान है और प्राप्त हुए गुणों का रक्षण करने वाला तथा अप्राप्त गुणों की प्राप्ति कराने वाला होने से जगत का नाथ रूप है । इसलिए उसे शय्या, पलंग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि से नीचे उतरकर भूमि पर खड़े खड़े अथवा बैठ कर पढ़े, गिने, परवर्तन करे ॥''
पू० आचार्य देव सूरि कृत यति दिनचर्या की तीसरी गाथा में कहा है कि-

जामिणि पच्छिम जामे, सव्वे जग्गंति बाल वुड्ढाई ।
परमिट्ठिपरम मंतं, भणंति सत्तट्ठ वाराओ ॥३॥

अर्थात्- ''रात्रि के अन्तिम प्रहर में बाल, वृद्ध आदि सर्व मुनिजन जागते हैं और श्री परमेष्ठि नवकार मन्त्र का सात आठ बार जाप करते हैं ।'' योग शास्त्र आठवें प्रकाश में श्री नवकार महामंत्र के पाठ की विधि इस तरह है-

अष्टपत्रे सिताम्भोजे, कर्णिकायां कृतस्थितिम् ।
आद्यं सप्ताक्षरं मंत्रं, पवित्रं, चिन्तयेत्ततः ॥३३॥

सिद्धादिक चतुष्कं च दिक्पत्रेषु यथा क्रमम् ।

चूलापाद चतुष्कं च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत् ॥३४॥

त्रिशुद्धाया चिन्तयन्नस्य, शतमष्टात्तरं मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि लभेतैव, चतुर्थ तपसः फलम् ॥३५॥

अर्थात्- ''आठ पंखुड़ी वाले सफेद कमल की कल्पना-रचना करके उसकी कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले पवित्र ''नमो अरिहंताणं'' मन्त्र का चिन्तन करना चाहिए । ३३॥ फिर सिद्धादिक चार मन्त्र पदों का अनुक्रम से चार दिशाओं की पंखुड़ियों में और चूलिकाओं के चार पदों का विदिशा की पंखुड़ियों में चिंतन करना चाहिए अर्थात् पूर्व दिशा में 'नमो सिद्धाणं', दक्षिण दिशा में 'नमो आयरियाणं', पश्चिम दिशा में 'नमो उवज्झायाणं' और उत्तर दिशा में 'नमो लोए सव्व साहूणं' का स्थापन कर चिन्तन-ध्यान करना चाहिए तथा विदिशा की चार पंखुड़ियों में अग्निकोण में 'एसो पंच नमुक्कारो' नैर्ऋत्य कोण में 'सव्वपावप्पणासणो', वायव्व कोण में 'मंगलाणं च सव्वेसिं' और ईशान कोण में 'पठमं हवइ मंगलं' इस प्रकार पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र का ध्यान करना चाहिए । ३४॥ अब मंत्र के चिन्तन का फल बताते हैं- 'मन, वचन और काया की शुद्धि पूर्वक एकाग्रता से एक सौ आठ बार इस महा मन्त्र नमस्कार का जाप करने वाला मुनि आहार करते हुए भी (चौथ भक्त) एक उपवास का फल प्राप्त करता है ।''

यह सामान्य फल भद्रिक आत्माओं के लिए कहा है । मुख्य तो स्वर्ग और मोक्ष हैं । वहाँ आगे योग शास्त्र के आठवें प्रकाश में कहा है-

प्रवृत्ति हेतुरेवैतद् अमीषा कथित फलम् ।
फलं स्वर्गापवर्गौ तु, वदन्ति परमार्थतः ॥४०॥

अर्थात्- ''इन नव पद मन्त्रों के जाप का फल जो एक उपवास बतलाया है, वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बाल जीवों को जाप में प्रवृत्त करने के लिए कहा है । परमार्थ से तो ज्ञानी पुरुष इसका फल स्वर्ग और अपवर्ग रूप मोक्ष बताते हैं ।''

इस तरह कमल की रचनापूर्वक एकाग्रता से गिनने में जो अशक्य हो उसे हाथ की अंगुलियों के पर्व पर नन्दावर्त आदि गिनने में भी महान फल मिलता है । नमस्कार पंचविंशति में कहा है कि-

कर आवत्ते जो पंच मंगला साहू पडिमसं खाए ।
णव वारा आवत्तइ, छलंति तं नो पिसायाई ॥१६॥

अर्थात्- ''हाथ से जो नंदावर्त, शंखावर्त आदि आवर्त्तों से पंच महा मंगल को बारह की संख्या से नौ बार १२ × ९ = १०८ गिनता है, उसे दुष्ट पिशाच आदि उपद्रव नहीं होता ।''

नंदावर्त

१	८	९	१०
२	७	६	११
३	४	५	१२

मतान्तर से नंदावर्त

३	४	५	१२
२	७	६	११
१	८	९	१०

शंखावर्त

६	७	८	९
५	२	१	१०
४	३	१२	११

इस तरह आवर्त में बारह बारह अंक हैं । उसे क्रम से चार अंगुलियों के तीन तीन पर्व (वेठ) द्वारा गिनने से वह आवर्त्त बनता है । बंधन आदि संकट के प्रसंग पर उस आवर्त्त को उलटा गिनने से अर्थात् ''णं-ता-हं, रि, अ, मो, न'' इस तरह अक्षरों के उलटा गिनने से अथवा 'पढमं हवइ मंगल, मंगलाणं च सव्वेसिं' आदि पदों को उलटा बोल कर जाप करना । इस तरह से एक लाख या उससे ज्यादा बार उलटा जाप करने से बंधन-संकटादि कष्ट तुरन्त नष्ट हो जाते हैं ।

यद्यपि उत्सर्ग मार्ग से श्री नवकार मंत्र आदि का जाप समकित दृष्टि आत्माओं को कर्म की निर्जरा के लिए ही करना योग्य है, फिर भी वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप किसी भी प्रसंग पर इस लोक अथवा परलोक के लौकिक हितार्थ भी गिनना उपकारक होता है । अतः शास्त्र में यह गिनने का उपदेश दिया है । योग शास्त्र के आठवें प्रकाश में कहा है-

पीतं स्तम्भेऽरूण वश्ये, क्षोभणे विद्रुम प्रभम् ।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्म धाते शशि प्रभम् ॥३१॥

अर्थात्- ''स्तंभन कार्य करने में पीले ॐकार का ध्यान, वशीकरण में लाल वर्ण का, क्षोभण (भय) कार्य में हरे वर्ण का, विद्वेषण अर्थात् एक दूसरे का द्वेष कराने के लिए काले वर्ण का, और कर्मों का नाश करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्जवल-श्वेत

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वर्ण की माला से ॐकार सहित नवकार का ध्यान करना चाहिए ।''

यद्यपि कर्मक्षय के अभिलाषी को चन्द्रकान्ति के समान उज्जवल ॐ (प्रणव) का ध्यान करना ही योग्य है, तथापि किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप विभिन्न परिस्थितियों में पीली आदि का ध्यान भी उपकारी हो सकता है । इसलिए यहां 'ॐ' के ध्यान का विधान किया है ।

हाथ की अंगुलियों आदि से भी नहीं गिना जाये तो रत्न, रूद्राक्ष आदि की १०८ मनके की माला को हृदय सामने रखकर उसको वस्त्र या पैर आदि नहीं लगाना चाहिए और मेरु का उल्लघंन न हो– इस विधि से माला को फेरना चाहिए । माला में १०५ और मेरु में तीन– इस तरह कुल १०८ मनके रखना– ऐसा उपदेश रसायण नामक ग्रन्थ में कहा है और ऐसी माला रखने की प्राचीन परम्परा भी है और वर्तमान काल में भी कईयों का ऐसा मन्तव्य है और कई १०८ मनके माला में रखकर ऊपर मेरु अलग रखते हैं । एवं दिगम्बर १०८ माला में और मेरु के तीन अलग रखकर कुल १११ रखते हैं । जाप जपने की विधि कहते हैं–

अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं, यज्जप्तं मेरु लङ्घने ।
व्यग्रचित्तेण यज्जप्तं, तत्प्रायोऽल्पफलं भवेत ॥१॥

सङ्कुलाद्विजने भव्यः, सशब्दान्मौनवान् शुभः ।
मौनजात्मानसः श्रेष्ठो, जापः श्लाध्यः परः परः ॥२॥

अर्थात्– ''वस्तुतः माला अंगूठे पर रखकर अनामिका अंगुली से गिनना चाहिए, उसके बदले अंगुली के आखिर के भाग पर रख कर करे, उसमें मेरु का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । फिर यदि भी यदि मेरु का उल्लंघन करता है और स्थिर चित्त के स्थान पर व्यग्र चित्त से जाप करता है, तो ऐसा जाप करने का फल प्रायः अल्पमात्र मिलता है ।१॥ बहुत मनुष्यों की उपस्थिति में जाप करने की अपेक्षा एकान्त में जाप करना बहुत अच्छा है, उच्चारण पूर्वक करने से मौन पूर्वक करना श्रेष्ठ है, और मौन पूर्वक से ध्यान पूर्वक करना अधिक श्रेष्ठ है। इस तरह उत्तरोत्तर जाप विशेष प्रशंसनीय है ।२॥'' पूज्य श्री पादलिप्त सूरि कृत प्रतिष्ठा पद्धत्ति में भी कहा है–

जाप तीन प्रकार का होता है– (१) मानस, (२) उपांशु और (३) भाष्य । जिसमें जल्प भी न हो, केवल मन से जाप होता हो, जिसे स्वयं ही जान सकता है वह 'मानस' जाप समझना । जिसमें अन्तर्जल्प होने पर भी अन्य को सुनाई न दे उसे 'उपांशु' समझना और जो दूसरे को सुनाई दे, उसे 'भाष्य' समझना । उसमें प्रथम मानस जाप कष्ट साध्य होने पर भी उससे शन्ति कार्य होते हैं इसलिए वह उत्तम माना जाता है । दूसरा उपांशु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सामान्य और पौष्टिक कार्य के लिए होने से मध्यम माना गया है । तीसरा भाष्य जाप अन्य जीवों का पराभव-वशीकरण आदि दुष्ट कार्यों के लिए होने से अधम कहा है ।

श्री नवकार मन्त्र के पाँच पद अथवा नौ पद की अनानुपूर्वी से भी जाप किया जा सकता है । इसमें चित्त की एकाग्रता के लिए अनानुपूर्वी से गिनना श्रेष्ठकारी है । यह अनानुपूर्वी एक एक अक्षर, एक एक पद आदि से भी गिन सकते हैं । इस अनानुपूर्वी की विधि योग शास्त्र के आठवें प्रकाश में से जान लेना । वहाँ ७१ वें श्लोक में भी कहा है-

मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं, फलमैहिक मिच्छुभिः ।
ध्येयः प्रणवहीनस्तु, निर्वाणपदकांक्षिभिः ॥७१॥

अर्थात्- "इहलौकिक के पौद्गलित सुख रूप फल की अभिलाषा वाले को ॐकार पूर्वक अर्थात् "ॐ नमो अरिहंताणं" इस मन्त्र का ध्यान करना चाहिए परन्तु निर्वाण पद के इच्छुक को प्रणव (ॐ) रहित अर्थात् केवल 'नमो अरिहंताणं' मन्त्र का ध्यान करना चाहिए ।" इस तरह जाप करने से ध्यान आदि का फल अधिक होने से विधि पूर्वक जाप करना चाहिए । कहा है कि-

पूजा कोटि समं स्तोत्रं कोटि समो जपः ।
जप कोटि सम ध्यान, ध्यान कोटि समो लयः ॥१॥

अर्थात्- "परमात्मा आदि की करोड़ बार पूजा करता है वह एक स्तोत्र (स्तुति) के बराबर है, करोड़ बार स्तुति करते हैं वह एक मंत्र का जाप करने के बराबर है । करोड़ बार जाप एक ध्यान के बराबर है और करोड़ बार ध्यान लगाने के बराबर एक लय-परमात्मा स्वरूप में रमणता-तन्मयता है अर्थात् इस तरह जाप आदि का उत्तरोत्तर करोड़ गुणा फल मिलता है ।"

ध्यान की सिद्धि के लिए श्री जिनेश्वर देवों की जन्म दीक्षा आदि जहाँ हुई हो वहाँ उत्तम स्थान पर, अन्य तीर्थ भूमि पर अथवा जहाँ एकाग्रता साध सकें ऐसे एकान्त स्थान का आश्रय लेना चाहिए । ध्यान शतक में कहा है कि-

निच्चं चिय जुवई पसू नपुंसग कुसील वज्जियं जइणो ।
ठाणं विअणं भणियं, विसेस ओ झाण कालंमि ॥३५॥

थिर कय जोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चल मणाणं ।
गामंमि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व न विसेमो ॥३६॥

तो जत्थ समाहाणं, होइ मणो वयण काय जोगाणं ।
भूओ वरोहर हिओ, सो देसो झाय माणस्स ॥३७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कालोऽवि सुच्चिय जहिं जोग समाहाण मुत्तमं लहइ।
न उ दिव सनिसा वेलाइ-नियमणं झाणिणो भणिय ॥३८॥

अर्थात्- ''उत्सर्ग मार्ग में मुनिवर्य के लिए स्थान हमेशा स्त्री, पशु, नपुंसक या व्यभिचारी आदि दुराचारियों से रहित, निर्जन होना चाहिए ऐसा कहा है और ध्यान के लिए तो खास करके मनुष्यादि रहित निर्जन स्थान कहा है ।३५॥ किन्तु जिसने ज्ञान-क्रिया के सतत अभ्यास से मन, वचन और काया अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप योग से मन को स्थिर किया हो वह तो ध्यान में मन को निश्चल रख सकता है, ऐसे मुनि को तो मनुष्यादि से भरे गाँव में, जहाँ कोई न हो ऐसे शून्य घर में या जंगल में कोई भेद नहीं है। वह सर्वत्र ध्यान कर सकता है-रह सकता है ।३६॥ इससे ही मन, वचन या काया के योग का जहां समाधान हो सके, जहां त्रस स्थावर जीवों का उपद्रव न हो ऐसे स्थान पर ध्यान लगाना उचित है ।३७॥ काल भी अमुक ही होना चाहिए, ऐसा एकान्त नहीं है, परन्तु जिस काल में योग का समाधान-स्थैर्य अच्छी तरह से सिद्ध कर सके वह काल ध्यान के लिए योग्य समझना। ध्यान के लिए दिन रात या अमुक काल का निश्चय नहीं है ।३८॥'' यह श्री नवकार मन्त्र इस लोक और परलोक में अत्यन्त गुण को करने वाला है। श्री महानिशीथ में कहा है कि-

नासेइ चोर सावय विस हर जलं जलण बंधण भयाइं।
चितिज्जं तो रक्खस रण राय भयाइं भावेणं ॥१॥

अर्थात्- ''श्री नवकार मंत्र का भाव पूर्वक चिंतन करने से चोर का, सिंह आदि शिकारी प्राणियों का, सर्प का, समुद्र आदि में पानी का, अग्नि का और जेल, आदि बंधनों का भय तथा राक्षस का, युद्ध का अथवा राजा आदि का भय भी दूर हो जाता है अर्थात् उसके प्रभाव से सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं। नमस्कार पंच विशांत में और भी कहा है कि-

जाए वि जो पढिज्जइ, जेणं जायस्स होइ फल रिद्धी।
अवसाणे विपढिज्जइ जेण मओ सोग्गइं जाइ ॥१॥

आवइ हिं वि पढिज्जइ, जेण य लंघेइ आवयसयाइं।
रिद्धीए वि पढिज्जइ जेण य सा जाइ वित्थारं ॥२॥

नवक्कार इक्क अक्खर, पावं फेडेइ सत्त अयराइं।
पण्णासं च पएणं, पंच सयाइं समग्गेण ॥३॥

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीइ जिण नमुक्कारं।
तित्थ यर नाम गोअं, सो बंधइ नित्थ संदेहो ॥४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अट्ठेव य अट्ठसया, अट्ठसहस्सं च अट्ठ कोडीओ ।
जो गुणइ अट्ठ लक्खे, सो तइ अ भवे लहइ सिद्धिं ॥५॥

अर्थात्- ''जन्म के समय में और उसके बाद भी जो नवकार मंत्र गिनता है उसे ऋद्धि रूपी फल मिलता है, अन्त समय में- मृत्यु के समय में गिने तो मरने वाला सद्गति में जाता है ।१॥ आपत्ति के समय गिनने से सैंकड़ों आपत्तियों को उल्लंघन कर जाता है और ऋद्धि के समय गिनने से ऋद्धि की वृद्धि होती है ।२॥ नवकार मंत्र का एक अक्षर गिनने से सात सागरोपम का, एक पद गिनने से पचास सागरोपम का और सम्पूर्ण नवकार मंत्र जाप करने से पाँच सौ सागरोपम के पापों का नाश होता है ।३॥ जो श्री जिनेश्वर भगवान के नमस्कार मन्त्र (नमो अरिहंताणं पद) की विधि पूर्वक पूजा करता है और इस तरह जो एक लाख बार जाप करता है, वह निःसंदेह तीर्थंकर नाम कर्म का उर्पाजन करता है ।४॥ जो मनुष्य आठ करोड़, आठ लाख, आठ हजार, आठ सौ, आठ बार श्री नवकार मन्त्र का जाप करता है, वह तीसरे भव-जन्म में सिद्धि गति प्राप्त करता है ॥५॥''

इस प्रकार नवकार मंत्र का जाप जपने से अत्यंत-अनंत लाभ होता है । इसलिए नींद में से जागते ही नवकार मन्त्र का स्मरण करना चाहिए । उसके बाद द्रव्य आदि का उपयोग करने को कहा है । उसमें 'आदि' शब्द से धर्म जागरण का सूचन समझना । वह धर्म जागरण इस प्रकार है-

किं मे कंडं ? किच्चम किच्च सेसं ? किं सक्कणिज्जं ज समायरामि ?
किं मे परो पासइ ? किं च अप्पा, किं वाह खलियं, न वि ज्जयामि ॥१॥

अर्थात्- ''मैंने इस संसार में आकर क्या क्या किया है ? करने योग्य क्या शेष रह गया है ? मेरे से शक्य और करने योग्य होने पर भी मैं क्या नहीं करता ? मेरी कौन सी भूल अन्य को दिखती है ? आत्म तत्त्व क्या है ? अथव मेरे कौन से दोष त्याग करने योग्य हैं ? इत्यादि चिन्तन मनन करना ।''

सुना जाता है कि- आणंद जी, कामदेव जी आदि महा श्रावकों ने भी धर्म जागरण करके विकास किया है । यह मूल ६० वें श्लोक के पूर्वार्द्ध का वर्णन किया था अब उत्तरार्ध श्लोक का वर्णन करते हैं-उसमें सामायिक आदि करने को कहा है। उसमें सामायिक अर्थात् व्रताधिकार में कहे अनुसार दो घड़ी (४८ मिनट) तक समभाव में रमणता रूप 'श्रावक का नौंवा व्रत' की आराधना अथवा छः आवश्यक में पहला 'सामायिक आवश्यक' और आदि शब्द से शेष आवश्यक समझना अर्थात् सामायिक से छः आवश्यक रूप रात्रि का प्रतिक्रमण समझना । इस रात्रि प्रतिक्रमण की विधि आगे कही जायेगी । उसमें वंदित्तु सूत्र कहने के बाद छः मासिक तप चिन्तन का काउस्सग्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में 'आज कौन सी तिथि है ? अथवा आज कौन से तीर्थंकर भगवन्त का कौन सा कल्याण है ?' इत्यादि स्मरण करके उस तिथि या कल्याण के विषय में करने योग्य तप का विचार कर निश्चय करके स्वयं पच्चक्खान करना चाहिए । क्योंकि श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि :-

छपहं तिहीण मज्झंमि, का तिही अज्ज वासरे ?
किं वा कल्लाणगं अज्ज, लोग नाहाण संतिअं ॥२६॥
पच्चक्खाणं तु जंतंमि, दिणंमि गिण्हियव्व यं ।
चिंतेऊण सुसड्ढो उ, कुणइ अण्णं तओ इमं ॥२२॥

अर्थात- महीने की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी और पूर्णिमा तथा अमावस्या- ये छ तिथियों में आज कौन सी तिथि है ? अथवा इस भरतक्षेत्र में वर्तमान चौबीसी के तीर्थं करों में आज किसका कल्याणक है ? इसका स्मरण करके उत्तम भावक उस दिन करने योग्य हो वह पच्चक्खण स्वयं करे । उसके बाद जो आगे कहा जायेगा वह कर्तव्य करे ।''

इस तरह प्रतिक्रमण करने तप चिंतन का काउस्सग्ग में पच्यक्खान करे और प्रतिक्रमण नहीं करने वाला भी रात्रि में निद्रावस्था में यदि रागादि रूप कुस्वप्न या द्वेषादि रूप दुःस्वप्न अथवा कोई अनिष्ट सूचक स्वप्न आया हो तो उसे निष्फल बनाने के लिए अथवा इससे कर्म बन्धन को रोकने के लिए काउस्सग्ग करे, राग रूप कुस्वप्न में भी यदि स्वयं स्त्री सेवन किया आदि अब्रह्म स्वप्न आया हो तो एक सौ आठ श्वासोच्छवास प्रमाण का तथा अन्य कोई स्वप्न आया हो तो सौ श्वासोच्छवास प्रमाण का काउस्सग्ग करना चाहिए । व्यवहार भाष्य में कहा है कि-

पाणिवह मुसावाए, अदत्त मेहुण परिग्गहे सुविणे ।
सयमेगंतु अणुणं उसा साणं झविज्जाहि ॥१॥

महत्त्व याइं झाइज्जा सिलोगे पचं वीसई ।
इष्थी विप्परि आसे, सत्तावीसे सिलोइओ ॥२॥

अर्थात- इन गाथाओं का अर्थ उसकी टीका में इस प्रकार से है-

प्राणि वध, मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह- इन चार का कुछ भी ''मैंने किया हो, करवाया हो अथवा अनुमोदन किया हो'' ऐसा स्वप्न आया हो अथवा स्वयं मैथुन सेवन रूप स्वप्न आया हो 'मैंने मैथुन सेवन करवाया हो अथवा अनुमोदन का स्वप्न आया हो तो ऐसे स्वप्न के विषय में सम्पूर्ण सौ श्वासोच्छवास का काउस्सग्ग करना । अर्थात् **'चंदेसु निम्मलयरा'** तक पचीस श्वासोच्छवास प्रमाण वाला लोगस्स चार बार गिनना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अगर तो दश वैकालिक के चौथे अध्ययन के सूत्र २-३-४-५-६ में पाँच महाव्रत का पाठ अथवा छठे अध्ययन की प्रथम पच्चीस गाथा जिसमें महाव्रतों का अधिकार बतलाया है वह प्राय: पच्चीस श्लोक प्रमाण होने से उसका ध्यान करना अथवा स्वाध्याय रूप पच्चीस श्लोक का ध्यान करना। परन्तु यदि स्त्री विपर्यास अर्थात् 'स्वयं मैथुन सेवन रूप' 'कुस्वप्न आया हो तो सत्ताईस श्लोक प्रमाण का उस्सग्ग करना चाहिए। यहां शास्त्र की परिभाषा अनुसार एक पद का एक श्वासोच्छ्वास, इस तरह कुल एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग समझना।

प्रथम पंचाशक की टीका में भी कहा है कि-यदि कभी मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री सेवन रूप दु:स्वप्न आता हो तो उसी समय उठकर इरियावहि पडिक्कमण करके एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण का काउस्सग्ग करना चाहिए। श्राद्धविधि गाथा ५वीं की टीका में इतना विशेष है कि 'स्वप्न आने के बाद तुरन्त उठकर काउस्सग करना, फिर राई प्रतिक्रमण के पहले बहुत निद्रा-प्रमाद हो तो फिर करना। दिन की निद्रा में दु:स्वप्न आए तो भी उसी तरह काउस्सग्ग करना चाहिए। ऐसा जानना, परन्तु वह स्वप्न आए तब ही अथवा दैवसिक प्रतिक्रमण के समय करना। इसलिए बहुश्रुत ज्ञानी जैसा कहे उसके अनुसार करना।

प्रतिक्रमण करने वाले को पच्चक्खान करने के पहले ही 'सचित्त' आदि चौदह नियमों को धारण कर उसका पच्यक्खान करना चाहिए। इस नियम धारण करने में सावध कार्य की छूट होने से वह सामायिक उच्चारण के बाद अनुचित होने से सामायिक लेने के पहले ही धारण करना उचित समझा जाता है। हाल में राइ प्रतिक्रमण के बाद धारण करने का रिवाज देखा जाता है अर्थात् चालू सामायिक में या प्रतिक्रमण में नियम धारण करना उचित नहीं है। जो प्रतिक्रमण न करे उसे भी सूर्योदय के पहले ही स्व शक्ति अनुसार चौदह नियम धारण करके 'नमुक्कार सहि' आदि काल पच्चक्खान तथा 'गंठि सहि' आदि संकेत-पच्चक्खान के साथ में वेआसना, एकासना आदि कोई भी पच्चक्खान और सचित्त द्रव्य विगई आदि जो नियम धारण किया हो उसे उच्चारण रूप देसावगासिक प्रत्याख्यान करना। इस तरह श्राद्धविधि की टीका में लिखे हुए अधिकार अनुसार यह कहा है, वह यथार्थ है। क्योंकि नमुक्कार सहि, पोरिसी आदि काल प्रत्याखयान का सूर्योदय से पहले ही लेना चाहिए- वह उचित है, सूर्योदय के बाद नहीं लें। क्योंकि काल-पच्चक्खान में **'उग्गए सूरे'** ऐसा पाठ होने से वह सूर्योदय से प्रारंभ होने वाला है, इसलिए सूर्योदय से पहले ही वह करना या धारण करना चाहिए। इसके सिवाय गंठि सहि, मुट्ठि सहि आदि संकेत पच्चक्खान तो सूर्योदय के बाद भी किया जाय तो दोष नहीं है। क्योंकि श्राद्ध विधि की पाँचवीं गाथा की टीका में कहा है कि नमुक्कार सहि पोरसी आदि काल पच्चक्खान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूर्योदय के पहले करने से, धारण करने से शुद्ध गिना जाता है । उसके बाद करना योग्य नहीं है । शेष पच्चक्खान तो सूर्योदय के बाद भी कर सकते हैं । उसमें यदि सूर्योदय से पहले नमुक्कार सहि का पच्चक्खान धारण किया हो तो उसका समय पूर्ण होने से पहले ही उसके साथ में पोरिसी आदि अधिक काल के पच्चक्खान को पूर्व पच्चक्खान का समय पूर्ण होने से पहले जोड़ सकता है अर्थात् उस काल के पच्चक्खान का समय पूर्ण होने के पहले अधिक काल का पच्चक्खान बढ़ा सकता है । परन्तु यदि सूर्योदय से पहले नमुक्कार सहि का पच्चक्खान भी न किया न हो तो सूर्योदय के बाद नमुक्कार सहि का या अन्य पोरिसी आदि काल का पच्चक्खान नहीं हो सकता । लेकिन सूर्योदय से पहले प्रथम से ही पोरसी आदि का पच्चक्खान किया हो तो उसका समय पूर्ण होने पर फिर दूसरा सर्द्धपोरसी आदि काल पच्चक्खान नहीं कर सकता है, परन्तु वह समय पूर्ण होने के पहले ही उसमें सार्द्ध आदि बढ़ा सकता है । इस तरह वृद्ध परम्परा है ।

श्राद्ध दिन कृत्य की बाइसवीं गाथा **'पच्चक्खाणं तु जं तंमि'** आदि का भाव चिन्तन करने पर भी पच्चक्खान करने का समय इसी तरह ही होता है– ऐसा समझाया है । प्रवचन सारोद्धार की २१३वीं **'उचित काले विहिणा'** गाथा की टीका में सामान्य अर्थ किया है कि उचित काल में विधिपूर्वक जो पच्चक्खान किया जाय वह पच्चक्खान अधिकार में छः शुद्धि में 'स्पृष्ट' नाम की प्रथम शुद्धि कहलाती है अर्थात् पच्चक्खान के सूत्र तथा अर्थ को अच्छी तरह जानने वाले साधु अथवा श्रावक सूर्योदय के पहले ही आत्म साक्षी से, गृह मंदिर में अथवा स्थापनाचार्य के समक्ष अपने आप ही शक्ति अनुसार पच्चक्खान करे और फिर पवित्र चारित्रवान–गीतार्थ गुरु महाराज की साक्षी में, शास्त्र में कही हुई विधि अनुसार वन्दन आदि विनय करके, राग द्वेष रहित सर्वत्र उपयोग पूर्वक दो हाथ जोड़कर पच्चक्खान का जो पाठ गुरु महाराज बोलें उस पाठ को बहुत मन्द स्वर से स्वयं भी उच्चारण करते पच्चक्खान करे, तब वह पच्चक्खान 'स्पृष्ट' हुआ कहलाता है ।

प्रत्याख्यान पंचाशक की **'गिण्हइ सयं गहियं काले'** इस पंचमी गाथा की टीका में ऐसा अर्थ किया है कि–''स्वयं अपने आप विकल्प मात्र से, आत्म साक्षी से अथवा चैत्य अथवा स्थापनाचार्य के समक्ष उच्चार पूर्वक ग्रहण किया हो उस पच्चक्खान को गुरू साक्षी में ग्रहण करे, वह कब ग्रहण करे ? उसका उत्तर देते हैं कि–काल में ! अर्थात् पोरिसी आदि उस पच्चक्खान का समय पूर्ण होने के पहले करे, न कि जो पच्चक्खान करने का हो वह काल व्यतीत होने पर करे । क्योंकि शास्त्र में कहा है– **''अइअं निदामि पडुप्पन्न संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि''** इस पाठ से 'भूतकाल के पापों की निंदा तथा वर्तमान काल का संवर करने का कहा है और भविष्य काल के विषय में पच्चक्खान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा है ।' इस तरह बहुत ग्रन्थों के अनुसार 'नमुक्कार सहि' आदि काल पच्चक्खान सूर्योदय के पहले ही करना चाहिए । ऐसा निश्चित होता है । यहां तक मूल श्लोक में 'सामायिक आदि करना' ऐसा कहा है, उसका वर्णन कहा । अब मूल श्लोक के अन्दर 'विधिपूर्वक चैत्य वंदन करना' यह आया है, उसका विवेचन करते हैं-'इस तरह पच्चक्खान करने के बाद द्रव्य पूजा के विषय में पुष्पादि सामग्री प्राप्त कर तथा भाव पूजा को मुद्रा आदि के द्वारा करना । इस द्रव्य और भाव से दोनों प्रकार के द्वारा श्री अरिहंत की प्रतिमा की पूजा करना श्रावक का विशेष धर्म है ।' उसमें चैत्य की मूर्ति पाँच प्रकार की होती हैं- १- भक्ति चैत्य, २- मंगल चैत्य, ३- निश्राकृत चैत्य, ४- अनिश्राकृत चैत्य और ५- शाश्वत चैत्य । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

भत्ति मंगल चेइअ, निस्सकड मनिस्स चेइए वा वि ।
सासय चेइअ, पंचम मुवइट्ठं जिण वरिंदे हिं ॥६५६॥

अर्थात्- ''भक्ति चैत्य, मंगल चैत्य, निश्राकृत चैत्य, अनिश्राकृत चैत्य और शाश्वत चैत्य- इस तरह पाँच चैत्य श्री तीर्थंकर परमात्मा ने कहे हैं ।'' हमेशा पूजा करने के लिए घर में श्री अरिहंत की प्रतिमा हो उसे 'भक्ति चैत्य' कहा है, दरवाजे के ऊपर मध्य भाग में जो प्रतिमा हो वह 'मंगल चैत्य' है, किसी एक गच्छ का चैत्य हो वह 'निश्राकृत चैत्य' है, सर्व गच्छों का साधारण हो उसे 'अनिश्राकृत चैत्य' और अनादि काल से जो प्रतिमा हो उसे 'शाश्वत चैत्य' कहते हैं । आगे और प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

गिह जिण पडिमाए, भत्ति चेइअं उत्तरंग धडिअंमि ।
जिण बिंबं मंगल चेइअं, ति समयन्नुणो बिंति ॥६६०॥

निस्सकडं जं गच्छ संतिअं, तदिअरं अनिस्स कडं ।
सिद्धाययण चं इमं, चेइअ पणगं विणिद्दिट्ठं ॥६६१॥

अर्थात्- ''सिद्धान्त के जानकार ज्ञानियों ने घर मंदिर की जिन प्रतिमा को भक्ति चैत्य और दरवाजे के मध्य भाग में श्री जिन बिम्ब को मंगल चैत्य कहा है ॥६६०॥ जो गच्छ सम्बन्धी जिन प्रतिमा हो वह निश्राकृत, उसके सिवाय सर्व गच्छीय जिन प्रतिमा अनिश्राकृत और सिद्धायतन में जिन प्रतिमा है तो वह शश्वत चैत्य- इस तरह पाँच प्रकार का चैत्य बतलाया है ।६६१॥''

उसमें यहाँ 'चैत्य पूजनम्' कहा है । चैत्य पूजन-भक्ति चैत्य रूप घर में रखी प्रतिमा के विषय में कहा जाता है । यद्यपि योग शास्त्र की टीका में इसे मंगल चैत्य कहा है, परन्तु यहां भक्ति, मंगल और शाश्वत- इस तरह तीन प्रकार का बतलाया है, उसकी अपेक्षा से वह व्याख्या समझना । पूर्व कहे जो पाँच प्रकार हैं उस अपेक्षा से तो भक्ति चैत्य अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गृह मंदिर की और मंगल चैत्य अर्थात् गृह द्वार की प्रतिमा समझना। इस तरह से चैत्य के भेद कहे हैं। उसकी विधि पूर्वक पूजा करने से जीवन सफल होता है। पूजा पंचाशक में कहा है कि-

विहिणा उ कीर माणा, सव्वाऽवि अ फलवई भवे चिट्ठा।
इहलोक आऽवि किं पुण ? जिण पूआ उभय लोग हिआ।

अर्थात्- "यदि इस लोक सम्बन्धी सर्व प्रवृत्तियाँ भी विधि पूर्वक करने से वे सारी प्रवृत्तियाँ सफल होती हैं, तो फिर इस लोक-परलोक में हित करने वाली श्री जिन पूजा के लिए तो पूछना ही क्या है ?" अर्थात् विधिपूर्वक पूजा करने से महान लाभ होता है। अतः विधिपूर्वक जिन पूजा करनी चाहिए। इसलिए अब उसकी विधि कहते हैं-

सम्यक् स्नात्वोचिते काले संस्राप्य च जिनान् क्रमात्।
पुष्पाऽऽहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥६१॥

मूलार्थ- "पूजा उचित काल में करनी चाहिए, वह भी विधि पूर्वक स्नान करके, श्री जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमाओं का विधिपूर्वक स्नान प्रक्षालन करके अनुक्रम से पुष्प आदि से आहार आदि से और स्तवनादि से पूजा करे- यह जिन पूजा की विधि है।"

व्याख्या- अब गृह मंदिर या मंगल चैत्य में अरिहंत भगवान की पूजा की बात कहते हैं यहाँ पूजा के तीन भेद हैं- पुष्प, आहार और स्तुति से पूजा करें। यहाँ 'पुष्प' कहने से समस्त सुगन्धित पदार्थ जानना जैसे-विलेपन, धूप, गंधवास और उपलक्षण से वस्त्र, आभूषण आदि भी समझ लेना। 'आहार' आदि से मिठाई, फल, अक्षत, दीपक, जल, घी से भरे हुए पात्र रखें। 'स्तुति' आदि से जिसमें श्री जिनेश्वर भगवन्त के सद्भूत गुणों का यथार्थ रूप कीर्तन-वर्णन हो ऐसे शुक्रस्तव (नमुत्थुणं) आदि सूत्र स्तोत्र आदि समझना। इस तरह तीनों भेद पूजा करनी चाहिए। उत्सर्ग मार्ग से प्रातः, मध्याह्न और सांयकाल- इन तीनों काल में और अपवाद मार्ग में तो आजीविका में विघ्न न आए इस प्रकार अपनी अनुकूलता से-निश्चित समय पर जिन पूजा करने का विधान है। पूजा पंचाशक में कहा है कि-

सो पुण इह विन्ने ओ, सझाओ तिन्नि ताव ओहेणं।
विति किरिआऽ विरुद्धो, अहवा जो जस्सं जावइओ ॥५॥

अर्थात्- "उस पूजा का काल उत्सर्ग से तीन संध्या रूप जानना, अथवा अपवाद मार्ग से आजीविका का साधन भूत- राजा की नौकरी, सेवा, व्यापार आदि कार्यों में बाधक न हों, इस तरह घड़ी- दो घड़ी आदि जब अनुकूलता हो तब उतना पूजा काल लगाना।" सबके लिए तीन संध्याकाल ही पूजा करने का काल है, इस प्रकार एकान्त नहीं समझना। अपनी अनुकूलता से भी पूजा कर सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूल श्लोक में 'सम्यक्' पद से स्नान-प्रक्षालन आदि प्रत्येक की विधि का सूचन करते हैं, उसमें स्नान की विधि इस प्रकार है कि जिस भूमि में चींटियों के समूह न हों, नील-फूलन या कुंथुआ आदि त्रस जीव न हों, जहाँ खड्डे में पानी भर जाय ऐसी भूमि न हो या भूमि में खोखलापन न हो, वहाँ भी वस्त्र से गीला हुआ- वह भी अधिक मात्रा में नहीं, प्रमाण युक्त पानी से- उसमें भी उड़ते जीव पानी में गिर कर मर न जायं उसकी सार संभाल-यतना पूर्वक स्नान करना चाहिए। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है- **तसाइ जीव रहिए, भूमि भागे विसुद्धए। फासुएंण तु नीरेण, ईयरेणं गलिएणं तु ॥ गा० ३३॥ काउणं विहिणा ण्हाणं इत्यादि० ॥ गा० २४॥** अर्थात्-''त्रस आदि जीवों से रहित, समान-ऊँची नीची न हो तथा खोखलापन रहित जमीन हो वहाँ अचित्त पानी से, अथवा अचित्त पानी न हो तो अच्छी तरह से छानकर सचित्त पानी से विधिपूर्वक अर्थात् उड़ते जीवों की रक्षा यत्नपूर्वक परिमित पानी से स्नान आदि करे। तथा पूजा पंचाशक में कहा है कि-

भूमि पेहण जल छाणणाइ जयणा उ होइ ण्हाणादो।
एत्तो विशुद्ध भावो, अणुहवसिद्धो चिय बुहाणं ॥११॥

अर्थात्- ''स्नान करने में भूमि शुद्धि, पानी छानना इत्यादि जयणा रखना- इस तरह करने से भाव की विशुद्धि होती है। यह पंडित जनों का अनुभव सिद्ध है।''

लौकिक व्यवहार शास्त्र में तो ऐसा कहा है कि-

नग्नार्तः प्रोषिता यातः, सचेलो भुक्त भूषितः।
नैव स्नायादनुव्रज्य, बन्धून कृत्वा च मङ्गम् ॥१॥

अर्थात्- ''एक भी वस्त्र बिना नग्न होकर, रोगी अवस्था में, यात्रा करके आकर तुरन्त, सर्व वस्त्र पहनकर, भोजन करके तुरन्त, आभूषण सहित, स्वजन को विदा देकर तुरन्त तथा कोई मांगलिक कार्य करके उसी समय स्नान नहीं करना चाहिए।''

स्नान दो प्रकार का होता है- एक द्रव्य स्नान और दूसरा भाव स्नान। उसमें पानी से शरीर का द्रव्य स्नान कहलाता है। उसके भी दो भेद होते हैं- देश स्नान और सर्व स्नान। उसमें मल मूत्र के बाद शुद्धि करना, दांत साफ करना, जीभ का मैल उतारना, हाथ, पैर, मुख आदि धोना या कुल्ला करके मुख, गला साफ करना- ये सारे देश स्नान हैं और संपूर्ण शरीर का स्नान सर्व स्नान कहलाता है। उसमें मल-मूत्र मौन पूर्वक करना चाहिए। वह भी जहाँ त्रसादि जीव न हों, वनस्पति आदि न हो, जहाँ अन्य मनुष्य आदि न देखें तथा अन्य लोगों को अप्रिय या अपकीर्ति न हो- ऐसे योग्य स्थान पर विधिपूर्वक करना चाहिए। कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मन्त्रोत्सर्गं मलोत्सर्गं मैथुनं स्नान भोजनम् ।
सन्ध्यादि कर्म पूजांच, कुर्याज्जापं च मौनवान् ॥१॥

अर्थात्- "मल-मूत्र को त्याग, मैथुन सेवन, स्नान, भोजन, संध्या कर्म आदि और पूजा तथा जाप इत्यादि कार्य मौन पूर्वक करना चाहिए।" विवेक विलास में भी कहा है कि-

मौनी वस्त्र वृतः कुर्याद्दिन संध्याद्वयेऽपि च ।
उदङ्मुखः शकृन्मूत्रे, रात्रो याम्याननः पुनः ॥१॥

अर्थात्- "सुबह-शाम दोनों संध्या में तथा दिन में भी मल और मूत्र मौन पूर्वक, एवं कम से कम आधा वस्त्र पहनकर उत्तर सन्मुख में बैठकर और रात्रि में दक्षिण सन्मुख बैठकर करना चाहिए।"

अवक्राऽग्रन्थि सर्त्कूचं, सूक्ष्माग्रं च दशाङ् गुलम् ।
कनिष्ठाग्र सम स्थौल्यं ज्ञात वृक्षे सुभुमिजम् ॥१॥

कनिष्ठिकाऽनामिकयोरन्तरे दन्त धावनम् ।
आदाय दक्षिणां, दंष्ट्रां वामां वा संस्पृशं स्तले ॥२॥

तल्लीन मानसः स्वस्थो, दन्त मांस व्यथा त्यजन् ।
उत्तराभिमुखः प्राची मुखो वा निश्चला सनः ॥३॥

अर्थात्- "सीधा- जो टेढ़ा न हो, जिसके आगे का भाग अच्छी तरह नरम बन सके, अन्तिम भाग पतला, दस अंगुल लम्बा, छोटी उंगली के समान मोटा और अच्छी तरह जमीन में उत्पन्न हुआ, पहचान वाले वृक्ष का दातून लेकर उसे कनिष्ठा और अनामिका दोनों अंगुलियों के बीच में रखकर दायें या बायें दाढ़ के तलिये में घिसें, उस समय में उस काम में ही मन को तल्लीन करके स्वस्व बैठकर दांत या मसूड़े आदि के मांस को पीड़ा न हो, इस तरह निश्चल आसन में उत्तर या पूर्व दिशा के सन्मुख बैठकर दातून घिसना चाहिए।"

आगे और भी कहा है कि-

अभावे दन्त काष्ठस्य, मुख शुद्धि विधिः पुनः ।
कार्यो द्वादश गन्डूषैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदा ॥१॥

अर्थात्- "यदि दातून का अभाव हो तो बारह बार पानी का कुल्ला (गंडुप) करके मुख शुद्धि का काम करना चाहिए और जीभी से जीभ का मैल हमेशा उतारना चाहिए।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस विधि अनुसार मुख शुद्धि, जिसने पच्चक्खान न किया हो उसे करना चाहिए। पच्चक्खान वाले को तो तप ही महाफलदायी, शुद्धि कारक होने से दातून आदि बिना भी शुद्धि ही समझना अर्थात् दातून से शुद्धि की अपेक्षा भी तप से शुद्धि विशेष कही है। जल से शरीर की शुद्धि तथा धातुओं की समता रूप शारीरिक सुख आदि भी होने से द्रव्य स्नान को भाव शुद्धि का कारण कहा है। आचार्य श्री हरिभ्रद सूरीश्वर जी ने महाराज ने स्नानाष्टक में कहा है कि-

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धि कारणं ।
प्रायोऽन्यायनुपरोधेन, द्रव्य स्नानं तदुच्यते ॥२॥

अर्थात्- "इसका अर्थ इसकी टीका में बतलाया है कि-जल से होने वाले स्नान से केवल चमड़ी रूप शरीर का एक अल्प मात्र बाह्य भाग ही साफ होता है, वह भी थोड़े समय में ही पसीने आदि से मलिन हो जाता है। अतः प्रायः कर क्षण समय के लिए ही शुद्धि होती है। इस श्लोक में प्रायः कहने का कारण यह है कि-सर्व को जल स्नान से शुद्धि होती ही है, ऐसा नियम नहीं है। किसी कोढ़ आदि रोग वाले को तो स्नान करने पर भी अल्प काल जितनी भी शुद्धि नहीं होती। इंसलिए प्रायः शब्द का उपयोग किया है। बाहर के मैल के सिवाय अन्य कान, नाक आदि के मैल की शुद्धि नहीं होने के कारण भी 'प्रायः अल्पमात्र' शुद्धि का कारण कहा है। इस तरह पानी आदि द्रव्यों से जो स्नान होता है, वह द्रव्य स्नान कहलाता है। अन्य आचार्य (प्रायः) शब्द को 'अन्यानुपरोधेन' पद के साथ में जोड़कर ऐसा अर्थ करते हैं कि-पानी के सिवाय प्रायः अन्य जीवों की विराधना के समान नहीं होती वह द्रव्य स्नान कहलाता है। आगे कहते हैं कि-

कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथि पूजनम् ।
करोति मलिनारम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥३॥

अर्थात्- "विधि पूर्वक द्रव्य स्नान करके जो मलिन आरंभी अर्थात् गृहस्थ देव और अतिथि का पूजन करता है, उसे यह द्रव्य स्नान (हिंसा का कारण होने पर) भी अच्छा है। उसका कारण बतलाते हैं कि-

भाव शुद्धि निमित्तव्वात्तथानुभव सिद्धितः ।
कथञ्चिदोष भावेऽपि, तदन्य गुण भावतः ॥४॥

अर्थात्- "द्रव्य स्नान गृहस्थ को इस कारण से शोभा रूप है कि वह भाव शुद्धि का निमित्त रूप है। वह केवल कल्पना ही नहीं है, परन्तु अनुभव से सिद्ध है। इससे ही उसमें पानी के जीवों की हिंसा आदि से कुछ दोष होने पर भी अन्य और समकित

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की शुद्धि आदि होने से महान गुण प्रगट होते हैं। इसलिए द्रव्य स्नान गृहस्थ को शोभास्पद है।" अन्य भी कहते हैं कि-

पूआए कायवहो, पडिकुट्ठो सो उ किन्तु जिण पूआ।
सम्मत्त सुद्धिहेउ त्ति, भावणीआ उ निरवज्जा ॥१॥

अर्थात्- "श्री जिन पूजा में स्थावर आदि जीवों की हिंसा होती है, उतने अंश में वह विरुद्ध है, परन्तु वह समकित शुद्धि का कारण है, इसलिए जिन पूजा निष्पाप-निर्दोष समझनी चाहिए।" और भी कहा है कि-'जल स्नान आदि में यद्यपि छः काय जीवों की हिंसा रूप कुछ ही विराधना होती है, फिर भी 'कुएँ के उदाहरण से' श्रावक को वह द्रव्य क्रिया करना उचित है। पंशाशक ४ गाथा ४२ में कहा है कि-

अकसिणपवत्तगाणं, विरया विरयाण एस खलु जुत्तो।
संसार पयणु करणे, दव्वथए कूवदिट्ठं तो ॥४२॥

अर्थात्- "अपूर्व संयम वाला अर्थात् विरताविरत-देश विरति धर को इन पानी आदि द्रव्यों से प्रभु सेवा करने आदि द्रव्य स्तव निश्चय से संसार को कम करने के लिए युक्त है। उसमें कुएँ खोदने का दृष्टान्त समझना।"

अर्थात् जैसे कुएँ खोदने में थकावट लगती है, प्यास लगती है, कीचड़ मिट्टी से शरीर लिप्त आदि दोष उत्पन्न होते हैं, परन्तु पानी निकलते ही थकावट, तृषा, कीचड़, मिट्टी आदि दूर हो सकती है और हमेशा के लिए उसके पानी से अपना और दूसरों का अवश्य उपकार होता है, वैसे ही पूजा के लिए स्नान आदि करने में भी जीव हिंसा आदि आरंभ होता है, लेकिन जिन पूजा आदि से आत्मा में उत्पन्न हुए शुभ अध्यवसाय आत्मा की शुद्धि करते हैं और विशेष रूप में अशुभ कर्मों की निर्जरा करके शुभ-पुन्य कर्म का बन्धन भी करते हैं। इस विषय पर कई तो यह भी कहते हैं कि-"स्नान आदि द्रव्य स्तव में यह कुँए का उदाहरण भी उचि नहीं है, क्योंकि पूजा के लिए जयणा से स्नान करने में जीव हिंसा के मलिन परिणाम नहीं हैं, किन्तु पूजा के अध्यवसाय जल समान निर्मल शुभ होते हैं, इससे कीचड़ से लिप्त होने के समान पाप नहीं होता है, इसलिए कुँए खोदने का उदाहरण इसमें असंगत है। स्नानादि में वह दृष्टान्त इस तरह घटाना- समान खोदने वाले को तथा अन्य को उपकार का कारण बन सकता है, वैसे ही पूजा के लिए स्नान आदि करने वाले को शुभ भाव, अशुभ कर्मों की निर्जरा और पुन्य कर्म का बन्धन आदि उपकार करता है तथा अन्य जो उसकी अनुमोदनादि करता है उनको भी शुभ भाव आदि लाभ ही होता है।

यह मत आगम के अनुसार नहीं है, क्योंकि आगम में भी कहा है कि धर्म के लिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रवृत्ति करने में आरंभ द्वारा जो पाप होता है वह अल्प प्रमाण में भी पाप है ही । यदि ऐसा न हो तो भगवती सूत्र में कहा है कि- **''तहा रूवं णं समणं वा माहणंवा पडिहय पच्चक्खाय पाव कम्मं ? अफासुएणं अणे सणिज्जेण असण-पाण-खइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे भन्ते! कि कज्जइ ? गो० । अप्पे पावे कम्मे, बहुअरिआ से निज्जरा कज्जइ ।''** अर्थात्-''हे भगवन्त ! ऐसे श्रमण अथवा माहण जिन्होंने पाप कर्मों को छोड़ दिया है और उनका पच्चक्खान किया है उनको अप्रासुक और अनेषणीय (अर्थात् कल्पनीय न हो ऐसा सचित्त या दूषित अशन-पान, खादिम-स्वादिम-चार प्रकार का आहार वहोराने से क्या फल मिलता है ?'' तब भगवन्त कहते हैं कि- ''हे गौतम ! अल्प पाप कर्म बंधन और बहुत ही प्रमाण में उसकी निर्जरा होती है ।'' यह भगवती सूत्र का वचन कैसे घट सकता है और ''बीमार साधु की कारण यतना से औषधादि सेवा करने पर भी पंचकल्याणक जितना भी प्रायश्चित्त आता है ।'' इस तरह आगम में कहा है वह किस तरह घट सकता है इत्यादि । पूजा पंचाशक गाथा १० की टीका में जो समाधान किया है उसकेअनुसार यहां समझना । वहाँ कहा है कि-

एहणाइवि जयणाए, आरम्भवओ गुणाय णियमेण ।
सुह भाव हेउओ खलु, विण्णेयं कूवणा एणं ॥१०॥

अर्थात्- ''आरंभ वाले गृहस्थ को यतना पूर्वक स्नान करना आदि भी निश्चय से शुभ भाव का कारण होने से अवश्यमेव गुण कारक होता है । उस कुँए के उदाहरण से जानना'' यहाँ मुख्यतया जयणा से लाभ-शुभ भाव का निमित्त होता है ।

इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा आदि के उद्देश्य से ही गृहस्थ को द्रव्य स्नान करने का अधिकार है, इससे उनको सामान्य पूजादि के कारण के बिना भी द्रव्य स्नान को पुन्य का कारण कहा है- वह झूँठ समझना । इसके अनुसार द्रव्य स्नान का वर्णन करके अब भाव स्नान का स्वरूप कहते हैं । भाव स्नान शुभ ध्यान रूप है । अष्ट प्रकरण २-६ में कहा है कि-

ध्यानऽभ्यसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् ।
मलं कर्म समाश्रित्य, भाव स्नानं तदुच्यते ॥६॥

अर्थात्- ''शुभ ध्यान रूपी पानी से कर्म रूपी मैल को दूर करके जीव की हमेशा के लिए शुद्धि करने वाला जो स्नान है वह भाव स्नान कहलाता है ।''

इस तरह दोनों स्नान का स्वरूप कहा है । किसी को फोड़ा फुंसी आदि हो जाने से जल स्नान करने पर भी उसमें से पीब निकलती रहे तो उसे श्री जिनेश्वर परमात्मा की जल, चन्दन, पुष्प आदि से अंग पूजा स्वयं नहीं करनी चाहिए परन्तु पुष्प, चन्दन आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने द्रव्य दूसरों को देकर उसके समान पूजा करवा सकता है तथा अक्षत-फल-नैवेद्य आदि से अग्र, पूजा, स्तुति, चैत्य वन्दन से गुणगान आदि भाव पूजा तो स्वयं अपने आप ही कर सकता है । क्योंकि शरीर की पवित्रता बिना स्वयं अंग पूजा करे तो आशातना लगने से निषेध किया है । कहा है कि-

निःशूकत्वाद शौचेऽपि, देव पूजां तनोति य ।
पुष्पैर्भूपति तैर्यश्च, भवतः श्वपचावि मौ ।।१।।

अर्थात्- ''अपना शरीर भी पवित्र नहीं होने पर निर्ध्वंस परिणाम से जो देव पूजा करता है और जमीन पर गिरे हुए फूलों से जो देवा पूजा करता है, वे दोनों चांडाल के घर में जन्म लेते हैं ।''

यहाँ तक जिस तरह विधि कही है उसी तरह स्नान करने के बाद पवित्र और कोमल, गंधकायादिक, सुगन्धिमय उत्तम वस्त्र आदि से शरीर को अच्छी तरह पोंछकर, फिर पूजा के कपड़े सिवाय ऊन, शण आदि के सूखे वस्त्र बदलना । उसके बाद भीगे पैर से भूमि का स्पर्श न हो, वैसे पवित्र स्थान पर आकर उत्तर सन्मुख मुख रखकर पूजा के लिए, सीये बिना अखण्ड, उत्तम जाति के और नये, धोती तथा उतरासंग (दुपट्टा) खेस इस तरह दो श्वेत वस्त्र पहनने चाहिएं । कहा है कि-

विशुर्द्धि वपुणः कृत्वा, यथा योग्य जलादिभिः ।
धौत वस्त्रे वसीत द्वे, विशुद्धे धूप धूपिते ।।१।।

अर्थात्- ''जल आदि से यथा योग्य शरीर की शुद्धि करके धुले हुए और धूप से सुगन्धमय बने दो वस्त्र पूजा करने के लिए पहनने चाहिएं ।'' लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि-

न कुयति् स्त्रन्धितं वस्त्रं, देवकर्मणि भूमिप ।
न दग्धं नतु वैच्छिन्नं, परस्स तु न धारयेत् ।।१।।

कटिस्पृष्टं तु यद्वस्त्रं पुरिषं येन कारितम् ।
समूत्रं मैथुनं वापि तद्वस्त्रं परिवर्ज्जयेत् ।।२।।

एक वस्त्रो न भुञ्जीत, न कुर्यादवतार्चनं ।
न कञ्चुकं बिना कार्या देवार्या स्त्रीजनेन तु ।।३।।

अर्थात्- ''हे राजन्! युधिष्ठिर ! देव की पूजा आदि कार्य में सिला हुआ, जला हुआ या फटा हुआ वस्त्र नहीं पहनना चाहिए, तथा दूसरे का पहना हुआ भी नहीं पहनना चाहिए ।१।। जो वस्त्र कटि प्रदेश में लगा हो अर्थात् लंगोटी-निकर आदि छोटे वस्त्र हों अथवा जिसे पहनकर मल, मूत्र, मैथुन आदि किया हो, वह वस्त्र देव-पूजा कार्य में नही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पहनना चाहिए ।२॥ पुरुषों को केवल एक ही वस्त्र पहन कर भोजन और देव पूजन नहीं करना चाहिए तथा स्त्रियों को कंचुक-चोली के बिना देव पूजा आदि नहीं करनी चाहिए ।३॥''

इस तरह पुरुषों को दो वस्त्र बिना और स्त्रियों को तीन वस्त्र बिना देव पूजा आदि करना नहीं कल्पता है । इस तरह पूजा की सात प्रकार की शुद्धि में अंग शुद्धि और वस्त्र शुद्धि भी कही है । पूजा के लिए मुख्यतः अति उत्तम और धोये हुए-क्षीरोदक आदि के समान उज्ज्वल वस्त्र रखने चाहिएं । निशीथ सूत्र आदि में उदयन राजा की पट्टरानी प्रभावती आदि के पूजा के वस्त्रों को साफ और उज्ज्वल कहा है । श्राद्ध दिन कृत्य गाथा २८वीं में भी ''**सेयवत्थनिअंसिणो**'' इस पाठ से अर्थात्-'पवित्र सफेद दो वस्त्रों को पहनना' बतलाया है । यदि ऐसे उत्तम क्षीरोदक आदि वस्त्र उपयोग करने की शक्ति-संपत्ति न हो तो भी कोमल सूती उत्तम वस्त्र पूजा के लिए पहने । पूज्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी महाराज कृत पूजा षोडशक ६१५ में कहा है ''**सितशुभवस्त्रणति**'' इसकी टीका में उज्ज्वल या शुभ वस्त्र से पूजा करनी चाहिए- ऐसा अर्थ किया है । उसमें 'शुभ' अर्थात् उज्ज्वल के सिवाय दूसरे भी उत्तम जाति के लाल, पीले आदि रंग वाले वस्त्र युगल-दो वस्त्र की जोड़ी-ऐसा अर्थ कहा है तथा मूल आगमों में भी बहुत स्थानों में ''**एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ**'' ऐसा पाठ आया है । इससे उत्तरासंग (दुपट्टा) अखण्ड होना चाहिए। दो कपड़े के टुकड़े जोड़े हुए नहीं होना चाहिए । पूजा के उन दो वस्त्रों से भोजन आदि का कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि पसीने आदि से वह अपवित्र हो जाता है । उपयोग के अनुसार उसे बारम्बार धोना, धूप आदि देकर पवित्र रखना चाहिए । अन्य के पूजा के वस्त्र भी जब तक हो सके, तब तक उपयोग नहीं करना । उसमें बाल, वृद्ध अथवा स्त्री के तो खास करके नहीं पहनने । पूजा के कपड़ों से पसीना, कफ आदि साफ नहीं करना और हर समय उपयोग करने के या उपयोग होते कपड़ों से पूजा के कपड़ों को अलग रखना, एक साथ में नहीं रखना । यहाँ तक मूल ६१ वें श्लोक में बतलाया 'विधि पूर्वक स्नान करके'- उस विषय का विशेष स्वरूप कहा । अब विधि पूर्वक श्री जिनेश्वर भगवन्त की मूर्तियों के प्रक्षालन (अभिषेक) के विषय में वर्णन करते हैं-

प्रतिमा अभिषेक- पूजा के विषय की पुष्प आदि समग्र सामग्री एकत्रित करके फिर प्रक्षालन-अभिषेक करना होता है । इसलिए पहले पूजा की सामग्री क़िस तरह से प्राप्त करना, वह कहते हैं । उसमें पुष्प बागीचों आदि उत्तम स्थानों से, माली या बाग के रक्षकों को संतोष हो- इस तरह, सम्पूर्ण मूल्य देकर, अपने आप अथवा अपने खास विश्वासी अन्य पुरुष के द्वारा मंगाना चाहिए क्योंकि गाँव या बड़े शहर आदि में पुष्प बासी तथा मैले कपड़े से बांधकर लाते हैं, इससे आशातना लगती है । अतः वे पवित्र टोकरी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अथवा धातु के उत्तम पात्र में, ऊपर पवित्र वस्त्र ढके हुए और छाती जितना ऊँचे दोनों हाथों में धारण करके लाना या मंगवाना चाहिए। इस तरह पानी भी उत्तम स्थान से, उत्तम पवित्र पात्र में दोनों हाथ से उठाकर बहुमान पूर्वक लाना या मंगवाना चाहिए। इस तरह सर्व वस्तु के लिए यह विधि समझना। उसके बाद उत्तरासंग दुपट्टा-खेस के छेड़े के आठ पटकर के मुख-नाक का बन्ध न हो इस तरह मुख कोश बाँधना। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

काऊण विहिणा ण्हाणं, सेयवत्थ नि अंसिणो ।
मुह कोसं तु फाऊणं, गिह बिंबाणि पमज्जए ॥२४॥

अर्थात्- "विधि पूर्वक स्नान करके पवित्र श्वेत वस्त्रों को जिसने धारण किया हो, ऐसा श्रावक मुख कोश बांधकर घर मंदिर की जिन प्रतिमाओं का प्रमार्जन करे।"

मुख कोश भी जैसे समाधि रहे इस तरह बांधना चाहिए अर्थात् कोई रोगी या अति सुकुमार शरीर वाला, अशक्य आदि हो, यदि श्वासोच्छ्वास रोकने से नासिका का दर्द आदि होता हो तो नासिका को न भी बांधे, यह अपवाद मार्ग है क्योंकि पूजा पंचाशक की २० वीं गाथा में कहा है कि-"**पत्थेण बंधि ऊण, णासं अहवा जहा समाहीए।**" अर्थात् इसकी टीका में यह बतलाया है कि-"वस्त्र द्वारा नाक बांध कर अथवा यदि नाक बांधने से असमाधि होती हो तो नाक को बंधन किये बिना भी जिस तरह समाधि रहे उस तरह मुख कोश बांधना चाहिए। अथवा सर्व कार्यों में निष्कपट भाव से अपनी शक्ति को छिपाये बिना करना चाहिए, जिससे अपनी आत्मा ठगी न जाय- इस तरह प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। ये बातें सर्व अधिकारों में यथायोग्य समझ लेनी चाहिएं। श्री जिन पूजा करते हुए इस तरह से मुख कोश बाँधना युक्ति से भी योग्य है, क्योंकि सेवक भी अपने स्वामी राजा आदि का जब अंग मर्दन या दाढ़ी-मूंछ की रचना आदि करते हैं तब इस तरह मुख बाँधकर ही करते हैं। वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि-

बंधित्ता कासवओ, वयणं अदुग्गुणाए पोत्तीए ।
पत्थिवमु वासए खलु, वित्ति निमित्तं भया चेव ॥१॥

अर्थात्- "हज्जाम आजीविका के लिए, राजा कोपायमान न हो इस भय से आठ गुणा-आठ पट वाले वस्त्र से मुख बाँधकर, राजा की उपासना अर्थात् हजामत आदि सेवा करते हैं।" इस तरह मुख बांधने के विषय में कहा।

इसके बाद प्रमार्जन-पवित्र बना, जिसमें त्रस जीव न हों, इस तरह शुद्ध किया और उत्तम जाति का पवित्र केसर, कपूर आदि के साथ चन्दन घिसकर दो पात्रों में अलग अलग एकत्रित करना। अधिक त्रस आदि जीव न हों ऐसा शुद्ध किया धूप, उत्तम घी का सम्पूर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दीपक, अखण्ड और निर्मल अक्षत-चावल, सुपारी, उत्तम जाति का ताजा नैवैद्य-मिठाई, सुन्दर उत्तम जाति के ताजे फल, निर्मल शुद्ध पानी से भरे पात्र-कलश इत्यादि सर्व सामग्री को एकत्रित कर पूजा के द्रव्यों की पवित्रता की संभाल करें। भाव से शुद्धि-पवित्रता तो राग, द्वेष, कषाय, ईर्ष्या, अलीक, परलोक के जड़मय सुखों की इच्छा, कुतूहल, व्योक्षेप अर्थात् मन की डाँवा-डोल दशा आदि का त्याग करके चित्त की एकाग्रता की साधना से होती है। कहा है कि-

मनोवाक्काया वस्त्रोर्वी पूजोपकरण स्थितेः ।
सुद्धि सप्तविधा कार्या, श्री अर्हत्पूजन क्षणे ॥१॥

अर्थात्- "मन, वचन, काया, वस्त्र, भूमि तथा पूजा की सामग्री की विशुद्धि एवं चित्त की स्थिरता- ये सात प्रकार की शुद्धि श्री अरिहंत परमात्मा की पूजा के समय रखनी चाहिएं।"

संबोध प्रकरण गाथा १३० में इसी तरह सात शुद्धि बतलाई हैं तथा पंडित श्री वीर विजय महाराज ने भी यही सात शुद्धि कही हैं। इस तरह द्रव्य और भाव से पवित्र होकर घर मंदिर में प्रवेश करे कहा है कि-

आश्रयन् दक्षिणां शाखां, पुमान् योषित्त्वदक्षिणाम् ।
यत्न पूर्वं प्रविश्यान्तर्दक्षिणे नाङ्घ्रिणाततः ॥१॥

सुगन्धि मधुरैर्द्रव्यैः प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ् मुखः ।
वामनाड्यां प्रवृत्तायां, मौन वान् देवमर्चयेत् ॥२॥

अर्थात्- "पुरुष को द्वार के दाहिनीं ओर और स्त्री को बांयी ओर से जयणापूर्वक मंदिर के अन्दर पहले दाहिना पैर रखकर प्रवेश करना चाहिए और पूर्व या उत्तर दिशा के सन्मुख रहकर सुगन्ध वाले, मधुर और उत्तम द्रव्यों से जब बायीं नासिका चले तब मौन पूर्वक देव पूजा करनी चाहिए।

इस तरह जो कहा है उसी तरह से मंदिर में प्रवेश करते निसिहि निसिहि बोले तथा तीन प्रदक्षिणा देना इत्यादि दस त्रिक विधि करनी चाहिएं। (दस त्रिक अधिकार आगे कहेंगे।) उसके बाद जिन मंदिर का प्रर्माजन करके पवित्र पट्टे आदि पर पद्मासन से बैठकर पहले घिसा हुआ कटोरी में से अथवा पूजा की बाटली में से, दूसरी बाटली में से या हथेली में लिए चन्दन से कपाल, गले, हृदय और पेट पर तिलक करे- ऐसा कहीं कहीं देखा जाता है वह योग्य है तथा कर्णिका, बाजूबंद, हस्त कंकण आदि पर आभूषणों का चित्रण। करे फिर दोनों हाथों में चन्दन से चित्रण करके धूप देकर रोम हस्तक-मोरपंखी के द्वारा प्रभु प्रतिमा से निर्माल्य द्रव्य उतारे। निर्माल्य का स्वरूप इस प्रकार से है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"भोग विणट्ठं दव्वं, निम्मल्लं विति गीअत्थ त्ति ॥"

अर्थात्- चैत्य वृहत्भाष्य गाथा ६६ में कहा है कि- "जो गीतार्थों के भोग से नष्ट हुआ हो वह द्रव्य निर्माल्य कहलाता है।" तथा "जिन प्रतिमा पर चढ़े हुए भी जो निस्तेज हो गये हों, जिसकी शोभा चली गई हो, जिसकी गंध बदल जाने से विगंध वाला बन गया हो और जिससे शोभा के अभाव में दर्शन करने वाले भव्य जीवों के मन को प्रमोद-आनंद उत्पन्न न हो सके, ऐसे पदार्थों को बहुश्रुतों ने निर्माल्य कहा है।" इस तरह पूज्य श्री देवेन्द्र सूरी जी महाराज कृत संघाचार भाष्य की गाथा ६ की टीका के अन्दर पूजात्रिक के अधिकार में कहा है कि-जो जो द्रव्य भोग से नष्ट हो गया हो, फिर चढ़ाने योग्य न रहे हों उन्हें निर्माल्य द्रव्य समझना। इससे विचार सार प्रकरण में कहा है कि-"जिन प्रतिमा के सामने अक्षत आदि जो रखा हो वह निर्माल्य गिनना।" यह उचित नहीं है, क्योंकि अन्य शास्त्रों में निर्माल्य का अर्थ इस तरह नहीं दिखता और युक्ति से भी यह अर्थ घटता नहीं है। इसके अनुसार निर्माल्य का स्वरूप कहता हूँ। तत्व तो केवली गम्य जानें। वर्षा ऋतु आदि काल में तो उतरे हुए निर्माल्य पुष्प आदि में कुंथुए आदि त्रस जीवों की उत्पत्ति हो सकती है, इसलिए जहाँ मनुष्यों का संघट्ट-स्पर्श, आक्रमण आदि न हो- इस तरह पवित्र स्थान पर वह अलग अलग परठना चाहिए। इस तरह करने से जीव हिंसा और आशातना भी नहीं होती। इसी तरह से स्नात्र-प्रक्षाल के पानी के विषय में समझ लेना। उसके बाद श्री जिन प्रतिमा का सावधानीपूर्वक प्रमार्जन करके, थाल आदि (जो पात्र भोजन आदि अपने कार्यों में न उपयोग किया हो) ऐसे पवित्र पात्र में श्री जिनेश्वर की मूर्ति को विराजमान कर, उच्च स्थान पर स्थापन कर, फिर पवित्र जल कलश आदि से दोनों हाथ से अभिषेक करना चाहिए। प्रक्षाल के पानी में पहले से ही केसर आदि मिश्रित करना चाहिए। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि -

घुसिण कप्पूर मीसं तु काउं गंधोदगं वरं ।
तओ भुवणणाहे तु, ण्हवेइ भत्ति संजुओ ॥५६॥

अर्थात्- "भक्तिवंत श्रावक को प्रमार्जन करने के बाद केसर, बरास तथा उत्तम औषधियों और चंदन आदि से मिश्रित करके उत्तम सुगन्धित जल से त्रिभुवन नाथ परमात्मा को स्नान कराना चाहिए।"

भगवान का प्रक्षालन करते समय इस तरह भावना का चिन्तन करे कि-

बालत्तणंमि सामिअ ! सुमेरु सिहरंमि कणय कलसेहिं ।
तिअसा सुरेहिं ण्हविओ, ते धन्ना जेहि दिट्ठोसि ॥१॥

अर्थात्- "हे स्वामिन् ! बाल्यकाल में-जन्म के समय में सुमेरु गिरि पर सुवर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि कलशों के द्वारा देव-दानव-इन्द्रों ने स्नात्र महोत्सव किया था, उस समय जिन्होंने आपके दर्शन किए थे उन आत्माओं को धन्य है ।''

हे प्रभु ! उस समय मैं किस गति-योनि में घूम रहा था वह मुझे ज्ञान नहीं है। अब इस जन्म में आपकी मूर्ति के दर्शन हुए हैं, इसे वास्तविक परमात्मा समझकर इस ऊँचे स्थान को मेरु पर्वत मानकर जन्मोत्सव रूप अभिषेक महोत्सव करता हूँ, इत्यादि चिन्तन करते प्रक्षालन करे ।

मुख्य रूप में प्रक्षालन पूजा आदि करते समय मौन धारण करना चाहिए । यदि बोलना हो तो पापकारी वचन का अवश्य ही त्याग करना चाहिए । यदि ऐसा नहीं करता तो तीन बार जो निसीहि कहा था वह निरर्थक बनता है । इसी तरह शरीर को स्पर्श करना, खुजली करना इत्यादि का भी त्याग ही करना चाहिए । श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

कायकण्डूयणं वज्जे, तहा खेल विगिं चणं ।
थुइ थुत्त भणणं चेव पूअं तो जग बंधूणो ॥५८॥

अर्थात्- ''जगत् के बन्धु श्री जिनेश्वर भगवान श्री पूजा करते हुए श्रावक को शरीर में खुजली करना, थूक, बलगम आदि निकालना तथा स्तुति-स्तोत्र बोलना इत्यादि सब बातों का त्याग करना चाहिए ।''

इसके बाद जयना पूर्वक भीगे अंग लूंछने से बारीक भागों में जमा हुआ केसर चन्दन साफ करना चाहिए । बाला (खस) कूंची को तो अति आवश्यकता हो तभी उपयोग करना चाहिए । इस तरह प्रभु को स्नान करवाना । फिर एक अंग लूंछने से पानी साफ करना और धूप से वासित कर दूसरे अंग लूंछने से बारम्बार मूर्ति के सारे अंगों को स्पर्श करके प्रतिमा को सर्वथा कोरी कर लेना चाहिए । यदि रह जाय तो तीसरे बार अंगलुंछन करना चाहिए । जहाँ जहाँ थोड़ा भी भीगा रह जायेगा तो वहाँ वहाँ पर श्यामलता, कालिमा और नील-फूलन आ जाती है । इसलिए प्रतिमाओं में जरा भी भीगापन नहीं रखना चाहिए । पंचतीर्थी आदि प्रतिमा तथा चौबीसी के पट्टसिद्धचक्र यन्त्र आदि में स्नात्र का पानी परस्पर लगे तो भी दोष नहीं लगता है । इसके लिए संबोध प्रकरण देवाधिदेव अधिकार में कहा है-

रायप्प सेणइज्जे, सोहम्मे सूरियाभ देवस्स ।
जीवाभिगमे विजया पुरीइ विजयाइ देवाणं ॥१७५॥
भिगाइ लोम हत्थय लूहण या धूवदहण माअं ।
पडिमाणं सक हाण य, पूयाए इक्कयं भणि यं ॥१७५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निव्वु अजिणिंदसकहा, सग्ग समुग्गेसु तिसु विलोएसु ।
अन्नोन्नं संलग्गा, ण्हवण जलाईहिं संपुट्ठा ॥१७६॥

पुव्वधर काल विहिआ, पडिमा दीसंति केसुवि पुरेसुं ।
वत्तक्खा खित्तक्खा, महक्खया, गंध दिट्ठा य ॥१७६॥

अर्थात्- "श्री रायप सेणी सूत्र के अन्दर सौ धर्म देवलोक में सुरियाभ देव के अधिकार में एवं श्री जीवाभिगम सूत्र के अन्दर विजया नगरी में विजय देव के वर्णन में कहा है कि-कलश, लोमहस्त (मोर पीछी), अंगलूंछना धूपदानी आदि शाश्वत प्रतिमाओं तथा श्री जिनेश्वर भगवान की दाढ़ाओं के पूजन के लिए उपकरण एक ही होते हैं, अलग अलग नहीं होते। निर्वाण हुए श्री जिनेश्वर देव की दाढों आदि को तीनों लोकों में देवों ने बज्र के डिब्बों में एकत्रित करके ही रखे हैं और स्नात्र जल आदि से भी वह परस्पर स्पर्श होते हैं, अर्थात् वहां स्नात्र जल आदि एक दूसरे को स्पर्श होता है, और पूर्व घरों में प्राचीनकाल में भराई या बनायी हुई एक व्यक्ति प्रतिमा, दूसरी क्षेत्र प्रतिमा, और तीसरी महाप्रतिमा, इस तरह तीन प्रकार की प्रतिमाएं कई शहरों के अन्दर देखने में आती हैं।" श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी ने प्रतिमा षोडशक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि-

व्यक्त्याख्या खल्वेका, क्षेत्राख्या चापरा महाख्या च ।
यस्तीर्थं कृद्यदा किल, तस्य तदाद्येति समय विदः ॥२॥

ऋषभाद्यानां तु तथा, सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया ।
सप्तत्यधिक शतस्य तु चरमेह महाप्रतिष्ठेति ॥३॥

अर्थात्- "व्यक्ति प्रतिमा, क्षेत्र प्रतिमा और महा प्रतिमा- इस तरह तीन प्रकार की प्रतिमाएँ कही हैं। उसमें जिस काल में जो तीर्थंकर परमात्मा हो, उस काल में उनकी प्रतिमा को श्रुतधर ज्ञानी पुरुष 'व्यक्ति प्रतिमा' कहते हैं। भारतादि किसी एक क्षेत्र के श्री ऋषभदेव आदि सर्व चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों की एक पट में एकत्रित बनाई हो उसे 'क्षेत्र प्रतिमा' जानना और सर्व क्षेत्रों के एक सौ सत्तर तीर्थंकर भगवन्तों की एक ही पट पर प्रतिमा बनाई हो उसे 'महा प्रतिमा' समझना।" और सम्बोध प्रकरण में कहा है कि-

माला धराइ आणं वि, ण्हवण जलाई फुसेइ जिण बिंबं ।
पुत्थय पत्ताइण वि, उवरूवरिं फरिसणाई अं ॥१७८॥

ता नज्जई नो दोसो, करणे चउवीस वट्टयाईणं ।
आयरणा जु त्तो ओ, गंथेसु य दिस्समाण त्ता ॥१७६॥

अर्थात्- "और परिकर में रहे 'मालाधारी' आदि देवों के स्नान-प्रक्षालन का पानी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि श्री जिन प्रतिमा के शरीर को स्पर्श करे, या पुस्तक आदि के पन्नों का एक दूसरे के नीचे से ऊपर परस्पर स्पर्श आदि होता है, तो उसमें दोष नहीं दिखता। क्योंकि चौबीस पट्ट आदि भराने-बनाने की प्राचीन आचरणा (परम्परा) है और शास्त्र ग्रन्थों में भी उस प्रमाण का आधार मिलता है।" यदि आशातना-दोष होता तो ऐसे पट्ट आदि बनाने की परम्परा प्रारंभ नहीं होती, उलटा शास्त्र में उसके दोषों का उल्लेख किया होता, परन्तु ऐसा कहीं नहीं मिलता। चैत्य वंदन महा भाष्य में भी कहा है कि-

जिण रिद्धि दंसणत्थं, एगं कारेइ कोइ भत्ति जुओ ।
पायडि अपाडिहेरं, देवागम सोहियं चेव ॥२७॥

दंसण नाण चरित्ताऽऽ राहण कज्जे जिणत्तिअं कोई ।
परमिट्ठि नमोक्कारं, उज्जमिउं करेइ पंच जिणा ॥२८॥

कल्लाणयतवमहवा, उज्जमिउं भरहवास भावि त्ति ।
बहुमाण विसेसाओ, केई कारिंति चउ वीसं ॥२९॥

उक्कोसं सत्त रिसयं नर लोए विहरइत्ति भत्तीए ।
सत्त रिसयं पि कोई, बिंबाणं कारइ धणड्ढो ॥३०॥

अर्थात्- " श्री तीर्थंकर परमात्मा की ऋद्धि के दर्शन करने के उद्देश्य से किसी भक्तिवान श्रावक ने प्रातिहार युक्त तथा देवों के आगमन आदि-परिकर या समवसरण से युक्त, अमुक किसी एक तीर्थंकर की प्रतिमा बनायी हो, किसी ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र- इन तीनों की आराधना के लिए तीन प्रतिमायें बनाई हों, पंच परमेष्ठि श्री नमस्कार महामन्त्र की आराधना करके उसके उद्यापन के लिए किसी ने पाँच जिनेश्वर देव एकत्रित (पंचतीर्थ) प्रतिमा करवायी हो, अथवा तो किसी ने भरत क्षेत्र के जिनेश्वर देवों के कल्याणक तप करके उद्यापन में बहुमान पूर्वक प्रत्येक प्रतिमा के चौबीस पटक बनवाये हों और कोई धनाढ्य तो भक्ति योग से मनुष्य लोक में पंद्रह कर्म भूमि में उत्कृष्टा एक सौ सत्तर जिनेश्वर देव विचरते हों- उसके लिए वह एक सौ सत्तर तीर्थंकर देवों के पट्ट भी बनाते हैं।"

इस तरह का कथन होने से तीन तीर्थ, पंच तीर्थ या चौबीस के पट्टक आदि कराना असंगत नहीं है, परन्तु उचित है और इस तरह प्रतिमा बनाने का विधान है। उन सबको एक साथ में प्रक्षालन कराने से एक दूसरे के प्रक्षालन के पानी का परस्पर स्पर्श होता है, फिर भी दोष नहीं है। अंग लूंछना हाथ आदि प्रतिमा के प्रक्षालन के लिए पानी के पात्र में से पानी लेकर नहीं धोना चाहिए, परन्तु अन्य पात्र में रखकर शुद्ध पानी से धोना अर्थात् श्री जिन प्रतिमा के बहुमान की खातिर एक ही जाति के होने पर भी चन्दन-पानी आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्रव्य पूजा के लिए अलग रखना और अपने तिलक करने अथवा हाथ धोने आदि के लिए भी अन्य पात्र-बर्तन में वह अलग रखना। इस तरह स्नान-प्रक्षालन की विधि जानना। अब पूजा का स्वरूप कहते हैं -

अंग पूजा, अग्र पूजा और भाव पूजा- ये तीन प्रकार की पूजा हैं। उसमें पूर्वोक्त स्नात्र (जल पूजा) रूप एक अंग पूजा कही है। अब दूसरी चन्दन पूजा रूप अंग पूजा कहते हैं। चन्दन पूजा पहले (१) भगवान के पैर का दाहिना अंगूठा फिर पैर का बांयां अंगूठा, (२) दाहिना घुटना तथा बांया घुटना, (३) दाहिना हाथ और बांया हाथ, (४) दाहिना कंधा और बांया कंधा, (५) मस्तक, (६) ललाट, (८) हृदय, (६) नाभि- इस तरह नौ अंग की पूजा क्रमशः करना। इसका अधिकार इस ग्रन्थ में आगे कहा जायेगा। इससे नौ अंग में सृष्टि क्रम से अर्थात् क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर- यह सृष्टि क्रम और इससे उलटा संहारक्रम कहलाता है। इस क्रम से केसर, वरास आदि से मिश्रित गोशीर्ष, चन्दन आदि से पूजा करे। कोई ऐसा भी कहते हैं कि पहले भाल-ललाट में तिलक करके फिर नौ अंग में पूजा करना चाहिए। पूज्य श्री जिन प्रभु सूरी जी कृत पूजा विधि में तो कहा है कि-

"सरस सुरहि चंदणेण देवस्स दाहिण जाणु-दाहिण खंध-निलाड-वामखंड, वाम जाणु लक्खणेसु पंचसुहिअएहिं सह छसु वा अंगेसु पूअं काऊण पच्चग्ग कुसुमेहिं गंध वासेहिं च पूएइ।" अर्थात् ताजे सुगन्धित चन्दन से श्री जिनेश्वर भगवान के दहिना घुटना दहिना कंधा, ललाट, बांया कंधा और बांया घुटना ये- पाँच अंग अथवा हृदय सहित छह अंगों पर पूजा करके ताजे पुष्पों द्वारा और सुगन्धित वासक्षेप द्वारा पूजा करनी चाहिए।

इसके बाद तीसरी पुष्प पूजा नामक अंग पूजा है। इसमें सुन्दर श्रेष्ठ वर्ण वाले सुगन्धिमय ताजे, जो जमीन पर न पड़े हों इस तरह, पूर्ण खिले हों और जिनकी पंखुड़ियाँ आदि नष्ट न हुई हों- ऐसे ताजे अनेक जाति के अलग-अलग पुष्पों से अथवा-अलग अलग रूप से हार आदि से पूजा करे अर्थात् यहाँ कैसे पुष्पों से पूजा करनी चाहिए वह कहते हैं कि-

न शुष्कैः पूजये देव, कुसुमैर्न मही गतैः।
न विशीर्ण दलैः स्पृष्टैर्नाशुभैर्नाऽविकाशिभिः ॥१॥

कीट कोशापविद्धानि, शीर्ण पर्युषितानि च।
वर्जयेदूर्ण नाभेन, वासितं यद शोभितम् ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूति गन्धीन्य गन्धीनि, अम्लगन्धीनि वर्ज्जयेत् ।
मल मूत्रादिनिर्माणा दुच्छिष्टानि कुतानि च ॥३॥

अर्थात्- ''फूल सूखा हो, जमीन पर पड़ गया हो, टूटी हुई पंखुड़ियों वाला हो, अशुभ वस्तुओं के साथ स्पर्श किया हो और खिला न हो- उसे देव पूजा में उपयोग नहीं करना चाहिए तथा जिस पुष्प की कलियां अधिक बरसात से या कीड़े आदि से खायी गयी हों, जो दब गया हो, जो पहले दिन का रखा बासी हो, जिसके ऊपर मकड़ी ने जाल गूंथ दिया हो, जो देखने में सुशोभित न हो जो खराब गन्ध वाला हो, जिसमें कुछ भी गन्ध न हो अथवा जिसकी गन्ध में खटास हो और जिसके पास फूल आदि होने पर टट्टी-पेशाब आदि किया हो- ऐसे पुष्पों से देव पूजा नहीं करनी चाहिए ।''

जो सामर्थ्य संपत्ति वाला हो वह तो रत्नमय, सोना या मोती मय, मुकुट-हार आदि आभूषण चढ़ाये-पहनाये, सोने चांदी के पुष्पों आदि से और सुन्दर अलग अलग जाति के चंद्रखा-पीछाड़ी आदि रेशमी वस्त्रों से जिन प्रतिमा को अलंकृत करे । इस तरह करने से अपने को महान लाभ मिलता है तथा साथ में अन्य आत्माओं को भी भाव वृद्धि आदि का बहुत उपकार होता है । सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में कहा है कि-

पवरे हिं साहणे हिं, पायं भावो वि जायए पवरो ।
न य अन्नो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो ॥१६७॥

अर्थात्- ''पूजा में साधन-सामग्री उत्तम होने से जीव को प्रायः भाव भी उत्तम होते हैं और सत्पुरुषों के पुण्य के योग से प्राप्त हुई अपनी सामग्री को जिनेश्वर की भक्ति में उपयोग करने के समान उत्तम उपयोग भी अन्य कोई नहीं है ।''

श्राद्धविधि ग्रन्थ की टीका में तो इतना विशेष कहा है कि श्रेष्ठ, मुरझाये बिना, विधि पूर्वक लाए हुए, शतपत्र, सहस्रपत्र, जोइ, केतकी, चम्पक आदि के पवित्र पुष्पों को गूंथकर, अंगूठी में भरकर या समूह से जिन प्रतिमा के लिए माला, मुकुट आदि अथवा पुष्प ग्रह, जाल गूंथकर, मंडप आदि बनवाये । चन्दन पूजा, पुष्प पूजा आदि इस तरह करनी चाहिए कि जिससे प्रतिमा के नेत्र मुख आदि ढक न जायें और शोभा में सुन्दरता बढ़े जिससे कि दर्शन करने वालों को दर्शन करने में हर्ष और भावना की वृद्धि हो अर्थात् दर्शन करने वालों का उल्लास । बढ़े जिस तरह सुन्दर लगे वैसे पुष्प पूजा करनी चाहिए तथा मुख, आंखें आदि न ढकें- इस तरह ख्याल रखना चाहिए । इसके सिवाय 'भगवान के ऊपर कुसुमांजलि चढ़ाना, पंचामृत से प्रक्षालन करना, शुद्ध जल की धारा देना, केशर-बरास आदि से मिश्रित चंदन विलेपन करना, शरीर पर आंगी-अंग रचना, करना गोरोचन-कस्तूरी आदि से तिलक पत्रभंगी आदि (ललाट या नेत्रों पर भ्रकुटी की रचना) करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इत्यादि भी अंग पूजा के भेद भक्ति चैत्य की पूजा के अधिकार में कहे जायेंगे। वह यथा योग्य जानना। श्री जिन प्रतिमा की हथेली में सोने का बीजोरा या श्रीफल, सुपारी, नागरवेल का पान तथा सोना, चाँदी के सिक्के, सोने की मोहर आदि रखना चाहिए। कृष्ण गुरु आदि उत्तम जाति का धूप करना तथा सुगन्धित वासक्षेप करना– ये सारा अंगपूजा में ही गिना जाता है। चैत्य वन्दन महाभाष्य में कहा है कि–

ण्हवण विलेवण आहरण, वत्थ फलं गंध धूव पुप्फेहिं।
कीरइ जिणंग पूआ, तत्थ विही एस णायव्वो ॥

अर्थात्– "स्नान, विलेपन, आभूषण, वस्त्र, फल (हाथ में रखने वाला बीजोरा आदि), सुगन्धमय वासक्षेप–चूर्ण आदि, दशांगादि धूप और पुष्पों से श्री जिनेश्वर देव की अंग पूजा कर सकते हैं। इसकी विधि इस तरह जानना।" उसमें धूप श्री जिनेश्वर देव के दाहिने अंग की ओर से करना। इस प्रकार प्रथम अंग पूजा के स्वरूप का वर्णन कहा। अब अग्र पूजा का वर्णन करते हैं–

उसके बाद ताजा सुगन्ध वाले घी से भरे पूर्ण दीपक द्वारा, उत्तम जाति के अखंड चावलों द्वारा, बीजोरा आदि विविध जाति के उत्तम फलों द्वारा, सर्व प्रकार के नैवेद्य द्वारा तथा निर्मल जल से भरे उत्तम शंख आदि जल पात्र श्री जिन प्रतिमा के सन्मुख स्थापना करना (पहले ऐसा रिवाज था)। इससे अंग पूजा करना इसमें दीपक श्री जिन प्रतिमा के दाहिने ओर स्थापित करना और चाँदी सोने के बनाए अथवा अखण्ड चावलों से श्री जिन प्रतिमा के आगे आठ मंगल की रचना करना। वे आठ मंगल इस प्रकार हैं १– दर्पण, २– भद्रासन, ३– वर्द्धमान (शराव संपुट), ४– श्रीवत्स, ५– मत्स्य युगल, ६– स्वास्तिक, ७– कुंभ और ८– नंदावर्त्त। अथवा अन्य रीति से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के निमित्त पट्टे आदि पर सृष्टिक्रम से उत्तम अक्षत से तीन ढेर करना और उनके ऊपर सुपारी आदि फल रखना। आम आदि कोई नया फल जब आए तब पहले उसे जिनेश्वर भगवन्त को भेंट करना। यदि संपत्ति सामर्थ्य हो तो चावल, रोटी आदि अशन, गुड़, शक्कर आदि का पानी, फल आदि खादिम और पान आदि स्वादिम– इन चारों प्रकार के आहारों से जिनेश्वर भगवान की नैवेद्य पूजा करना। यह नैवेद्य पूजा तो हमेशा भी करनी आसान है और महाफल को देने वाली है। उसमें पकाया हुआ अनाज प्रतिपादन किया है, इसलिए पके अनाज की पूजा करना विशेष फल देने वाला है और गृहस्थ को प्रायः कर खाना बनाने से हमेशा ही नैवेद्य पूजा करना सरल है। पके अनाज का विधान आवश्यक निर्युक्ति के अन्दर समवसरण के अधिकार में "कीरइ बली" में 'बली' शब्द से कहा है अर्थात् अन्न या पकाया हुआ चावल अर्थ कहा है। निशीथ सूत्र में भी "**तओ पभावई देवीए सव्वं बलिमाइ काउं मणियं– "देवाहिदेवो वद्धमाण सामी तस्स पडिमा कीरउत्ति,**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाहिओ कुहाडो, दुहा जायं पिच्छइ सव्वालंकार विभूसिअं भगवओ पडिम ।'' इस सूत्र में 'बलिमाइ काउं' शब्द से तथा निशीथ सूत्र की पीठिका में भी **'बलित्ति असि ओवसमनिमित्तं कू रो किज्जइ'** इस सूत्र से सर्व उपद्रव शान्त करने के लिए 'क्रूर' (अन्न पकाया हुआ चावल) करना वह बली कहलाता है- ऐसा बतलाया है । महानिशीथ सूत्र के तीसरे अध्ययन में-**''अरिहंताणं भगवंताणं गंध मल्ल पईव संमज्जणो वलेपण वित्थिण्ण बलि वत्थ-धूवाई एहिं पूजा सक्कारेहिं पइ दिणमब्भच्चणं पकुत्वाणा तित्थुप्पणं (णणइं) करा मोति ।''** कहा है, उसमें **'वित्थिण्ण बलि'** शब्द बतलाया है । इसके अनुसार आगम में बलि नैवेद्य पूजा के विषय में अनेक शास्त्र पाठ आए हैं उसमें बाद गोशीर्ष चन्दन के रस से पंचांगुली के साथ में हाथ के तलिये द्वारा मंगल आलेखन-चित्रण आदि करना- यह सारा अग्र पूजा में कहा जाता है । चैत्य वंदन वृहद् भाष्य में कहा है कि-

गंधत्व नट्ट वाइअ, लवण जलारत्ति आइ दीवाई ।
जं किच्चं तं सव्वं पि, ओ अरई अग्ग पूआए ॥२०५॥

अर्थात्-'गीत गाना, नृत्य करना, बाजे बजाना, लूण उतारना, आरती-मंगल दीपक उतारना इत्यादि जो कार्य हैं- वे सर्व अग्र पूजा में गिने जाते हैं ।''

इस तरह दूसरी अग्र पूजा का वर्णन किया है । अब भाव पूजा का वर्णन करते हैं-

भाव पूजा- श्री जिनेश्वर देव की अंग-अग्र पूजा के विषय की प्रवृत्ति का त्याग करना रूप तीसरी बार निसीहि कहने के बाद यदि स्थान का संकोच न हो तो आशातना को रोकने के लिए जघन्य से जिन प्रतिमा से नौ हाथ दूर बैठे और उतनी जगह न हो तो कम से कम आधा हाथ भी दूर बैठना । उसमें पुरुष को जिन प्रतिमा के दाहिनी ओर और स्त्री को बायीं ओर बैठकर विशिष्ट स्तुति, स्तवन आदि से चैत्य वंदन रूप भाव पूजा करनी चाहिए । कहा है कि-

तइआ उ भाव पूआ, ठाउं चिइवंदणो चिए देसे ।
जह सत्ति चित्तथुइ थुत्त माइणा देव वंदणयं ॥१॥

अर्थात्-''तीसरी भाव पूजा अर्थात् चैत्य वंदन के योग्य उचित प्रदेश में जहाँ जगह हो वहाँ बैठकर यथा शक्ति विविध स्तुति, स्तोत्र आदि से देव वंदन करना चाहिए ।'' निशीथ सूत्र में भी कहा है कि-

''सो उ गंधार सावओ थय थुईहि थुणंतो तत्थ गिरि गुहाए अहोरत्तं निवसिओ ।'' अर्थात्-'उस गंधार श्रावक ने स्तवन, स्तुतियों द्वारा स्तवन करते हुए सम्पूर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अहोरात्रि तक वहाँ पर्वत की गुफा में निवास किया।' वसुदेव हिन्दी में भी कहा है कि- **''वसुदेवो पच्चूसे कय समत्त सावय सामाइ आइ नियमो गहि अपच्चक्खाणो कय का उस्सग्गथुइ वंदणोत्ति।''** अर्थात्-'जिसने प्रभात काल में समग्र श्रावक की करणी रूप सामायिक आदि का नियम पूर्ण किया उसने पच्चक्खान ग्रहण किया तथा काउस्सग्ग, स्तुति, वंदन किया। ऐसे 'वसुदेव' इत्यादि इस पाठ से वसुदेव ने भाव पूजा थी- ऐसा बतलाया है। इस तरह ग्रन्थों में श्रावक-श्राविका आदि को भी काउस्सग्ग, स्तुति, स्तवन आदि से चैत्य वंदन करने को कहा है। भाव पूजा रूप इस चैत्य वंदन को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- तीन प्रकार का बतलाया है। चैत्य वंदन मूल भाष्य गाथा में कहा है कि-

नवकारेण जहन्ना, चिइवंदण मज्झ दंड थुइ जुअला।
पणदंड थुइ चउक्कग, थय पणि हाणे हिं उक्कोसा ॥२३॥

अर्थात्- ''नवकार द्वारा अर्थात् दो हाथ जोड़कर मस्तक नमस्कार रूप नमन मात्र से अथवा 'नमो अरिहंताणं' आदि एक नवकार से, जिसमें नमस्कार किया हो ऐसे एक अथवा एक से अधिक श्लोक, काव्य आदि बोलते हुए नमस्कार करने मात्र से ही जो वंदना करने में आती है उसे जघन्य से चैत्य वंदना कहते हैं, क्योंकि उसमें बोलने का अल्प और एक प्रणाम रूप ही क्रिया भी अल्प है।'' यह नमस्कार पाँच प्रकार का होता है। कहा है कि-

एकागं सिरसो नामे, स्याद् द्वायङ्गः करयोर्द्वयोः।
त्रयाणां नामने त्र्यङ्ग, करयोः शिरसस्तथा ॥१॥
चतुर्णां करयोर्जान्वोर्नामने चतुरङ्गकः।
सिरसः करयोर्जान्वोः, पञ्चांग पञ्च नामने ॥२॥

अर्थात्- ''१- केवल एक मस्तक नमाकर जो वंदन होता है वह एक अंगी, २- दो हाथ जोड़कर वंदन करना दो अंगी, ३- दो हाथ जोड़कर मस्तक नमाना तीन अंगी, ४-दो हाथ और दो घुटने इस तरह चार अंगी नमस्कार और ५- दो हाथ, दो पैर तथा मस्तक इस तरह पाँच अंग से नमस्कार के कारण पंचांगी नमस्कार कहलाता है।''

इस तरह केवल नमस्कार आदि से करे वह जघन्य चैत्य वन्दन, तथा 'दंडक' **अरिहंत चेइआण** आदि चैत्य स्तवन सूत्र और स्तुति अर्थात् काउस्सग्ग किरने के बाद कहना। कहने का मतलब यह है कि प्रथम केवल **अरिहंत चेइ आणं** और **अन्नथ** आदि कहकर एक नवकार का काउस्सग्ग करके फिर संस्कृत या अन्य किसी भाषा में स्तुति बोलना- वह दूसरा मध्यम चैत्य वंदन कहलाता है। मध्यम चैत्य वंदन की यह व्याख्या वृहत्कल्प भाष्य की गाथा के अनुसार कही है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निस्सकड मनिस्सकडे वावि, चेइअ सव्वहिं थुई तिण्णि ।
वेलं व चेइयाणि व, णाउं एक्कि क्किया वावि ॥१६४॥

अर्थात्- "एक किसी गच्छ का मंदिर हो वह 'निश्राकृत' और सर्व गच्छ का साधारण हो वह 'अनिश्राकृत' मंदिर, इस तरह प्रत्येक मंदिर में सबको सामान्यत: तीन स्तुति से चैत्य वंदन करना चाहिए अथवा चैत्य अधिक हों और समय कम हो तो उसके अनुसार एक एक स्तुति से भी चैत्य वंदन करना चाहिए ।"

यहाँ अरिहंत चेइयाणं रूप दंडक सूत्र के अन्त में एक स्तुति कहने से दंडक और स्तुति ये दोनों युगल होता है और वह युगल वाला चैत्य वंदन (मध्यम) कहलाता है। १- शक्र स्तव (नमुत्थुणं), २- चैत्य स्तव (अरिहंत चेइयाणं), ३- नाम स्तव (लोगस्स०), ४- श्रुत स्तव (पुक्खरवरदी०), ५- सिद्धस्तव (सिद्धाणं बुद्धाणं)- ये पाँच दंडक सूत्र, चार स्तुति का जोड़ा, स्तवन और प्रणिधान सूत्र (जय वीयराय) बोलकर जो चैत्य वंदन किया जाता है वह उत्कृष्ट देव वंदन कहलाता है । इस तरह उत्कृष्ट चैत्य वंदन की विधि व्यवहार भाष्य और प्रवचन सारोद्धार की गाथा ४३६ में कही गयी है कि-

तिण्णि व कड्ढई जाव, थुईओ तिसि लोइआ ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेण वा (वि) ॥१॥

अर्थात्- "सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र की तीन गाथा रूप तीन स्तुति करने तक साधुओं को जिन मंदिर में रहने की अनुज्ञा है अथवा किसी विशेष कारण से इससे अधिक समय भी रुकने-ठहरने का अधिकार है ।"

इस गाथा से, तथा '**पणिहाणं मुत्त सुत्तीए**' अर्थात् प्रणिधान-'जय वीयराय' सूत्र मुक्ता शुक्ति मुद्रा से कहना ।" इस चैत्य वंदन भाष्य के पाठ से, इस तरह दोनों आधार के बल से कई पूर्वाचार्यों ने यह चैत्य वंदन की उत्कृष्ट विधि बतलाई है । क्योंकि इन दोनों पाठ के आधार पर चार स्तुतियों के बाद आधा जय वीयराय कहने का विधान नक्की होता है, वह उसका आगे पीछे का सम्बन्ध देखने से स्पष्ट मालूम होता है । इस कथन के अनुसार ही श्री वन्दन आवश्यक की चूर्णि में कहा है कि-वह चैत्यवंदन जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार है । क्योंकि कहा है कि-केवल नमस्कार करने से जघन्य, दंडक सूत्र और स्तुति इन दोनों के युगल से नमस्कार करने से मध्यम और सम्पूर्ण विधि करने से उत्कृष्ट चैत्य वंदन जानना । इस प्रकार वंदना तीन प्रकार की है । उसमें नमस्कार से अर्थात् एक श्लोक बोलकर नमस्कार करने से जघन्य और अरिहंत चेइयाणं आदि दंडक सूत्र कहकर काउस्सग्ग करके (पार करके) एक स्तुति करने में आती है, तब दंडक और स्तुति इन दोनों की से जोड़ी मध्यम चैत्य वंदन होता है । श्री कल्पसूत्र में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"निश्राकृत चैत्य में अथवा अनिश्राकृत चैत्य में सबको तीन स्तुति कहना अथवा समय और चैत्य की संख्या सोचकर एक एक स्तुति कहना चाहिए उसके सिवाय शक्र स्तव आदि पाँच दंडक सूत्र, स्तुति चार का जोड़ा और प्रणिधान (जय वीयराय) सूत्र कहने से जो सम्पूर्ण चैत्य वंदन होता है, वह उत्कृष्ट जानना।" चूर्णि का यह पाठ यहाँ साक्षी के लिए कहा है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं गिनना। इस तरह त्रिविधि वंदना का स्वरूप एक प्रकार से कहा है और चैत्य वंदन भाष्य में कहा है कि-

अन्ने बिंति इगेणं, सक्कत्थ एणं जहन्न वंदणया ।
तद् दुग तिगेण मज्झा, उक्कोसा चउहिं पञ्चहिं वा ॥२०॥

अर्थात्-"अन्य आचार्य कहते हैं कि-एक नमोत्थुणं से जघन्य चैत्य वंदन, जिसमें दो या तीन बार नमोत्थुणं कहा जाय वह मध्यम चैत्यवंदन और जिसमें चार-पाँच बार नमोत्थुणं कहा जाय वह उत्कृष्ट चैत्य वंदन जानना।

वर्तमान समय में चैत्य वंदन में एक नमोत्थुणं आता है तब वह जघन्य चैत्य वंदन, बड़ा देव वंदन किया जाता है उसमें एक ही स्तुति का जोड़ा कहने में आता है अर्थात् प्रथम चैत्य वंदन बोलकर नमोत्थुणं अरिहंत चईयाणं बोलकर चार थुई का जोड़ा, नमोत्थुणं और स्तवन कहकर आधे जय वीयराय तक कहने से ही दो नमोत्थुणं होता है, इस तरह दो नमोत्थुणं और तीन नमोत्थुणं से जो दो प्रकार का देव वन्दन होता है वह मध्यम कहलाता है तथा हाल में जिस तरह देव वंदन होता है उसमें पाँच नमोत्थुणं आता है तथा आखिरी तीसरा चैत्य वंदन न किया जाय तो चार नमोत्थुणं आता है- वह उत्कृष्ट चैत्य (देव) वंदन समझना। अब इसके सिवाय तीन भेद इस तरह हैं। वंदन पंचाशक में कहा है कि-

अहवा वि भावभेआ ओहेणं अपुण बंध गाईणं ।
सव्व तिविहा णेआ, सेसाणामिया ण जं समए ॥३॥

इस गाथा का अर्थ टीका में इस तरह कहा है कि-"अथवा पहले जो जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट का स्वरूप बतलाया है, उसके सिवाय अन्य तरह से भी जीवों के गुण स्थानक के भेद से भाव में भेद पड़ता है। इससे भाव की अपेक्षा से भी वंदना तीन प्रकार की होती है। अपुनर्बंधक, अविरति समकित दृष्टि, देश विरति और सर्वविरति का परस्पर गुणस्थानक भेद होने से उनके भाव में भी तारतम्य होता है, इस लिए अपुनर्बंधक का प्रथम गुणस्थानक होने पर भाव की विशुद्धि जघन्य होने से पहले बताये तीनों प्रकार की वंदना 'जघन्य वंदना' ही जानना। उससे अविरति समकित दृष्टि चौथे गुण स्थानक में होने से उसकी भाव शुद्धि मध्यम कोटि की होती है, इसलिए उसकी सर्व वंदनाओं को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'मध्यम वंदना' जानना और सामान्य रूप से विरति वाले को देश विरति या सर्व विरति का पाँचवां छठा आदि गुणस्थानक होने से भाव की उत्कृष्टता के कारण उसकी तीनों प्रकार की वंदनाओं को 'उत्कृष्ट वंदना' जानना। अथवा अन्य रीति से प्रमोद-हर्ष-उत्साह रूप भाव की अपेक्षा से तो एक गुण स्थानक में भी रहने पर प्रत्येक के भाव समान नहीं होते, कम ज्यादा होते हैं, इसलिए अपुनर्बंधक में भी जिसको प्रमोद रूप भाव जघन्य हो उसे जघन्य, जिसको मध्यम हो उसे मध्यम और जिसको उत्कृष्ट हो उसे उत्कृष्ट जानना। इस तरह एक ही अपुनर्बन्धक अवस्था वाला जीवों में भी प्रमोद रूप भाव कम अधिक होने से किसी को जघन्य, किसी को मध्यम और किसी को उत्कृष्ट- इस तरह तीन वंदना समझना। अवरिति समकित दृष्टि और विरतिधर में भी इस हर्ष-उत्साह की कम अधिकता होने से तीन तीन प्रकार की वंदना इसी तरह जानना।

यहाँ प्रश्न होता है कि' अपुनर्बंधक आदि ही ये वंदनाएं क्यों कही हैं ? मार्गाभिमुख आदि को भी इसी तरह से भाव का भेद हो सकता है, तो उनको ये वंदनाएं क्यों नहीं? उसका समाधान यह है कि शेष के सकृद्बंधक, मार्गाभिमुख, मार्ग पतित अथवा अन्य भी मिथ्यात्वी को ऐसी भाव भेद वाली भाव वंदना नहीं होती है, पहले कहा हुआ है वह क्रिया रूप द्रव्य वंदना ही उनमें हो सकती है। क्योंकि आगम में कहा है कि-' मार्गाभिमुख आदि में यह भाव वंदन की योग्यता नहीं होती अर्थात् उनमें भाव वंदना के योग्य भाव प्रगट रूप नहीं होता सकता है।' इस कथनानुसार भाव वंदना और शुद्ध द्रव्य वंदना के अधिकारी अपुनर्बंधक, अविरति समकित दृष्टि और विरतिधर-इस तरह तीन ही जानना। सकृद बंधक आदि को केवल द्रव्य वन्दना और वह भी अशुद्ध होती है। इसके विषय में वंदन पंचाशक में कहा है कि-

एतेऽहिगारिया इह, ण उ सेसा दव्वो वि जं एसा ।
इयरीए जोग्गयाए, सेसाण उ अप्पहाण त्ति ॥७॥

अर्थात्- "अपुनर्बंधादि तीनों यहाँ चैत्यवन्दन के विषय में अधिकारी हैं, अन्य नहीं हैं। क्योंकि शुद्ध द्रव्य वन्दन भी उसे कहते हैं जो द्रव्य वन्दन में भाव वन्दन का कारण बनने रूप बनने रूप योग्यता हो। सकृदबंधक आदि को तो भाव वंदन का भाव नहीं होने से उनका द्रव्य वंदन भी भाव वंदन में कारण भूत शुद्ध नहीं है, केवल अशुद्ध-अप्रधान द्रव्य वंदन ही होते हैं। भाव वंदन के लिए अधिकारी को द्रव्य वंदन भी शुद्ध नहीं होते हैं।

[उपा०-इस तरह एक एक वंदन के अधिकारी भेद से जघन्य आदि तीन तीन भेदों का संभव होने से चैत्यवंदन के कुल नौ भेदों को जानना।]

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ कोई तो ऐसा मानता है कि- 'श्रावक को चैत्य वंदन में केवल नमोत्थुणं बोलना युक्त है, क्योंकि जीवाभिगम आदि सूत्रों में 'विजय देव आदि ने केवल नमोत्थुणं सूत्र से देव वंदन किया था' ऐसा कहा है, इसलिए विजयादि देव ने जिस तरह से आचरण किया है उस तरह करना योग्य है। श्री गणधर देव आदि के रचित मूल आगमों में चैत्य वंदन के विषय में नमोत्थुणं से अधिक कुछ नहीं बतलाया है। इससे भी शक्र स्तव- नमोत्थुणं से अतिरिक्त अन्य चैत्य वंदन में बोलना योग्य नहीं है। इस तरह मानने वालों का यह मत योग्य नहीं है, उसका आचरण प्रमाण भूत नहीं मानना चाहिए क्योंकि जीवाभिगमादि सूत्रों में चैत्य वंदन की विधि नहीं बतलायी है, परन्तु केवल विजय देव आदि ने जो आचरण किया है उसका ही वर्णन किया है। इससे केवल आचरण के बल से विधि वाद रूप चैत्य वंदन की जो विधि बतलायी है, उसका उच्छेदन नहीं हो सकता।

विजयदेव आदि अविरति वाले होने के कारण प्रमादी होने से उन्होंने केवल नमोत्थुणं कहकर वंदना की हो, वह उनका घट सकता है। परन्तु अन्य अप्रमादी और विशेष भक्ति वाली विशिष्ट आत्माओं को उससे अधिक भी करने में क्या दोष है ? अर्थात् कोई दोष नहीं है। यदि वे मानते हैं, इस तरह केवल आचरण का आलम्बन लेकर प्रवृत्ति करने में आती है तो अन्य बहुत नहीं करने योग्य करना होगा और करणीय रूप में अंगीकार करना पड़ता है और बहुत छोड़ना पड़ता है, इस तरह अव्यवस्था खड़ी होती है, और उनका मत है कि- 'श्री गणधर देव आदि ने आगम में नमोत्थुणं से अधिक चैत्य वन्दन नहीं कहा, इसलिए इससे अधिक कहना योग्य नहीं है' वह भी योग्य नहीं है, क्योंकि 'तीन श्लोक रूप तीन स्तुतियां कहने में आई हैं, वहाँ तक श्री जिन मंदिर में मुनियों की स्थिरता करना।' इस अर्थ का वचन व्यवहार भाष्य में सुना जाता है- वह पीछे दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आगम में नमोत्थुणं से अधिक कहने का विधान है, इसलिए वैसे नहीं करने से वह गलत है, और 'यह विधान केवल साधु के लिए कहा है, इसलिए श्रावक को नमोत्थुणं से अधिक बोलना अयोग्य है।' इस तरह मान लेना- वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि साधु तथा श्रावक को भी दर्शन शुद्धि करणीय है और चैत्य वंदना उसका कारण है एवं चैत्य वंदन में नमोत्थुणं से अधिक बोलना- वह संवेग आदि गुणों का कारण भी है। असठ गीतार्थ-पुरुषों ने उसी तरह आज दिन तक आचरण किया है। जित व्यवहार के लक्षण इसमें घटते हैं। "निष्कपट भाव से लाभ-हानि का विचार करके, सूत्र में नहीं हो परन्तु देश कालादि के योग से ज्ञानादि गुण की रक्षा एवं वृद्धि के लिए गीतार्थ पुरुष ने जो प्रारंभ किया हो, सूत्र में नहीं होने पर भी जो आगम से विरुद्ध-विपरीत न हो और बाद में उसे सर्व गीतार्थों ने आचरण किया हो, वह जित व्यवहार रूप शुद्ध आचरण का लक्षण है। शासन के अंत तक यह जित व्यवहार ही चलता रहेगा।" एवं चैत्य वंदन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाष्यकार आदि पूर्वाचार्यों ने उसी तरह कहने का समर्थन किया है । इसलिए श्रावक को नमोत्थुणं से अधिक बोलना योग्य ही है ।

महा निशीथ सूत्र में साधु को प्रतिदिन सात बार चैत्य वंदन करने को कहा है, और श्रावक को भी उत्कृष्ट विधि से सात बार चैत्य वंदन करना कहा गया है । चैत्य वन्दन भाष्य में भी कहा है कि-

पडिक्कमणे चेइअ जिमण चरिम पडिक्कमण सुअण पडिवोहो ।
चिइवंदण इअ जइणो, सत्त उ वेला अहोरत्ते ।।५६।।
पडिक्कमओ गिहिणे विहु सग वेला पंच वेल इअरस्स ।
पूआसु तिसंझासु अ होइ ति वेला जहन्नेण ।।६०।।

अर्थात्- "१. सुबह प्रतिक्रमण में-विशाल लोचन का, २. जिन मंदिर में, ३. भोजन करने के पहले पच्चक्खान पारने के समय, ४. भोजन करने के बाद जग चिन्तामणि से जय वीय राय तक, शाम के प्रतिक्रमण में नमोस्तु वर्द्धमानाय का, ६. सोने के पहले-पोरसी में चउक्कसाय और ७. सुबह जागने के समय चैत्य वंदन करने के लिये कहा है ।१।। और गृहस्थ को भी उभय काल प्रतिक्रमण करने वाले को सात बार, प्रतिक्रमण न करे तो उसे पांच बार और जघन्य से भी त्रिकाल जिन पूजा के अन्त में तीन बार चैत्य वंदन करने के लिये कहा है ।२।।

इसमें जो श्रावक दो समय प्रतिक्रमण करे उसे दो प्रतिक्रमण को दो चैत्य वंदन, नींद के पहले संथारा पोरसी में चउक्कसाय का, एक जागने के बाद जग चिन्तामणि का और तीन काल श्री जिन पूजा में तीन चैत्य वंदन- इस तरह सात चैत्य वंदन होते हैं । यदि एक समय प्रतिक्रमण करे तो उसे एक कम होने से छह चैत्यवंदन होते हैं । नींद से पहले चैत्य वंदन न करे तो पाँच अथवा दो प्रतिक्रमण न करें तो भी पाँच-इस तरह गृहस्थ के लिए यथायोग्य सात, पाँच, चार अथवा तीन चैत्यवंदन करने का स्वयमेव समझना । इस सात का प्रमाण तो सामान्य रूप से कहा है । जिन मंदिर बहुत हों तो सात से अधिक भी चैत्य वंदन होते हैं । श्रावक कारण से पूजा नहीं कर सके तो ऐसे दिनों में भी तीन बार देव वंदन तो अवश्य करना चाहिए । आगम में कहा है कि-"हे देवानुप्रिय ! आज से लेकर जावज्जीव तक तीनों काल स्थिर और शान्त एकाग्र चित्त से देव को वंदन करना चाहिए। भो ! भाग्यवंत ! अशुचि से भरे हुए, अनित्य और क्षण भंगुर मानव देह का यही सार है।" उसमें भी सुबह को जब तक चैत्य वंदन और गुरु वंदन न हो तब तक मुख में पानी दातून भी नहीं डालना चाहिए । मध्याह्न में देव वंदन किए बिना आहार नहीं करना चाहिए और शाम को देव वंदन किए बिना शयन गृह में नहीं जाना-नहीं सोना चाहिए आदि जानना । अन्य स्थान पर भी कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुप भाए समणोवास गस्स, पाणंपि कप्पइ न पाउं ।
नो जाव चेइ आगइं, साहूवि अ वंदिआ विहिणा ॥१॥

मज्झण्हे पुण रवि, वंदिऊण नियमेण कप्पई भोत्तुं ।
पुण वंदिऊण ताइं, पओस समयंमि तो सुअइ ॥२॥

अर्थात्- "श्रावक को सुबह जब तक श्री जिन मंदिर में जिनेश्वर परमात्मा को और साधु मुनिराजों को वंदन न हो तब तक पानी भी पीना नहीं कल्पता है, मध्याह्न समय में उनको नियम से फिर वंदन पूजन करके भोजन करना कल्पता है और शाम में पुनः उनको वंदन पूजा करके ही शयन करना चाहिए।" यहाँ सम्पूर्ण विधि से चैत्य वंदन करना, वह उत्कृष्ट चैत्य वंदन करने के लिए कहा है । वह विधि विस्तारपूर्वक आगे कही जायेगी ।

गीत नृत्य आदि अग्र पूजा-द्रव्य पूजा के रूप में गिनी जाती है- इस तरह पूर्व में कहा है, फिर भी वह भाव पूजा में भी गिनी जाती है । परमात्मा के सामने गीत, नृत्य करना महा फलदायी होता है । मुख्य रूप में जैसे उदयन महाराजा की पट्टरानी प्रभावती ने किया था, वैसे ही श्रावक श्राविकाओं को भी स्वयं करना चाहिए । निशीथ चूर्णि में कहा है कि-

"पभावई ण्हाया कय बलि कम्मा कय कोउ अमंगल्ला सुक्किल्ल वास परिहिआ जाव अट्ठमि च उद्द सीसु अ भत्ति रागेय य सयमेव राओ नट्टो वयारं करेइ, रायावि तयाणु वित्तीए मुरयं वाएति ।" अर्थात्-'प्रभावती रानी अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में बलि कर्म करके कौतुक मंगल रूप प्रायश्चित्त करके और श्वेत (सफेद) वस्त्र पहनकर भक्ति राग से स्वयमेव गुणगान के साथ में नाच-नृत्य से श्री जिनेश्वर देव की सेवा करती थी और राजा भी साथ में उसकी इच्छानुसार मृदंग नामक बाजा बजाता था ।' अर्थात् गीत नृत्य आदि स्वयं करना, वह जीव विशेष की अपेक्षा से भाव पूजा में भी गिना जाता है। पूजा करते समय उस प्रसंग पर श्री अरिहंत परमात्मा की छद्मस्थ अवस्था, कैवल्य अवस्था और सिद्धस्थ अवस्था के भाव का चिन्तन करना चाहिए । चैत्य वंदन मूल भाष्य में कहा है कि-

ण्हवणच्चगेहिं छउमत्थ -वत्थ पडिहार गेहिं केवलिअं ।
पलियं कुस्सग्गेहि अ, जिणस्स भाविज्ज सिद्धत्तं ॥१२॥

अर्थात्- "श्री जिनेश्वर की छद्मस्थ रूप में १-जन्मावस्था, २-राज्यावस्था और ३-श्रमण (साधु) अवस्था- इस तरह तीन अवस्था होती हैं, उसमें मूर्ति के आजू बाजू परिकर में ऊपर दो हाथों में कलश लेकर हाथी के ऊपर बैठे देव बनाये होते हैं, उसे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देखकर भगवान को मेरु पर्वत पर देवों ने जन्माभिषेक किया– उस समय का– जन्मावस्था का ध्यान करना। हाथ में पुष्पों की माला वाले मालाधारी देवों को यदि परिकर में बनाये होते हैं, उसे देखकर भगवन्त की राज्यावस्था का ध्यान करना। और परिकर में जिन मूर्ति का मुख, मस्तक आदि केश रहित मुंडन का होता है, उसे देखकर उनकी श्रमणावस्था का ध्यान करना। इस तरह तीन प्रकार से छद्मस्थ–केवल ज्ञान के पूर्व की अवस्था का ध्यान करना। तदुपरांत परिकर के ऊपर के भाग में कलश और दोनों विभाग में अशोक वृक्ष के पत्तों की श्रेणी होती है, उससे १– अशोक वृक्ष, मालाधारी देवों के हाथ में रहे पुष्पों से २– सुर पुष्प वृष्टि, दोनों ओर हाथ में वीणा तथा मुरली बजाते आकृति हो, ३– दिव्य ध्वनि हो, पास में चमरधारी से, ४– चमर, ५– सिंहासन, मस्तक के पीछे तेज पुंज, ६– प्रभामंडल, ऊपर के भाग में दोनों ओर ढोलक बजाते आकृति से, ७– दुन्दुभी, और मस्तक पर छत्र। इस तरह आठ प्रातिहार्य युक्त प्रतिमा हो उसे देखकर आठ प्रतिहार्य सहित भगवान की केवल ज्ञान अवस्था का ध्यान करना। गादी के नीचे सिंह हाथी देखकर जाति वैर का भी नाश करने वाला समवसरण का ध्यान करना। धर्म चक्र और हिरणियों से 'निराधार जीवों को भी धर्म शासन शरण भूत है' ऐसा ध्यान करना और नौ ग्रहों से 'प्रभु सेवा से ग्रहादि पीड़ायें भी नाश होती हैं'' इत्यादि ध्यान करना। तथा मूर्ति को पद्मासन या दोनों ओर खड़ी प्रतिमा को काउस्सग मुद्रा में देखकर उनकी सिद्धावस्था का ध्यान करना। इसके सिवाय श्री पंच परमेष्ठि का, पंच कल्याणकों आदि का भी ध्यान परिकर के दृश्यों में कर सकता है। इस तरह छद्मस्थ, केवल्य और सिद्धस्थ– इन तीन अवस्थाओं का ध्यान करना– वह भाव पूजा का स्वरूप जानना। चैत्य वंदन महाभाष्य आदि में अन्य प्रकार से पूजा के तीन भेद कहे हैं वह इस प्रकार हैं–

पंचो वयारजुत्ता, पुआ अट्ठोवयार कलिआ य ।
रिद्धि विसेसेणं पुण, नेआ सव्वोवयारा वि ॥२०६॥
तत्थ य पंचु वयारा, कुसुमक्खय गंध धूव दीवेहिं ॥२१०॥

कुसुमक्खय गंध पईव–धूव नेवेज्जफल जलेहि पुणो ।
अट्ठ विह कम्म दलणी, अट्ठुवयारा हवइ पूआ ॥२११॥

सव्वो व यार पूआ ण्हवणच्चण वत्थ भूसणाईहिं ।
फल बलि दीवाईहिं नट्टगीआर त्ति आहिं ति ॥२१२॥

अर्थात्– ''एक पाँच प्रकार की, दूसरी आठ प्रकार की और विशेष समृद्धिशाली श्रावक को तीसरी सर्व प्रकार की– इस तरह की तीन प्रकार की पूजा कही है। उसमें पुष्प, अक्षत, गंध (वासक्षेप–सुगन्धमय चूर्ण आदि), धूप और दीपक– इन पाँच द्रव्यों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से 'पंच प्रकारी' पूजा होती है। एवं पुष्प, अक्षत, गंध, प्रदीप, धूप, नैवेद्य, फल और जल- इन आठ द्रव्यों से आठ कर्मों को नाश करने वाली अष्ट प्रकारी पूजा होती है। और स्नात्र, अर्चन, वस्त्र, आभूषण आदि से, फल, नैवेद्य, दीपक आदि से तथा नाटक, गीत, आरती, मंगल, दीपक आदि सर्व प्रकार से 'सर्व प्रकारी पूजा' होती है। अन्य ग्रन्थों में अन्य भी अनेक प्रकार से पूजा के भेद बताये हैं। सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में कहा है कि-

सयमाण यणे पढमा, बीआ आणा वणेण अन्नेहिं ।
तइआ मणसा संपा-डणेण वर पुप्फ माईण ॥१८६॥

अर्थात्- "१-श्रेष्ठ पुष्पादि पूजा की सामग्री स्वयं लाने से, २-दूसरे के द्वारा मंगवाने से, और ३-मन से प्रभु को वह पुष्प आदि चढ़ाने से- इस तरह काया, वचन और मन इन तीन के व्यापार से भी तीन प्रकार की पूजा होती है।"

और भी कहा है कि "पुष्प पूजा, नैवेद्य पूजा, स्तुति पूजा और प्रति पूजा (आशा पालन रूप पूजा)- ये चार प्रकार की पूजा यथा शक्ति करना चाहिए।" शक्र स्तव की टीका में ललित विस्तरा नामक ग्रन्थ के अन्दर तो १- पुष्प से अंग पूजा, २- आमिष=खाद्य पदार्थ, नैवेद्य से अग्र पूजा, ३- स्तुति से भाव पूजा और ४- जिनाज्ञा का सम्पूर्ण पालन रूप प्रतिपत्ति पूजा हैं। इन चारों पूजाओं का उत्तरोत्तर प्रधानता रूप जानना अर्थात् पहली से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी विशेष फल को देने वाली है। इसमें यहाँ आमिष शब्द से शुद्ध आहार आदि योग्य वस्तुएँ समझना और प्रतिपत्ति अर्थात् सम्पूर्ण रूप से श्री जिनेश्वर भगवान के उपदेश-आज्ञा का परिपालन करने के अर्थ में समझना। इस प्रकार आगम में भी पूजा के चार भेद कहे हैं। सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में कहा है कि-

दुविहा जिणिंद पूआ, दव्वे भावे अ तत्थ दव्वं मि ।
दव्वे हिं जिण पूआ, जिण आणा पालणं भावे ॥१६१॥

अर्थात्- "द्रव्य पूजा और भाव पूजा- इस तरह दो प्रकार की भी जिन पूजा होती है। उसमें पुष्पादि पुद्गल द्रव्यों द्वारा पूजा करना द्रव्य पूजा है और श्री जिनेश्वर देव की आज्ञा का पालन करना- वह भाव पूजा जानना।" इस तरह पूजा के दो भेद भी हैं, तदुपरांत सत्तरह प्रकार की भी पूजा इस प्रकार से है-

ण्हवण विलेपण अंगंमि, चक्खु जुअलं च वास पूआए ।
पुप्फारूहणं मालारूहणं तह वन्नयारूहणं ॥१॥

चुण्णा रूहणं जिण पुगंवाण, अघण रोहणं चेव ।
पूप्फ गिहप्पुप्फ पगहरो, आरत्ति य मंगल पई वो ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दीवो धूवुक्खेवो, नेवेज्जं सुहफलाणं ढोअणयं ।
गीअं नट्टं वज्जं, पूआ भेआ इमें सत्तरस ॥३॥

अर्थात्- "१- स्नान विलेपन-अर्थात् प्रक्षालन, विलेपन, नवांग केसर-चन्दन आदि से शरीर के अंगों की पूजा। २- चक्षु युगल और वस्त्र अर्थात् प्रतिमा को चक्षु और वस्त्र चढ़ाना वह पूजा। ३- पुष्प पूजा। ४- पुष्प मालां पूजा। ५- कस्तूरी आदि से शोभा करना- वह वर्णक पूजा, ६- वासक्षेप आदि सुगन्धिमय द्रव्य से चूर्ण पूजा। ७- आभूषण पूजा। ८- पुष्प गृह (मंडप) पूजा। ९- पुष्प प्रकर-ढेर करना- वह पूजा। १०- आरती मंगल दीपक पूजा। ११- दीप पूजा। १२- धूप पूजा। १३- नैवेद्य पूजा। १४- फल पूजा। १५- गीत पूजा। १६- नृत्य पूजा और १७- वाजिंत्र पूजा। आखिर की तीन को भाव पूजा में भी गिनते हैं। इस तरह पूजा के सत्तरह भेद कहे हैं। कहीं पर १- स्नान, २- विलेपन, ३- चक्षु-वस्त्र युग्म, ४- सुगंध-वास, ५- अलग फूल, ६- फूल माला, ७- फूलों की अंग रचना, ८- चूर्ण, ९- ध्वजा, १०- आभूषण, ११- पुष्प गृह, १२- पुष्प वृष्टि, १३- अष्ट मंगल, १४- धूप-दीप, १५- गीत, १६- नाटक, १७- वाजिंत्र-इस तरह भी पूजा के सत्तरह भेद आते हैं। पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज कृत सत्तरह भेदी के तीसरी पूजा में वस्त्र-युग्म कहा है परन्तु चक्षु नहीं कहा और चौदहवीं धूप पूजा कही है परन्तु दीप पूजा का वर्णन नहीं किया। मेघराज कृत पूजा में अंग रचना के स्थान पर कस्तूरी आदि वर्णक पूजा कहा है।

इसके सिवाय इक्कीस प्रकार की भी पूजा का वर्णन कहा है। उसका वर्णन आगे कहा गया है। उपर्युक्त अनुसार दो प्रकार की, चार प्रकार की, पाँच प्रकार की, आठ प्रकार की, सर्व प्रकार की, सत्तरह प्रकार की अथवा इक्कीस प्रकार की- ये सारी पूजाओं के जो भेद कहे हैं, वस्तुतः सर्व पूजाओं में व्यापक तीन प्रकार की, अंग, अग्र और भाव पूजा में आ जाते है। इसलिए इन तीन प्रकार की पूजा का फल कहते हैं। संबोध प्रकरण देवाधिकार में तथा चेइअ वंदन महाभास गा० २१३ में कहा है कि-

विग्धोव सामिगेगा, अब्भुदय साहणी भवे बीआ ।
निव्वुइ करणी तइआ, फलया उ जहत्थ नामे हिं ॥१९४॥

अर्थात्- "अपने यथार्थ नाम के अनुसार प्रथम अंग पूजा विघ्नों की शान्ति करने वाली है, दूसरी अग्र पूजा अभ्युदय साधन करने वाली है और तीसरी भाव पूजा मोक्ष फल को देने वाली है।"

[उपाध्याय भगवन्त ने सात्विकी आदि तीन प्रकार की पूजा कही हैं। उन्होंने विचारामृत सार संग्रह' में आठ श्लोक कहे हैं कि-अथवा जीवों के उन अध्यवसायों की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तारतम्यता के कारण सात्विक, राजसी और तामसी- इस तरह भी तीन प्रकार की श्री जिनेश्वर भगवान की भक्ति होती है ।।१।। उसमें श्री अरिहंत भगवन्त के सम्यग् गुण श्रेणि का जिसको ज्ञान हो, कितने भी विषम बहुत उपसर्गों में भी जो अपनी भक्ति के परिणाम को नहीं छोड़ता ।।२।। श्री अरिहंत भगवन्त के कार्य में सर्वस्व भी अर्पण करने को जो तैयार हो, इस तरह भव्यात्मा महा उत्साहपूर्वक, अपनी शक्ति छुपाये बिना, किसी प्रकार के बदले की स्पृहा बिना हमेशा प्रभु के गुणों में लीन होकर जो भक्ति करता है, उसे सात्विक भक्ति कहते हैं ।।३ + ४।। यह भक्ति इस लोक-परलोक में महान फल देने वाली है । जिस भक्ति करने के पीछे इस लोक के फलों की प्राप्ति का उद्देश्य और जिसमें लोगों को खुश करने की वृत्ति हो उसे राजसी भक्ति कहते हैं ।।५।। तथा जिस भक्ति के पीछे शत्रुओं के प्रतिकार को तोड़ने का आशय हो, जो मत्सर-ईर्ष्या रूप से करने में आती हो- ऐसी दृढ़ आशयपूर्वक जो भक्ति की जाती है वह तामसी नाम की भक्ति कहलाती है ।।६।। राजसी और तामसी भक्ति करना सर्व को सुलभ है परन्तु जब आत्मा का मोक्ष हो तब तक संसार में भी सुख को देने वाली सात्विक भक्ति ही जीव को अति दुर्लभ है ।।७।। सात्विक भक्ति उत्तम है, राजसी भक्ति मध्यम और तामसी भक्ति जघन्य है, उसे तत्व ज्ञानी स्वीकार नहीं करते हैं ।]

इसमें पहले जो कहा है वह अंग पूजा और अग्र पूजा के अतिरिक्त श्री जिन मंदिर तथा श्री जिन मूर्ति बनावाना तथा रथ यात्रा आदि करवाना, वह सब द्रव्य स्तव-अनुष्ठान रूप हैं । सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में कहा है कि-

जिणयवण बिंब ठावण जत्ता पू आइ सुत्तओ विहिणा ।
दव्यत्थ ओ त्ति ने ओ, भावत्थ व कारण त्तेण ।।१६५।।

णिच्चं चिअ संपुण्णा, जइ विहु एसा न तीरए काउं ।
तह वि अनुचिट्ठि अव्वा, अक्ख य दीवाइ दाणेणं ।।१६६।।

एगं पि उदग बिंदू, जह पक्खित्तं महासमुद्दंमी ।
जायइ अक्खयमेवं पूआ वि हु वीय रागेसु ।।१६७।।

एएणं बीएंण दुक्खाइं अपावि ऊण भव गहणे ।
अच्चं तु दार भोए भोत्तुं सिज्झंति सव्व जिआ ।।१६८।।

पूआए मण संति, मण संतिए अ उत्तमं झाणं ।
सुह झाणेण य मुक्खो, मुक्खे सुक्खं निरा बाहं ।।१६६।।

अर्थात्- "शास्त्र में कही हुई विधि अनुसार से यदि श्री जिन मंदिर तैयार करवाता है, जिन प्रतिमा बनवाता है या उसकी स्थापना करवाता है, यात्रा, पूजा आदि कार्य भाव-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुष्ठान का कारण होने से उसे द्रव्य अनुष्ठान जानना। उपर्युक्त कहे अनुसार यदि सम्पूर्ण पूजा हमेशा सम्पूर्ण विधि से न हो सके तो भी प्रभु को अक्षत, दीप आदि की भेंट स्वरूप सामान्य पूजा तो प्रतिदिन करनी चाहिए। जैसे एक बिन्दु पानी को भी बड़े समुद्र में डालने से वह अक्षय हो जाता है- सूखता नहीं है, वैसे श्री वीतराग परमात्मा की थोड़ी भी पूजा करने से अक्षय होती है, निष्फल नहीं होती है। इस पूजा रूपी बीज से इस गहन संसार रूपी जंगल में भी दुःखों को प्राप्त किए बिना देव-मनुष्य विशाल भोग भोगकर सर्वभव्य जीव सिद्धि पद रूप फल प्राप्त करता है। श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा करने से मन की शान्ति होती है, मन की शान्ति से उत्तम ध्यान लगता है, उत्तम ध्यान से मोक्ष मिलता है और मोक्ष से अक्षय सुख प्राप्त होता है।

इस पूजा की विधि आदि में पूज्य श्री उमास्वाति वाचक कृत पूजा प्रकरण के अन्दर २० गाथा कही हैं। उनका भावार्थ इस प्रकार से है-

"स्नान पूर्व सन्मुख और दातून पश्चिम सन्मुख बैठकर करना चाहिए। उत्तम सन्मुख में रहकर पूजा के श्वेत वस्त्र पहनना और पूर्व या उत्तर दिशा के सन्मुख रहकर श्री जिन पूजा करनी चाहिये ॥१॥ श्रावक अपने घर में प्रवेश करते समय अपने बाँयी और घर में दाहिनी ओर, जहाँ नीचे-हड्डी कोयले आदि अशुद्ध वस्तु न दबी हो- ऐसी भूमि पर, घर के आंगन से डेढ़ हाथ ऊँचाई वाले घर में जिन मंदिर बनाना ॥२॥ यदि नीचे भाग में मंदिर बनाया जाय तो इससे उत्तरोत्तर वंश नीचा हो जायेगा और परिवार भी घटता जायेगा ॥३॥ पूजा करने वाला पूर्व अथवा उत्तर सन्मुख रहकर पूजा कर सके, ऐसा मंदिर घर में बनाना चाहिए। यह विधान घर के मंदिर के विषय में जानना। दक्षिण दिशा और विदिशा के सन्मुख रहकर पूजा नहीं करनी चाहिए ॥४॥ यदि पश्चिम सन्मुख रहकर श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा करता है तो उसकी चौथी संतति (चौथी पीढ़ी के पुत्र) का छेदन होता है और दक्षिण सन्मुख में रहकर श्री जिन पूजा करता है तो संतति नहीं होती है ॥५॥ अग्नि कोण के सन्मुख रहकर जिन पूजा करता है तो इससे प्रतिदिन धन की हानि होती है, वायव्य कोने के सन्मुख रहकर जिन पूजा करने से संतान नहीं होती है और नैऋत्य कोने के सन्मुख रहकर जिन पूजा करने से कुल का क्षय होता है ॥६॥ ईशान कोण के सन्मुख रहकर जिन पूजा करने से स्थान स्थिर नहीं रहता। संघा या शाश्वता चौमुख जी आदि मंदिर चारों दिशा में होता है, इसलिए वहाँ वैसा प्रतिबन्ध नहीं होता है। श्री जिन प्रतिमा की क्रमशः दो चरणों, घुटने, हाथ, खंभा और मस्तक की पूजा करनी चाहिए ॥७॥ चन्दन बिना केवल केशर से कभी जिन पूजा न करें तथा प्रतिमा के ललाट पर, कंठ, हृदय, कमल और नाभि के ऊपर तिलक करना ॥८॥

हमेशा नौ तिलक से पूजा करना, तथा बुद्धिमान को प्रभात में पहले वासक्षेप पूजा करनी चाहिए ॥९॥ मध्याह्न में पुष्प से और संध्या काल में धूप-दीपक से पूजा करना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धूप दाह बायीं ओर करना और नैवेद्य (बाजींत्र) पूजा प्रतिमा के सन्मुख रहकर करना ॥१०॥ दीपक प्रभु के दाहिने और स्थापन करना तथा ध्यान और चैत्यवंदन दाहिने ओर करना ॥११॥ पुष्प, नागर बेल के पान, फल आदि जिस किसी के हाथ में पड़ गये हों अथवा जो स्वयं जमीन पर पड़े हों, किसी स्थान पर पैर लगाया हो, मस्तक पर उठाया हो, खराब, अपवित्र, मैले वस्त्रों से बांध कर लाया हो और लाते समय नाभि से नीचे भाग में रखा हो, दोनों हाथ छाती के सन्तुख रखकर लाना चाहिए। और दुष्ट-मैले मनुष्यों ने स्पर्श किया हो, बरसात बहुत पड़ने से सड़ गया हो, कीड़े आदि जीवों द्वारा खाया गया हो ऐसे फूल आदि श्री जिनेश्वर परमात्मा के प्रति प्रीति की इच्छा करने वाले भक्त आत्मा को प्रभु पर नहीं चढ़ाने चाहिएं। वैसे चढ़ाने से प्रभु के प्रति पूजक की प्रीति भक्ति जागृत नहीं होती है ॥१२॥ एक पुष्प के दो भाग नहीं करना, नीचे की कलिका भी तोड़ना नहीं, चम्पा या शतपत्र आदि कमल को तोड़ना नहीं, इसमें विशेष दोष लगता है ॥१३॥ सुगन्ध चूर्ण, वासक्षेप आदि, धूप, अक्षत, पुष्प, माला, प्रदीप, नैवेद्य, जल और श्रेष्ठ फलों से श्री जिनेश्वर की पूजा करनी चाहिए ॥१४॥ शान्ति के लिए श्वेत, लाभ के लिए पीला, दूसरे का पराभव करने के लिए काला, मंगल के लिए लाल और मोक्ष के लिए पाँचों वर्णों के पुष्पादि कहा है ॥१५॥ पंचामृत से स्नात्र शान्तिकारक होता है और घी और गुड़ का दीपक भी शान्ति करता है। और अग्नि में लवण (नमक) लूण उतारना वह विघ्न शांति और चित्त की प्रसन्नता करने वाला है ॥१६॥ टुकड़े हुए, जोड़ा हुआ, फटा हुआ, खराब रंग वाला, काला, आदि रौद्र वस्त्र पहन कर दान, पूजा, जाप होम अथवा संध्या कर्म करने से निष्फल होता है ॥१७॥ पद्मासन करके, नासिका के अग्र भाग में दृष्टि रखकर, आस पास दृष्टि फिराये बिना, मौन पूर्वक, वस्त्र से मुख-कोश बाँधकर श्री जिनेश्वर की पूजा करनी चाहिए ॥१८॥

पूजा के इक्कीस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं-१- स्नात्र, २- विलेपन, ३- विभूषण (आंगी आभूषण आदि से), ४- पुष्पों से, ५- माला, ६- धूप, ७- दीप, ८- फल, ९- अक्षत-चावल, १०- पत्र-नागर पान, ११- सुपारी-हथेली में रखने का फल), १२- नैवेद्य, १३- जल (भरे हुए कलश आदि की स्थापना), १४- वस्त्र चंदौवा पुंठीया, तोरण आदि, १५- चमर, १६- छत्र, १७- वाजिंत्र बजाना १८- गीत १९- नाटक (नृत्य आदि करना), २०- स्तुति (स्तवन-छंद-स्तोत्र बोलना),२१- भंडार भरना (भंडार में यथाशक्ति जवाहरात, हीरा मोती, सोना चाँदी नगद आदि धन डालना ॥१९॥ इस तरह इक्कीस प्रकार से श्री जिनराज की पूजा देव, दानव, मनुष्य आदि के समूह हमेशा करते हैं। कलि काल के योग से जो मूर्ति पूजा का खण्डन करते हैं, वे दुर्बुद्धि वाले हैं- उत्सूत्र की प्ररूपणा करते हैं। इसलिए भावपूर्वक जो वस्तु प्रिय-उत्तम हो उससे श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा करनी चाहिए ॥२०॥" इस तरह प्रकरण के २० काव्यों का केवल संक्षेप में भावार्थ लिखा है। उसे यथामति से स्वयंमेव समझ लेना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्य भी श्री जिनेश्वर की प्रतिमा को साफ-शुद्ध करना, जिन मंदिर में झाड़ू निकालना, प्रमार्जना करना, सफेदी कली चूना आदि से उसमें रंग करवाना। जिनेश्वर भगवान के चरित्र के (जन्मों के अथवा किसी प्रसंग या पाँच कल्याणक) आदि अलग अलग जाति के चित्र बनवाने। सर्व प्रकार के पूजा के उत्तम उपकरण-बाजे, ढोलक, पुस्तक साफ करने के लिए झाड़ू, चौकी, पाट, त्रिगडा आदि साधन देना, आंगी आदि देना, पहनाना, चंदरव पुंठीया, तोरण आदि मंदिर में देना इत्यादि सर्व कार्य अंग पूजा आदि तीन पूजाओं में यथायोग्य गिने जाते हैं, क्योंकि वह कार्य करने में वस्तुतः एक श्री जिन भक्ति का ही प्रधान उद्देश्य होता है।

घर में घर के मंदिर के ऊपर पूजा करने की अपनी धोती कपड़े आदि भी नहीं रखना, क्योंकि अन्य मंदिर के समान घर के मंदिर में भी चौरासी आशातनाओं का त्याग करना चाहिए। इसी कारण से ही देव पूजा के लिए पुष्प, धूप, दीप या पानी रखने के पात्र, धूपदानी, दीपक, कलश तथ चंदरवा आदि से अपने घर का कोई काम भी नहीं करना चाहिए तथा घर के मंदिर में चढ़े चावल, सुपारी, नैवेद्य आदि बेचने से जो द्रव्य उत्पन्न हो वह भी अपने कार्य में अथवा अपने नाम से उपयोग नहीं करे, अन्य मंदिर में देने पर भी 'यह द्रव्य पूजा की वस्तुओं को बेचने से प्राप्त हुआ है' इस तरह सर्व को स्पष्ट कहकर देना चाहिए, क्योंकि बतलाये बिना देने से देव द्रव्य होने पर भी लोग निकम्मा-देने वाला, यह मालिक है इस- तरह मानकर प्रशंसा करे, इससे दोष लगता है और नैवेद्य आदि घर के मंदिर के अन्दर पूजा में चढ़ाने पर वह निर्माल्य हो जाता है, वह वस्तु फूल देने वाले माली को दें, वह भी उसे तनखाह के बदले में नहीं दे परन्तु भेंट रूप में ही दें। कभी संपत्ति की कमी के कारण उसे पुष्पों का मूल्य दे सकें ऐसी अपनी स्थिति न हो, तो पहले ही 'वह निर्माल्य पुष्पों का मूल्य अथवा मासिक तनखाह रूप से देने में आता है।' ऐसा कहकर दिया जाय तो दोष नहीं लगता। इस तरह से घर मंदिर में जिन पूजा की विधि कही है। अब उसके बाद में क्या करना चाहिए वह कहते हैं-

इस तरह प्रभु पूजा करने के बाद स्वयं श्री जिनेश्वर भगवान के सन्मुख अर्थात् उनकी साक्षी में विधिपूर्वक 'नमुक्कार सहि' आदि काल पच्चक्खान और 'मुट्ठ सहि' आदि संकेत-पच्चक्खान जो पहले धारण (चिन्तन) किया हो वह नियम उच्चारण करे, यह भी गृहस्थ का विशेष धर्म है। ऐसा समझना। उसके बाद वहाँ से विधि पूर्वक श्री संघ के-गच्छ के अथवा सर्वगच्छ के साधारण मंदिर में पूर्व कहे अनुसार चैत्य के तीन प्रकार में अथवा भक्ति चैत्य आदि पाँच प्रकार की अपेक्षा से निश्राकृत चैत्य या अनिश्राकृत चैत्य आदि में जाकर पुष्पों आदि से विधि पूर्वक द्रव्य पूजा और स्तुति आदि द्वारा गुणगान रूप भाव पूजा करना, वह जघन्य से केवल नमस्कार आदि करने से और उत्कृष्ट से इरिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वही प्रतिक्रमण सूत्र पूर्वक नमुत्थुणं आदि दंडक सूत्र बोलने से होती है । इसका अधिकार पहले कहे गये हैं ।

श्री जिन मंदिर में विधिपूर्वक जाना- ऐसा कहा है । वह विधि इस प्रकार है- यदि राजा, मंत्री अथवा कोई महान ऋद्धिवंत श्रावक हो तो "**सव्वाए इड्ढीए, सव्वाए जुइए, सव्व बलेणं सव्व पोरिसेणं**" अर्थात् समस्त ऋद्धिपूर्वक यानि बहुत धन का दान आदि देते हुए, अथवा छत्र, चमर आदि राज ऋद्धि धारण करके, 'सर्व कान्ति' अर्थात् उत्तम वस्त्र, आभूषण, अलंकार आदि से सुशोभित होकर, 'सर्वबल' अर्थात चतुरंगी सेना के साथ में, और 'सर्व-पुरुषार्थ' अर्थात् सर्व प्रकार के बाजे, महाजन आदि लोगों को साथ में लेकर जाय-यह आगम वचन के अनुसार जिन शासन की प्रभावना करता है । उसमें बतलाये अनुसार बड़े वैभवपूर्ण ठाट बाट के साथ जिन मंदिर में जायें । यदि सामान्य वैभव वाला हो तो मिथ्याडम्बर किए बिना, लोगों में हास्य पात्र न हो इस तरह अपनी शक्ति के अनुसार सामान्य आडम्बर (शोभा) से मित्र, पुत्र आदि परिवार को साथ में लेकर जिन मंदिर में जाये ।

इस तरह श्री जिन मंदिर में जाकर वहाँ पाँच अभिगम (मर्यादा) का पालन करें। उसमें १-पुष्प, ताम्बूल आदि हार, फल अथवा शरीरादि की शोभा के लिए जो सचित्त वस्तु पास में रखी हों उन सब सचित्त द्रव्यों का त्याग करे । शरीर पर पहने हुए मुकुट के सिवाय, आभूषण के अलंकार, वस्त्र आदि अचित्त द्रव्य का त्याग न करे अर्थात् मुकुट के सिवाय सर्व आभूषण धारण किए रखें और केवल मुकुट को नीचे उतारें । ३- चौड़ा उत्तरासंग (दुपट्टा) डालकर मंदिर में जाय- यह पुरुष के विषय में कहा है, स्त्री को तो विशेष रूप से वस्त्रों से अपना शरीर ढक कर विनय से जाना चाहिए । ४-जिन प्रतिमा का दर्शन होते ही दोनों हाथ जोड़कर मस्तक नमाकर 'नमो जिणांण' इस तरह बोले ।

उपाध्याय० ने श्री संघाचार नामक भाष्य की टीका में तो स्त्री को यह अभिगम करने का निषेध किया है । वहाँ कहा है कि-एक साड़ी का उत्तरासंग करना और जिनेश्वर भगवान के दर्शन होते ही मस्तक पर दोनों हाथ से अंजली करना, ये दो अभिगम पुरुष के विषय में हैं । स्त्री तो 'विशेषतया शरीर को वस्त्र से ढक कर विनय से नम्र शरीर वाली' होकर जाये, सिद्धान्त में भी कहा है कि "विणओण याए गायलट्ठीए त्ति" अर्थात् 'विनय से नम्र शरीर वाली' इस कथन से नमोत्थुणं आदि बोलते समय में भी स्त्रियों को मस्तक पर हाथ जोड़ना योग्य नहीं है, क्योंकि इस तरह हाथ ऊँचे करने से हृदय से हृदय-स्तन आदि दिखाने का प्रसंग आता है । शास्त्र में जब द्रौपदी का अधिकार आता है तो उसमें "**करयलं जाव कट्टु एवं बयासी त्ति ।**" अर्थात्-'दोनों हाथ के तलवे की अंजलि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि करके इस तरह बोली ।' ऐसा पाठ है, उसे भक्ति के लिए न्यूछणा लेने के समान केवल अंजलि घुमाने की सूचनारूप समझना । सर्व प्रकार से पुरुषों के समान ही मस्तक से अंजलि करने का भाव रूप नहीं है इस तरह इस विषय में पुरुष एवं स्त्रियों में विवेक होना चाहिए । श्री जिनेश्वर भगवान के दर्शन आदि में मन की एकाग्रता करना अर्थात् मन को दर्शन में स्थिर करना ।

इस तरह पाँच अभिगम-मर्यादारूप विनय का पालन करे, जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा । तीन बार निसीही कहकर श्री जिन मंदिर में प्रवेश करना चाहिए । आगम में भी भगवती सूत्र एवं ज्ञाता धर्म कथा में कहा है कि-"**सच्चिताणं दव्वाणं विउसरण याए । अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरण याए । एगल्ल साडएण, उत्तरासंगे णं चक्खुफासे अंजलि पग्गहेणं । मणसो एगत्ति करणेणं त्ति ॥**" अर्थात् सचित्त वस्तुओं का त्याग करके, अचित्त वस्तुओं का त्याग किए बिना ही, अखण्ड एक वस्त्र का उत्तरासंग करके, चक्षु से दर्शन होते ही मस्तक पर दो हाथ जोड़कर और मन की एकाग्रता-स्थिरता करके । इन पांच अभिगम का पालन करता श्रावक जिन मंदिर में प्रवेश करे । यह अभिगम सामान्य ऋद्धिवंत के लिए भी कहे हैं । राजा आदि तो जिन मंदिर में प्रवेश करते समय राज चिह्नों का त्याग करे । श्राद्ध दिन कृत्य गाथा ५० और विचार सार गाथा ६६५ में कहा है कि-

अवहट्टु रायक कुआइं, पंच वरायक कुअरुवाइं ।
खग्गं छत्तो वाणह, मउडं तह चामराओ अ ॥१॥

अर्थात्- "तलवार, छत्र, जूते, मुकुट और चामर-इन पाँचों राज चिह्नों का त्याग करके राजा को श्री जिन मंदिर में प्रवेश करना चाहिए ।"

श्री जिन मंदिर के मूल द्वार में प्रवेश करते समय घर, दुकान आदि सम्बन्धी सर्व पापकारी कार्यों का मन, वचन और काया से त्याग करने रूप तीन बार 'निसीहि' शब्द बोलना चाहिए । इससे घर आदि के ही पाप व्यापार का त्याग होता है, इसलिए एक ही निसीहि बोलने में आता है । इस तरह निसीहि बोलने के साथ प्रवेश करने के बाद जिन मंदिर में घर आदि के व्यापार का मन, वचन काया से त्याग करना न्याय संगत है, नहीं तो निसीहि कहने का व्यर्थ होता है । श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

मिहो कहा उ सव्वाउ, जो वज्जेइ जिणालए ।
तस्स निसीहिआ होइ, इहइ केवलि भासि अ ॥५६॥

अर्थात् - "यहां मिथुन कथा अर्थात मैथुन सम्बन्धी बातें और उपलक्षण से राज कथा, देश कथा, भक्त कथा आदि सर्व कथाओं का करना जिन मंदिर में जो छोड़ता है उसे निसीह कहना सफल है, ऐसा श्री केवली भगवन्त का वचन है ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके बाद मूल नायक भगवान को नमस्कार करके कल्याण कामी आत्मा को 'सर्व उत्कृष्ट वस्तु-कार्य प्रायःकर दाहिनी ओर से करने चाहिएं।' ऐसी नीति होने से, प्रभु जी अपनी दाहिनी ओर रहें, इस तरह अपने बायीं ओर से 'ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिए। चेइ अवंदण महाभास में कहा है कि-

ततो नमो जिणाणं ति, भणिय अद्धोणयं पणामं च।
का उं पंचंगं वा, भत्ति भर निब्भर मणेणं ॥१८६॥

पूअंग पाणि परिवार परिगओ गहिर महुर द्योसेणं।
पढमाणो जिण गुण गण निबद्धमंगल्ल थुत्ताइं ॥१६०॥

कर धरिय जोग मुद्दो, पए पए पाणिरक्खणा उत्तो।
दिज्जा पयाहिण तिगं, एगग्गमणो जिण गुणेसुं ॥१६१॥

गिह चेइ अेसु न घडइ इयरेसु वि जइ वि कारण वसेणं।
तहवि न मुंचइ मइमं, सयावि तक्करण परिणामं ॥१६२॥

अर्थात् - ''उसके बाद भक्ति पूर्ण हृदय से 'नमो जिणाणं' ऐसा कहकर आधा अंग नमाकर नमस्कार करे अथवा पूर्ण रूप में खमासमण देने रूप पंचांग नमस्कार करे ।१८६॥ फिर पूजा सामग्री हाथ में लिए पुत्रादि परिवार सहित भव्यात्मा जिसमें जिनेश्वर भगवान के गुणों का वर्णन हो ऐसे मांगलिक स्तोत्र-काव्य आदि के गंभीर एवं मधुर स्वर बोले ॥१६०॥ दोनों हाथों की अंगुलियां एक दूसरे के बीच में परस्पर एकत्रित करके दोनों हाथ जोड़ने रूप योग मुद्रा करके कदम कदम पर जीव रक्षा के उपयोग पूर्वक श्री जिनेश्वर परमात्मा के गुणों में मन को एकाग्र करके तीन प्रदक्षिणा देवे ॥१६१॥ घर के मंदिर अथवा अन्य किसी भी मंदिर में कारणवश प्रदक्षिणा का योग न बने तो भी बुद्धिमान आत्मा प्रदक्षिणा देने की भावना नहीं छोड़े ॥१६२॥''

प्रदक्षिणा देते समय श्री जिनेश्वर परमात्मा चार रूप समवसरण में विराजमान हैं, इस प्रकार ध्यान करता हुआ श्रावक मूलगभारे के बाहर की दीवार-भीत में अथवा भमती-प्रदक्षिणा में पहले मूल प्रतिमा से दाहिनी ओर और बाद में बायीं ओर स्थापित की हुई प्रतिमा का और बाद में वंदन करे। **इस हेतु से ही सर्व जिन** मंदिरों में 'गभारा समवसरण रूप मानने से' गभारे की भीत के बाहर के भाग में तीन दिशा में मूल नायक जी के नाम के तीन प्रतिमा जी बनवाते हैं। इस तरह चारों दिशाओं में जिन मूर्ति होने से ''**वर्जयेदर्हतः पृष्ठम**'' अर्थात् 'अरिहंत भगवान के पीछे छोड़ना, अर्थात् भगवन्त के पीछे के विभाग में निवास नहीं करना।' इससे इस नियम का भी पालन होता है और दोष नहीं लगता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसके बाद जिन मंदिर का प्रमार्जन करना, देव द्रव्य की बही में हिसाब किताब आदि देखना इत्यादि जो आगे कहा जायेगा वह अपने द्वारा करने योग्य सर्व कार्य यथा योग्य रूप से करके पूजा की समग्र सामग्री तैयार करे। इस तरह तैयारी करके फिर जिन मंदिर विषय के कार्यों का भी त्याग करने के लिए मुख्य मंडप गभारे के दरवाजे के पास या योग्य स्थान पर दूसरी तीन बार निसीहि कहकर मूलगभारे में प्रवेश करके पहले कहे अनुसार श्री मूलनायक भगवान को तीन बार नमस्कार करके पूजा करे। चेइ अवंदण महाभास में कहा है :-

तत्तो निसीहि आए, पवि सित्ता मंडवंमि जिण पुरओ।
रिवइ निहिअ जाणुपाणी, करेइ विहिणा पणा मतिगं ॥१६३॥

तयुण हरिसुल्ल संतो, कयमुह कोसो जिणिंद पडिमाणं।
अवणेइ रयणि वसियं, निम्मल्लं लोम हत्थेणं ॥१६४॥

जिण गिह पमज्जणं तो, करेइ कारेइ वा वि अन्नेणं।
जिण बिंबाणं पूअं, तो विहिणा कुणइ जह जोग ॥१६५॥

अर्थात् - ''फिर निसीह कहकर मुख्य मंडप में प्रवेश करके जिनेश्वर भगवान के सामने दो हाथ, दो घुटने और मस्तक से जमीन को स्पर्श कर पाँचों अंगों को नमाकर विधि पूर्वक तीन बार नमस्कार करे।१६३॥ उसके बाद हर्ष से उल्लसित-रोमांचित होकर मुख कोश बाँधकर मोर पीछी से जिन देव की प्रतिमा के ऊपर का- रात्रि का बासी- निर्माल्य उतारे।१६४॥ फिर जिन घर का (मूल गभारा) स्वयं प्रमार्जन करे या दूसरे से करवाये और फिर विधि पूर्वक यथा योग्य जिन प्रतिमाओं की पूजा करे ॥१६५॥''

और यहाँ जिन मूर्ति का शुद्ध सुगन्धिमय पानी से प्रक्षालन, केसर मिश्रित गोशीर्ष चन्दन से विलेपन, अंग रचना, गोरोचन-कस्तूरी आदि से ललाट पर पत्र आदि की रचना, तथा अलग अलग जाति के पुष्पों की माला पहनाना, रेशमी वस्त्रों से सजाना, कृष्णा गुरु मिश्र कर्पूर आदि का धूप करना, दीपक से प्रकाश, स्वच्छ अखडं चावल से अष्ट मंगल की रचना और सुन्दर पुष्प घर बनाना, इत्यादि विशेष प्रकार से भक्ति करना। यदि पहले किसी ने पुष्पों से अथवा आंगी आदि पूजा की हो और उससे विशेष सुन्दरता-शोभा करने की सामग्री पास में न हो तो वह जो पूर्व में पूजा की हो उसे उतारे नहीं- वैसे ही रहने दे। वैसा करने से भव्य जीवों को उसके दर्शन द्वारा पुण्यानुबन्धी पुण्य बंधन होने वाला हो उससें अंतराय होता है, इसलिए पूर्व में रचना की पूजा को ही अपनी सामग्री से विशेष सुशोभित बनाना चाहिए। चैत्य महाभाष्य में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अह पुव्विं चिअ केणइ, हविज्ज पूआ कया सुविहवेणं।
तंपि सविसेस सोहं, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥१॥

निम्मल्लं पि न एवं भण्णइ निम्मल्ल लक्खणा भावा।
भोगविणट्ठं दव्वं निम्मल्लं बिंति गीअत्था ॥२॥

इत्ता चेव जिणाणं पुणरवि आरोवणं कुणंति जहा।
वत्था हरणाईणं, जुगलि अकुंड लिअमाईण ॥३॥

कहमन्नह एगाए कासाईए जिणिंद पडिमाणं।
अट्ठ सयं लूहंता, विजयाई वण्णिआ समए ॥४॥

अर्थात् - ''यदि पूर्व में किसी ने अच्छे वैभव से अति मनोहर पूजा की हो तो वही पूजा जैसे जैसे सुविशेष शोभायमान बने वैसा करना चाहिए।१॥ इसके अनुसार करने में एक बार चढ़ाये हुए पूष्पादि को फेर-फार करने पर भी निर्माल्य चढ़ाने का दोष नहीं लगता है, क्योंकि वे चढ़े हुए पुष्पादि ताजे होने से उसमें निर्माल्य को 'भोग से नष्ट हुए द्रव्य को गीतार्थों ने निर्माल्य कहा है।' यह लक्षण उसमें घटता नहीं है, अर्थात् वह नहीं गिना जाता।२॥ इस कारण से ही श्री जिनेश्वर देवों को एक का एक वस्त्र, आभूषण आदि तथा बाजु बंध मुकुट आदि बार-बार भी चढ़ाया जाता है ॥३॥ यदि ऐसा न हो तो जीवाभिगम आदि शास्त्र में 'विजयदेव आदि ने एक काषायिक वस्त्र से एक सौ आठ जिन प्रतिमाओं का अंग पूछण किया।' ऐसा कहा है- वह कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात् जो निर्माल्य नहीं बनती हो, वह वस्तु पुनः चढ़ाने में दोष नहीं लगता ॥४॥''

मूल नायक भगवान की पूजा करने के बाद सृष्टि कर्म से अन्य सर्व बिम्बों की यथा योग्य पूजा करनी। द्वार पर मंगल बिम्ब, और गभारे की भीत के तीन समवसरण बिम्बों की पूजा गभारे में प्रवेश करते समय नहीं करनी, परन्तु मूल नायक तथा अन्य प्रतिमाओं की पूजा करके गभारे में से बाहर निकलते समय संभव हो सकता है। प्रदक्षिणा देते समय तो अन्य प्रतिमाओं से नजदीक होने से उन्हीं को पहले नमस्कार करना अयोग्य नहीं है। जीवाभिगम में कहे अनुसार श्रीविजय देवेन्द्र सूरीश्वर जी महाराज ने संघाचार नामक भाष्य की टीका में विजयदेव के अधिकार में इसका समर्थन करते हुए कहा है कि-

तो गन्तु सुहम्म सहं, जिणस कहादंसणं मि पण मित्ता।
उग्घाडित्तु समुग्गं पमज्जए लोम हत्थेण ॥४८॥

सुरहि जलेणिग वीसं, वारा पक्खालि आणु लिंपित्ता।
गोसीस चंदणेणं, ता कुसुमाई हि अच्चेइ ॥४९॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो दार पडि मपूअं सहासु पंचसु वि करेइ पुव्वं व ।
दारच्चणाइसेसं तइ अउवंगाओ नायव्वं ।।५०।।

अर्थात् - ''विजयदेव ने उसके बाद सुधर्मा नामक सभा में जाकर श्री जिनेश्वर देवों की दाढ़ाओं वाले वज्र रत्नमय डब्बे का दर्शन होते ही नमस्कार करके, उसे खोलकर उन दाढ़ाओं का मोर पीछी से प्रमार्जन किया ।४८।। उसके बाद उन दाढ़ाओं का सुगन्धित पानी द्वारा इक्कीस बार प्रक्षालन करके गोशीर्ष चन्दन से विलेपन करके पुष्प आदि से पूजा की ।४९।। और बाद में द्वार प्रतिमा की पूजा की । इस तरह पाँचों सभाओं में पूर्व की सुधर्मा सभा के समान पूजा की । द्वार की पूजा आदि शेष वर्णन तीसरे जीवाभिगम उपांगसूत्र से जान लेना ।।५०।।'' इसलिए श्री मूल नायक की सर्व प्रतिमाओं की पूजा सर्व बिम्बों से पहले विशेष रूप में करना- वह योग्य है । संबोध प्रकरण देवाधिकार में भी कहा है कि-

उचिअत्तं पूआए, विसेस करणं तु मूल बिंबस्स ।
जं पडइ तत्थ पढमं, जणस्स दिट्ठी सह मणेणं ।।६०।।

अर्थात् - ''दर्शन करने का मन और दृष्टि प्रथम श्री मूल नायक भगवान पर पड़ती है, इसलिए उनकी पूजा में अन्य प्रतिमा से विशेष शोभा करनी चाहिए- वह उचित है ।''

इस विषय में संबोध प्रकरण देवाधिकार गाथा ६१ से लेकर ७१ तक में तथा चेइअ वंदण महाभास के अन्दर इस तरह प्रश्नोत्तरी रुप में कहा है कि-

''शिष्य प्रश्न करता है कि-पहले एक जिनेश्वर की पूजा वंदन आदि करके, फिर शेष जिन प्रतिमाओं की पूजा वंदन आदि करने से प्रत्येक जिनेश्वर भगवान समान होने पर भी उनमें स्वामी-सेवक भाव गिना जाता है अर्थात श्री मूलनायक जी स्वामी और शेष सेवक रूप में गिने जाते हैं ।६१।। और निपुण बुद्धि से विचार करके एक की आदर पूर्वक श्रेष्ठ पूजा करनी और दूसरी प्रतिमा की सामान्य पूजा करनी- यह भी महा अवज्ञा पंक्ति भेद रूप गिना जाता है ।६२।। इसका समाधान आचार्य महाराज करते हैं कि - सारी प्रतिमाओं के आठ प्रतिहार्य आदि समान परिवार को देखने से ज्ञानी पुरुष को उसमें स्वामी-सेवक रूप का विचार आए इसलिए नहीं कहा ।६३।। परन्तु यह केवल व्यवहार है कि- जिसे पहले प्रतिष्ठित किया हो वह मूल नायक गिना जाता है । इससे अन्य प्रतिमा का मुख्यत्व नहीं चला जाता ।६४।। तथा औचित्य पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले को एक मूल नायक भगवान का ही वंदन पूजा करने में अथवा नैवेद्य आदि भेंट करने में कोई आशातना नहीं दिखती है ।६५।। जैसे केवल मिट्टी आदि की प्रतिमा की जल पूजा करने से मूर्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नष्ट हो जाती है– उसका केवल पुष्पादि पूजा करना योग्य है और सुवर्ण आदि प्रतिमा का नाश होने का भय नहीं होने से स्नान आदि कराना भी उचित है ।६६।। जैसे धार्मिक मनुष्य को अमुक जिनेश्वर का आज कल्याणक दिन आदि होने से उस दिन उस एक ही भगवान की सविशेष पूजा करने में अन्य की प्रतिमाओं के प्रति अवज्ञा नहीं होती ।६७।। इत्यादि उचित प्रवृत्ति में अन्य के समान अवज्ञा नहीं होती, वैसे ही मूल नायक भगवान की प्रतिमा की विशेष पूजा आदि करने में कोई अवज्ञा नहीं है ।६८।। क्योंकि वस्तुतः जिन भवन या जिन प्रतिमा की पूजा किसी जिनेश्वर परमात्मा के लिए नहीं है अथवा अवज्ञा हो ऐसा भी नहीं है, वह तो केवल पूजक को अपने शुभ भाव के लिए और बुद्धिमान भव्य जीवों को बोध होने के लिए है ।६९।। क्योंकि भव्य आत्मा सुन्दर मंदिर के दर्शन से, किसी प्रशांत मुद्रावाली मूर्ति का रूप देखने से, किसी आंगी पूजा आदि की सुन्दरता से तो कोई उपदेश श्रवण करने से भी प्रतिबोध नहींहोता है ।'' इस कारण से प्रथम मूल नायक भगवान की पूजा करना योग्य ही है ।

विस्तारपूर्वक बड़ी पूजा जब पढ़ानी हो तब प्रत्येक समय और पूर्व के दिनों में भी खास करके जिन प्रतिमा का स्नात्र महोत्सव करना चाहिए । उसमें भी तीन, पाँच या सात कुसुमांजलि अर्पण करनी चाहिएं, इत्यादि स्नात्र विधि योगशास्त्र तथा श्राद्ध विधि की टीका में कही है कि– सुबह पहले निर्माल्य उतार कर, प्रक्षालन कर संक्षेप से पूजा करे, आरती–मंगल दीपक उतारे, पुनः स्नात्रपूर्वक विस्तार से पूजा प्रारंभ करे, तब जिन प्रतिमा के सन्मुख कुंकुम का स्वस्तिक करके उसके ऊपर केसर मिश्रित जल कलश स्थापन करे । फिर–

मुक्तालङ्कार विकार सार सौम्यत्व कान्ति कम नीयम्।
सहज निजरूप निर्जित जगत्त्रयं पातु जिन बिम्बम् ।।१।।

अर्थात् –'' अलंकार रूपी विकार से युक्त, उत्तम सौम्यता और कान्ति से सुशोभित तथा अपने स्वाभाविक रूप से तीन जगत् को जीतने वाले श्री जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा सर्व का रक्षण करो ।'' इस तरह कहकर प्रतिमा जी के ऊपर से अलंकार–आभूषण उतारने चाहिएं । फिर–

अवणि अकुसुमा हरणं, पयइपइट्ठि अमणोहरच्छायं ।
जिण रूपं मज्जणपीठ संठि अं वो सिवं दिसउ ।।२।।

अर्थात्– ''जिनके पुष्प–आभूषण उतरने हैं और जिनकी कान्ति स्वाभाविक ही मनोहर है, ऐसे स्नात्र पीठ पर विराजमान श्री जिनराज की प्रतिमा हमारा कल्याण करे।'' इस काव्य का पाठ पं० श्री वीर विजय जी कृत 'कुसुमाभरण उतारीने' इस ढाल में आता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। इसी प्रकार पूज्य आत्माराम जी रचित स्नात्र में भाव आया है, कवि देवपाल स्नात्र में यह गाथा दूसरे नम्बर पर दी है ।

इस प्रकार बोलकर निर्माल्य उतारना, फिर प्रथम स्थापन किए कलश से भगवान का अभिषेक करके पूजा करना । फिर प्रभु जी को स्नात्र पीठ पर विराजमान करना । उसके बाद धूप से वासित कर कलशों में स्नात्र के योग्य सुगन्धीमान जल भरना और उसे श्रेणीबद्ध स्थापन कर ऊपर सुन्दर वस्त्र ढककर फिर स्नात्र पढ़ाने वाले अपना चंदन, धूप आदि लेकर खड़े खड़े कुसुमांजलि का पाठ बोलें, उसमें पहले :-

सयवत्त कुंदमालइ बहु विह कुसुमाइं पंच वण्णाइं ।
जिण नाहण हवण काले, दिंति सुरा कुसुमंजलिं हिट्ठा ॥३॥

अर्थात् – "मेरु पर्वत पर श्री जिनेश्वर परमात्मा के स्नात्र अभिषेक समय में हर्षित हुए देव शतपत्र कमल, मोगरा, आदि अनेक जाति, पंच वर्ण के पुष्पों से प्रभु को कुसुमांजलि चढ़ाते हैं ।" इस कुसुमांजलि की गाथा देवपाल कवि कृत स्नात्र में बोलते हैं । यह काव्य बोलकर प्रतिमा जी के मस्तक पर पुष्प आरोपण करते हैं ।

गंधायड्ढिअमहुयर-मणहर झंकार सद्द संगीआ ।
जिण चलणोवरि मुक्का हरउ तुम्ह कुसुमंजली दूरियं ॥४॥

अर्थात् - "सुगंध से खिंचकर आए भौंरें के गुंजार का मनोहर शब्द जिसमें गूंज रहा है, ऐसे जिनेश्वर देव के चरण कमल के ऊपर चढ़े पुष्पों की अंजलि, हमारे पापों को नाश करे ।" कवि श्री देवपाल कृत स्नात्र की कुसुमांजलि तीसरी है ।

इत्यादि कुसुमांजलि की गाथाओं में से एक एक गाथा बोलकर श्री जिनेश्वर के चरण कमलों में एक श्रावक को कुसुमांजलि चढ़ाना और प्रत्येक समय में तिलक करना, साथ में पुष्पों के पत्ते चढ़ाना, धूप करना आदि समझ लेना । इस तरह कुसुमांजलि करके, जिस भगवान का स्नात्र होता है उस जिनेश्वर के जन्माभिषेक के कलश का पाठ मधुर स्वर से बोलना चाहिए, फिर घी, इक्षु रस, दूध, दही और सुगन्धित जल के पंचामृत से, सर्व स्नात्रकारों को अभिषेक करना, बीच बीच में धूप देना, स्नात्र करते हुए भी भगवान के मस्तक से पुष्प नहीं उतारना । वादि वेताल श्री आचार्य शान्ति सूरीश्वर महाराज ने अर्हदभिषक तीसरे पर्व में कहा है कि :-

आ स्नात्र परिस माप्तेर शून्य मुष्णीष देशमीशस्य ।
सान्तर्धाना ब्धारा पातं पुष्पोत्तमैः कुर्यात् ॥४॥

अर्थात्- "स्नात्रपूर्ण हो तब तक प्रतिमा के मस्तक पर पुष्प रखना चाहिए और मस्तक पर जल का अभिषेक उन उत्तम पुष्पों के ऊपर करना चाहिए ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भगवान का अभिषेक करते समय लगातार चामर करना, संगीत करना, वाजित्र बजाना आदि यथा शक्ति सुन्दर आडम्बर करना। इस तरह पंचामृत से सभी को स्नात्र करने के बाद आखिर में नीचे का काव्य बोलकर पंचामृत की शुद्धि के लिए शुद्ध जल की धारा देनी चाहिए।

अभिषेक तोय धारा धारेव ध्यान मण्डलाग्रस्य ।
भवभवनमित्ति भागान्, भयोऽपि भिनत्तु भागवती ॥१२॥

अर्थात् – "भगवान के अभिषेक के पानी की धारा, ध्यान रूपी महान् खड्ग धारा के समान संसार महल की गीत के विभाग को बारम्बार मूल से तोड़ डाले। अर्थात् ध्यान से जैसे संसार का नाश होता है, वैसे ही इस अभिषेक से संसार का नाश हो जाए।" ऐसा अभिप्राय है।

उसके बाद अंग लूंछणा करके विलेपन आदि से सुन्दर पूजा करना जिससे कि पहले उतारी पूजा से अधिक सुशोभाय मान बने, फिर ज्ञानादि तीन रत्न वाले तीन लोक के नाथ जिनेश्वर देव को, सर्व प्रकार का अनाज, मिठाई, साग, विगद, फल आदि उत्तम वस्तु से उनके सन्मुख तीन ढेर करने रूप बलि का दान करना। श्री जिनेश्वर देव के जन्म महोत्सव में स्नात्र आदि विधि पहले बड़ा अच्युत इन्द्र स्व परिवार के देवों सहित करता है, फिर अनुक्रम से शेष इन्द्र अपने-अपने परिवार के देवों के साथ में करता है, इसलिए यहाँ भी स्नात्रकारों नें स्नात्र पूजा आदि सर्व कार्यों में प्रथम बड़े, फिर अनुक्रम से छोटे को विवेक से करना चाहिए। शेष के समान यह स्नात्र जल भी मस्तक आदि में लगाने में दोष नहीं है। कलि काल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य जी ने त्रिषष्ठी शलाका चरित्र १० पर्व, दूसरे सर्ग, वीर चरित्र में कहा है कि :-

अभिषेक जलं तत्तु सुरासुर नरोरगाः ।
बवन्दिरे मुहुः सर्वाङ्गीणं च परिचिक्षिपु ॥६८॥

अर्थात्-"उस स्नात्र जल को, देव, दानव, मनुष्य और व्यंतरों ने बारम्बार वंदन किया, और अपने सर्व अंगों में स्पर्श करवाया अर्थात् स्नात्र जल को अपने अंग पर लगाया।" श्री पद्म चरित्र में भी उन्नीसवें उद्देश्य में आषाढ़ शुदि अष्टमी से आरंभ कर दशरथ राजा ने अष्टाह्निका महोत्सव करवाया था। उसके स्नात्राधिकार में आता है कि:-

तं ण्हवण संति सलिलं, नर वइणा पेसिअं समज्जाणं ।
तरूण विल या हि नेउं, छूढं चिअ उत्तमंगेसु ॥१॥
कंचुइहत्थोवगयं, जाव य गधोदयं चिरावेइ ।
ताव य वरग्गम हिसी, पत्ता सोगं च कोवं च ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सा कंचुइणा कुद्धा, अहि सित्तातेण संति सलिलेणं ।
निव्वावि अमाण सग्गी, पसन्नहि अया तओ जाया ॥३॥

अर्थात् - "उस स्नात्र का शान्ति जल राजा ने रानियों के लिए भेजा और पट्टरानी के पहले ही अन्य युवतियों में वह स्नात्र जल लेकर अपने मस्तक पर चढ़ाया ।१॥ इससे अंत: पुर के रक्षक कंचुकी के हाथ में से वह स्नात्र जल मिलने में विलम्ब हुआ तब पट्टरानी को दु:ख हुआ और वे क्रोधातुर हो गयीं ॥२॥ कंचुकी ने क्रोधायमान बनी पट्टरानी के मस्तक पर वह स्नात्र जल छांटा, तब उसका कषाय, अग्नि शान्त हो गई और वह प्रसन्नचित्त बन गयी ॥३॥"

बृहत् शान्ति में भी कहा है कि- "शान्ति पानीयं मस्तके दातव्यं ।" अर्थात् 'शान्ति जल मस्तक पर चढ़ाना चाहिए ।" और भी सुना जाता है कि- "जरासंध द्वारा भेजी हुई जरा नाम की विधा से सैन्य का पराभव हुआ तब श्री नेमिनाथ भगवान के कहने से कृष्ण वासुदेव ने धरणेन्द्र की आराधना की । उनके द्वारा पाताल में रही श्री पार्श्वनाथ प्रभु जी की प्रतिमा शंखेश्वर में मंगवाई, उसका स्नात्र जल छींट कर अपनी सैन्य को जरा विधा से मुक्त किया ।" इस तरह चरित्र आदि प्रकीर्ण ग्रन्थों में स्नात्र जल के शरीर पर लगाने के अनेक पाठ मिलते हैं ।

श्री जिनेश्वर देव के समवसरण में राजा आदि जो क्रूर रूप बली बाकुला आकाश में उछालते हैं, वह नीचे गिरने के पहले ही आधे देवता ग्रहण करते हैं, चौथे भाग को राजा और अन्तिम चौथे भाग को अन्य मनुष्य ग्रहण करते हैं । इन बाकुलों का एक दाना भी मस्तक पर चढ़ाने से प्रत्येक व्याधियाँ नाश होती हैं और छह महीने तक नया रोग नहीं होता- इस तरह आगम में भी कहा है । इससे प्रक्षाल का जल शरीर पर लगाना अनुचित नहीं होता ।

उसके बाद सद्गुरु द्वारा प्रतिष्ठित किए रेशमी वस्त्र आदि का महाध्वज महोत्सवपूर्वक लाकर तीन प्रदक्षिणा आदि विधिपूर्वक करके श्री जिनेश्वर को समर्पण करना और सभी को अपनी शक्ति अनुसार वस्त्र आदि से भक्ति करनी चाहिए । उसके बाद आरती मंगल दीपक प्रगट कर-जलाकर प्रभु के सन्मुख रखना, पास में एक पात्र में अग्नि भी रखना, उसमें लूण उतारते नमक-पानी डाल सकते हैं, फिर नीचे का काव्य बोलकर पहले पुष्पवृष्टि करना-

उवणेउ मंगलं वा जिजाण मुहलालि जाल संवलिआ ।
तित्थ पवत्तण समये, तिअस विमुक्का कुसुम वृट्ठी ॥1॥

अर्थात् - "तीर्थ स्थापना के समय देवों ने वर्षा की वह श्री जिनेश्वर के मुख के लावण्य के समूह से मिश्रित बने पुष्पों की वृष्टि तुम्हारा मंगल करे ।" उसके बाद नीचे का काव्य बोलते हुए लूण उतारना चाहिए-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उअह ! पडि भग्गपसरं, पयाहिणं मुणिवइंकरेऊणं ।
पडइ सलोणत्तण लज्जिअं व लोणं हुअवहंमि ॥२॥

अर्थात् - "देखो ! जिसका वेग भाग (खतम हो) गया है, वह यह लूण जिनेश्वर की तीन प्रदक्षिणा करके अपने खारेपन से लज्जित हुआ न हो- इस तरह अग्नि में पड़ता है ।"

यह पाठ बोलते हुए विधि पूर्वक श्री जिनेश्वर देव को तीन बार पुष्प सहित लवण (लूण) को उतारना चाहिए । फिर सृष्टि क्रम से आरती की पूजा करके आरती तैयार करना । फिर आरती उतारना, अन्य श्रावकों ने दोनों तरफ धूप करना, अखण्ड जलधारा करनी और चारों तरफ पुष्प उछालना, फिर आरती की उत्तम पात्र में स्थापना कर नीचे का काव्य बोलते हुए आरती उतारनी चाहिए ।

मरगय मणि घडिय विसाल थाल माणिक्क मंडिअपईवं।
एहवणयर करूनिक्खत्तं, भमउ जिणारत्तिअं तुम्हं ॥३॥

अर्थात् - "मरकत मणि से बने हुए या जड़ित बड़े थाल में स्नात्र करने वाले स्वयं उठाकर माणिक्य से शोभाय मान यह प्रदीप-आरती, हे जिनदेव ! तुम्हें प्रदक्षिणा दे ।" इस तरह महोत्सव पूर्वक तीन बार आरती उतारना । त्रिषष्ठी के अन्दर श्री ऋषभ चरित्र में कहा है कि-

कृत कृत्य इवाथाप सृत्य किञ्चित्पुरंदरः ।
पुरोभूयजगद्भर्तु रारात्रि कुमुपाद दे ॥५६८॥

चलद्दीप त्विपा तेन, चका सामास कौशिकः ।
भास्वदौषधि चक्रेण, श्रृंङ्गेणेव महागिरि ॥५६६॥

श्रद्धालुभिः सुखैरः प्रकीर्ण कुसुमोत्करम् ।
भर्तुरु त्तारयामास, ततस्त्रिदश पुङ्गवः ॥६००॥

अर्थात् - "उसके बाद कृत कृत्य हो इस तरह इन्द्र ने वहाँ से थोड़ा सा हटकर जगत् स्वामी के सन्मुख आकर आरती उठायी ।५६८॥ उस समय जैसे दैदीप्यमान औषधि समूह से जलते शिखर से मेरु शोभता है वैसे ही दीपक की चंचल शिखा से इन्द्र महाराज शोभा को प्राप्त करता है ।५६६॥ फिर श्रद्धालु देवों ने बहुत पुष्पों को उछाला और इन्द्र ने प्रभु की आरती उतारी ।६००॥ " मंगल दीपक की भी आरती के समान पूजा करके नीचे का काव्य बोलकर उतारना चाहिए-

कोसंबिं संठि अस्स व, पयाहिणं कुणइ मउलिअ पईवो ।
जिण ! तुह दंसणे सोम-दिणय रूव्व मंगल पईवो ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यामि जंतो सुरसुंदरीहिं तुह नाह ! मंगल पइवो ।
कणयायलस्स जज्जइ, भाणुव्व पयाहिणं दिंतो ॥२॥

अर्थात् - "हे जिनेश्वर परमात्मा ! कौशाम्बी में आपके दर्शन करने के लिए जैसे सूर्य चन्द्र आये थे, वैसे ही दर्शन के लिए आया यह प्रकाशमान दीप्ति मंगल दीपक आप की प्रदक्षिणा करता है ।१॥ हे नाथ ! देवांगनाओं के समान आप के मुख के सामने भ्रमण करता यह मंगल दीपक मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते सूर्य के समान शोभायमान होता है ॥२॥"

यह पाठ बोलने के साथ में धूप करना, अखंड जलधारा करनी और पुष्पों को उछालना आदि महोत्सव पूर्वक मंगल दीपक भी उतारना और जलते ही श्री जिनेश्वर भगवान के चरण के सन्मुख रखना, आरती को बुझाने में दोष नहीं है । मुख्यतया मंगल दीप-आरती आदि घी, गुड़, कर्पूर आदि करने से विशेष फल मिलता है । लोगों में भी कहा है कि - 'देव के आगे कर्पूर का दीपक रखने से अश्वमेध यज्ञ का फल और कुल का उद्धार होता है ।' यहाँ '**मुक्तालङ्कार**' आदि जो गाथा कही है वह प्राय: पूज्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी महाराज की रची होनी चाहिए क्योंकि - उनके रचित '**समराइच्च** कहा' के प्रारंभ में '**उवणेउ मंगलं वो**' इस गाथा से नमस्कार किया है, यही गाथा यहाँ पर भी है । श्री तपागच्छ आदि गच्छों में प्रसिद्ध होने से वह गाथा यहाँ नहीं कही । यह गाथा ग्रन्थकार के समय में प्रसिद्ध होगी । ऐसा दिखता है ।

स्नात्र आदि अनुष्ठान में अलग अलग समाचारी होने के कारण विधि भी अलग अलग दिखने में आती है । इसलिए राग-द्वेष-व्यामोह नहीं करना चाहिए । क्योंकि अलग अलग विधि से साधना करने वाले में भी सर्व का साध्य, श्री अरिहंत की भक्ति रूप फल की, प्राप्ति के लिए होता है । प्राचीन श्री गणधर आदि की समाचारियों में भी बहुत भेद है, इसलिए जो अनुष्ठान धर्म आगम, परम्परा आदि के अनुसार और अरिहंत की भक्ति-आज्ञा का पोषक हो वह किसी से भी असंगत नहीं गिना जाता है । इस तरह प्रत्येक अनुष्ठान में विधि भेदादि के योग से समझना ।

वस्तुत: जिनागम कथित चार अनुयोग में व्यवहार नय से चरण करणानुयोग की प्रधानता है । क्योंकि वह साधन रूप है और द्रव्यानुयोग साध्य है । साधना में भेद होने पर यदि वह एक साध्य का साधक हो सकता हो तो वह सारा जिनवचन रूप गिना जाता है । छ: दर्शन अलग अलग हेतु से हैं, वह एक साध्य के साधक नहीं हैं और इससे ही वह असह्य हैं । जैन संप्रदाय में जो गच्छभेद हैं, वे अधिकत: विधिवाद के मतान्तर रूप हैं, साध्य में भेद नहीं है। साधक की साधना में बाधक नहीं होता है और परस्पर सहिष्णुता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाव होता है । अत: ग्रन्थकर्ता की उपर्युक्त पंक्तियां आत्मार्थी को बहुत मननीय एवं आदरणीय हैं ।

यहाँ लूण, आरती, मंगल दीपक, आदि परम्परा से सर्व गच्छों में और अन्य दर्शनों में भी सृष्टि क्रम से उतारने का दिखता है । पूज्य श्री जिनप्रभु सूरि जी कृत पूजा विधि में कहा है कि-लूण आदि उतारने में पूज्य श्री पादलिप्ताचार्य आदि पूर्व महापुरुषों ने संहार क्रम से करने के लिए बतलाया है । फिर भी वर्तमान काल में सृष्टि क्रम से किया जाता है ।

स्नात्र महोत्सव में सर्व प्रकार से विस्तार पूर्वक पूजा, प्रभावना आदि करने के लिए कहा है । इससे स्नात्र का दूसरे जन्म में बहुत श्रेष्ठ फल है, ऐसा स्पष्ट समझाया है । श्री जिनेश्वर परमात्मा के जन्म के समय में स्नात्र करने वाले चौंसठ इन्द्रों ने मनाया था उसी जन्म महोत्सव का स्नात्र में अनुकरण है । इससे स्नात्र करना एक महान उत्तम और कल्याणकारी क्रिया है । इसके अनुसार स्नात्र की विधि जानना । हाल में भी पं० श्री वीर विजय जी तथा हिन्दी प्रदेश में आचार्य विजयानंद सूरी जी कृत स्नात्र पूजा पढ़ाई जाती है, वह भी प्राचीन गाथाओं का अनुवाद काव्य है । उसमें भी सुन्दर भावगर्भित वर्णन किया है । उसके अर्थ विचार करने योग्य हैं ।

श्री जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा बड़े बुर्जगों ने बनायी आदि अनेक प्रकार की होती है । उसकी पूजा विधि के विषय में सम्यकत्व प्रकरण में कहा है कि :-

गुरुकारि आइ केई, अन्ने सयकारि आइ तं बिंति ।
विहि कारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअण विहाणं ॥१॥

इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार है कि - "किसी माता, पिता, दादा आदि गुरुजन बुजुर्ग द्वारा बनवायी प्रतिमा की, अपने द्वारा बनायी प्रतिमा की अथवा किसी के द्वारा विधि पूर्वक बनायी हुई प्रतिमा की पूर्व में कहे अनुसार पूजा करनी चाहिए । ऐसा कहा है ।"

अब स्थित पक्ष तो प्रतिमा बनाने का, पूजा में कुछ भी प्रयोजन नहीं होने से, ममत्व छोड़कर सर्व प्रतिमाओं की पूजा एक समान करना मानते हैं । यहाँ प्रश्न होता है कि - "इससे तो अविधि से बनायी प्रतिमा की भी पूजा होती है और इससे पूजा करने वाले को उस अविधि की अनुमति रूप आज्ञा भंग का दोष लगता है । उसका क्या करना ? यह प्रश्न अस्थान पर है, आगम में ऐसा नहीं बताया है । उलटा श्री बृहद कल्प भाष्य में कहा है कि :-

निस्सकड मनिस्सकडे, चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइआणि अ, नाउं इक्किक्किआ वा वि ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "एक किसी गच्छ का हो वह **'निश्राकृत'** और सर्वगच्छ का साधारण हो वह **'अनिश्राकृत'** मंदिर होता है। उन प्रत्येक मंदिर में सभी को सामान्य से तीन स्तुति कहकर चैत्य वंदन करना चाहिए। अथवा यदि मंदिर अधिक हों और समय की कमी हो तो उसके अनुसार एक एक स्तुति से भी करना।" यह गाथा पहले भी कही है। इस गाथा में अन्य गच्छ की समाचारी से बनायी चैत्य-मूर्ति की भी पूजा आदि करने का स्पष्ट विधान कहा है।

यहाँ तक मंदिर जाने की, पूजा स्नात्र आदि की जो जो विधि कही है वह ऋद्धिमान श्रावक के विषय में समझना। क्योंकि ऐसे सारे योग मिलना ऋद्धिमान को ही शक्य हैं। सामान्य श्रावक तो अपने घर में ही सामायिक अंगीकार करके किसी के साथ में लेन-देन आदि का झगड़ा हो- ऐसा न हो, मार्ग में विघ्न होने का संभव न हो तो इरिया समिति का पालन करते हुए साधु के समान मंदिर में जाय, परन्तु पुष्प गूंथना आदि प्रभु भक्ति रूप कार्य हो तो वह सामायिक लिए बिना ही जाए और अपने आप करे। यहाँ ऐसा प्रश्न होता है कि - "सामायिक भाव स्तव रूप है और पूजा द्रव्य स्तव रूप है, यदि भाव स्तव की महत्ता विशेष है तो सामायिक करने का छोड़कर पूजा कैसे कर सकता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि- भाव स्तव रूप सामायिक की महत्ता है, फिर भी वह स्वाधीन होने से अन्य समय में भी हो सकता है, और चैत्य पूजादि कार्य समुदाय के आधीन होने से, ऐसा सहयोग दुर्लभ होने से सर्व के साथ में वह करना उचित है और भाव स्तव के समान द्रव्य स्तव का भी शास्त्र में महान फल बताया है। श्री पद्मचरित्र में कहा है कि :-

मणसा होइ चउत्थं, छट्ठफलं उट्ठि अस्स संभवइ।
गमणास्स पयारंभे, हाइ फलं अट्ठमोवासो ॥१॥

गमणे दसमं तु भवे, तह चेव दुवालसं गए किंचि।
मग्गे पक्खु व वासो, मासु व वासं च दिट्ठंमि ॥२॥

संपतो जिण भवणे, पावइ छम्मासिअं फलं पुरिसो।
संवच्छरिअं तु फलं, दारूद्देसट्ठिओ लहइ ॥३॥

पायक्खि वणेण पावइ, परि ससयं तं फलं जिणे महिए।
पावइ वरिस सहस्सं, अणंत पुण्णं जिणे थुणिए ॥४॥

अर्थात् - "श्री जिनेश्वर भगवान के मंदिर में जाने की इच्छा करने से एक उपवास का लाभ मिलता है। वहाँ जाने के लिए खड़ा होने से दो उपवास का और जाने के लिए पैर उठाते तीन उपवास का फल मिलता है। (१) ॥ चलने पर चार उपवास, कुछ चलने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से पाँच उपवास का, मार्ग में पंद्रह उपवास का, श्री जिन मंदिर को देखने से एक महीने के उपवास का फल मिलता है ।(२)॥ मंदिर में पहुँचते ही छह महीने तप का और द्वार के पास जाते ही एक वर्ष के उपवास का फल मिलता है ।(३)॥ प्रदक्षिणा देने से एक सौ वर्ष के उपवास का, जिन पूजा से एक हजार वर्ष के उपवास का और उनकी स्तुति करने से अनंत पुण्य प्राप्त करता है ।(४)॥" और भी कहा है कि :-

सयं पमज्जणे पुण्णं, सहस्सं च विलेवणे ।
सय साहस्सिआ माला, अणंतं गीअवाइए ॥१॥

अर्थात् - " श्री जिनेश्वर भगवान का प्रतिमा की प्रमार्जन करने से एक सौ वर्ष के उपवास का फल मिलता है, विलेपन करने से एक हजार वर्ष का और माला चढ़ाने से एक लाख वर्ष के तप फल को प्राप्त करता है । तथा गीत नृत्य बजाने से अनंत गुणा फल का प्राप्त करता है ।" इसमें भी उचित समय पर जिन पूजा आदि करने से विशेष पुण्य लाभ होता है । आगम में कहा है कि :-

जीवाण बोहि लाभो, सम्मदिट्ठीण होइ पिय करणं ।
आणा जिणिंद यत्ती, तित्थस्स पभावणा चेव ॥१॥

अर्थात् - " श्री जिनेश्वर देव की पूजा से सामान्य जीवों को बोधि (सम्यकत्व) की प्राप्ति होती है अर्थात् समकित निर्मल-दृढ़ होता है, तथा पूजा से जिन आज्ञा का पालन, भक्ति और शासन की प्रभावना होती है ।" इस तरह अनेक गुणों की प्राप्ति होती है । इसलिए पूजा के समय में पूजा करना उचित ही है । श्राद्ध दिन कृत्य में भी कहा है कि-

एवं विही इमो सव्वो, रिद्धिमंतस्स देसिओ ।
इयरो नियगेहम्मि, काउं सामाइयं वए ॥७७॥

जइ न कस्सइ धारेरइ न विवाओ अ विज्जए ।
उव उत्तो सुसाहुव्व, गच्छए जिण मंदिरं ॥७८॥

काएण अत्थि जइ किंचि कायव्वं जिण मंदिरे ।
तओ सामाइअं योत्तु, करेज्ज करणिज्जयं ॥७९॥

अर्थात् - "इस तरह यह सारी विधि ऋद्धिमान के लिए कही है । अन्य सामान्य श्रावक को तो घर पर ही सामायिक उच्चरण कर श्री जिन मंदिर में जाना चाहिए ।(७७)॥ यदि किसी का उधार न देना हो अथवा किसी के साथ में झगड़ा न हो तो तभी सामायिक लेकर साधु के समान उपयोग पूर्वक जिन मंदिर में जाय ।(७८)॥ एवं जिन मंदिर में कोई कार्य अपने आप करने योग्य हो तो सामायिक बिना ही वहाँ जाकर वह कार्य करे । (७९)॥"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहाँ चालू मूल गाथा में 'विधि पूर्वक श्री जिनेश्वर की पूजा वंदन करना'' इस कथन से दसत्रिक आदि चौबीस मूल द्वार से श्री चैत्य वंदन भाष्य आदि में सम्पूर्ण विधि कही है, उस विधि को पालन करने का सूचन किया । है इससे अब वह विधि कहते हैं :-

तिन्नि निसीह, तिन्नी उ पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा ।
तिविहा पूआ अ तहा, अवत्थति अभावणं चेव ॥१॥

तिदिसि निरिक्खविरई, पय भूमि पमज्जणं च तिक्खुतो ।
वण्णाइ तिअं मुद्दा तिअं च तिविहं च पणि हाणं ॥२॥

पुप्फामस थुइमेआ, तिविहा पूआ अवत्थति अगं तु ।
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्तं भुवणनाहस्स ॥३॥

वण्णाइ तिअं तु पुणो वण्णत्थालंबणस्सरूवं तु ।
मण वय काया जणियं, ति विहं पणि हाणमवि होइ ॥४॥

तथा- पंचगो पणि वाओ थयपाढो होइ जोग मुद्दाए ।
वंदण जिण मुद्दाए, पणिहाणं मुत्त सुत्तीए ॥५॥

दो जाणू इन्नि करा, पंच मयं होइ उत्तमंगं तु ।
सम्मं संपणि वाओ, नेओ पंचंगपणि वाओ ॥६॥

अर्थात् - ''(१) तीन स्थान पर निसीह करना, (२) तीन बार प्रदक्षिणा, (३) तीन बार नमस्कार, (४) तीन प्रकार की पूजा, (५) जिनेश्वर की तीन अवस्था की भावना करना, (६) जिनेश्वर के सन्मुख को छोड़कर शेष तीनों दिशाओं में नहीं देखना, (७) तीन बार पैर और जमीन का प्रमार्जन करना, (८) वर्णादि तीन का आलंबन करना, (९) तीन प्रकार की मुद्रा करना और (१०) तीन प्रकार से प्रणिधान करना । ये दस 'त्रिक' कहलाते हैं। इसमें पुष्प आदि से अंग पूजा, नैवैद्य आदि से अग्र पूजा और स्तुति से भाव पूजा- इस तरह तीन प्रकार की जिन पूजा बताई है । जिन भगवान की छद्मस्थ, केवली और सिद्धत्व इन तीनों अवस्थाओं का चिन्तन उस समय करना । चैत्य वंदन सूत्रों का पाठ, उसका अर्थ और प्रतिमा के रूप का आलंबन लेना । यह तीन प्रकार का आलम्बन है । और मन, वचन, काया की एकाग्रता करना- यह तीन प्रकार का प्रणिधान कहलाता है । स्तवन बोलते समय योग मुद्रा, वंदन करते समय जिन मुद्रा तथा प्रणिधान (जय वीयराय) सूत्र बोलते समय मुक्ता सुक्ति मुद्रा- ये तीनों मुद्राएँ कही हैं । नमस्कार पाँच अंगों से होता है - दोनों घुटने, दोनों हाथ और पाँचवां मस्तक- ये पाँचों अंग जमीन तक नमाना, पंचांग नमस्कार कहलाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री वंदन पंचाशक की टीका में तो इस पंचांगी को एक अलग मुद्रा कहा गया है। वहाँ कहा है कि "प्रणिपात दंडक (नमोत्थणं) सूत्र के आरम्भ में और अन्त में पचांगी मुद्रा से नमस्कार करना चाहिए। दानों हाथ, दोनों घुटने और एक मस्तक- इन पाँचों अवयवों को नमाने रूप विवक्षित आकृति करना वह पंचागी मुद्रा कहलाती है। इसे मुद्रा इसलिए कहा है कि योग मुद्रा आदि के समान इसमें भी शरीर को अमुक आकार आकृति में रखना-स्थापना करना चाहिए। तथा पंचाशक में कहा है कि

अण्णेणं तरि अंगुलि कोसागारेहि दोहिँ हत्थेहिं ।
पिट्टोवरि कुप्परसं ठिएहिं तह जोग मुद्दत्ति ॥१६॥

चत्तारि अंगुलाइँ पुओ ऊणाहँ जत्थ पच्छिमओ ।
पायाणं उस्सग्गो एसा पुण होइ जिण मुद्दा ॥२०॥

मुत्तासुत्ती मुद्दाजत्थ समा दोवि गब्भिआ हत्था ।
ते पुण निडाल देसे लग्गा अन्ने अलग्गति ॥२१॥

अर्थात- "दोनों हाथों की दसों अंगुलियां एक दूसरे के बीच में रखकर कोश समान हथेली का आकार बनाकर, दोनों हाथों की कोहनी पेट के ऊपर स्थपन करने से योग मुद्रा होती है । (१)॥ जिन मुद्रा में दोनों चरण तलों के बीच में आगे के भाग में चार अंगुल का फाँसला रखकर, दोनों पैर समान रखकर खड़े होकर दोनों हाथ नीचे लम्बे किये जाते हैं (२) और दोनों हाथों की अंगुलियाँ एक दूसरे के आमने-सामने रखनी होती हैं और बीच में से हथेली खाली रखकर दोनों हाथ ललाट पर लगाना अथवा अन्य आचार्य के मतानुसार ललाट से थोड़े दूर रखने से मुक्ता शुक्ति मुद्रा होती है। (३) ॥" इस तरह से दस त्रिक का स्वरूप कहा है।

इस प्रकार विधि पूर्वक देव पूजादि धर्मानुष्ठान पूर्ण करने से महान् फल देता है और अविधि से आराधना करने से अल्प फल मिलता है। अविधि रूप अतिचार से उलटा दु:ख का कारण हो सकता है, इसलिए ही अविधि से चैत्य वंदन करने वाले को महानिशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त बतलाया है। वहाँ सातवें अध्ययन में कहा है कि- "**अविहिए चेइ आइं वंदिज्जा तस्साणं पायच्छित्तं उवइसिज्जा, जाओ अवि हीए चेइ आइं वदमाणो अन्नोसिं असद्धं जणेइ इइ काऊणं।**" अर्थात् अविधित्पूर्वक चैत्यों को वंदन करने से उसे प्रायश्चित आता है। क्योंकि अविधि से करने वाला अन्य आत्माओं को अश्रद्धा उत्पन्न करता है।" इसी कारण से जिन पूजा आदि सर्व पवित्र क्रियाओं के अन्त में अविधि-आशातना हुई हो उसके लिए "मिच्छामि दुक्कडं" देने का विधान होने से वह देना चाहिए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चैत्य वंदन अधिकार में उत्कृष्ट वंदन करने के प्रारंभ में इरिया वहि प्रतिक्रमण करने के लिये कहा है, वह युक्त ही है। अत: महानिशीथ सूत्र में कहा है कि- **इरियावहि आए अपडिक्कंताए न किंचि कप्पइ चेइ अवंदण सज्झायावस्सयाइ काउ''** अर्थात् 'इरिया वहि प्रतिक्रमण किए बिना चैत्य वन्दन, स्वाध्याय, आवश्यक आदि कोई भी अनुष्ठान करना नहीं कल्पता।' अन्य भी प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ इरिया वहि प्रतिक्रमण कर के करने से ही शुद्ध होती हैं। श्री विवाह चूलिका में कहा है कि :-

दिव्विड् ढिकुसुम सेहर, मुच्चइ दिव्वा हिगार मज्झंमि ।
ठवणा य रिअं ठ विउं, पोसह सालाइ तो सी हो ॥१॥

उम्मुक्कभूसणो सो, इरिआइ पुरस्सरं च मुहुपुत्तिं ।
पडिलेहि ऊण ततो, चउ व्विहं पोसहं कुणइ ॥२॥

अर्थात्- ''दिव्य अधिकार में उसने दिव्य ऋद्धि, पुष्पों का मुकुट आदि रख दिया, फिर आभूषणें का त्याग करके उस सिहँ नामक श्रावक ने पौषधशाला में स्थापनाचार्य स्थापन कर इरिया वहि पूर्वक मुँहपत्ति पडिलेहन करके चार प्रकार का पौषध क्यिा।''

आवश्यक चूर्णि में भी कहा है कि- ''**तत्थ ढड्ढरो नाम सावओ सरीरचिंत काऊण पडिस्सयं वच्चर ताहे तेण पूरएण तिन्नि निसीहि आओ कयाओ एवं सो इरि आइं ढड्ढरेण सरेण करेइ त्ति**'' अर्थात् वहाँ ढड्ढर नामक श्रावक शरीर चिन्ता करके तब उपाश्रय में गया, तब उसने उपाश्रय के पास बड़े स्वर से तीन बार निसीहिया की और इसी प्रकार बड़े स्वर से इरिया वहि प्रतिक्रमण किया।'' तथा-

ववहारा वस्सयमहा- निसीह भगवइ विवाह चुलासु ।
पडिक्कमण चुण्णि माइसु, पढमं इरिया पडिक्कमणं ॥ १ ॥

अर्थात्- ''व्यवहार सूत्र, भगवती सूत्र, विवाह चूलिका तथा प्रतिक्रमण भी चूर्णि आदि आगमों में प्रथम इरिया वहि प्रतिक्रमण करने के लिये कहा है।'' इस तरह से शास्त्रानुसार प्रत्येक क्रिया के प्रारंभ में इरिया वहि प्रतिक्रमण करना चाहिए। अत: अब उसके अर्थ आदि का वर्णन करते हैं।

इरिया वहि सूत्र की व्याख्या करते हैं-इस सूत्र में '**इच्छामि पाडिक्कमिउं**' से लेकर '**तस्स मिच्छामि दुक्कडं**' तक सम्पूर्ण सूत्र हैं। इसमें '**इच्छामि पडिक्कमिउं इरिआ वहि आए विराहणाए**' - अर्थात्- 'मेरे मार्ग में जाने आने में जिन जीवों की विराधना (पाप क्रिया) हुई हो उससे निवृत होने की अभिलाषा करता हूँ।' इसका भावार्थ यह है कि- ईर्या अर्थात गमन करना, चलना-फिरना। उसके लिए जो मार्ग है वह ईर्यापथ कहलाता है। उसमें जीव हिंसादि रूप विराधना ईर्यापथ-विराधना है। उस पाप से पीछे हटना या

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बचना चाहता हूँ। इस व्याख्या के अनुसार गमनागमन की विराधना से हुए पाप की शुद्धि के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण किया जाता है। किन्तु निद्रा से जागने के बाद अथवा अन्य कारणों से भी इरिया वहिय पाठ बोला जाता है। इसलिए उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं -

ईर्यापथ अर्थात् साधु का आचार। यहाँ पर कहा है कि **"ईर्या पथे ध्यानमैनादिक भिक्षुव्रतम्"** अर्थात् ईर्यापथ ध्यान मौनव्रत आदि साधु का आचार है। इस दृष्टि से ईर्यापथ विराधना का अर्थ हुआ- साधु के आचरण के उल्लंघन रूप कोई विराधना हुई हो तो उस पाप से पीछे हटना अथवा उसकी शुद्धि करना चाहता हूँ। साधु के आचार का उल्लंघन करने का अर्थ है- प्राणियों के प्राण का वियोग करना, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह इत्यादि अठारह पाप स्थानों में से किसी भी पाप का लगना। इसमें प्रणातिपात का पाप सबसे बड़ा पाप है, शेष पाप स्थानको का उसी में समावेश हो जाता है। इर्यापथिक विराधना सम्बन्धी पाठ में प्राणातिपात सम्बन्धी विराधना विस्तार से कही है। यह पहली संपदा पूर्ण हुई।

वह विराधना किस कारण से होती है ? उसे कहते हैं-**"गमनागमणे"** अर्थात् स्वस्थान से अन्यत्र जाने या वापस आने के प्रयोजन वश बाहर जाना और प्रयोजन पूर्ण होने पर अपने स्थान पर आना गमनागमन कहलाता है। यह दूसरी संपदा है। इस गमनागमन के करने में कैसे-कैसे विराधना होती है ? उसे कहते हैं- **पायक्कमणे बीअक्कमणे, हरिअक्कमणं** अर्थात् प्राण अर्थात् द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सर्वजीवों को पैर से पीड़ा देना, प्राण का अतिक्रमण करना तथा बीज अर्थात् सर्व-स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की विराधना की हो **'हरिय कमणं'** सर्व प्रकार की हरी वनस्पति जो सजीव होती है, उसकी विराधना की हो। यह तीसरी संपदा है।

तथा **"ओसा-उत्तिंग पणग दंग मट्टी मक्कडा संताणा संकमणे"** अर्थात ओस का जल (यहाँ ओस का जल इसलिए ग्रहण किया है कि वह बहुत सूक्ष्म बिन्दु रूप होता है- उतने सूक्ष्म अपकाय जीवों की भी विराधना नहीं होनी चाहिए। **'उत्तिंग'** अर्थात् गर्दभाकार जीव, जो जमीन में छिद्र बनाकर रहते हैं अथवा कीड़ियों का नगर, **'पणग'** अर्थात् पाँच रंग की काई (नील-फूल व सेवाल)। **'दगं मट्टी'** अर्थात् जहाँ लोगों का आना जाना नहीं हुआ हो उस स्थान का कीचड़ अथवा **'दग'** शब्द से सचित्त अपकाय का अर्थ ग्रहण करना और **'मिट्टी'** शब्द से पृथ्वी काय ग्रहण करना। **मक्कडा,** अर्थात् मकड़ी का समूह और संताण अर्थात् उसका जाल **'संकमणे'** अर्थात् उस पर आक्रमण-विराधना की हो। यह चौथी संपदा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रकार नामानुसार जीवों को कहाँ तक गिनाएँ ? अत: कहते हैं-

'जे मे जीवा विराहिया' अर्थात् - जिन किन्हीं जीवों की विराधना करके मैंने उन्हें दु:ख दिया हो। यह पाँचवीं संपदा है। वे कौन से जीव हैं ? वह कहते हैं कि- **'एगिंदिया'** अर्थात् जिसके स्पर्शेन्द्रिय का ही शरीर हो वह एकेन्द्रिय जीव है, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय वाले **'बईंदिया'** अर्थात् स्पर्श और जीभ हो वह द्वीन्द्रिय जीव है जैसे केंचुआ, शंख आदि। **'तेइंदिया'** अर्थात् जिसके स्पर्श, जीभ और नासिका हो वह त्रीन्द्रिय जीव है जैसे चींटी, खटमल आदि। **'चउरिंदिया'** अर्थात् जिसके स्पर्श, जीभ, नासिका और आँखें हों वह चतुरिन्द्रिय जीव है जैसे भौंरा मक्खी आदि। **'पंचेन्द्रिय'** अर्थात् जिसके स्पर्श, जीभ, नासिका, आँखें और कान हों, जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पंचेन्द्रिय जीव हैं। इन जीवों को दु:खी किया हो। यह छठी संपदा है।

'उसे दु:खी' (विराधना) के दस भेद कहते हैं- **अभिहया** अर्थात् सामने से आते हुए पैर से ठुकराया हो, या पैर से उठाकर फैंक दिया हो। **वतिंया** अर्थात् एकत्रित करना अथवा ऊपर धूल डालकर ढक देना। **'लेसिया'** अर्थात्-उन्हें आपस में चिपकाना, जमीन के साथ घसीटना या जमीन में मिला देना। **'संघाइया'** अर्थात् स्पर्श करना अथवा आपस में टकराना। **'परियाविया'** अर्थात् चारों तरफ से पीड़ा दी हो। **'किलामिया'** अर्थात् मृत्यु के समान अवस्था कर दी हो। **'उद्देविया'** अर्थात् उद्विग्न- भयभीत कर दिया हो, **'ठाणाओ ठाणं संकामिया'** अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिराया हो अथवा अपना स्थान छुड़ाकर दूसरे स्थान पर रखा हो। **'जीविआओ वदरोविया'** अर्थात् जान से खत्म कर दिया। इस तरह दस प्रकार से दु:खी किया हो। यह सातवीं संपदा पूर्ण हुई। उस विराधना के पाप से मेरी आत्मा लिप्त हुई हो तो उस पाप की शुद्धि के लिए **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** अर्थात् वह मेरा पाप मिथ्या-निष्फल हो अथवा नष्ट हो। इस **'मिच्छामि दुक्कडं'** पद के प्रत्येक अक्षर में गर्भित अर्थों सहित व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार कही है कि :-

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते 'छ' त्ति उ दोसाण छायणे होइ।
'मि' त्ति य मेराइ ठिओ, 'दु' त्ति दुगंछामि अप्पाणं ॥६८६॥

'क' त्ति कडं मे पावं, 'ड' त्ति य डेवेमितं अवसमेणं।
ऐसो मिच्छा दुक्कड- पयक्खरत्थो समासेणं ॥६८७॥

अर्थात् - ''मि-च्छा-मि-दु-क्क-डं'' ये छ: अक्षर हैं। इनमें प्रथम 'मि' में गर्भित अर्थ है- मार्दव अथवा नम्रता, शरीर से नम्र और भाव से लघु बनकर। दूसरा अक्षर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'च्छा' है अर्थात् जो दोष लगा है उसका छादन करने के लिए, अर्थात् अब पुनः उन दोषों को नहीं करने की इच्छा रखना। तीसरा अक्षर 'मि' है– इसका अर्थ है मर्यादा, चारित्र के आचार-मर्यादाओं में स्थिर बनकर। चौथा शब्द 'दु' है, इसका अर्थ- दुर्गच्छा करना, अपनी पापमयी आत्मा की निंदा करना। पाँचवां शब्द 'क्क' अर्थात् अपने किये पापों की कबूलात करता हूँ और साथ ही छठा शब्द 'ड' अर्थात् डयन उपशमन करता हूँ। इन छह अक्षरों का अखण्ड अर्थ-'काया से और भाव से नम्र बनकर चारित्र की मर्यादा में रहता हूँ, दोषों का आच्छादन करने के लिए अपनी पापी आत्मा की निंदा करता हूँ, अपने कृत पापों की कबूलात करता हूँ और उसका उपशमन करता हूँ।' इस तरह "मिच्छामि दुक्कडं" पद के अक्षरों में गर्भित अर्थ संक्षेप में होता है। यह आठवीं संपदा पूर्ण हुई।

इस तरह सम्यग् प्रकार से 'मिथ्या दुष्कृत' करने वालों को अइमुत्ता मुनि के समान सम्पूर्ण कर्मों का भी क्षय होता है। यहाँ एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के मूल पंचविध जीवों के ५६३ उत्तर भेद होते हैं। उन प्रत्येक को जिस तरह 'मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है उस तरह यह अठारह लाख चौबीस हजार एक सौ बीस १८२४१२० भेद होते हैं। वह इस प्रकार :-

नरक में सात प्रकार के नारकी के पर्याप्ता और अपर्याप्ता– दो भेद गिनने से चौदह भेद नरक जीव के होते हैं। तिर्यंच में पृथ्वी, अग्नि, पानी, वायु और साधारण वनस्पति– ये पाँच सूक्ष्म और पाँच बादर गिनने से दस और दस के भी पर्याप्ता और अपर्याप्ता गिनते बीस भेद होते हैं। उसमें प्रत्येक वनस्पति काय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय– ये चार बादर ही होते हैं, इसलिये उन प्रत्येक के पर्याप्ता-अपर्याप्ता दो दो भेद गिनने से आठ होते हैं। इस तरह बीस और आठ को जोड़ने से अट्ठाईस होते हैं। उसमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच के जलचर, स्थलचर, खेचर, उरः परिसर्प और भुज परिसर्प– ये पाँच गर्भज और समूर्च्छिम गिनने से दस होते हैं और दस के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो भेद गिनने से बीस होते हैं। इस तरह २८ + २० मिलाने से कुल ४८ भेद तिर्यंच गति के जीव के होते हैं।

मनुष्य में पाँच भरत, पाँच ऐरावत, और पाँच महाविदेह– ये पंद्रह कर्म भूमि हैं। पाँच हिमवंत, पाँच हिरण्यवंत, पाँच रम्यक्, पाँच देवकुरु और उत्तरकुरु– ये तीस अकर्म भूमियाँ (युगलिक क्षेत्र) तथा हिमवंत और शिखरी नामक दो पर्वतों के लवण समुद्र में रहे चार छेड़ों की दो दो मिलकर आठ दाढ़ाओं (शाखाओं) के ऊपर प्रत्येक में सात-सात द्वीप हैं, वे कुल छप्पन अन्तर द्वीप हैं। इस तरह कुल १५ + ३० + ५६ = १०१ मनुष्य क्षेत्र हैं। उनमें पर्याप्ता, और अपर्याप्ता तथा अपर्याप्ता संमूर्छिम (जो गर्भज मनुष्यों के सत्तरह प्रकार के अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं और अपर्याप्ता ही मर जाते हैं)– इस तरह तीन तीन भेद गिनने से १०१ × ३ = ३०३ भेद मनुष्य के होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देवों में-दस प्रकार भुवनपति, सोलह व्यंतर और वापव्यंतर के, चन्द्र, सूर्य, ग्रह नक्षत्र और तारा- ये पाँच ज्योतिषी, मनुष्य लोक में फिरने वाले चर और मनुष्य क्षेत्र के बाहर स्थिर, इस तरह दस भेद ज्योतिषी के । वैमानिक में बारह देवलोक के बारह, नौ ग्रैवेयक के नौ, पाँच अनुत्तर के पाँच और नौ, लौकान्तिक के नौ तथा पहले, दूसरे देवलोक के नीचे, तीसरे देवलोक के नीचे और छठे देवलोक के नीचे रहने वाले तीन प्रकार के किल्विषिक देवों के तीन, भरत और ऐरावत नामक दस क्षेत्रों में आए दस वैताढ्य पर्वतों के ऊपर दूसरी मेखला में रहने वाले 'अन्न, पाण, सयण, वस्त्र, लेण, पुष्प, फल, पूर्व-बहुफल और अविपत्ति- ये दस तिर्यंच जृंभक देवों के दस, तथा पंद्रह परमाधामी देवों के पंद्रह । इस तरह कुल १० +१६ +१०+१२+६+५+६+३+१०+१५=६६ भेद होते हैं । उनके पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो मिलाकर देवों के भेद १९८ होते हैं । इस प्रकार नारकी १४, तिर्यंच ४८, मनुष्य ३०३, और देव १९८ मिलाकर जीवों के कुल ५६३ भेद शास्त्र में कहे हैं ।

इरिया वहि सूत्र में कही हुई 'अभिहया' आदि विराधना के दस प्रकार होने से उसके गुणा करने से ५६३० भेद होते हैं । वह भी कोई राग से और कोई द्वेष से होने से दो से गुणा करने से ११२६० होते हैं । उसे मन, वचन और काया- इन तीन के योग से गुणा करने से ३३७८० होते हैं, करना करवाना और अनुमोदना- इन तीनों करण से गुणा करने से १०१३४० होते हैं । उसे भूत, भविष्य और वर्तमान- तीन काल से गुणा करने से ३०४०२० होते हैं और उसे १. अरिहतं, २. सिद्ध, ३. साधु, ४. देव, ५. गुरु और ६. आत्मा- इन छह की साक्षी से "मिच्छा मि दुक्कड" दिया जाता है इसलिए छह से गुणा करने से कुल १८२४१२० भेद होते हैं । इस तरह जीव के ५६३ भेद और 'मिच्छामि दुक्कडम्' की इस तरह की जानकारी का आगम में कहीं गाथाओं का प्रमाण इस तरह है :-

"चउदसपय अडचता, तिगहि अतिसया सयं च अडमउअं । चउगइ दसगुण मिच्छा, पण सहसा छसय तीसाय ॥८॥ ने रइआ सत्त विहा, पज्ज-अपज्जत्तेणेणं च उदसहा । अडचत्ताइ संखा तिरिनर देवाण पुण एवं ॥९॥ भूदग्गि वाउणं ता वीसं सेस तरू विगल अट्ठेव । गब्भेयर पज्जेयर, जल, थल, नह उरभूआ वीसं ॥१०॥ पन्नस्स तीस छपन्ना, कम्मा कम्मा तहं तर द्दीवा । गप्य य पज्ज अपज्जा, मुच्छ य अपज्जा तिसयतिन्नि ॥११॥ भवणा, परमा जंभय वणयर दस पनर य सोलसगं । चर थिर जोइ सद सगं, किव्वि सितिअ नव य लोगंता ॥१२॥ कप्पा गोविज्जणुत्तर, बारस नवपण पजत्त अपजत्ता । उडन उ असयं अभिहय वति अमाई हिं दस गुणिआ ॥१३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं च -'अभिहय पयाइ दस गुणा, पण सहसा छसय तीस या भेया । ते राग दोस दुगुणा, इक्कारस दो सया सट्ठी ॥१४॥ मण वय काए गुणिआ तित्तीस सहस्स सत्त सयं सीआ । कारण करणाणुमई, कक्खं सहस्सा तिसय चाला ॥१५॥ काल तिगेण गुणिआ, तिलक्ख चउसहस वीस अहिआ या अरिहंत सिद्ध साहू देव गुरू अप्प सक्खीहिं ॥१६॥ अट्ठारस लक्खाइं, चउवीस स सहस्स एग वीस हिआ । इरिआमिच्छादुक्कड पमाणमेवं सुए भणिअं ॥१७॥''

अर्थात्- ''इसका अर्थ पहले आ गया है अत: उसके अनुसार स्वयं समझ लेना। केवल छ: साक्षी में 'साधु अर्थात् सर्व साधु और गुरु अर्थात अपने को जिनका उपकार हुआ हो वह गुरु महाराज, इस तरह भेद समझना' 'देव' अर्थात शासनाधिष्ठायक या क्षेत्राधिष्ठायाक देव समझना चाहिए । '' इस इरिया वहि सूत्र में आठ वाक्य रूप आठ संपदाए बतलायी हैं । उसके आदि पदों को बताने वाली गाथा इस प्रकार है :-

इच्छ-गम-पाण-ओसा, जेये-एगिंदि-अभिहया तस्स।
अड संपय बत्तीसं पयाइँ वण्णाण सड्ढ सयं ॥१॥

अर्थात् – ''१. इच्छा, २. गम, ३. पाण, ४. ओसा, ५. जेमे जीवा, ६. एंगिंदिया, ७. अभिहया और ८. तस्स- ये आठ पद अनुक्रम से प्रत्येक सम्पदाओं के आदि पद हैं। इस तरह इरिया वहि में कुल आठ संपदाएं, बत्तीस पद, और डेढ़ सौ वर्ण-स्वर हैं ।''

इस तरह शास्त्र कथानुसार दस प्रायश्चित्त में से (१) **आलोचना** अर्थात् अपनी भूल हुई हो वह गुरु के सामने कहना, (२) **प्रतिक्रमण** अर्थात् मिच्छामि दुक्कडं देना, (३) **मिश्र** अर्थात् पहले और दूसरे-दोनों प्रायश्चित्त करना, (४) **विवेक** अर्थात् दूषित आहार आदि का त्याग करना, (५) **काउस्सग्ग** अर्थात् दु:स्वप्न आदि के विषय का काउस्सग्ग ध्यान करना, (६) **तप** अर्थात् आयंबिल आदि तप करना, (७) **छेद** अर्थात् दीक्षादि पर्याय का अमुक प्रमाण में छेदन करना, (८) **मूल** अर्थात् मूल से फिर व्रत अंगीकार करना, (९) **अनवस्थाप्य** अर्थात् अमुक तप आदि पूर्ण न हो तब तक फिर व्रत नहीं देना और (१०) **पारांचित** अर्थात् सर्व प्रायश्चित्तों से युक्त जिस आचार्य को दिया गया है उसमें जघन्य से छ: मास, उत्कृष्ट से बारह वर्ष अव्यक्त विष में अज्ञान प्रदेश में विचरण करे फिर व्रत देना । इत्यादि प्रायश्चित्त करने के लिए इरिया वहि सूत्र कहकर पाँचवां 'काउस्सग्ग' नामक रूप प्रायश्चित्त से विशेष आत्म शुद्धि करने के लिए इस तरह सूत्र पाठ कहा जाता है- **मूल सूत्र – ''तस्स उत्तरी करणेण पायच्छित्त करणेणं विसोही करणेणं, विसल्ली करणेणं पावाणं कम्माणं निग्धायणट् ठाए ठामि काउस्सग्गं ।''**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'तस्स' अर्थात् जिस इरिया वहिय सूत्र से आलोचना प्रतिक्रमण किया है, उसकी फिर से शुद्धि करने के लिए करता हूँ। इस तरह अन्वय (संबंध) जोड़ना है। **'उत्तरी करणेण'** का अर्थ है इरिया वहिय से पाप शुद्धि करने के बाद विशेष शुद्धि के लिए तात्पर्य यह है कि विराधना से पूर्व जो आलोचना-प्रतिक्रमण किया है, उसी की विशेष शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग ध्यान रूप कार्य उत्तरी करण कहलाता है। उस कायोत्सर्ग से पाप-कर्म-विनाश अथवा मन शुद्धि होती है। उत्तरी करण प्रायश्चित्त करण द्वारा होता है। अत: आगे कहा है - **'पायच्छित्त करणेणं'** अर्थात् प्राय: = अधिकृत, चित्त को अथवा जीव को जो शुद्ध करता है या पाप का छेदन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। जिसके करने से आत्मा विशेष शुद्ध होती है, वह कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त भी विशुद्धि का कारण होने से कहते है - **'विसोही करणेण'** अर्थात् अतिचार-मलिनता को दूर करके आत्मा की विशुद्धि-निर्मलता करना। वह निर्मलता भी शल्य के अभाव में होती है, इसलिए कहा है- **'विसल्ली करणेणं'** अर्थात् माया शल्य, निदान (नियाण) शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य, इन तीनों शल्यों से रहित होकर। वह किसलिए ? **'पावाणं कम्माणं निग्घायणण ट्ठाए'** अर्थात् संसार के कारणभूत ज्ञानावरणीय आदि पाप कर्मों का नाश करने के लिए **'ठामि काउस्सग्ग'** अर्थात् धातु के अनेक अर्थ होते है, इस न्याय से **'ठामि'** अर्थात् करता हूँ और काउस्सग्ग का अर्थ होता हैं-काया के व्यापार - शारीरिक प्रवृत्तियों का त्याग। क्या सर्वथा त्याग करते हो ? सर्वथा नहीं, परन्तु कुछ प्रवृत्तियां अपवाद स्वरूप आगार (छूट) रूप में रखकर काउस्सग्ग करता हूँ। अत: अब **'अन्नत्थ'** सूत्र कहते है।

'अन्नत्थ' अर्थात् इसके सिवाय, **'उससिएणं'** = श्वासं लेने में, **'निससिएणं'**= श्वास छोड़ने से, मतलब यह है कि श्वासोच्छवास का निरोध करना अशक्य है, इसलिए श्वास खींचने और निकालने की छूट रखी गई है। **खासिएणं'**= खांसी आने से, **'छिएणं'**= छींक आने से, **'जंभाइएणं'** = जमुहाई आने से, **'उड्डुएणं'** = डकार आने से, **'वायनिसग्गेणं'** = अपान वायु सरने (खारिज) होने से। इस सब को रोकना रोग का कारण होता है, इसलिए रोके बिना मुख पर हाथ आदि रखकर जयणा से करना और वातनिसर्ग की अवाज न हो इस तरह करना। **'भमलीए'** = अकस्मात् शरीर में चक्कर आ जाने से, **'पित्तमुच्छाए'** = पित्त के प्रकोप के कारण मूर्च्छा आ जाने से, और **सुहूमेहि अंगसचालेहिं'** = सूक्ष्म रूप से अंग का संचार होने से अर्थात् शरीर की बारीक हलन चलन होने से **'सुहुमेहिं खेल संचालेहि'** = सूक्ष्म कफ या थूक के संचार से **'सुहमेहि दिट्ठि संचालेहि'** = सूक्ष्म दृष्टि संचार होने से पलक गिरने आदि से। अर्थात् उच्छवास आदि बारह कारणों को छोड़कर शरीर की क्रिया का त्याग करता हूँ। वह कायोत्सर्ग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किस प्रकार का करना है ? वह कहते हैं- **"एव माइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो।"** अर्थात् इस प्रकार से और पूर्वोक्तआगारों-अपवादों से अखंडित, विराधना रहित मेरा कायोत्सर्ग हो। कुछ आकस्मिक कारण हैं, उन्हें भी ग्रहण कर लेना चाहिए- १. यदि अग्नि, दीपक या बिजली का प्रकाश शरीर पर पड़ता हो तो कमली आदि ओढ़ने के लिए, यदि आग लग जाय तो हटने से, बिल्ली-चूहे आदि पंचेन्द्रिय जीव की आड़, चोर या राजा के भय के कारण, अकस्मात् बिजली गिरने को हो, भूकम्प हो जाय, या अग्नि अथवा सर्प का उपद्रव हो जाय तो बीच में ही कायोत्सर्ग खोल लेने पर भी उसका भंग नहीं होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि **'नमो अरिहंताणं'** कहकर कायोत्सर्ग पूर्ण कर काय प्रवृत्ति करे तो उसका भंग कैसे हो जायेगा ? वस्तुतः ऐसा करने से कायोत्सर्ग भंग नहीं होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं-प्रत्येक काउस्सग्ग प्रमाण युक्त होता है। हालांकि जब तक 'नमो अरिहंताण' न कहे तब तक काउस्सग्ग होता है, तथापि जितने परिमाण में लोगस्स या नवकार मंत्र का काउस्सग्ग करने का निश्चय किया हो, वह पूर्ण करके ही उच्च-स्वर से **'नमो अरिहंताण'** बोला जाता है, तभी काउस्सग्ग अखंडित व पूर्ण रूप में होता है। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर भी **'नमो अरिहंताणं'** न बोले तो काउस्सग्ग भंग होता है। इसलिए काउस्सग्ग पूर्ण होने पर **'नमो अरिहताणं'** बोलना चाहिए। तथा बिल्ली चूहे पर झपट रही हो तो उसे बचाने के लिए खिसके या काय प्रवृत्ति करे तो काउस्सग्ग भंग नहीं होता। चोर या राजा अथवा एकान्त स्थान में भय का कारण उपस्थित होने पर या खुद को अथवा अन्य साधु को सर्प ने काट खाया हो तो बीच में ही **'नमो अरिहंताणं** का सहसा उच्चारण करके कायोत्सर्ग पार ले तो काउस्सग्ग भंग नहीं होता। आवश्यक **निर्युक्ति में कहा है कि:-**

अगणी उछिंदिज्ज व बोही यखोभाइ दीह डक्को वा।
आगारेहिं अभग्गो, उस्सग्गो एवमाई हिं ॥१६१-३॥

अर्थात् - "अग्नि के फैलने से जलने से, पंचेन्द्रिय जीव बीच में से होकर निकल रहा हो अर्थात् काउस्सग्ग करने वाले और स्थापनाचार्य के बीच में उस जीव की आड़ पड़ती हो, चोर या राजा आदि का उपद्रव हो अथवा सर्प के काटने से- इन चार आगारों से काउस्सग्ग भंग नहीं होता है।"

आगार का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है - **'आक्रियन्ते आगृह्यन्ते इत्याकारः आगार'** अर्थात् जो अच्छी तरह से किया जाय या अच्छी तरह से ग्रहण किया जाए, उसे आगार कहते हैं। आगार का अर्थ है - कायोत्सर्ग में गृहीत अपवाद। ऐसे आगार न रहें तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कायोत्सर्ग सर्वथा भंग = विनष्ट नहीं होता, देशत: भंग-नष्ट हो ही जाता है । जबकि कायोत्सर्ग में विद्यमान ऐसे आगारों से वह अविराधित होता है अर्थात् कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है । वह कितने समय तक ? "**जाव अरिहंताण भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ।**" अर्थात् जब तक अरिहन्त भगवन्त को नमस्कार बोल करके '**नमो अरिहंताणं**' शब्दों का उच्चारण करके उसको न पारूँगा । कायोत्सर्ग पूर्ण होने तक क्या करना है ? इसे कहते है - '**ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ।**" अर्थात् तब तक अपनी काया को स्थिर, निश्चल, मौन, और ध्यान में एकाग्र करके कायोत्सर्ग मुद्रा में रहता हूँ । भावार्थ यह है कि तब तक अपनी काया को स्थिर करके, मुख से मौन करने रूप और ध्यान पूर्वक मन में शुभ चिन्तन करने के लिए '**वोसिरामि**' अर्थात् अपने शरीर को अशुभ व्यापार (कार्य) से निवृत्त- अलग करता हूँ । कितने ही साधक '**अप्पाणं**' पाठ नहीं बोलते । इसका अर्थ यह हुआ कि-पच्चीस श्वासोच्छ्वास-काल-पर्यन्त खड़ा होकर घुटने के दोनों ओर हाथ नीचे लटकाकर, वाणी संचार रोककर श्रेष्ठ ध्यान का अनुसरण करता हुआ मौन और ध्यान क्रिया से भिन्न अन्य क्रिया के अभ्यास द्वारा त्याग करता हूँ । '**लोगस्स उज्जोयगरे**' से लेकर '**चंदेषु निम्मलयरा**' तक सवा छह गाथाओं में पच्चीस पद में पच्चीस श्वासोच्छ्वास काउस्सग्ग पूर्ण होता है । इसके लिए '**पायसमा ऊसासा**' अर्थात् एक पद का एक श्वासोच्छ्वास का ध्यान होता है, ऐसी शास्त्र की मर्यादा है । कायोत्सर्ग सम्पूर्ण होने के बाद '**नमो अरिहंताणं**' इस प्रकार बोलकर नमस्कार पूर्वक पूर्ण करे ।

काउसग्ग करते समय उन्नीस दोष लगते हैं । उसके सम्बन्ध में श्राद्ध दिन कृत्य में दो गाथा देते हैं :-

१ घोडग, २ लयाय, ३ समोकड्डे, ४ मालेय, ५ सबरी, ६ बहु, ७ नियले ।

८ लम्बुत्तर, ९ थण, १० उड्ढी, ११ संजइ, १२ खलिणे, १३ वायस, १४ कविट्ठ ॥३४॥

१५ सीसोकंपिय १६, मूए, १७ अंगुलि, १८ भमुहाय, १९ वारूणी, २० पेहा।

नाही कयल फुप्पर उस्सरिय पारियंमि थुई ॥३५॥

अर्थात् **काउस्सग्ग के दोष** - "(१) घोड़े के समान एक पैर से खड़े होकर काउस्सग्ग करना **घोटक दोष है ।** (२) जोरदार हवा से कांपती हुई बेल के समान शरीर को कंपाना **लता दोष है** । (३) खंभे का सहारा लेकर काउस्सग्ग करना **स्तंभ दोष है** । (४) दीवार का सहारा लेकर काउस्सग्ग करना **कुड्य दोष** है। (५) ऊपर छत से मस्तक अड़ाकर काउस्सग्ग करना **माल दोष** है । (६) भीलनी के समान दोनों हाथ गुह्य-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रदेश पर रखकर काउस्सग्ग करना **शबरी दोष** है। (७) कुल वधू के समान मस्तक नीचे झुकाकर काउस्सग्ग करना **वधू दोष** है। (८) बेड़ी में जकड़े हुए के समान दोनों पैर लम्बे करके अथवा इकट्ठे करके कायोत्सर्ग में खड़ा होना **निगड दोष** है। (९) नाभि के ऊपर और घुटने से नीचे तक चोल पट्टा बांधकर काउस्सग्ग करना **लम्बोत्तर दोष** है। (१०) जैसे स्त्री वस्त्रादि से स्तन को ढकती है वैसे ही डांस मच्छर के निवारण के लिए अज्ञानतावश काउस्सग्ग में स्तन या हृदय प्रदेश ढकना **स्तन दोष** है अथवा धाय माता जैसे बालक को स्तन पान कराने के लिए स्तनों को नमाती है वैसे स्तन अथवा छाती को नमाकर काउस्सग्ग करना भी **स्तन दोष** है। (११) बैलगाड़ी जैसे पीछे के दोनों पहियों के सहारे अधर खड़ी रहती है वैसे ही पीछे दोनों एड़ियों या आगे के दोनों अंगूठे इकट्ठे करके अथवा दोनों अलग अलग रखकर अविधि से काउस्सग्ग करना वह **शकटोध्विका** नामक दोष है। (१२) साध्वी के समान मस्तक के सिवाय बाकी के पूरे शरीर को कायोत्सर्ग में वस्त्र से ढक लेना **संयती दोष** है। (१३) घोड़े की लगाम के समान चखले या ओघे के गुच्छ को पकड़कर कायोत्सर्ग में खड़े रहना **खलीन दोष** है। अन्य आचार्य कहते हैं कि लगाम से पीड़ित घोड़े के समान कायोत्सर्ग में बार-बार सिर हिलाना, या सिर को ऊपर नीचे करना **खलीन दोष** है। (१४) कायोत्सर्ग में कौए के समान आँखों को इधर-उधर नचाना या अलग अलग दिशाओं में देखना **वायस दोष** है। (१५) जूं होने के भय से चोल पट्टे को इकट्ठा करके कपित्थ फल की तरह मुट्ठी में पकड़कर काउस्सग्ग करना **कपित्थ दोष** है। इसी तरह मुट्ठी बंद करके काउस्सग्ग करने से भी वही दोष लगता है। (१६) शरीर भूतग्रस्त की तरह काउस्सग्ग में बार बार सिर धुनना शिर: **कम्पित दोष** है। (१७) गूंगे के समान समझ में न आए, ऐसे अव्यक्त-अस्पष्ट शब्द काउस्सग्ग में बोलना **मूक दोष** है। (१८) लोगस्स की संख्या गिनने के लिए पोरों पर अंगुली चलाते हुए काउस्सग्ग करना **अंगुली दोष** है। (१९) दूसरी ओर आँखें फिराने के लिए आँखों की भौंहों को नचाते-घुमाते हुए काउस्सग्ग करना **भ्रू दोष** है। कहीं पर इक्कीस दोषों का भी वर्णन है अत: (२०) मदिरा उबालते समय होने वाले बुड बुड शब्द की तरह बुदबुदाते हुए काउस्सग्ग करना **वारुणि दोष** है, दूसरे आचार्यों का कहना है शराब पीकर मदोन्मत बने हुए के समान इधर उधर झूमते हुए काउस्सग्ग करना **वारुणी दोष** है और (२१) जैसे स्वाध्याय करते समय दोनों होठ हिलते है वैसे ही होठ हिलाते हुए काउस्सग्ग करना **प्रेक्षा दोष** कहलाता है।

दूसरी गाथा के उत्तरार्ध में नाभि करतल और कुप्पट शब्द आए है। वह साधु के आश्रित हैं क्योंकि उपदेश प्राय: साधु के उद्देश्य से होता है। उन शब्दों का अर्थ साधु की नाभि से चार अंगुल नीचे चोल पट्टा, करतल अर्थात् बायें हाथ में मुँहपत्ति और दाहिने हाथ में ओघा तथा कुप्पर अर्थात् दो हाथ की कोहनियों से चोल पट्टा दबाकर रखना (उस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काल में कदोरा बाँधने का रिवाज न था) । इस तरह सर्व दोषों का त्यागपूर्वक काउस्सग्ग पूर्ण करके 'नमो अरिहंताण' कहकर जिनेश्वर भगवान की स्तुति (नामजिन की स्तुति लोगस्स बोलना) इस तरह से चैत्य वंदन आदि में इरिया वहि प्रतिक्रमण करने की विधि कही । इस तरह यदि गुरु महाराज की उपस्थिति हो तो उनके समक्ष करना और न हो तो जिन मूर्ति में गुरु की स्थापना मन में करके इरिया वहि प्रतिक्रमण करके उत्कृष्ट चैत्य वंदन इस विधि से आरंभ करे । चैत्य वंदन वृहद भाष्य में कहा है कि:-

संनिहिअंभावगुरुं आपुच्छित्ता खमासमण पुव्वं ।
इरिअं पडिक्कमेजा, हवणा जिण सक्खियं इहरा ॥३६५॥

अर्थात् - "पास में रहे भाव गुरु-साक्षात् साधु मुनिराज को पूछकर अर्थात् 'इच्छाकारेण संदिसह भगवान् इरिया वहियं पडिक्कमामि ?' इस तरह पूछकर खमासमण देने पूर्वक इरिया वहि प्रतिक्रमण करे और गुरु महाराज न हों तो श्री जिनेश्वर की साक्षी मूर्ति में मन से गुरु की स्थापना की धारणा चिन्तन करे ।" परन्तु प्रतिमा के आगे गुरु की स्थापना नहीं करना क्योंकि तीर्थंकर में श्री अरिहंतादि सर्व पद होने से उनकी प्रतिमा में भी सर्व पद युक्त ही है । व्यवहार भाष्य में कहा है कि:-

आयरियग्गहणेणं, तित्थयरो इत्थ होइ गहिओ अ ।
कि न भवइ आयारिओ, आयारं उपदिसंतो य ? ॥१॥

निदरिसण मित्थ जह, खंदएण पुट्ठो य गोयमो भयवं।
केण तुहं सिट्ठं ति य, धम्मायरिएण पच्चाह ॥२॥

स जिणो जिणाइ सयओ, सो चेव गुरु गुरुवए साओ।
करणाई विणयणाओ, सो चेव मओ उ उज्झाओ ॥३॥

अर्थात्- "यहाँ 'आचार्य' शब्द से 'तीर्थंकर' कहलाते हैं, ऐसा समझना फिर भी आचार का उपदेश देते तीर्थंकर आचार्य क्यों नहीं कहलाते ? ।१॥ इस विषय में उदाहरण भी है कि-जब श्री स्कंदक ने श्री गौतम स्वामी जी को पूछा कि-हे भगवन्त ! आपको यह किसने कहा ? तब श्री गौतक स्वामी ने कहा-धर्माचार्य ने यह कहा है अर्थात् श्री महावीर प्रभु उनके धर्माचार्य होने से मेरे धर्माचार्य ने मुझे कहा है, ऐसा श्री गौतम ने उत्तर दिया ।२॥ तीर्थंकर के सर्व अतिशय अपने में होते हैं, इसलिए वे जिन हैं । गुरु रूप में उपदेश देने से वे गुरु महाराज-आचार्य भगवन्त भी हैं और करण अर्थात् इन्द्रिय आदि को नमाने वाले अथवा भव्य जीवों को विनय आदि शिक्षण- तालीम देने वाले होने से वे उपाध्याय स्वरूप भी हैं ।३॥ इत्यादि ।" संघाचार भाष्य के अंदर श्री स्कंदक की कथा में भी कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं स्कन्दकसाधु पङ्गवपुरः, श्री गौतमेनोदिताः,
श्रुत्वाऽर्हद् गुरुतादि सर्वपदवीः श्री वर्द्धमान प्रभोः ।
बुध्यध्वं भविकाः । स्फूटं तदरि (रु) हद्दिम्बेष्य पि स्थापना,
चार्यत्वादि तथा क्षमाश्रमण कैः कार्या विधिस्त्पुर ॥१॥

अर्थात्- "इस तरह साधु पुंगव श्री स्कंदक के सामने श्री गौतम स्वामी ने श्री वर्धमान प्रभु की अरिहंत आदि सारी पदवियों को सुनकर कहा है-हे भव्य प्राणियों ! तुम स्पष्ट समझो कि अरिहंत के बिम्ब में आचार्यत्व आदि सर्व पदवियां समाविष्ट हैं, इसलिए खमासमण सहित इरिया वहि आदि से वह विधि श्री जिन प्रतिमा के सामने भी करना ।"

इस तरह साक्षात् भावाचार्य गुरु महाराज का अभाव हो तो खमासमण पूर्वक श्री जिनेश्वर भगवान की मूर्ति के सन्मुख **"इच्छा कारेण संदिसह भगवन् इरिया वहियं पडिक्कमामि"** इस तरह आज्ञा मांगकर फिर इरिया वहि करना चाहिए, वह भी आचार्य, गुरुदेव, स्थापनाचार्य या जिन प्रतिमा की साक्षी बिना नहीं कल्पता । श्री जिनभद्र गणि श्रमाश्रमण ने श्री विशेषावश्यक ग्रन्थ में तथा चैत्य वंदन भाष्य की संघाचार वृति में इरिया वहि की संपदाओं के अधिकार में कहा है कि-

गुरु विरहंमि य ठवणा गुरुवए सोवदसंणत्थं च ।
जिण विरहंमि जिणबिम्ब सेवणामं तणं सहल ॥१॥

अर्थात्- "जैसे श्री जिनेश्वर भगवान के विरह में अर्थात् अभाव में श्री जिन बिम्ब अर्थात् जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा-मूर्ति की सेवा, भक्ति, आमंत्रण आदि करना सफल माना है, वैसे ही गुरु महाराज के विरह-अभाव में स्थापनाचार्य के प्रति साक्षात् गुरु बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिए गुरु देव के अभाव में स्थापनाचार्य भी सफल माना गया है ।"

अतः गुरु के विरह में गुरु के आदेश की प्राप्ति के लिए गुरु की स्थापना करना और उनकी निश्रा में धर्मानुष्ठान करना चाहिए । गुरु महाराज की स्थापना के सन्मुख भी विनय करने से आत्मा में गुरु के प्रति विनय सद्भाव गुण प्रगट होता है, वह आत्मा के लिए परम् हितकारी होता है । उसकी विनय-सेवा साक्षात् गुरु महाराज के विनय हेतु है, इससे यह सिद्ध होता है । यहाँ गुरु के अभाव में स्थापना का विधान है, परन्तु गुरु की साक्षात् हाजरी में उनकी इच्छा के विरुद्ध स्थापना जी के सामने अनुष्ठान करने से गुरु की आशातना लगती है, यह भी स्पष्ट है ।

जघन्य, मध्यम चैत्य वंदन तो इरिया वहि प्रतिक्रमण बिना भी कर सकता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्कृष्ट चैत्य वंदन करने वाले की इच्छा वाले साधु, श्रावक, अविरति समकित दृष्टि, अपुनर्बन्धक या यथा भद्रक (जो मिथ्या दृष्टि होने पर नया श्रद्धा वाला सरल परिणामी हो)– ये सभी, जहाँ चैत्य वंदन करना हो उस भूमि को प्रथम चक्षु द्वारा देखकर, ओघा, चखला या दुपट्टे के छेड़े से प्रमार्जन करके, इधर-उधर देखे बिना एक प्रभु के सन्मुख दृष्टि स्थापन करके, मन को भगवान के ध्यान में तन्मय होकर, संवेग और वैराग्य से अपने शरीर का रोम रोम भी विकस्वर हो और नेत्र में हर्ष के आंसू आएं इस तरह हर्षित होकर 'अहो! अति दुर्लभ भगवन्त के चरण की सेवा-वंदन करने का अवसर आज महापुण्योदय से मुझे मिला है।' इस तरह बहुमान पूर्वक 'उत्तम अर्थ वाला, जिनेश्वर के गुणों से गर्भित और जिसमें पुनरुक्ति आदि दोष न हों– ऐसे सुन्दर काव्य से भगवन्त की यथा शक्य स्तुति-नमस्कार करके, हाथ से प्रथम कहे अनुसार योग मुद्रा करके, अस्खलित शुद्ध उच्चारणपूर्वक 'नमोत्थुणं' सूत्र-प्रणिपात दण्डक सूत्र के अर्थ का स्मरण करते हुए बोलना चाहिए।

[उपाख्यान – संघाचार भाष्य की टीका में तो कहा है कि एक दो से लेकर शक्ति अनुसार उत्कृष्ट १०८ काव्य-स्तुति बोलकर विधिपूर्वक नमोत्थुणं सूत्र कहे। आगम में भी कहा है कि-"**पयत्तेण पूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसय विशुद्ध गंथ जुत्तेहिं अपुणरूत्तेहि संथुणई ॥**" अर्थात् जयणापूर्वक श्री जिनेश्वर प्रभु को धूप कर विशुद्ध रचना वाले अलग अलग गुणों को कहने वाले १०८ काव्य-स्तुति करे इत्यादि। काव्यों से यह नमस्कार करना भी प्रायः पुरुषों के विषय में संभव हो सकता है। क्योंकि रायपसेणी सूत्र के अन्दर सूर्याभदेव के वर्णन में और जीवाभिगम सूत्र में विजयदेव आदि देवों के वर्णन में यह पाठ देखने को मिलता है। ज्ञाता सूत्र आदि में द्रौपदी आदि देवियों के वर्णन में तो इस नमस्कार को बताने वाले पाठ को छोड़कर शेष के पाठ से अतिदेश (प्रेरणा) की है। वह पाठ इस तरह है, "**तएणं सा दोवई रायवर कन्ना**" इत्यादि अर्थात्- (१) उस समय वह द्रौपदी श्रेष्ठ राज कन्या आदि। (२) जब स्नान घर से निकलकर जहां श्री जिन मंदिर था वहाँ आती है इत्यादि, जिन प्रतिमा का दर्शन होते ही तुरन्त ही नमस्कार किया इत्यादि। (३) जैसे सूर्याभ देव ने किया वैसे द्रौपदी ने भी बायाँ घुटना खड़ा किया इत्यादि। इस तरह प्रेरणा की है, परन्तु १०८ स्तुति काव्य से नमस्कार किया इत्यादि पाठ वहाँ नहीं आता। इसलिए संभव है कि पुरुषों के आश्रित वह हो और मस्तक पर दो हाथ लगाकर नमोत्थुणं कहने का भी स्त्रियों के विषय में विचारणीय है। क्योंकि दो हाथ मस्तक पर जोड़ने से स्तन आदि हृदय का भाग दीख जाय, वह अनुचित है। केवल अंगलूंछणा आदि करना जैसे भक्ति के लिए अंजलि कर दो हाथ घुमाना आदि अनुचित नहीं है। इसके लिए आगम सिद्धान्त में भी कहा है कि-"**विणओणयाए गायलट्ठोए चक्खुफासे**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंजलिप्पग्गहणेण ।'' अर्थात् 'विनय से नम्र बने शरीर द्वारा चक्षु से भगवान का स्पर्श (दर्शन) होते ही अंजलि करके दो हाथ जोड़कर' आदि । नमोत्थुणं के समान **जावंति चइआइ, जावंत के विसाहू और जयवीय राय**– ये तीन प्रणिधान सूत्रों के लिए भी नाम आदि से समानता जानना । मुद्रा के लिए स्त्री पुरुष की समानता नहीं समझना । अर्थात् सर्व विषय में अनुचित बैठना, खड़े होना, बोलना इत्यादि त्याग करना– यह तात्पर्य यह है । इस विषय में विशेष जानने की इच्छा वाले श्री दशाश्रुत स्कंध चूर्णी आदि ग्रन्थ से जान लें । यहाँ विस्तार करना योग्य नहीं है।]

उसके बाद प्रणिघात दण्डक सूत्र अर्थात् नमोत्थुणं, उसमें कुल तैंतीस आलापक पद और दो, तीन, चार आदि पदों के समूह रूप में नौ संपदा-विराम स्थान हैं । कहा है कि–

दो तिअ चउर तिपंचा, दोन्नि च चउरो य हुंति तिन्नेव ।
सक्कत्थए नव संपय तित्तीसं हुति अलावा ॥१॥

अर्थात्– ''शक्र स्तव में दो, तीन, चार, पाँच, पाँच दो, चार और तीन पद मिलकर कुल नौ संपदायें (रुकने के स्थान) हैं और इन नौ संपदाओं के कुल तैंतीस आलापक हैं ।'' इन सम्पदाओं के नाम तथा प्रमाण, उसका अर्थ यथा-स्थान पर कहेंगे ।

'नमोत्थुणं' सूत्र की व्याख्या- 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं'-इसमें 'नमो' पद नैपातिक है । वह पूजा के अर्थ में व्यवहृत होता है । पूजा द्रव्य और भाव से संकोच करके नमकर करनी चाहिए । उसमें हाथ, सिर, पैर आदि शरीर के अवयवों को नमाना, द्रव्य संकोच है और विशुद्ध मन को चैत्य वंदन आदि में नियुक्त करना भाव संकोच है और दूसरा पद 'अस्तु' है, इसका अर्थ है 'हो' अर्थात् 'मेरी पूजा हो' इस प्रार्थना का आशय विशुद्ध होने से यह धर्म वृक्ष का बीज है । तीसरा 'णं' वाक्यालंकार में प्रयुक्त किया गया है । 'अरिहंताणं'– जो अतिशय पूजा के योग्य हों वे अर्हन्त कहलाते हैं । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

अरिहंति वंदण नमं सणाइ अरिहंति पूअ सक्कारं ।
सिद्धि गमणं च अरिहा, अरिहंता तेण बुच्चंति ॥९२१॥

अर्थात्– ''जो वंदन, नमस्कार आदि करने योग्य हैं, पूजा, सत्कार करने योग्य हैं एवं सिद्ध गति प्राप्त करने योग्य हैं– वे अर्हन्त कहलाते हैं ।'' अब दूसरी व्याख्या करते हैं–

अरि (शत्रु) का हरण करने वाले हैं, इससे 'अरिहन्त' कहलाते हैं । यहाँ मिथ्यात्व मोहनीय कषाय आदि बन्धन हेतु भूत हैं उनको अरि (शत्रु) जानना । अनेक जन्मों के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्म-मरण के महादु:ख को प्राप्त कराने में कारण भूत मिथ्यात्व आदि कर्म शत्रुओं को नष्ट करने से वे अरिहन्त-अर्हन्त कहलाते हैं । तीसरी व्याख्या-'रज को हरण करने से अरहन्त ।' यहाँ रज से मतलब चार घाती कर्मों से समझना । जैसे सूर्य बादल में छिपा होने पर भी प्रकट रूप प्रकाश नहीं दिखता, उसी तरह आत्माचार घाती कर्म रूपी रज से ढका हुआ होने से ज्ञान दर्शनादि गुण रूप स्वभाव होने पर भी नहीं दिखता है । इसलिए आत्मगुणों को ढकने वाले घातिकर्म रूपी धूल का नाश करने से वे अरहन्त कहलाते हैं । चौथी व्याख्या-उनसे कोई 'रहस्' यानी गुप्त नहीं होने से भी अरहन्त कहलाते हैं । इसी तरह भगवान के जो ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं, उन्हें प्राप्त करने में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की पराधीनता है । उनका सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण अनंत, अद्‌भुत, अप्रतिपाति, शाश्वत केवल ज्ञान, केवल दर्शन उत्पन्न हुआ, इन दोनों से वे सम्पूर्ण जगत् को सदा एक साथ जानते और देखते हैं । इस कारण उनसे कोई बात छिपी नहीं रहती, अत: वे अरहन्त कहलाते हैं ।

इन चार में से आखिरी तीनों व्याख्याओं में व्याकरण के पृषोदरादय: सूत्र से अर्हत् शब्द की सिद्धि तीन प्रकार से होती है । अथवा 'रह' का अर्थ एकान्त रूप देश, पर्वत, गुफा, स्थान, देश का अन्त या मध्य भाग होता है ।'अ' शब्द अविद्यमान अर्थ का द्योतक है । यानी सर्वज्ञ एवं सम्पूर्णज्ञ होने से जिनके लिए कोई देश या स्थानादि एकान्त या गुप्त नहीं रहे, इस कारण छिपा न रहता हो वे अरहोऽन्तर कहलाते हैं, अथवा अरहद्‌भ्य: रूप भी होता है, जिसका अर्थ है-राग क्षीण होने से जिसकी किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं है अथवा राग-द्वेष का हेतुभूत इच्छनीय अथवा अनच्छिनीय पदार्थगत विषयों का सम्पर्क होने पर भी अपने वीतरागादि स्वभाव का त्याग नहीं करते, इस कारण से अरहन्त कहलाते हैं अथवा 'अरिहंताणं' ऐसा पाठान्तर भी है, उसका अर्थ है-कर्म रूपी शत्रु का नाश करने वाले । आवश्यक निर्युक्ति में भी कहा है कि-

अट्ठ विहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सयल जीवाणं ।
तं कम्मं अरिहंता अरिहंता तेण बुच्चंति ॥६२६॥

अर्थात्-" आठ प्रकार के कर्म सभी जीवों के शत्रु रूप है । उन कर्म आदि शत्रुओं (आरियों) का हनन करने से अरिहन्त कहलाते हैं ।

अरू हंताण (अरोहदभ्य) पाठान्तर भी है । जिसका भावार्थ है-कर्म बीज क्षीण होने से जिसके संसार रूपी अंकुर फिर नहीं उगते अथवा संसार में जिसका फिर जन्म नहीं होने वाला है, वे भी अरूहत कहलाते हैं । अत: तत्वार्थ सूत्र की अन्तिम कारिका में गाथा ८ तथा शास्त्र वार्ता समुच्चय में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाऽङ्कुर ।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥६१३॥

अर्थात्- ''जैसे बीज सर्वथा जल जाने से अंकुर प्रगट नहीं होता, वैसे ही कर्म बीज सर्वथा जल जाने पर भव रूपी अंकुर प्रगट नहीं होता अर्थात् जन्म मरण नहीं होता।''

वैयाकरणों ने 'अर्हत' शब्द के प्राकृत भाषा में तीन रूप माने हैं- (१) अर्हत, (२) अरिहंत और (३) अरूहंत। सिद्धहेम व्याकरण के 'उच्चार्हति' ॥८॥२॥१११॥ सूत्र से तीन रूप सिद्ध किए हैं। उन अर्हन्तों को नमस्कार हो। ऐसा सम्बन्ध जानना।

नमोत्थुणं-नमोऽस्तु में नमः शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हुआ करती है, लेकिन सिद्धहेम व्याकरण में चतुर्थ्या षष्ठी ॥६॥३॥१३१॥ इस सूत्र से प्राकृत भाषा में चतुर्थी के स्थान में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है तथा जो एक ही परमात्मा को मानने वाले हैं उनका खण्डन करने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया है। अद्वैतवादियों के एक ही परमात्मा मत का खण्डन करके व अनेक अरिहन्त परमात्मा हैं ऐसा सिद्ध करने के लिए तथा एक के बदले अनेकों को नमस्कार करने से अधिक फल मिलता है, यह बतलाने के लिए भी बहुवचन का प्रयोग किया है। उन अरिहन्त भगवान के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से अनेक भेद हैं। यहाँ भाव अरिहंत को मेरा नमस्कार हो, ऐसा बतलाने के लिए 'भगवंताणं' विशेषण का प्रयोग किया है। भगवंताणं में 'भग' शब्द के दौदह अर्थ योगशास्त्र ३-१२३ की टीका में कहे हैं। वह इस प्रकार हैं- (१) सूर्य, (२) ज्ञान, (३) माहात्म्य, (४) यश, (५) वैराग्य, (६) मुक्ति, (७) रूप, (८) वीर्य, (९) प्रयत्न, (१०) इच्छा, (११) श्री, (१२) धर्म, (१३)ऐश्वर्य और (१४) योनि। इसमें से भग के सूर्य और योनि- इन दो अर्थों को छोड़कर शेष बारह ही अर्थ यहाँ मान्य हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने समग्र ऐश्वर्य आदि छः अर्थ लक्षण से माने हैं। कहा है कि-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥१॥

अर्थात्- ''(१) समग्र ऐश्वर्य, (२) समग्र रूप, (३) समग्र यश, (४) समग्र श्री, (५) समग्र धर्म और (६) समग्र प्रयत्न-ये छह भग शब्द के अर्थ होते हैं।''

(१) समग्र ऐश्वर्य - प्रभु के प्रति अति भक्ति से इन्द्र आदि देवों के द्वारा बनाया हुआ समवसरण तथा अष्ट-प्रतिहार्यादि रूप ऐश्वर्य तीर्थंकर भगवान के होते हैं।

(२) समग्र रूप - सभी देवताओं का सारभूत रूप ग्रहण करके उस रूप को सिर्फ अंगूठे में एकत्र करे और उसकी तुलना प्रभु के चरण के अंगूठे से करे तो देवों का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप ऐसा दिखता है कि मानो दहकते हुए अंगारे में कोयले हों। अत: भगवान का रूप सर्वाधिक श्रेष्ठ है।

(३) समग्र यश - राग, द्वेष, परीषह, उपसर्ग आदि को पराक्रम से जीतने से भगवान को शाश्वत तीन लोक में आनंदकारी यश मिलता है। उनकी प्रतिष्ठा सर्वदा स्थायी होती है। जिस यश के देवलोक में सुर सुन्दरी और पाताल में नागकन्या गीत गाती है उस यश की प्रशंसा नित्य देव और असुर करते हैं।

(४) समग्र श्री - अर्थात् लक्ष्मी जानना। समग्र घाती कर्मों का नाश करके समर्थ पराक्रम से प्राप्त हुई सम्पूर्ण केवल ज्ञान रूपी तीर्थंकर पद की लक्ष्मी से आप परिपूर्ण होते हैं। यह सुख सम्पदा भी अनुपम होती है।

(५) समग्र धर्म - सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप और दान शील-तप भावमय अनाश्रव रूप महायोगात्मक धर्म होता है जो समग्र कर्मों की निर्जरा रूप धर्माचरण होता है।

(६) समग्र प्रयत्न - परम वीर्य से उत्पन्न केवली समुद्घातरूप प्रयत्न, जो एक रात्रि आदि की महा प्रतिमाओं व अभिग्रह के अध्यवसाय में हेतु भूत और उन कर्मों का एक साथ नाश करने के लिए समर्थ प्रयत्न तथा मन, वचन और काया का योग निरोध एवं उसके योग में प्रगट किया हुआ उत्कृष्ट आत्मवीर्य, मेरु पर्वत के समान अडोल अवस्था, तथा शैलेशीकरण की अभियुक्ति रूप उत्कृष्ट आत्मवीर्य से हुआ प्रयत्न समझना।

इस प्रकार छ: प्रकार के 'भग' जो शब्द हैं उन भगवान को नमस्कार हो, इस तरह इसके बाद प्रत्येक पद के साथ मेंभी नमस्कार शब्द जोड़ना। इस तरह बुद्धि जीवी अरिहंत भगवन्त की स्तुति करने योग्य होते हैं। इस तरह दो आलापक (पद) से नमुत्थुणं सूत्र की प्रथम स्तोतव्य-संपदा जानना। अर्थात् स्तुति कौन-क्यों और कैसे है? इस पर काफी कह दिया।

अब उनका कौन से हेतु से स्तुति करने योग्य-स्तोतव्य है, उसको बताने वाली दूसरी हेतु-संपदा का वर्णन करते हैं- **'आइगराणं तित्थंयराणं सयं सबुद्धाणं।'** उसमें **'आइगराणं'** का अर्थ है-आदि करने वाले, अर्थात् सर्व प्रकार की नीति और श्रुतधर्म का प्रथम उपदेश देने वाले हैं। इस सामर्थ्य से श्रुत धर्म उनके पास से जाना जाता है। यद्यपि यह द्वादशांगी न कभी थी और न कभी होती है और न कभी होगी, तथा हुआ है, होता है और होगा इस वचन से हमेशा द्वादशांगी है। फिर भी अर्थ की अपेक्षा से इसे नित्य कहा है। शब्द की अपेक्षा से अपने अपने तीर्थंकरों के शासन में द्वादशांगी की रचना होने से 'श्रुत धर्म की आदि करने वाले' ऐसा कहने से कोई विरोध नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आता है। अर्थात् शब्द रचना की अपेक्षा से प्रत्येक की द्वादशांगी नयी होती है, परन्तु उसमें जो अर्थ कहा हो वह नया नहीं होता। तीनों काल की द्वादशांगियों में सर्व का ज्ञेयरूप पदार्थ एक समान होता ही होता है।

अब 'केवल ज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है।' ऐसा मानने वाले तीर्थंकर को नहीं मानते। वे कहते हैं कि "**अकृत्स्नक्षये कैवल्याऽभावात्**" अर्थात् 'जब तक सभी कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक केवल ज्ञान नहीं होता और केवल ज्ञान होते ही सर्व कर्मों का क्षय होने से तुरन्त ही मोक्ष होता है। इस तरह तीर्थंकर स्थापना का कारण समय नहीं होने से वे अतीर्थंकर ही होते हैं। अतः इसका खण्डन करने हेतु कहते हैं-'**तित्थयराणं**'-तीर्थ की स्थापना करने वाले। जिससे संसार समुद्र तरा जाय, वह तीर्थ कहलाता है। शासन के आधारभूत साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा प्रथम गणधर तीर्थ स्वरूप हैं। तीर्थ की स्थापना या रचना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही केवल ज्ञान होता है। ऐसा नहीं, बल्कि चार घाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय होते ही केवल ज्ञान हो जाता है। केवली में चार अघाती कर्म शेष रहते हैं, वे उनके केवल ज्ञान में घातक नहीं होते, और केवल ज्ञान तो ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्मों का क्षय होने से प्रगट होता है। अर्हत केवल ज्ञानी ही तीर्थ की स्थापन कर सकते हैं। मुक्त केवलिया अथवा एक साथ आठों कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त करने वालों में तीर्थंकरत्व नहीं हो सकता। इसलिए कहा है-तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर को नमस्कार हो।

कई लोग कहते हैं-'इन तीर्थंकरों को भी सदाशिव की कृपा से बोध-ज्ञान होता है। इस विषय में उनके ग्रन्थ का प्रमाण है "**महेशानुग्रहात् बोध नियमा विति**" अर्थात्-महेश की कृपा से बोध ज्ञान जीव को होता है और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय होते हैं। परन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है, इसलिए कहा है-'सयं संबुद्धानं' अर्थात् वे दूसरे के उपदेश बिना भव्यत्वादि सामग्री के परिपक्व हो जाने से स्वयं-अपने आप ही स्वयं बुद्ध होते हैं-यथार्थ तत्व स्वरूप को जानते हैं, अतः जिन्होंने स्वयं बोध प्राप्त किया है, उन्हें नमस्कार हो। यद्यपि दूसरे पूर्वजन्मों में उनकी आत्मा ने उत्तम गुरु महाराज के उपदेश से बोध प्राप्त किये हैं, फिर भी तीर्थंकर जन्म में तो वे दूसरों के उपदेश से निरपेक्ष ही होते हैं। वे स्वयं ही बोध करते हैं। यद्यपि तीर्थंकर भव में लोकान्तिक देव आकर "**भयवं ! तित्थं पवत्तेह!**" अर्थात्-हे भगवन्त ! आप तीर्थ-स्थापन में प्रवृत्त हो, इत्यादि कहकर विनती करते हैं, परन्तु जैसे काल ज्ञापक-वैतालिक पुरुष के वचन से राजा प्रवृत्ति या प्रयाण करता है वैसे ही लोकान्तिक देवों की विनती से तीर्थंकर परमात्मा स्वतः दीक्षा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अंगीकार करते हैं । उनके उपदेश से नहीं लेते । इस तरह अरिहंत भगवन्त जिस हेतु से स्तुति करने योग्य है उस हेतु को सामान्य रूप स्तोतव्य हेतु कहा है ।

अब उसी का ही विशेष हेतु रूप "स्तोतव्य विशेष हेतु" नामक तीसरी संपदा कहते हैं– **"पुरिसुत्तमाणं, परिस सीहणं, पुरिसवर पुडरीयाणं पुरिसवर गंधहत्थीणं ।"** तात्पर्य यह है 'पुरि' अर्थात् शरीर में 'शयनात्' अर्थात् शयन करता है, अतः उसे पुरुष कहते हैं । विशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से उत्तम आकृति वाले शरीर में निवास वाले, उनमें भी उत्तम जीव होते हैं– इससे स्वाभाविक तथा भव्यात्वादि भावों में श्रेष्ठ होने 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं । वे पुरुषोत्तम इस प्रकार से हैं कि अपने संसार के अन्त तक परोपकार करने में व्यसनी होते हैं, अपने सांसारिक सुखों का स्वार्थ उनके लिए गौण होता है, सर्वत्र उचित क्रिया करते हैं, किसी भी समय में दीनता नहीं लाते, जिसमें सफलता मिले, उसी कार्य को आरंभ करते हैं । दृढ़ता से विचार करते हैं । वे कृतज्ञता के स्वामी क्लेश रहित चित्त वाले होते हैं । देव गुरु के प्रति अत्यन्त आदर रखते हैं । उनके हृदय में गंभीर आशय होता है इत्यादि अनेक साहसिक गुणों से वे सर्व पुरुषों में उत्तम होते हैं । जैसे खान से निकला हुआ मलिन और अनघड़ श्रेष्ठ जाति का रत्न भी काँच से उत्तम होता है, परन्तु जब उसे शान पर चढ़ाकर घड़ दिया जाता है तो वह और भी स्वच्छ हो जाता है, तब तो काँच से उसकी तुलना ही नहीं हो सकती– वैसे ही अरिहंत परमात्मा के साथ अन्य किसी पुरुष की तुलना नहीं हो सकती, वे सभी से बढ़कर उत्तमता वाले होते हैं । बौद्ध मानते हैं कि–**'नास्ति इहकश्चिद भाजनं सत्व'** अर्थात्– इस संसार में कोई भी प्राणी अपात्र नहीं है, जीव मात्र सर्वगुणों का भाजन होता है, इसलिए सभी जीव बुद्ध हो सकते हैं । इस बात का खण्डन किया गया है । क्योंकि सभी जीव कदापि अरिहन्त नहीं हो सकते, भव्य ही अरिहंत हो सकते हैं ।

बाह्य अर्थ की सत्ता को सत्य मानने वाले व उपमा को असत्य मानने वाले संस्कृताचार्य के शिष्य यों कहते हैं–जो स्तुति करने योग्य हैं, उन्हें किसी प्रकार की उपमना नहीं दी जा सकती । क्योंकि **"हीनाधिकाभ्यामुपमा मृषा"** अर्थात् स्तुति वाले को हीन या अधिक से उपमा देना असत्य है । इस मत का खण्डन करने के लिए कहा है कि– **'परिसासीहाणं'** अर्थात् अरिहंत पुरुष होने पर भी सिंह के समान, मुख्यतया शौर्य आदि गुणों के कारण अरिहंत भगवान को पुरुष होते हुए भी सिंह के समान कहा है । जैसे सिंह शौर्य, क्रूरता, वीरता, धैर्य आदि गुण वाला होता है, वैसे ही अरिहंत भगवन्त भी कर्म रूपी शत्रुओं के निवारण के लिए शौर्य गुण वाले, कर्मों का उच्छेदन करने में क्रूर, पराजित करने वाले क्रोध आदि को सहन नहीं करने वाले, रागादि से पराभूत न होने वाले, महा पराक्रमी, वीर्यवान् और तप–कर्म में धैर्यवान रूप में ही प्रसिद्ध ही हैं । वे परिषहों की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवज्ञा करते हैं, उपसर्गों से डरते नहीं हैं, इन्द्रियों की चिन्ता नहीं करते, संयम मार्ग पर चलने में उन्हें खेद नहीं होता, वे सदा शुभ ध्यान में निश्चल रहते हैं । अतः इन गुणों के कारण अरिहंत भगवान पुरुषों में सिंह के समान हैं- यह कथन असत्य भी नहीं है, क्योंकि सिंह के समान इत्यादि उपमा देने से उनके असाधारण गुण प्रतीत होते हैं । उनको मेरा नमस्कार हो ।

भगवान को सजातीय की उपमा देना चाहिए, विजातीय उपमा से उपमा के धर्म उपमेय में आ जाने से भगवान में पुरुषत्व आदि का अभाव हो जायेगा । ऐसा मानने वाले सुचारु के शिष्य मानते हैं कि-"**विरुद्धोपमायोगे तद्धर्मापत्या तदवस्तुत्व ।**" अर्थात् विरुद्ध उपमा (विजातीय) के योग से उपमेय में उपमा का धर्म आ जाने से उपमेय की वास्तविकता नहीं रहती । इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि-'**पुरुषवर पुण्डरीकेभ्यः**' अर्थात् पुरुष होने पर भी श्रेष्ठ पुंडरीक के समान अरिहन्त को नमस्कार हो । संसार रूपी जल से निर्लिप्त इत्यादि धर्मों के कारण वे श्रेष्ठ पुंडरीक कमल के समान हैं । जैसे पुंडरीक कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, जल में बढ़ता है, फिर दोनों का त्याग कर दोनों से ऊपर रहता है और वह स्वाभाविक रूप से सुन्दर होता है, त्रिलोक की लक्ष्मी का निवास स्थान है और चक्षु आदि के लिए आनंद का घर है । उसके उत्तम गुणों के योग से विशिष्ट तिर्यंच, मनुष्य और देव भी कमल का सेवन करते हैं तथा कमल सुख का हेतुभूत है, वैसे ही अरिहन्त परमात्मा भी कर्म रूपी कीचड़ में जन्म लेते हैं, दिव्य भोग रूपी जल से उनकी वृद्धि होती है, फिर भी वे कर्मों और भोगों का त्याग कर निर्लेप रहते हैं, अपने अतिशयों से वे सुन्दर हैं और गुण रूपी सम्पत्तियों के निवास स्थान हैं, और जीवों के परम आनंद में हेतु रूप भी है । केवल ज्ञानादि गुणों के कारण तिर्यंच, मनुष्य और देव भी उनकी सेवा करते हैं और इससे वे मोक्ष सुख के कारण बनते हैं । इन कारणों से अरिहंत भगवान पुंडरीक कमल के समान हैं । इस तरह भिन्न जातीय कमल की उपमा देने पर भी अर्थ में कोई विरोध नहीं आता । सुचारु के शिष्यों ने विजातीय की उपमा देने से जो दोष बताया है, वह दोष यहाँ संभव नहीं है । यदि विजातीय उपमा से उस सिंह का पशुत्व आदि धर्म आ जाता है किन्तु सजातीय उपमा से वैसा नहीं बनता है । वैसे ही विजातीय उपमा से भी वह दोष नहीं लगता ।

बृहस्पति के शिष्य ऐसा मानते हैं कि यथोत्तर क्रम से गुणों का वर्णन करना चाहिए। अर्थात् प्रथम सामान्य गुणों का और बाद में उससे विशेष गुणों का और उसके बाद उससे भी विशिष्ट गुणों का यथाक्रम से वर्णन करना चाहिए । यदि इस क्रमानुसार व्याख्या नहीं की जाती है तो वह पदार्थ क्रम रहित हो जाता है और फिर गुण तो क्रमशः ही बढ़ते हैं। इसी के समर्थन में वे कहते हैं कि-'**अक्रमवदसत्**' अर्थात् 'जिसका विकास क्रमशः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होता, वह वस्तु असत् (मिथ्या) है ।' श्री अरिहंत परमात्मा के गुणों का विकास भी क्रमशः हुआ है । इसे बताने के लिए प्रथम सामान्य उपमा, बाद में विशिष्ट उपमा देनी चाहिए। उनके इस मत का खण्डन करने के लिए कहते हैं कि-''पुरिस वर गंध हत्थीणं'' अर्थात् श्री अरिहंत परमात्मा पुरुष होने पर भी श्रेष्ठ गन्ध हस्ती के समान हैं। जैसे गन्ध हस्ती की गन्ध मात्र से उस प्रदेश में घूमने वाले क्षुद्र हाथी भाग जाते हैं, वैसे ही अरिहंत परमात्मा के अचिंत्य पुण्य प्रभाव से पर राज्य का आक्रमण, दुष्काल महामारी, अनिष्ट, उपद्रव रूपी क्षुद्र हाथी उनके विहार रूपी पवन की गन्ध से भाग जाते हैं । इस कारण से भगवान् श्रेष्ठ गन्ध हस्ती के समान हैं । यहाँ पहले सिंह की, बाद में कमल की और उसके बाद गन्ध हस्ती की उपमा दी है । इससे गन्ध हस्ती से भी सिंह विशेष बलवान् है, जबकि कमल सामान्य है । अतः बृहस्पति के मत से उपमा का क्रम नहीं है, फिर भी वह दोष रूप नहीं है, क्योंकि वे कहते हैं कि- 'व्याख्या में क्रम न हो तो व्याख्या ही असत् होती है ।' यह बात युक्ति युक्त नहीं है । वस्तुतः सामान्य हो या विशिष्ट, समस्त गुण आत्मा में परस्पर सापेक्ष रहते हैं । इसलिए उन गुणों या गुणी भगवान की स्तुति क्रम से या व्युत्क्रम से, किसी भी तरह से की जाय, उसमें कोई दोष नहीं लगता । इस प्रकार ''**पुरिसुत्तमाणं**'' आदि चार पदों से अरिहंत परमात्मा की स्तुति का विशेष हेतु कहा है । इस तरह चार पद वाली इस तीसरी संपदा का नाम 'स्तोतव्य विशेष हेतु संपदा' है ।

इस तरह स्तुति करने योग्य श्री वीतराग परमात्मा सामान्य रूप से इस संसार में किस तरह उपयोगी-उपकारी हैं ? इसे बताने के लिए अब पाँच पदों द्वारा स्तोतव्य सामान्य उपयोगी नामक चौथी संपदा कहते हैं- ''**लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं, लोगहियाणं लोग पईवाणं लोग पज्जो अगराणं**'' । जो शब्द समूह का वाचक होता है, व्याकरण शास्त्रानुसार वह शब्द अनेक अवयवों (अंशों या विभागों) का भी वाचक होता है । यहाँ लोक शब्द तत्वतः धर्मास्तिकायादि पाँच अस्ति कार्यों के समूह वाले चौदह राज लोक कहलाता है। कहा भी है कि-

धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् ।
तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद् विपरीतं ह्य लोकाख्याम ॥१॥

अर्थात्- ''धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य जहाँ हैं, उस आकाश को धर्मास्तिकायादि द्रव्य सहित लोक कहते हैं । इसके विपरीत जहाँ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का अभाव हो, केवल आकाश ही हो उसे अलोक कहते हैं ।''

फिर भी यहाँ लोक शब्द से सर्व भव्य जीव रूप लोक समझना चाहिए । यहाँ पर भगवान को ''**लोगुत्तमाणं**'' कहा है । समान जातियों में उत्तमता ही वास्तविक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होती है। निम्न जातियों से उच्च जाति में उत्तमता होने से कोई खास विशेषता नहीं होती । यों तो अभव्य की अपेक्षा सभी भव्य जीव उत्तम हैं ही, इस अपेक्षा से भगवान की उत्तमता बताने में कोई विशेषता नहीं है । इसलिए वे सजातीय भव्य जीवों में उत्तम हैं । ऐसा कथन यहाँ अभीष्ट है, क्योंकि समस्त भव्य जीवों में सकल कल्याण के कारणभूत 'तथाभव्यत्व' नाम के भाव केवल भगवान में ही रहते हैं । ऐसे लोक में उत्तम भगवान को नमस्कार हो ।

'लोगनाहाणं' अर्थात् लोक के नाथ । योग क्षेम करने वाले नाथ होते हैं । अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना योग है और प्राप्त वस्तु की रक्षा करना क्षेम है । इस दृष्टि से भगवान लोक में धर्म बीज की स्थापना द्वारा अप्राप्त धर्म को प्राप्त कराते हैं और धर्म की रागादि उपद्रवों से रक्षा करते-कराते हैं । इसलिए वे भव्य जीव लोक के नाथ हैं तथा भगवान के समस्त भव्य जीव रूपी लोक की अपेक्षा से यहाँ लोकनाथ नहीं कहा गया है क्योंकि जो जाति (जन्मत:) भव्य है, उनके योग क्षेम कर्ता भगवान नहीं हो सकते, यदि ऐसा होता तो समग्र जीवों का मोक्ष हो जाता । इसलिए यहाँ भगवान उन भव्य जीवों के ही योग क्षेमकर्त्ता हो सकते हैं जो मोक्ष के निकट हैं । ऐसे भव्य जीवों में भगवान धर्म बीज की स्थापना करके धर्मांकुर का प्रादुर्भाव और उसका पोषण करने से योग करते हैं एवं राग द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं के उपद्रव से उनका रक्षण करके क्षेम करते हैं अर्थात् उन विशिष्ट भव्य जीव रूप लोक के नाथ को नमस्कार हो ।

'लोगहियाणं'- अर्थात् लोक के हित करने वाले को नमस्कार हो । यहाँ लोक शब्द से चौदह राज लोक में एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक सभी व्यवहार राशिगत जीवरूप लोक समझना । चूँकि भगवान सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष मार्ग का उपदेश देकर सभी जीवों को स्व, पर से दु:ख में पड़ने से बचाते हैं, इसलिए वे लोक हितैषी हैं । **'लोगपईवाणं** अर्थात् लोक-संसार में दीपक के समान प्रकाश करने वाले भगवान को नमस्कार हो । यहाँ लोक शब्द से विशिष्ट संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव रूप लोक समझना चाहिए, क्योंकि भगवान् विशिष्ट सभी जीवों को अपने उपदेश रूपी ज्ञान किरणों से मिथ्यात्व-अज्ञान रूपी अंधकार मिटाकर ज्ञेय भाव का यथायोग्य प्रकाश करते हैं । इस कारण संज्ञी लोक में प्रकाशक होने से वे प्रदीप स्वरूप हैं । जैसे दीपक अंधे मुनष्य को प्रकाश नहीं दे सकता है, वैसे ही भगवान भी ऐसे महा मिथ्यात्व रूप घोर अन्धकार से मग्न संज्ञी जीवों को प्रतिबोध नहीं दे सकते । इस लिए भगवान विशिष्ट संज्ञी जीव रूप लोक के प्रदीप के समान हैं ।

'लोग पज्जोअगराणं' अर्थात् लोक में सूर्य के समान प्रद्योत करने वाले भगवान को नमस्कार हो । यहाँ लोक शब्द से विशिष्ट चौदह पूर्व के ज्ञान वाले ज्ञानी पुरुष ही

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझना चाहिए। क्योंकि उनमें ही वह वास्तविक प्रद्योत हो सकता है, सूर्य समान तत्व का प्रकाश कर सकते हैं। वह प्रकाश करने योग्य सात अथवा नौ जीवादि तत्वों को वे ही यथार्थ रूप से जान सकते हैं। पूर्वधर ही विशिष्ट योग्यता सम्पन्न होते हैं। परन्तु तत्वों को प्रकाशित करने में सभी पूर्वधर एक सरीखे नहीं होते क्योंकि पूर्वधर भी योग्यता में परस्पर तारतम्य युक्त-षट्स्थान न्यूनाधिक होते हैं- (१) अनंतभाग वृद्धि, (२) असंख्यात भाग वृद्धि (३) सांख्यात भाग वृद्धि, (४) संख्यात गुण वृद्धि, (५) असंख्यात् गुण वृद्धि और (६) अनंत गुण। प्रद्योत का अर्थ है-विशिष्ट प्रकार से नय निक्षेपादि से सम्पूर्ण तत्व ज्ञान के अनुभव का प्रकाश। ऐसी योग्यता विशिष्ट चतुर्दश-पूर्वधारी में ही होती है। अतः यहाँ विशिष्ट चतुर्दश पूर्वधर रूपी लोक में प्रभु सूर्य के समान हैं। जैसे सूर्य से सूर्य विकासी कमल खिलते हैं, वैसे ही भगवान रूपी सूर्य के निमित्त से विशिष्ट पूर्वधरों को जीवादि तत्वों का प्रकाश हो जाता है। इस दृष्टि से भगवान को लोक प्रद्योतकर समझना। इस प्रकार लोकोत्तम आदि पाँच प्रकार से भगवान परोपकारी हैं। इसलिए 'स्तोतव्य संपदा की सामान्य उपयोग' के नाम से चौथी पंचपदी सम्पदा कही है।

अब विशिष्ट उपयोग संपदा बताने की दृष्टि से हेतु सम्पदा नाम की पाँचवीं सम्पदा कहते हैं-"**अभय दयाणं, चक्खु दयाणं, मग्ग दयाणं, सरण दयाणं, बोहि दयाणं**" इसमें प्रथम '**अभय दयाणं**' का अर्थ है-अभय देने वाले भगवान को नमस्कार हो। भय मुख्यतया सात प्रकार का होता है- (१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय, (४) अकस्मात् भय, (५) आजीविका भय, (६) मरण भय और (७) अपयश भय। इन भयों का प्रतिपक्षी अभय है, जिसमें भय का अभाव होता है अर्थात् विशिष्ट आत्म स्वास्थ्य के लिए सम्पूर्ण कल्याणकारी धर्म की भूमिका में कारण भूत पदार्थ अभय कहलाता है। कोई उसे धैर्य भी कहते हैं। इस प्रकार के अभय को देने वाले श्री तीर्थंकर भगवान ही होते हैं क्योंकि वे अपने गुण के प्रकर्ष (विशिष्टता) योग से अचिंत्य शक्ति सम्पन्न होते हैं एवं एकान्त परोपकार परायण स्वभाव वाले होते हैं, इससे अरिहंत भगवान अभय दाता-भय रहित कर्त्ता हैं।

'**चक्खु दयाणं**' - चक्षु देने वाले भगवान को नमस्कार हो। भगवान तत्व बोध के कारण रूप विशिष्ट आत्म धर्म रूप चक्षु के दाता हैं। दूसरे लोग इसे श्रद्धा कहते हैं। जैसे चक्षु के बिना व्यक्ति दूसरे को देख नहीं सकता, वैसे ही श्रद्धा-रहित व्यक्ति आत्म वस्तु तत्व के दर्शन करने में अयोग्य होता है, अर्थात् तत्व दर्शन नहीं कर सकता। मार्गानुसारी श्रद्धा के बिना सुख प्राप्त नहीं कर सकता है। इससे कल्याण चक्षु (श्रद्धा) होने पर ही जीव को यथार्थ वस्तु तत्व का ज्ञान व दर्शन होता है। इस कारण धर्म रूपी कल्पवृक्ष के लिए अमोघ बीज रूप श्रद्धा अरिहंत परमात्मा के द्वारा प्राप्त होती है। अतः भगवान श्रद्धा रूप चक्षु देने वाले हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'मग्ग दयाणं' – अर्थात् मोक्ष मार्ग देने वाले नमस्कार हो । यहाँ मार्गदाता का अर्थ होता है–सर्प की बाँबी की तरह सीधी विशिष्ट गुण स्थान श्रेणी को प्राप्त कराने वाले, स्वरस वाही यानी आत्म स्वरूप का अनुभव कराने वाले, कर्म क्षयोपशम का स्वरूप बताने वाले, जिससे पर चित्त का अवक्र–सरल गमन हो, जिसमें मोक्ष के अनुकूल चित्त–प्रवृत्ति हो, उसे मार्ग कहते हैं । मोक्ष मार्ग के बिना चित्त की प्रवृत्ति शुद्ध या अनुकूल नहीं होती। सुख भी मोक्ष मार्ग पर चलने से होता है । मोक्ष मार्ग के अभाव में यथा योग्य गुण स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि मार्ग की विषमता से चित्त की स्खलना होती है और इससे गुण की प्राप्ति में वह चित्त विघ्न रूप होता है । ऐसा सरल सत्य मार्ग भगवान से ही प्राप्त होता है । इसलिए भगवान मार्गदाता हैं ।

'सरण दयाणं' अर्थात् शरण को देने वाले–भय से पीड़ित का रक्षण करना शरण देना कहलाता है । ऐसे शरण देने वाले अरिहंत प्रभु को नमस्कार हो । इस संसार रूपी भयंकर अटवी से अति प्रबल रागद्वेषादि से पीड़ित जीवों की आत्माएँ दुःख परम्परा से होने वाले चित्त संक्लेश से मूढ़ हो जाती हैं । उन आत्माओं को भगवान तत्व चिन्तन रूप अध्यवसाय का सुन्दर आश्वासन देते हैं, इसलिए वे शरण–आधार रूप हैं । दूसरे आचार्य कहते हैं–विशेष प्रकार से तत्व जानने की इच्छा ही शरण है । इस तत्त्व चिन्तन का अध्यवसाय ही जीव को तत्त्व की प्राप्ति होने में कारण रूप हैं । (१) तत्त्व श्रवण की इच्छा, (२) तत्त्व का श्रवण, (३) तत्त्व ग्रहण, (४) तत्त्व को हृदय में धारण करना, (५) इससे विशिष्ट ज्ञान–विज्ञान की प्राप्ति, (६) विज्ञान से विचार – तर्क करना, (७) तत्त्व का निर्णय करना और (८) तत्त्व के प्रति दृढ़ आस्था (आग्रह) रखना– ये बुद्धि के आठ गुण तत्त्व चिन्तन के अध्यवसाय से प्रगट होते हैं । यदि तत्त्व चिन्तन का अध्यवसाय न हो तो गुण प्रगट नहीं होते, अपितु जिज्ञासा के बिना भी गुणों का आभास होता है, इससे आत्मा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । वस्तुतः अनेक दुःखों से किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए जीव को आश्वासन देने वाली और बुद्धि के गुणों को प्रकाशित करने वाली तत्त्व चिन्ता रूपी शरण अरिहंत से ही प्राप्त होती है । इसलिए अरिहंत शरण दाता हैं।

'बोहि दयाणं' अर्थात् बोधिदाता अरिहंत भगवान को नमस्कार हो । बोधि का अर्थ है श्री जिनेश्वर–प्रणीत धर्म की प्राप्ति होना । वह बोधि यथा प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण– इन तीन व्यापारों के सामर्थ्य योग से होता है । पहले कभी भेदन नहीं की हुई राग द्वेष की ग्रन्थी (गांठ) के भेदन करने से पश्चानुपूर्वी क्रम से अस्तिक्व, अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशय रूप पाँच लक्षणों के प्रगट होने से जीव को तत्त्वार्थ श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । अन्य आचार्यों ने 'बोधि' को 'विज्ञप्ति' कहा है । अभय, चक्षु, मार्ग, शरण और बोधि– ये पाँचों अपुनर्बन्धक को प्राप्त होते हैं । जब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुनर्बन्धन के कारण पाँचों अपने यथार्थ रूप में प्रगट नहीं होते, तब भगवान इन पाँचों अपुनबन्धक भावों का दान देते हैं। ये पाँचों भाव उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व के फल रूप हैं। वह इस प्रकार से हैं- अभयदान का फल चक्षु की प्राप्ति है, चक्षु का फल सम्यक् मार्ग की प्राप्ति, मार्ग का फल शरण की प्राप्ति और शरण का फल बोधि-सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति है। यह बोधि बीज (सम्यग्दर्शन) अरिहंत भगवन्त से प्राप्त होता है। अतः वे अरिहंत बोधिदाता है। इस प्रकार अरिहंत अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता और बोधिदाता हैं। इन पाँच गुणों के दान से ही चौथी उपयोग-सम्पदा की सिद्धि हुई।

अब 'स्तोतव्य सम्पदा की ही विशिष्ट उपयोग रूप सम्पदा' कहते हैं- **"धम्म दयाणं, धम्म देसयाणं, धम्म नायगाणं, धम्म सारहीणं, धम्मवर चाउरंत चक्क वट्टीणं'** उसमें प्रथम **'धम्म दयाणं'** का अर्थ है - धर्म के दाता अरिहंत भगवान को नमस्कार हो। यहाँ धर्म का अर्थ चारित्र (विरति) रूप धर्म लेना चाहिए और वह धर्म साधु धर्म और श्रावक धर्म के भेद से दो प्रकार का है। साधु धर्म सर्व सावध (पापकारी) व्यापार के त्याग रूप है, पाप का आंशिक रूप से त्याग रूप देश विरति श्रावक धर्म है। इन दोनों धर्मों को बताने वाले भगवान ही हैं। उन्हीं से ही धर्म मिल सकता है। अन्य हेतु होने पर भी विरति धर्म की प्राप्ति में प्रधान हेतु भगवान ही हैं, इस कारण भगवान् को धर्मदाता कहा है। इस धर्म का दान धर्म उपदेश के देने से होता है। अन्य कारण से नहीं होता। इसलिए कहते हैं-**'धम्म देसयाणं'** अर्थात् धर्म का उपदेश देने वाले भगवान को नमस्कार हो। पहले कहे अनुसार दो प्रकार के विरति धर्म के उपदेष्टा भगवान का उपदेश कदापि निष्फल नहीं जाता, प्रत्युत भली भांति सफल होता है, क्योंकि भगवान जीव की योग्यतानुसार उपदेश देते हैं, अतः भगवान सच्चे धर्म के उपदेशक हैं। योग्यतानुसार उपदेश देनें से जीव उसे ग्रहण करता है। इससे वह उपदेश भी सफल है।

'धम्म नायगाणं' अर्थात् धर्म के नायक (स्वामी) को नमस्कार हो। पहले कहे अनुसार चारित्र धर्म के स्वामी भगवान ही हैं, क्योंकि उन्होंने धर्म को आत्मसात् किया है। उन्होंने उस धर्म को पूर्ण रूप से उत्कृष्टता से प्राप्त किया है एवं उसके उत्तम फल को भोग रहे हैं। उनके जीवन में धर्म का विघात अथवा विरह कभी नहीं होता। उन्होंने अखण्ड साधना से धर्म को वश में किया, इस कारण से ही धर्म के नायक हैं। तथा **'धम्म सारहीणं'** अर्थात् धर्म के सारथी भगवान को नमस्कार हो। भगवान चारित्र धर्म में सम्यग् प्रवृत्ति और उसका पालन स्वयं करते हैं और दूसरों से करवाते हैं तथा इन्द्रियों का स्वयं दमन करते हैं और दूसरों से कराते हैं। इसलिए वे धर्म रूपी रथ के वास्तविक सारथी हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

''धम्मवर चाउरंत चक्क वट्टीणं'' अर्थात् चातुरन्त धर्म श्रेष्ठ चक्रवर्ती श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार हो। यहाँ धर्म का अर्थ प्रस्तुत चारित्र धर्म ही समझना। यह धर्म पूर्व कहे अनुसार कष, छेदन और ताप- तीन कोटि से अत्यन्त शुद्ध होता है। बौद्ध आदि द्वारा कथित धर्म चक्र की अपेक्षा से श्रेष्ठ है। चक्रवर्ती का चक्र केवल इस लोक का ही हितकारी है जबकि यह विरति रूप धर्म चक्र तो दोनों लोक में हितकारी है। इस कारण से यह धर्म चक्र श्रेष्ठ है तथा नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चार गति स्वरूप संसार का अंत करने वाला होने से वह चातुरन्त है। चक्रवर्ती का चक्र जैसे शत्रु का नाश करता है, वैसे ही यह विरति धर्म रूपी चक्र रौद्र ध्यान, मिथ्यात्व आदि भाव शत्रुओं का नाश करने वाला है। इस तरह भगवान श्रेष्ठ चातुरन्त के प्रर्वत्तक धर्म चक्रवर्ती हैं। इस तरह धर्म दाता आदि पाँच प्रकार से भगवान की विशेष उपयोगिता बताकर स्तोतव्य-संपदा की विशेष उपयोगी नाम की यह छठी संपदा कही। अब बौद्धों की ही मान्यता का खण्डन करते हैं। प्रमाण वार्तिक में १-३३ में कहा है कि-

सर्व पश्यतु वा मा वा, तत्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीट संख्या परिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥१॥

अर्थात्- ''जगत की सभी वस्तुओं को अथवा उनके भावों या पर्यायों को जान या न जानकर सिर्फ इष्ट तत्वों को जान लेना ही सर्वज्ञ के लिए बस है। ऐसे सर्वज्ञ को कीड़ों की संख्या के परिज्ञान से क्या मतलब है ?''

इस तरह बौद्ध, सर्वज्ञ में सर्व पदार्थों का नहीं, अपितु केवल इष्ट तत्व का ही ज्ञान मानते हैं। उसका खण्डन करने की दृष्टि से कहते हैं। **''अप्पडिहय वरनाण दंसण धराणां''** अर्थात्- अप्रतिहत (खण्डित न होने वाला) ज्ञान दर्शन के धारण करने वाले भगवान को नमस्कार हो। यहाँ पर किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में खण्डित न होकर सर्वदा स्थायी एवं अप्रतिबन्धित होने से इन्हें 'अप्रतिहत' कहा है तथा समस्त कर्मों के आवरणों का क्षय हो जाने से क्षायिक भाव प्रगट होता है, उससे प्रत्येक सर्वश्रेष्ठ, विशेष बोधरूप केवल ज्ञान और सामान्य बोध रूप केवल दर्शन को धारण करते हैं, वे अप्रतिहत ज्ञान दर्शन धारक कहलाते हैं। भगवान के ज्ञान दर्शन आवरणों से सर्वथा मुक्त होते हैं और उनसे सभी विषयों का ज्ञान एवं दर्शन उन्हें होता है इसमें भी पहले ज्ञान और फिर दर्शन होता है। इस कथन का कारण यह है कि जीव को समस्त लब्धियां, जब साकार (ज्ञान) का उपयोग होता है, तभी प्रगट होती हैं, इसलिए ज्ञान को प्राथमिकता और विशिष्टता दी है। ऐसे ज्ञान-दर्शन युक्त ईश्वर को भी कई दार्शनिक 'छद्मस्थ' (संसारी) मानते हैं। वे कहते हैं कि-

ज्ञानिनो धर्म तीर्थस्य, कर्तारः परमं पदं ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थ निकारतः ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''ज्ञानी पुरुष धर्म तीर्थ के रचयिता ईश्वर परम पद मोक्ष प्राप्त करके भी फिर तीर्थ (धर्म) रक्षा के लिए संसार में लौट आते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं।'' पूज्य सिद्धसेन ने द्वितीय द्वात्रिंशिका में कहा है कि-

दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवप्रमथ्य, निर्वाणमप्यनव धारित भीरु निष्ठम ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूर स्त्वच्छासन प्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१८॥

अर्थात्- ''जिनका कर्म रूपी ईंधन जल गया है तथा जो संसार का नाश कर चुके हैं, वे पुनः संसार में जन्म लेते हैं और स्वयं द्वारा स्थापित धर्म-तीर्थ का कोई नाश कर देगा- इस भय से मोक्ष में गए हुए भी वे वापिस लौट आते हैं। इस दृष्टि से तो उनका मोक्ष भी अस्थिर है और स्वयं मुक्त भी हैं और संसारी भी हैं, फिर भी दूसरों को मोक्ष देने में शूरवीर हैं। अहो भगवान्! आपके शासन में भ्रष्ट लोगों पर ऐसा विसंवाद रूप मोह राज्य का चक्कर चल रहा है।''

इस मान्यता का खण्डन करने के हेतु कहा है कि- **'विअट्ठ छउमाणं'** अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ढकने वाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म तथा उस कर्म बन्धन के योग्य अशुद्ध संसारी अवस्था छद्मावस्था कहलाती है। वह छद्म अवस्था उनकी खत्म हो गयी है, अतः उन्हें **'विअट्ठ छउमाणं'** कहते हैं। जिनकी छद्मावस्था चली गई हो उन भगवन्तों को नमस्कार हो। जब तक संसार (छद्मावस्था) नष्ट न हो तब तक मोक्ष नहीं होता और मोक्ष होने के बाद उन्हें पुनर्जन्म लेने का कोई कारण नहीं रहता। कोई कहते हैं -जब अपने द्वारा स्थापित धर्म तीर्थ को कोई नष्ट करता हो, उसकी तौहीन (पराभव) करता हो तब उसको दण्ड देने के लिए वे पुनः जन्म लेते हैं। ऐसा लूला लंगड़ा बचाव करना भी अज्ञान रूप है, क्योंकि मोह ममता के बिना तीर्थ पर आसक्ति तथा उसके पराभव को सहन नहीं करने से द्वेष एवं उसके रक्षण आदि के विकल्प राग-द्वेष-मोह के बिना नहीं हो सकते। अतः ये विकल्प मोह जन्य ही हैं, और ऐसा मोह होने पर भी उनका मोक्ष है अथवा मोक्ष होने पर भी ऐसा मोह है- ऐसा कहना अज्ञान जन्य कोरा मिथ्या प्रलाप मात्र है-असत्य है। इस तरह अरिहंत भगवान अप्रतिहत (श्रेष्ठ) ज्ञान दर्शन धारक हैं और कर्म तथा संसार से मुक्त स्वरूप वाले भगवान स्तुति करने योग्य हैं। इस तरह कहकर स्तोतव्य संपदा के अन्तर्गत साकार 'स्वरूप संपदा' नाम की दो पद की सातवीं सम्पदा कही है।

अब **''भ्रान्ति मात्रमसदविद्या''** अर्थात् 'जगत् भ्रान्ति रूप है, इस कारण असत् है और अविद्या (अज्ञान) रूप है।' इस कथन से सभी भावों को केवल भ्रान्ति रूप मानने वाले अविद्या वादी श्री अरिहंत देव को भी परमार्थ से काल्पनिक असत् स्वरूप

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मानते हैं। उसका खंडन करते हुए कहते हैं कि-"**जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं।**" उसमें प्रथम '**जिणाणं जावयाणं**' अर्थात्- रागादि शत्रुओं को जीतने एवं जिताने वाले अरिहंत भगवान को नमस्कार हो। जीव मात्र में राग द्वेष आदि अनुभव सिद्ध होने से वे भ्रान्ति रूप, असत् या काल्पनिक नहीं हैं। यदि कोई कहे कि राग द्वेष का अनुभव होता है, परन्तु वह भ्रम रूप ही है- वह सर्वथा असत्य है, क्योंकि स्व अनुभव भी कल्पना रूप माना जाय तो जीव को जो सुख दुःख आदि का अनुभव होता है वह भी भ्रम रूप हो जायेगा और इससे मूल सिद्धान्त ही खत्म हो जायेगा। अतः रोग द्वेष आदि असत् हैं और उनको जीतने वाले जिन हैं वे भी सत् हैं, कल्पना रूप नहीं हैं और '**जावयाणं**' अर्थात् रागादि को जिताने वाले भगवान को नमस्कार हो। जिनेश्वर भगवान सद् उपदेश आदि के द्वारा आत्माओं को भी राग द्वेष आदि शत्रुओं पर विजय कराते हैं। प्रत्येक कार्य में काल को कारण मानने वाले अनन्त के शिष्य भगवान को भी वस्तुतः संसार-समुद्र से सम्पूर्ण तिरे हुए नहीं मानते, वे कहते हैं- '**काल एवं कृत्स्न जगदा वर्तयति**' अर्थात् काल ही सारे जगत् को सर्व भावों में परिवर्तित किया करता है। इसका खंडन करते हुए कहते हैं-

'**तिन्नाणं तारयाणं**' अर्थात् 'स्वयं संसार से तरते (पार उतरते) हैं और दूसरे को संसार समुद्र से तारते (पार उतारते) हैं। ऐसे भगवान को नमस्कार हो।' भगवान सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी नौका के द्वारा संसार समुद्र से पार उतर चुके हैं, इसलिए स्वयं 'तीर्ण' है। इस कारण संसार से पार होने के बाद फिर उनका संसार में आना सम्भव नहीं है। यदि वे वापिस संसार में आ जाएँ तो मुक्ति असिद्ध हो जायेगी। अतः मुक्त आत्मा फिर कभी संसारी नहीं बनते। वे जिस तरह स्वयं संसार से पार उतरते हैं वैसे ही दूसरे को भी पार उतारते हैं, इस तरह भगवान तारने वाले भी हैं। जो मीमांसक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष मानते हैं वे तरने वाले तारने वाले तीर्थंकर को बोध (ज्ञान) वान या बोध दाता नहीं मानते। वे कहते हैं- "**अप्रत्यक्ष हिनो वृद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः**" अर्थात्- हमको वस्तु तो प्रत्यक्ष दिखती है परन्तु बुद्धि तो प्रत्यक्ष नहीं दिखती। इसलिए बुद्धि आत्मा से परोक्ष है, यदि वह प्रत्यक्ष होती तो पदार्थ के समान वह भी दीखनी चाहिए। इसका खण्डन करने की दृष्टि से कहते हैं-

'**बुद्धाणं बोहयाणं**' अर्थात् 'स्वयं बोध (ज्ञान) प्राप्त करने वाले और दूसरों को ज्ञान कराने वाले भगवान को नमस्कार हो।' अज्ञान निद्रा में सोये हुए इस जगत् में तीर्थंकर को जो जीव-अजीव आदि तत्वों का ज्ञान होता है वह दूसरों के उपदेश बिना ही स्वसंविदित होता है, इससे वे 'बुद्ध' कहलाते हैं। जिस ज्ञान से उस ज्ञान का ज्ञान न हो उस ज्ञान से पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे दीपक स्वयं अदृष्ट रहे और दूसरे पदार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को बताएं, ऐसा हो नहीं सकता। वस्तुतः दीपक जैसे अपना और दूसरे पदार्थ का– दोंनों का ज्ञान कराता है, वैसे ज्ञान भी स्वयं का और अन्य का यानी स्व और पर का ज्ञान कराता है। जैसे इन्द्रियां देखती नहीं हैं फिर भी पदार्थ का ज्ञान कराती हैं, उसी तरह ज्ञान परोक्ष होने पर भी पदार्थ का ज्ञान करा सकता है, क्योंकि पदार्थ ज्ञान कराने वाली जो इन्द्रियां हैं, वे तो भाव रूप हैं, और भावेन्द्रिय ज्ञान रूप होने से आत्मा को प्रत्यक्ष हैं। प्रमाण विनिश्चय के प्रथम परिच्छेद में कहा है कि "**अप्रत्यक्षोपलम्भस्य, नार्थ दृष्टि प्रसिद्ध यति**" अर्थात्–'जिस ज्ञान की प्रत्यक्ष प्राप्ति नहीं होती उससे पदार्थ का ज्ञान भी नहीं होता है।' इस तरह भगवान में बुद्धत्व भी सिद्ध होता है और बोध कर्तृत्त्व (दूसरे को बोध कराना) भी। अतः भगवान बोधक भी हैं।

जगत कर्त्ता ब्रह्म में लीन हो जाना ही मुक्ति है, ऐसा मानने वाले संत पन के शिष्य तीर्थंकर को भी वास्तव में मुक्त नहीं मानते। वे कहते हैं कि–"**ब्रह्मवद् ब्रह्म संगतानां स्थिति**" अर्थात्–'जैसी ब्रह्म की स्थिति है, वैसी ही ब्रह्म में मिलने वालों की स्थिति हो जाती है।' उनके मत का खण्डन करते हुए कहते हैं–**मुत्ताणं मोयगाणं**–अर्थात् 'कर्मबन्धन से स्वयं मुक्त हुए हैं और दूसरे को मुक्त कराने वाले भगवान को नमस्कार हो।' जिस कर्म का फल चार गति रूप संसार–परिभ्रमण रूप है उस विचित्र कर्म बन्धन से भगवान मुक्त हैं, वे कृत कृत्य हैं, उनका कार्य पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुका है। परन्तु जगत्कर्त्ता के ब्रह्म में लीन हो जाने को पूर्णता मानने से सिद्ध आत्मा की पूर्णता नहीं होती, क्योंकि उनके मतानुसार ब्रह्मा पुनः पुनः जगत् की रचना करते हैं इसलिए आत्मा की पूर्णता का कार्य अधूरा ही है। इतना ही नहीं परन्तु जगत् की रचना में एक को हीन और दूसरे को उत्तम बनाने से ब्रह्मा में राग द्वेष की भी सिद्धि होती है। राग द्वेष के बिना जीवों की सुख दुःख अवस्था कैसे बनाई जा सकती है ? कोई किसी में विलीन हो (मिल) जाय, यह बात भी असंगत है, क्योंकि ऐसा होने पर तो उस आत्मा को अस्तित्व ही खत्म हो गया, उसका सर्वथा अभाव हो गया। इस कारण जगत् कर्त्ता में मिलने की बात अज्ञान मूलक है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि तीर्थंकर परमात्मा की आत्मा स्वयं कर्म से मुक्त होती है, उसी तरह वह दूसरी आत्माओं को प्रेरणा देकर कर्म–बन्धन से मुक्त भी करती है। अतः भगवान स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को मुक्त कराते हैं। इसी तरह भगवान राग द्वेष को जीतने–जिताने वाले, तरने–तराने वाले, ज्ञानवान् एवं ज्ञान दाता मुक्त और मुक्त, कराने वाले होने से अपनी तरह दूसरों को भी सुख फल देने वाले हैं। इस तरह चार पद से अपने समान दूसरे को फल देने वाले 'स्वतुल्य पर फल कर्तृत्व' नामक आठवीं संपदा कही है।

अब बुद्धि के योग से ज्ञान होता है, ऐसा मानने वाले कपिल सांख्य दर्शन कार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भगवान को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं मानते । वे कहते हैं कि "**बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते**" अर्थात् 'बुद्धि से विचारे हुए अर्थ को ही आत्मा जानता है । इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा का स्वयं ज्ञान दर्शन नहीं हो सकता, परन्तु बुद्धि के द्वारा होने वाले अध्यवसाय से ही वह पदार्थ को जान सकता है । उनकी इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं- "**सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं**" अर्थात् 'जो समस्त पदार्थों को जाने वह सर्वज्ञ और जो सर्व को देखे वह सर्व दर्शी है, ऐसे सर्व ज्ञाता, सर्व दृष्टा भगवान को नमस्कार हो ।' आत्मा का स्वभाव स्वयं जानना और देखना है, परन्तु कर्म रूपी आवरण से वह अपने स्वभाव का उपयोग नहीं कर सकता है । जब कर्म आवरण हट जाता है, तब ज्ञान दर्शन रूप स्व स्वभाव से आत्मा सर्व पदार्थों को जानता है और देखता है । योग दृष्टि समुच्चय में कहा है कि-

स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या शुद्ध भावया ।
चन्द्रिका वच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत् ॥१८३॥

अर्थात्- "आत्मा स्वभावतः शुद्ध प्रकृति से चन्द्र समान है, चन्द्र किरणों के समान आत्मा का ज्ञान है । चन्द्र पर जैसे बादल के आवरण आ जाते हैं, वैसे ही जीव पर कर्म रूपी बादल छा जाते हैं ।"

इस तरह ऐसा एकान्त भी नहीं है कि आत्मा को बुद्धि रूपी कारण के बिना बुद्धि का फल रूप विज्ञान नहीं होता । वास्तव में कारण कार्य की सिद्धि तक ही उपयोगी होता है, उसके बाद उसकी आवश्यकता नहीं है । जीव के कर्म रूप आवरण, जब तक टूटते नहीं, तब तक बुद्धि रूप कारण की आवश्यकता रहती है परन्तु सम्पूर्ण आवरण टूटने के बाद आत्मा का ज्ञान स्वभावतः स्वतः प्रगट हो जाता है, बुद्धि उसके लिए कोई उपयोगी नहीं रहती । जिसमें तरने की शक्ति न हो उसके लिए नौका आदि उपयोगी होती है परन्तु जिसमें तरने की शक्ति प्रगट हो गई हो उसे नौका आदि की आवश्यकता नहीं है । इसी तरह भगवान के सहज ज्ञान दर्शन गुण पूर्णतया प्रगट हो चुके हैं फिर उन्हें बुद्धि की आवश्यकता नहीं है, वे उसके बिना सब कुछ जान सकते हैं और देख सकते हैं । अतः बुद्धि रूप कारण के बिना ही वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं ।

दूसरे भी ऐसा कहते हैं कि ज्ञान सभी पदार्थों के विशेष धर्म को बताता है और दर्शन सामान्य धर्म को । इसलिए एक दूसरे का विषय नहीं होने से सर्व जानते हैं और सर्व देखते हैं यह कहना अयुक्त है । कदाचित् ज्ञान और दर्शन दोनों मिलकर सब कुछ जान या देख सकते हैं, ऐसा कहना युक्ति युक्त है । ज्ञान स्वतन्त्रता से न तो जान सकता है और न देख सकता है । यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सामान्य और विशेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन दोनों में भिन्नता नहीं है । जिस पदार्थ में सामान्य धर्म है, उस पदार्थ में विशेष धर्म भी होता है अर्थात् सामान्य और विशेष धर्म जिस पदार्थ का है उसका पदार्थ रूप धर्म का आधार (धर्मी) एक ही है और इससे उसके उसी भाव को जीव ज्ञान स्वभाव से तारतम्य रूप में और दर्शन स्वभाव से सामान्य रूप में जानता है और देखता है । क्योंकि सर्व पदार्थ ज्ञान दर्शन से पृथक् पृथक् होते हुए भी दो नहीं हैं । यहाँ फिर शंका करते हैं कि ज्ञान से समस्त पदार्थ का विशेष तारतम्य रूप धर्म दिखता है, परन्तु उनमें निहित सामान्य धर्म नहीं दिखता और दर्शन से सर्व पदार्थों में सामान्य धर्म दिखता है परन्तु उनमें निहित तारतम्य रूप विशेष धर्म नहीं दिखता । इन दोनों में से प्रत्येक दोनों धर्मों को नहीं जानता अपितु दोनों धर्मों में से केवल एक धर्म को जानता है । किन्तु जो यह मानते हैं कि एक धर्म का ज्ञाता ज्ञान-सर्व ज्ञाता है तथा एक ही धर्म का दृष्टा दर्शन सर्व दर्शी है, यह अनुचित है ।' इसका उत्तर यों देते हैं-यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष रूप धर्म और उसके आधार भूत पदार्थ रूप धर्म एकान्तत: भिन्न ही हैं, ऐसा नहीं है । इस कारण गौण रूप में जिनमें सामान्य सत्ता समान है, ऐसे सभी पदार्थों को आत्मा ज्ञान से विशेष रूप में जानता है और गौण रूप में जिनमें विशेषता है, ऐसे सभी पदार्थों को वही आत्मा दर्शन से सामान्य रूप में देखता है । इस तरह ज्ञान भी सर्व पदार्थ का ज्ञापक है और दर्शन भी सर्व पदार्थ का दर्शक है । इस तरह भगवान सम्पूर्ण ज्ञान दर्शन गुण युक्त है । इस कारण से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, ऐसा कहना युक्त ही है ।

ऐसा होने पर भी आत्मा को सर्वगत (व्यापक) मानने वाले मुक्त होने के बाद भी आत्मा को सर्वगत मानते हैं । वे यह नहीं मानते कि मुक्तात्मा किसी नियत स्थान पर रहता है । उसका कहना है कि- "**मुक्ता सर्वत्र तिष्ठन्ति व्योम वत्तापज्जिंता:** ।" अर्थात् 'मुक्त आत्माएँ आकाश के समान ताप रहित होकर सर्वत्र व्यापक रूप में रहती हैं ।' इस मत का खण्डन करते हेतु कहते हैं-"**सिवमयल मरूअ मणत मक्खय मव्वावाह मपुणरावित्ति सिद्धि गइ नाम धेयं ठाणं संपत्ताणं ।**" इसमें प्रथम शब्द है '**शिव**' अर्थात् सर्व उपद्रव रहित, '**अचल**' यानी अपने स्वभाव से अथवा किसी भी प्रयोग से जो चलायमान न हो ऐसा अचल है । '**अरूय**' अर्थात् रोग रहित है, क्योंकि व्याधि और वेदना के कारण भूत शरीर और मन का वहाँ अभाव ही है । '**अणंत**' अर्थात् सिद्धों को अनंत विषयों का अनन्त काल का ज्ञान होता है । '**अक्खय**' अर्थात्-कभी नाश नहीं होने वाला शाश्वत स्थान है। '**अव्वावह**' अर्थात् कर्म नहीं होने से बाधा- पीड़ा से रहित स्थान है । '**अपुणरावित्ति**' अर्थात्-जिस स्थान से फिर इस संसार में आना अथवा अवतार लेना नहीं होता । '**सिद्ध गई नामधेय**' अर्थात् जिसका सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो गया है, *जो कृत कृत्य हो चुके हैं, जिन जीवों का प्रयोजन समाप्त हो गया है* । उनका वह स्थान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चौदहवें राज लोक के ऊपर अनन्तवें भाग में लोक के अग्र भाग पर स्थित सिद्धिगति नाम से पुकारा जाता है। कर्म से मुक्त आत्माओं का ही उस स्थान पर गमन होने से सिद्धिगति नाम वाला उत्तम **'ठाणं'** अर्थात् शुद्धात्माओं के स्थिर रहने का स्थान, व्यवहार नय से 'सिद्धक्षेत्र' कहा जाता है। जैसा कि कहा है- **'इहबुंदि चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ।'** अर्थात् इस मनुष्य लोक के अन्तिम शरीर का त्याग करके सिद्ध क्षेत्र में जाकर सदा के लिए सिद्ध स्थिर हो जाते हैं।

इसलिए व्यवहार नय से उसे सिद्धि क्षेत्र कहा है। निश्चय नय से तो आत्मा अपने मूल स्वरूप में ही रहता है और अपने स्वरूप में ही आनंद मानता है सर्व भाव आत्म भाव में रहते हैं, कोई द्रव्य अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़ता है। पहले कहे अनुसार शिव, अचल आदि विशेषण मुक्तात्माओं के लिए हैं, फिर भी स्थान और स्थानी के अभेद से उपचार द्वारा वहाँ रहने वाले स्थानों का लक्षण स्थान में भी घटा देते हैं। **'संपताणं'** अर्थात् इस प्रकार के स्थान को प्राप्त करने वाले यानी सम्पूर्ण रूप में कर्म क्षय रूप संसारी-अवस्था से रहित होने से स्वाभाविक आत्म-स्वरूप प्रगट होने से सिद्ध आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है। उस आत्मा को विभु-व्यापक मानें तो ऊपर कहे अनुसार व्यवहार और निश्चय नय के अनुसार उसे सिद्धि-स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि सर्वमत-व्यापक मानने से सदा सर्वत्र एक स्वरूप में एक सरीखी स्थिति में रहते हैं, कोई भी स्थान नहीं बदलते हैं और उससे उनका भाव स्वरूप नष्ट नहीं होता हैं, वे नित्य है। व्यापक आत्मा के लिए ऐसा एकान्तत: घटित नहीं होगा। इसलिए उनकी संसारी अवस्था नष्ट हो गई और वे अपने स्वरूप में रहते हैं, उनसे हेर फेर नहीं होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि जो क्षेत्र से सर्वव्यापक नहीं हैं, वे ही संसारी अवस्था त्याग रूप मोक्ष अथवा सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए ही **"काया प्रमाण आत्मा"** अर्थात् 'आत्मा अपने शरीर-प्रमाण नाप वाला होता है', ऐसा जो कहा है, वह यथार्थ वचन है। ऐसे भगवान को नमस्कार हो। बुद्धिमान आत्माओं को ऐसे ही भगवन्तो को नमस्कार करना चाहिए। इस सूत्र में आदि और अन्त में नमस्कार किया है। इससे मध्य में रहे सभी पदों में नमस्कार का सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

अब भय को जीतने वाले भी अरिहंत भगवान ही हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुए उपसंहार करते हैं कि **"नमो जिणाणं जिय भयाणं"** अर्थात् 'श्री जिनेश्वर भगवान को नमस्कार हो तथा जिन्होंने समस्त भयों को जीत लिया है' यहाँ नमो और जिनानां दोनों का अर्थ पूर्व में कहा है। जिय भयाणं अर्थात् भय के कारण भूत संसार के प्रपंच से निवृत्ति होने से किसी भी प्रकार का भय जिनको नहीं है, सर्व भय को जीत लिया हो ऐसे अरिहंत भगवन्त को नमस्कार हो। इस तरह **'सव्वन्नूण सव्वदरिसीणं'** से लेकर **'नमो जिणाणं**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिअ भयाणं' तक इन तीनों वाक्यों से ज्ञान दर्शनादि मुख्य गुण जो कभी क्षय न होंगें, ऐसे मोक्ष रूप मुख्य फल की प्राप्ति नाम नौवीं संपदा कही। यहाँ शंका करते है कि- क्या एक ही प्रकार के विशेषणों से बार-बार स्तुति करने से पुनरुक्ति दोष नहीं लगता ? इसका उत्तर देते हैं कि स्तुति आदि बार-बार कहने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं होता। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

सज्झाय झाण तवओ-सहेसु उव एस थुइ पयाणे सु।
संत गुण कित्तेणे सु अ, न होंति पुररुत्त दोसा उ ॥१५१८॥

अर्थात्- 'स्वाध्याय, ध्यान, तप, औषध सेवन, उपदेश, स्तुति, दान और विद्यमान गुणों का कीर्तन बार-बार करने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता।' इसी से इस सूत्र में पुनरुक्ति दोष नहीं है। यह 'नमुत्थुणं' नमस्कार कराने वाला होने से, नौ सम्पदाओं वाला होने से इसका दूसरा नाम 'प्रणिपात दण्डक' नाम भी शास्त्रकारों ने बतलाया है।

[उपाख्यान संघाचार भाष्य की टीका में तो पहले और फिर तीन-तीन बार प्रणिपात (नमस्कार) करने को कहा है। वहाँ आचारांग सूत्र के पाठ से चूर्णि में तो कहा है कि- **कहं नामंति सीसं ? सिरपंचमेणं काएणं मित्या चाराङ्ग चूर्णिवचनात्पञ्चांग प्रणामं कुर्वता 'तिक्खुतो मुद्धाणं धरणी तलंसि निवेसेइ'** अर्थात्-'मस्तक किस तरह नमाना चाहिए ?' उत्तर में 'दो हाथ, पैर और मस्तक- इस तरह पंचांगी काया द्वारा नमस्कार करते समय तीन बार मस्तक पृथ्वी तल में लगाना चाहिए।' इस तरह आगम में वचन होने से तीन बार मस्तक से जमीन को स्पर्श करने रूप प्रणिपात करने के बाद जमीन के ऊपर घुटना स्थापन कर दो हाथ से योग मुद्रा करके 'नमोत्थुणं' सूत्र उच्चारण करना चाहिए और वह पूर्ण होने के बाद भी प्रथम के समान नमस्कार करना आदि-] अर्थात् इसका नाम प्रणिपात दण्डक यथार्थ है।

श्री जिनेश्वर भगवान तीर्थ स्थापन करते हैं। उससे पहले जन्मादि कल्याणक के समय में अपने विमान में बैठे हुए शक्र-इन्द्र महाराजा इस 'नमुत्थुणं सूत्र' से तीर्थंकर प्रभु की स्तुति करते हैं, इस कारण से इसे शक्र स्तव-सूत्र भी कहते हैं। इस सूत्र में अधिकतर भाव-अरिहंत को लेकर स्तुति की गई है। फिर भी स्थापना-अरिहंत रूप तीर्थंकर देव की प्रतिमा में भाव अरिहंत का आरोपण करके प्रतिमा के सन्मुख यह सूत्र बोला जाय तो कोई दोष नहीं है। कहा है कि-

तित्तीसं च पयाइं, नवसंपय वण्ण दुसयवासट्ठा।
भाव जिणत्थयरूवो, अहिगारो एस पठमो त्ति ॥१॥

अर्थात्- जिसमें तैंतीस पद, नौ संपदाएँ और दो सौ बासठ अक्षय हैं उस शुक्र स्तव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से भाव जिनेश्वर भगवान की स्तुति रूपी चैत्य वन्दन करना चाहिए। यह पहला अधिकार कहा है।''

चैत्य वंदन भाष्य की ३६वीं गाथा में दो सौ सत्तानवें अक्षर कहे हैं, वहाँ ये दो सौ बासठ के साथ में **'जो अ अइआ'** गाथा के पैंतीस अक्षर मिलाकर गिने हैं। उसके बाद अतीत, अनागत और वर्तमान के द्रव्य जिनेश्वर श्री अरिहंत परमात्मा को वंदन करने के लिए पूर्वाचार्य की रचित यह गाथा बोलनी चाहिए।

जे अ अइया सिद्धा, जे अ भविस्संति णा गए काले।
संपइ अ वट्ट माणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥१॥

अर्थात्- ''जो भूत काल में सिद्ध हो गये हैं, जो भविष्य काल में सिद्ध होने वाले हैं और वर्तमान काल में जो विचरण करते हैं, उन सब अरिहंत भगवन्तों को मन, वचन और काया से वंदन करता हूँ।''

यहाँ प्रश्न करते हैं कि-जो द्रव्य अरिहंत श्रेणिक आदि नरक गतियों में हैं उनको भाव अरिहंतों के समान वंदन कैसे हो सकता है ? उत्तर देते हैं कि-सर्वनाम जिन-स्थापना जिन को और होने वाले अथवा हो गये हों उन सब द्रव्य जिन को भी उनकी भाव जिन की अवस्था को हृदय में धारण कर नमस्कार करने योग्य ही होते हैं। इस तरह से द्रव्य-अरिहंतों का वंदन रूप यह दूसरा अधिकार जानना।

उसके बाद जिन प्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर वंदन करने के लिए पैर से जिन मुद्रा और हाथ से योग मुद्रा करके **'अरिहंत चेइयाणं'** आदि सूत्र बोलना चाहिए। यहाँ उन भाव-अरिहन्तों की प्रतिमा रूप चैत्य को अरिहंत-चैत्य समझना। चैत्य का अर्थ प्रतिमा है। चित्त का अर्थ है-अन्तकरण। चित्त के भाव को अथवा चित्त के कार्य को चैत्य कहते हैं। सिद्ध हैम शब्दानुशासन के अनुसार **''वर्णाद् दृढ़ादि त्वात् ट्यणि''** ।७।१।५६॥ सूत्र से चित्त शब्द में ट्यूण प्रत्यय लगने से चैत्य शब्द बना है और उसका बहुवचन में चैत्यानि (चेइयाइं) होता है। श्री अरिहंत भगवान की प्रतिमाएँ चित्त में उत्तम समाधि भाव उत्पन्न करती हैं इसलिए साधना में साध्य का उपचार करके उसे भी 'चैत्य' कहा गया है। **''अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं''** अर्थात् 'उन अरिहंत के चैत्यों को वंदन करने के लिए काउस्सग्ग करता हूँ। अब काउस्सग्ग शब्द का रहस्यार्थ प्रगट करते हैं-जब तक शरीर से काउस्सग करता हूँ तब तक काया से निश्चेष्ट होकर जिन मुद्रा की आकृति का, वचन से, मौनपूर्वक और मन से चिन्तन करता हूँ। सूत्र के अर्थ का आलंबन-रूप ध्यान करता हूँ और इससे भिन्न क्रियाओं का मैं त्याग करता हूँ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह काउस्सग्ग किसलिए किया जाता है । इसे बताते हैं । **''वंदणं वत्तियाए''** = वंदन प्रत्ययार्थ अर्थात् मन, वचन और काया की प्रशस्त प्रवृत्ति रूप वंदन के लिए । काउस्सग्ग द्वारा वन्दन हो । स्पष्टार्थ हुआ-वंदन करने की भावना से काउस्सग्ग करता हूँ ताकि मुझे वंदन का लाभ मिले । **'पुअण वत्तियाए'** = गंध-वास पुष्प आदि से अर्चना करना पूजा है, उस पूजा के निमित्त से काउस्स्ग्ग करता हूँ । **''सक्कार वत्तियाए''** = अर्थात् श्रेष्ठ वस्त्र, आभूषण आदि से अर्चना करना सत्कार कहलाता है। तथा रूप सत्कार के लिए काउस्सग्ग करता हूँ ।

यहाँ शंका होती है कि पूजा और सत्कार दोनों द्रव्य पूजा रूप होने से मुनि को वह उचित नहीं है और श्रावक तो विविध द्रव्यों से पूजा सत्कार करते ही हैं, तो फिर काउस्सग्ग ध्यान द्वारा पूजन-सत्कार की प्रार्थना करना उसके लिए निष्फल है । तब फिर वह क्यों की जाए ? इसका उत्तर देते हैं-साधु के लिए स्वयं द्रव्य पूजा करना निषिद्ध है, परन्तु दूसरे के द्वारा कराने अथवा अनुमोदन करने का निषेध नहीं है, क्योंकि द्रव्य स्तवना अधिकार में पहले **''अकसिणपवत्त गाणं''** इत्यादि पंचाशक की ४२वीं गाथा दी है । उसका भावार्थ यह है कि 'जो सम्पूर्ण रूप में विरति धर्म नहीं प्राप्त कर सकता उस श्रावक को संसार को घटाने के लिए यह द्रव्य पूजा योग्य है' इत्यादि और **''यस्तृणमयीमपि कुटीम्''** इत्यादि पूर्व गाथा में श्री जिन मंदिर के अधिकार में बताया है कि-''जो जिनेश्वर भगवान की भक्ति के लिए घास की झौंपड़ी रूप जिन मंदिर बनाता है तथा एक पुष्प मात्र से श्री जिन पूजा करता है, इतने से ही इतने पुण्य का बंधन होता है कि उसका माप कौन निकाल सकता है ?'' अर्थात् उसके पुण्यं का माप ही नहीं होता, इतना पुण्य बंधन होता है । तथा कहा है कि-

जिन भवनं जिन बिम्बं, जिन पूजां जिनमंत च यः कुर्यात् ।
तस्य नरामर शिव सुख फलानि कर पल्लवस्थानि ॥१॥

अर्थात्-''जो श्री जिन मंदिर अथवा जिन मूर्ति नयी करवाता है, जिन पूजा करता है और जिन मतानुसार आचरण करता है, उस मनुष्य को देवलोक और मोक्ष का भी सुख हथेली में है ।'' इत्यादि उपदेश देने का अधिकार होने से साधु को द्रव्य स्तव करने का निषेध नहीं है तथा दूसरे के द्वारा श्री जिनेश्वर भगवान की, की हुई पूजा या सत्कार-आंगी आदि के दर्शन करने से व हर्ष से अनुमोदना होती है, इसका भी निषेध नहीं है। श्री पंच वस्तुक में कहा है कि-

सुव्व (च्च) अ वइररि सिण कारवणं पि अ अणुट्ठियमिमस्स ।
वायगगंपेसे तहा आगया देसणा चेव ॥१२३६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "सुना जाता है कि पूज्य महाव्रत धारी ब्रजस्वामी ने द्रव्य स्तव कराने का कार्य स्वयं ने किया है, तथा पूज्य वाचकवर्य श्री उमास्वाति जी महाराज के ग्रन्थों में इस विषय पर देशना-उपदेश भी दिया गया है।"

इस तरह साधु को द्रव्य स्तव करने का तथा अनुमोदन का अधिकार है, परन्तु स्वयं को करने का निषेध है तथा श्रावक के संसार बन्धन तोड़ने हेतु इस प्रकार की द्रव्य पूजा करना उचित है। श्रावक जब स्वयं पूजा-सत्कार करता है तो उसके भावों में वृद्धि होती है। इस कारण अधिक फल प्राप्ति के लिए काउस्सग्ग द्वारा वह पूजा-सत्कार की प्रार्थना करता है। इस दृष्टि से यह निष्फल नहीं है। अतः साधु श्रावक को इसका काउस्सग्ग करने में दोष नहीं है।

तथा **'सम्माण वत्तियाए'** = यहाँ सम्मान के लिए काउस्सग्ग किया जाता है। स्तुति-स्तवन आदि करना सम्मान कहलाता है। अन्य आचार्य मानसिक प्रीति को सम्मान कहते हैं। यह वंदन-पूजन सत्कार- सम्मान किस लिये किया जाता है ? इसे बताते हैं- **'बोहिलाभ वत्तियाए'** = अर्थात् अरिहंत भगवान द्वारा कथित धर्म की प्राप्ति रूप बोधि लाभ के लिए काउस्सग्ग कहता हूँ। यह बोधि लाभ भी किसलिए है ? इसे कहते हैं- **'निरूवसग्ग वत्तिआए'** = अर्थात् जन्मादि उपसर्ग से रहित मोक्ष की प्राप्ति के लिए बोधि का लाभ हो।

यह शंका होती है कि-साधु और श्रावक को तो श्री जिन धर्म की प्राप्ति रूप बोधि लाभ की पहले से प्राप्ति होती है, फिर उसकी प्रार्थना किस लिए ? और बोधि लाभ का फल मोक्ष है, जो मोक्ष उससे होने ही वाला है, फिर उसकी प्रार्थना किसलिए की जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं-बोधि लाभ होने पर भी किसी भयंकर कर्मोदय के कारण प्राप्त हुआ उसका नाश भी हो सकता है, इसलिए उसका नाश न हो इस हेतु से बोधि लाभ की प्रार्थना करना अति लाभदायक है और मोक्ष के मूल रूप बोधि लाभ द्वारा जन्मान्तर में मोक्ष प्राप्ति हो, इसके लिए भी प्रार्थना करना हितकारी है और उसके लिए काउस्सग्ग करना उचित है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी उसके साथ श्रद्धा आदि गुणों की वृद्धि न हो तो इष्ट कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए कहते हैं। **"सद्धाए, मेहाए, धिइए, धारणाए, अणुपेहाए, वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं"** अर्थात् श्रद्धा से, मेघा से, धृति से, धारणा से, अनुप्रेक्षा से इन सब वृद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। क्रमशः विश्लेषण इस प्रकार हैं सद्धाए = श्रद्धा से अर्थात् मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि से आत्मा में प्रगट होने वाली और जल को निर्मल करने वाले जलकान्त मणि के समान चित्त को निर्मल करने वाली श्रद्धा से या श्रद्धा के हेतु से काउस्सग्ग करता हूँ। वह जबरन अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्य कारणों से नहीं करता परन्तु '**मेहाए**' = कुशल बुद्धि से । मेधा का अर्थ है-उत्तम शास्त्र समझने में कुशल बुद्धि, पाप शास्त्र को छोड़ने वाली और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम में प्रगट हुई बुद्धि-दूसरों को समझाने की शक्ति-जो आत्मा का गुण विशेष है उसे मेधा कहते हैं, उस मेधा-बुद्धिपूर्वक काउस्सग्ग करता हूँ, न कि जड़ता से और मर्यादा पूर्वक न कि मर्यादा रहित होकर । '**धिइए**' धृति से अर्थात् मन की समाधि रूप धीरता से काउस्सग्ग करता हूँ, न कि राग-द्वेषादि से व्याकुल बनकर तथा '**धारणाए**'= धारणा पूर्वक अर्थात् श्री अरिहंत भगवान के गुणों को विस्मरण किए बिना धारणा पूर्वक बारम्बार गुण स्मरण पूर्वक करता हूँ, न कि सूने मन से, तथा '**अणुप्पेहाए**' अर्थात् अरिहंत परमात्मा के गुणों का बार-बार चिन्तन करते हुए करता हूँ न कि अनुप्रेक्षा से रहित तथा '**वड्ढ माणीए**' = अर्थात् इस प्रकार की वृद्धि के लिए काउस्सग्ग करता हूँ ।

यहाँ श्रद्धा आदि पाँचों परस्पर सम्बन्धित होकर लाभदायक हैं । श्रद्धा हो तो मेधा होती है, मेधा हो तो धीरता होती है, धीरता से धारणा और धारणा से अनुपेक्षा होती है। इस तरह क्रमशः वृद्धि होती है- इस तरह उनका पूर्वापर सम्बन्ध है । इन श्रद्धा आदि साधनों द्वारा वन्दनादि निमित्त में काउस्सग्ग करता हूँ- इस प्रकार समग्र सूत्र का वाक्यार्थ जानना। तथा '**ठामि काउस्सग्गं**' अर्थात् काउस्सग करता हूँ । यहाँ फिर प्रश्न होता है कि-'सूत्र के प्रारंभ में '**करेमि काउस्सग्गं**' कहा था तो फिर '**ठामि काउस्सग्गं**' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर देते हैं-तुम्हारा कहना सत्य है, परन्तु शब्द शास्त्र के न्याय से जो निकट (आसन्न) भविष्य में करना हो उसके लिए अभी करता हूँ इस प्रकार का वर्तमान काल का प्रयोग किया जाता है । सिद्ध हैम शब्दानुशासन नामक व्याकरण में '**सत्सामीप्ये सद्वद्**' ॥५॥४॥१॥ सूत्र के अनुसार वर्तमान काल समीप में हो तो वह वर्तमान काल का रूप गिना जाता है । इस न्याय से प्रारंभ में 'करेमि काउस्सग्गं' कहा गया है, ऐसा कहकर पहले वहाँ' भंते ! आज्ञा दीजिये, अब कायोत्सर्ग करता हूँ' इस प्रकार काउस्सग्ग करने की आज्ञा मांगी गई है । यह आज्ञा रूप क्रिया काल है और अन्त में जो पाठ है वह 'अभी काउस्सग्ग करता हूँ' इस प्रकार क्रिया की समाप्ति का काल है । इन दोनों में कथंचित् एक रूपता होने से वर्तमान में उसका प्रारंभ बताने के लिए काउस्सग्ग करता हूँ ऐसा कहा है-

यहाँ सवाल उठता है कि-'क्या काउस्सग्ग ध्यान में शरीर का सर्वथा-सर्व प्रकार के व्यापार का त्याग किया जाता है ?' इसका उत्तर देते हैं-ऐसी बात नहीं है, पहले '**अन्नत्थ**' सूत्र में बताये गये श्वासोच्छ्वास, खांसी आदि कारणों (आगारों) के सिवाय अन्य काया के व्यापारों का त्याग करता हूँ, इसे बताने के लिये '**अन्नत्थ उससिएणं**' आदि सूत्र बोलकर उसी तरह काउस्सग्ग करना । इन अरिहंत चेइआणं और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अन्नत्थ उससिएणं इन दोनों को मिलाकर कुल आठ संपदा होती हैं । उसके आदि पद वगैरा इस तरह से हैं–

अरिहं वंदन सद्धा, अन्न सुहुम एव जा ताव ।
अड संपय ते आला, पय वण्णा दुसयती सहिआ ॥१॥

अर्थात्–"(१) अरिहंत, (२) वंदन, (३) अन्नत्थ, (५) सुहुमेहि, (६) एवमाइ, (७) जाव और (८) ताव कायं– ये आठ संपदाओं के आदि पद हैं, इसके तैंतालीस पद हैं और दो सौ तीस वर्ण (स्वर) हैं ।" भाष्य की गाथा में वर्ण २२६ कहे हैं और गिनने से भी अरिहंत चेइआणं के ८६ तथा अन्नत्थ सूत्र के १४० मिलाकर २२६ होते हैं ।

'स्थापनाजिन को वंदन' नाम का चैत्य वंदन का यह तीसरा अधिकार जानना । अरिहंत चेइआण० रूप चैत्य स्तव नाम का यह दूसरा दण्डक सूत्र कहा । यहाँ काउस्सग्ग आठ श्वासोच्छ्वास का ही होता है तथा उसमें नवकार मंत्र ही गिनना चाहिए, ऐसा एकान्त नियम नहीं है, अपितु यह लक्ष्य रूप है । चैत्य वंदन करने वाला अकेला ही हो तो काउस्सग्ग के अन्त में 'नमो अरिहंताणं' कहकर काउस्सग्ग करके जिनेश्वर परमात्मा के सन्मुख चैत्य वंदन किया हो तो उनकी स्तुति बोले । यदि चैत्य वंदन करने वाले बहुत से लोग हों तो एक व्यक्ति काउस्सग्ग पारकर स्तुति बोले । शेष व्यक्ति काउस्सग्ग ध्यान में स्थिर रहें और स्तुति पूर्ण होने पर सभी 'नमो अरिहंताणं' कहकर काउस्सग्ग पूर्ण करें। उसके बाद इस अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करें । चूंकि ये चौबीसों तीर्थंकर एक ही क्षेत्र में और वर्तमान अवसर्पिणी रूपी एक काल में हुए हैं अतः आसन्न (निकट) उपकारी होने से उनकी स्तुति करना परम आवश्यक है । इस दृष्टि से उनकी स्तुति (चतुर्विंशति-स्तव) करने के लिए 'लोगस्स' द्वारा करे ।

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरहंते कित्तइस्सं, चउ वीसंपि केवली ॥१॥

अर्थात्– "चौदह राज लोक में स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थ रूप में प्रकाशित करने वाले, धर्म रूपी तीर्थ का प्रवर्त्तन करने वाले, राग द्वेष के विजेता तथा त्रिलोक पूज्य ऐसे चौबीसों केवली भगवन्तों की मैं स्तुति करता हूँ ।"

विशेष अर्थ– इस गाथा में 'अरिहंत' शब्द विशेष्य है । इसकी व्याख्या नमोत्थुणं सूत्र में कहे गये अर्थ के अनुसार समझ लेना । उन चौबीस अरिहन्तों का **'कित्तइस्सं'**= मैं कीर्तन करूँगा अर्थात् नामोच्चारण पूर्वक स्तुति करूँगा । राजा आदि अवस्थाओं में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वे द्रव्य अरिहंत कहलाते हैं, लेकिन यहाँ पर भाव-अरिहन्त की स्तुति करनी है । इसके लिए विशेषण बताते हैं **'केवली'** अर्थात् जिन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ हो, ऐसे भाव अरिहन्त की स्तुति करूँगा । ऐसा कहकर तीर्थंकरों का ज्ञानातिशय प्रगट किया है । उनकी संख्या बताने के लिए **'चउ वीसंपि'** अर्थात् चौबीस और अपि शब्द के प्रयोग से चौबीस के अलावा और भी जो अरिहंत हैं, उनकी भी स्तुति करूँगा । वे अरिहंत कैसे हैं ? इसे बताते हैं - **'लोगस्स उज्जोयगरे'** अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्तिका रूप लोकालोक को केवल ज्ञान दीपक से प्रकाशित-उद्योतित करने वाले हैं ।

यहाँ शंका होती है कि-'केवल ज्ञानी कहने से ही लोक प्रकाशत्व का समावेश हो जाता है, फिर लोक का उद्योत करने वाले, इस प्रकार अलग से ही कहने की क्या आवश्यकता थी ?' इसका उत्तर देते हैं कि-'तुम्हारा कथन सत्य है फिर भी विज्ञाना द्वैतवादी ऐसा मानते हैं कि-जगत् ज्ञान रूप है । ज्ञान के बिना और कोई भी तत्व सत्य नहीं है । जो दिखता है वह सब भ्रान्ति रूप है । यहाँ इसका खण्डन करते हुए कहते हैं- प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों अलग अलग हैं अर्थात् जगत् प्रकाश्य और ज्ञान प्रकाशक है । इस तरह प्रकाश करने वाला और प्रकाशित की जाने वाली वस्तु दोनों पृथक् हैं । इसे बताने के लिए ही 'लोक को प्रकाशित करने वाला' ऐसा कहा है । और अरिहंत, लोक के उद्योत कर्ता, की स्तुति करने वाले भक्त जन का इससे उपकार भी होता है अर्थात् लोक प्रकाशक होने के कारण वे लोकोपकारी होने से तथा लोक उनके द्वारा उपकृत होने से वे स्तुति करने योग्य हैं । अनुपकारी की स्तुति कोई नहीं करता, इसलिए उनका उपकारित्व बताने के लिए कहते हैं- **'धम्म तित्थयरे'** अर्थात्-धर्म प्रधान तीर्थ को करने (रचने) वाले । इसमें धर्म शब्द की व्याख्या पहले कर चुके हैं । तीर्थ उसे कहते हैं, जिसके द्वारा तरा जाय । अत: धर्म की प्रधानता वाला जो तीर्थ होता है, वह धर्म तीर्थ, धर्ममय या धर्मरूप तीर्थ कहलाता है । जहाँ नदियां इकट्ठी होती हैं वह द्रव्य तीर्थ कहलाता है। उसमें स्नानादि करने से आत्मा निर्मल होती है- ऐसा जो कहते हैं उनका तथा शाक्य आदि द्वारा स्थापित अधर्म प्रधान तीर्थ का निराकरण करने के लिए यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है । अर्थात् धर्म ही संसार समुद्र से तरने के लिए पवित्र तीर्थ है । ऐसे धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले धर्म तीर्थंकर कहलाते हैं ।

ऐसे अरिहंत भगवान देवों, मनुष्यों और असुरों से भरी हुई पर्षदा (धर्मसभा) में बैठकर, अपनी अपनी भाषा में सभी समझ सकें- इस तरह की पैंतीस गुणों से युक्त वाणी से धर्म समझाकर धर्म तीर्थ की स्थापना करते हैं । इस धर्म तीर्थंकर विशेषण से अरिहन्तों का पूजातिशय और वचनातिशय प्रगट किया गया है । अब उनका अपायापगमातिशय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बताते हैं-**'जिणे'** अर्थात् राग द्वेष आदि आभ्यंतर शत्रुओं को जीतने वाले केवल ज्ञानी चौबीस अरिहंतों की मैं स्तुति करता हूँ। उस स्तुति का रूप प्रगट करते हुए कहते हैं-

उसभमंजिअं च वदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वदे ॥२॥

सुविहिं च पुप्फदंत, सीअल सिज्जंस वासु पुज्जं च।
विमल मणंतं च जिणं, धम्मं संति च वंदामि ॥३॥

कुंथुं अरं च मल्लि वंदे मुणि सुव्वयं नमि जिणंच।
वंदामि रिट्ठ नेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

अर्थात्- श्री ऋषभदेव और अजितनाथ जिन को वंदन करता हूँ तथा संभवनाथ, अभिनंदन स्वामी, पद्म प्रभ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्र प्रभ स्वामी को मैं वंदन करता हूँ ॥२॥ सुविधिनाथ अथवा पुष्पदंत, शीतल नाथ, श्रेयांस नाथ, वासु पूज्य विमल नाथ, अनंत नाथ, धर्म नाथ और शान्ति नाथ को मैं वंदन करता हूँ ॥३॥ कुंथु नाथ, अर नाथ, मल्लि नाथ, मुनि सुव्रत स्वामी और नमि जिनेश्वर को मैं वंदन करता हूँ और अरिष्ट नेमि, पार्श्व नाथ और वर्धमान (महावीर) स्वामी को मैं वंदना करता हूँ ॥४॥

विशेष अर्थ- उपर्युक्त तीनों गाथाओं का अर्थ एक साथ कहकर अब उसी अर्थ को विभागपूर्वक यानी सामान्य और विशेष रूप से कहते हैं, जो तीर्थंकर भगवान् में घटित हो सकता है। उसमें (१) **उसभ** = ऋषभ का सामान्य अर्थ है- जो परमपद-मोक्ष को प्राप्त करता है, वह ऋषभ है। ऋषभ शब्द का प्राकृत भाषा में **'उद्ऋत्वादौ'** ॥८॥१॥१३१॥ सूत्र से 'उसहो' रूप बनता है। ऋषभ का दूसरा रूप वृषभ भी मिलता है। उसका अर्थ है- वर्ष तीति वृषभः अर्थात जो दुःख रूपी अग्नि से जलते हुए जगत् को शान्त करने हेतु उपदेश रूपी वर्षा करता है, वह वृषभ कहलाता है। **वृषभे वा वा** ॥८॥१॥ १३३॥ सिद्ध हैम सूत्र से वृ को 'उ' करने से उसहो रूप होता है, उसी का यह उसभ रूप है। विशेष अर्थ यों है-भगवान की जंघा पर वृषभ का लांछन (चिह्न) होने से और माता मरुदेवी ने स्वप्न में सर्व प्रथम वृषभ देखा था, इसलिए भगवान का नाम वृषभ अथवा ऋषभ रखा गया था।

(२) अजित नाथ- परीषह और उपसर्ग आदि से नहीं जीते जा सके, इससे वे अजित थे- यह सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थ इस प्रकार है-जब भगवान गर्भ में थे तब उनकी माता जी राजा के साथ चौपड़ (पासा) खेल रही थीं। गर्भ के प्रभाव से राजा के नहीं जीतने के कारण भगवान का नाम अजित रखा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) संभव नाथ - जिनमें चौंतीस अतिशय रूपी गुण विशेष प्रकार से संभव हों वह संभव है अथवा जिनकी स्तुति करने से 'श' अर्थात् सुख प्राप्त होता है । इसमें **'शषोः सः'** ।८।।१।।२६०।। सूत्र से प्राकृत नियम के अनुसार शंभव के स्थान पर संभव रूप होता है । यह सामान्य अर्थ है और विशेष अर्थ यह है-भगवान जब गर्भ में आए थे तब देश में अधिक अन्न उत्पन्न होना संभव हुआ था, इसलिए उनका नाम संभव नाथ रखा ।

(४) अभिनन्दन स्वामी- देवेन्द्रों ने जिनका अभिनंदन किया है- यह सामान्य अर्थ है, और प्रभु जब माता के गर्भ में आए थे तब इन्द्र आदि ने आकर बारम्बार माता को अभिनन्दन दिया था, इस कारण से उनका नाम अभिनंदन रखा- यह विशेष अर्थ जानना ।

(५) सुमति नाथ- सुमति का अर्थ- जिसकी सुन्दर बुद्धि हो वह सुमति, यह सामान्य अर्थ है और भगवान जब माता के गर्भ में थे तब माता को सुन्दर निश्चय करने वाली मति-बुद्धि प्रगट हुई थी इसलिए उनका नाम सुमति नाथ रखा- यह विशेष अर्थ समझना।

(६) पद्म प्रभ- निर्मलता गुण की अपेक्षा से पद्म के समान कान्ति (प्रभा) वाले होने से वे पद्मप्रभ भगवान कहलाये- यह सामान्य अर्थ है और जब भगवान गर्भ में थे तब माता को पद्म (कमल) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था, जिसे देवता ने पूर्ण किया था । इसलिए 'पद्म' और भगवन्त के शरीर की कान्ति पद्म (कमल) के समान लाल होने से पद्म प्रभ नाम रखा- यह विशेष अर्थ समझना ।

(७) सुपार्श्व नाथ- शरीर का पार्श्व भाग उसका सुन्दर था इसलिए उसे सुपार्श्व नाथ कहते हैं- यह सामान्य अर्थ है और वे गर्भ में थे तब माता के भी पास में सुन्दर शरीर था इसलिए उनका नाम सुपार्श्व रखा । दूसरे मत के अनुसार प्रभु के पिता के पार्श्व में कोढ़ रोग था, तब गर्भवती भगवंत माता की माता के हाथ के स्पर्श से- गर्भ के प्रभाव से- पति का पार्श्व सुन्दर हो गया इससे 'सुपार्श्व' नाम रखा- यह विशेष अर्थ जानना ।

(८) चन्द्र प्रभ -चन्द्र की किरणों के समान शान्त लेश्या वाली जिसकी प्रभा है वह चन्द्र प्रभ है- यह सामान्य अर्थ है । गर्भ के समय माता को चन्द्रपान करने का दोहद उत्पन्न हुआ था और भगवान के शरीर की प्रभा चन्द्र समान उज्जवल थी, इसलिए भगवान का नाम 'चन्द्र प्रभ' रखा था- यह विशेष अर्थ समझना ।

(९) सुविधि नाथ- सु अर्थात् सुन्दर और विधि अर्थात् सब विषयों में कुशलता वाले सुविधिनाथ भगवान थे । यह सामान्य अर्थ है, तथा भगवान जब गर्भ में आए तब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से माता को सभी विषयों में कुशलता प्राप्त हुई थी अथवा माता ने गर्भ के प्रभाव से सुन्दर विधि पूर्वक धर्म-आराधना की, इससे प्रभु का नाम सुविधिनाथ रखा तथा भगवान को पुष्प की कलियों के समान सुन्दर दांत होने से दूसरा नाम 'पुष्पदंत' भी था- यह विशेष अर्थ समझना ।

(१०) शीतल नाथ- सभी जीवों के संताप को हरण करके शीतलता प्रदान करने वाले होने से शीतल नाथ भगवान कहलाये- यह सामान्य अर्थ है और भगवान गर्भ में थे तब पिता को पहले से जो ऐसा पित्तदाह हो गया था जो किसी भी उपाय से शान्त न होता था, परन्तु गर्भ के प्रभाव से माता के हस्त-स्पर्श से वह शांत हो गया, इसलिए उनका नाम शीतल नाथ रखा गया था- यह विशेष अर्थ है ।

(११) श्रेयांस नाथ- जगत् के सर्व जीवों से अतिप्रशंसनीय के लिए श्रेयान् अथवा श्रेयस अर्थात् कल्याणकारी 'अंस' अर्थात् कंधा जिसको हो वह श्रेयांस है- यह सामान्य अर्थ है और जब भगवान गर्भ में थे तब, किसी ने पहले जिसका उपयोग नहीं किया था उस देवाधिष्ठित शय्या का माता को उपभोग करने से श्रेय प्राप्त हुआ था, इसलिए पुत्र का नाम श्रयांस रखा गया । यह विशेष अर्थ समझना ।

(१२) वासु पूज्य- धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, प्रत्युष और प्रभास- ऐसे आठ वसु जाति के देव हैं- उनके पूज्य होने से वसु पूज्य हैं और सिद्ध हैम व्याकरण के **प्रज्ञादिभ्योऽण्** ॥७॥२॥१६५॥ सूत्र के नियम अनुसार 'वासु पूज्य' यह सामान्य अर्थ है । तथा वे गर्भ में थे तब से वसु अर्थात् सुवर्ण द्वारा इन्द्र ने राज कुल की पूजा की थी, इससे वासु पूज्य अथवा व्याकरण के नियमानुसार **तस्येद** ॥६॥३॥१६०॥ सिद्ध हैम सूत्र के अण प्रत्यय से वसु पूज्य राजा के पुत्र होने से वासु पूज्य कहलाए- यह विशेषार्थ समझना ।

(१३) विमल नाथ- जिसका मल चला गया है उसे विमल कहते हैं अथवा ज्ञान दर्शन आदि गुणों से जो निर्मल है वह विमल होता है । यह सामान्य अर्थ है, तथा प्रभु गर्भ में आए तब उनके प्रभाव से माता की मति और शरीर निर्मल होने से भगवान का नाम विमल नाथ रखा गया । सुना जाता है कि किसी एक मंदिर में कोई एक पति पत्नी सोये थे, तब एक व्यंतरी उस पुरुष का सुन्दर रूप देखकर मोहित होकर अपना रूप उस स्त्री के समान बनाकर पास में सो गई । सुबह वे दोनों पति के लिए झगड़ा करने लगीं । दोनों का एक समान रूप होने से पति वास्तविक पत्नी को नहीं पहचान सका । आखिर में वे राजसभा में न्याय के लिए गये, परन्तु वहाँ कोई भी न्याय नहीं दे सका, तब भगवन्त की माता ने न्याय दिया कि जो दूर खड़े होकर अपने हाथ से पति को स्पर्श

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करेगी वह असली स्त्री होगी। इस आज्ञा से व्यंतरी ने दैवी शक्ति से अपना हाथ लम्बा करके उस पुरुष को स्पर्श किया– इससे उसे व्यंतरी समझकर निकाल दिया और वास्तविक स्त्री को पति सौंप दिया। गर्भ के प्रभाव से ऐसी विमल बुद्धि प्रगट हुई थी, इसलिए प्रभु का नाम 'विमल' रखा गया।

(१४) अनंत नाथ– अनंत कर्मों पर विजय पाने, अथवा अनंत ज्ञान दर्शन आदि गुणों से विजय वान होने से वे अनंत जित् हैं– यह सामान्य अर्थ है और जब भगवान गर्भ में थे तब माता ने अनंत रत्नों की माला देखी थी अथवा आकाश में अन्त रहित महा चक्र देखा था, जो तीनों जगत् में विजयी बनाता है, इस कारण अनन्त जित् का यह विशेष अर्थ है। जैसे भीमसेन को भीम कहा जाता है वैसे ही अनन्त जित् को 'अनन्त' संक्षिप्त नाम से कहा जाने लगा।

(१५) धर्म नाथ– दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को जो धारण (बचावे) करता हो, वह धर्म है– यह सामान्य अर्थ है और भगवान जब माता के गर्भ में आए थे तब से माता दानादि धर्म में तत्पर बनी थी इसलिए उनका नाम धर्म नाथ रखा गया– यह विशेष अर्थ जानना।

(१६) शान्ति नाथ– भगवान को शान्ति का योग होने से अथवा स्वयं शान्ति–स्वरूप होने से और दूसरे के लिए शान्ति दाता होने से शान्ति नाथ नाम रखा गया – यह सामान्य अर्थ है और प्रभु जब गर्भ में थे तब उनके प्रभाव से देश में उत्पन्न हुई महामारी रोग आदि उपद्रवों की शान्ति होने से पुत्र का नाम 'शान्ति नाथ' रखा गया।

(१७) कुंथु नाथ – कु अर्थात् पृथ्वी, उसमें स्थित रहने वाले होने से निर्युक्ति (पदच्छेद) से कुंथु का सामान्य अर्थ है। भगवान जब गर्भ में आए थे तब उनके प्रभाव से माता ने रत्नों के कुन्थु यानी ढेर देखे थे, इससे उनका नाम कुंथु नाथ रखा। यह विशेष अर्थ है।

(१८) अर नाथ– सर्वोतम, महासात्विक, कुल की अभिवृद्धि–समृद्धि के लिए उत्पन्न हुए थे। अत: उनका नाम वृद्ध पुरुषों ने 'अर' रखा है, यह सामान्य अर्थ है और गर्भ के प्रभाव से माता ने स्वप्न में रत्नों का अर अर्थात् आरा देखा था इससे उनका नाम 'अर नाथ' रखा यह विशेष अर्थ जानना।

(१९) मल्लि नाथ– परिग्रह आदि मल्लों को जीतने वाले, निरुक्त के अनुसार मल्लि का यह सामान्य अर्थ किया गया है। और भगवान जब गर्भ में थे तब माता को छह ऋतुओं के फूलों की सुगन्धमय मालाओं की शय्या में सोने का दोहद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्पन्न हुआ था, जिसे देवता ने पूर्ण किया था। इससे उनका नाम मल्लि नाथ रखा। यह विशेष अर्थ है।

(२०) मुनि सुव्रत स्वामी- जो जगत् की त्रिकाल अवस्था को जाने अथवा उसका मनन करे उसे मुनि कहते हैं। '**मनेरुदे तो चास्य वा**' सिद्ध हैम उणादि सूत्रं ॥६॥१॥२॥ व्याकरण के इस सूत्रानुसार मन धातु को इ प्रत्यय लगकर उपान्त्य अ को उ आदेश होने से 'मुनि' शब्द बना है तथा सुन्दर व्रत वाले होने से सुव्रत हुआ। इस तरह मुनि सुव्रत शब्द का सामान्य अर्थ हुआ। तथा भगवान जब गर्भ में आए, तब उनके प्रभाव से माता को मुनि के समान सुव्रत पालन करने की इच्छा हुई थी, इससे उनका नाम मुनि-सुव्रत रखा। यह विशेष अर्थ जानना।

(२१) नमि नाथ- परिग्रह और उपसर्ग को नमाने (हराने) वाले होने से नामि कहलाये। '**नमेस्तु वा**' उणादि ॥६॥१॥३॥ सूत्र के द्वारा विकल्प से नम् धातु में उत्पान्त्य में इंकार करने से नमि रूप बनता है। जब भगवान गर्भ में थे तब उनके प्रभाव से नगर पर चढ़कर आया हुआ शत्रु राजा भी नम (झुक) गया, इस कारण उनका नाम '**नमि नाथ**' रखा। यह विशेष अर्थ है।

(२२) नेमि नाथ- चक्र की वर्तुलाकर नेमि के समान धर्म चक्र को चलाने वाले होने से 'नेमि नाथ' कहलाये- यह सामान्य अर्थ है। और गर्भ के प्रभाव से माता ने रिष्ट रत्नों का महानेमि (गोलाकार चक्र) स्वप्न में देखा था इससे रिष्ट नेमि तथा पूर्व दिशा के लिए जैसे अपश्चिम शब्द का प्रयोग किया जाता है वैसे ही वहाँ निषेध वाचक 'अ' लगाने से अरिष्ट नेमि नाम रखा। 'रिष्ट' शब्द अमंगल वाचक होने से पूर्व में अकार रखने से 'अरिष्ट' ऐसा मंगल नाम किया है। यह विशेष अर्थ जानना।

(२३) पार्श्व नाथ- जो सभी भावों को देखता है, वह पार्श्व है- यह निरुक्त से सामान्य अर्थ है। तथा प्रभु जब गर्भ में थे, तब उनके प्रभाव से माता ने अंधकार में सर्प देखा था- यह गर्भ का प्रभाव है, ऐसा जानकर पर्श्यात अर्थात् दिखाई दे वह पार्श्व है तथा पार्श्व नाम के वैयावृत्य (सेवा) करने वाले यक्ष का नाम होने से पार्श्व नाथ पड़ा। भीमसेन को भीम कहा जाता है वैसे ही पार्श्व नाथ को पार्श्व भी कहा जाता है। यह विशेषार्थ जानना।

(२४) वर्धमान स्वामि - जब से उत्पन्न हुए हैं तब से ज्ञान आदि गुणों में वृद्धि की- वह 'वर्धमान' यह सामान्य अर्थ और भगवान जब गर्भ आए थे, तब से उनके ज्ञाति कुल में धन, धान्य आदि की समृद्धि में वृद्धि होने लगी, इससे माता पिता ने अपने पुत्र का नाम वर्धमान रखा। आगे चल कर इनका अतुल पराक्रम देखकर देवों ने 'महावीर' नाम रखा। यह विशेष अर्थ समझना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशेष नामों के अर्थ वाली श्री बाहु स्वामी-रचित बारह गाथाएं प्राचीन ग्रन्थों में इस तरह अंकित हैं-

अरूसूसह लंछणमुसभं सुमिणं मि तेण उसह जिणो । अक्खे सु जेण अजिया, जणणी अजि ओ जिणो तम्हा ॥१॥ अभिसंभूआ सस्सति, संभवो तेण वुच्चई भयवं । अभिनंदई अभिक्खं सक्को अभिनंदणो तेण ॥२॥ जणणी सव्वत्थविणिच्छ एसु सुमइ त्ति तेण सुमइ जिणो । पउम सयणं सि जणणीइ डोहलो तेण पउमाभो ॥३॥ गत्भगए जं जणणी जाय सुपासा, त ओ सुपास जिणो । जणणीइ चंदपिअणमि, डोहलो तेण चंदामो ॥४॥ सव्व विहीसु अ कुसला, गब्भ गए जेण होइ सुविहि जिणे । पिउणो दाहो वसमो, गब्भगए सीयलो तेणं ॥५॥ महरिह सिज्जारुहणम्मि डोहलो तेण होइ सेज्जंसो । पूएह वासवो जं, अभिक्खणं तेण वसु पुज्जो ॥६॥ विमल तणू बुद्धि जणणी, गब्भ गए तेण होइ विमल जिणो । रमण विचित्तणंतं, दामं सुमिणे तओऽणंतो ॥७॥ गब्भगइ जं जणणी, जाय सुधम्म त्ति होइ धम्म जिणो । जाओ असिवो वसमी, गब्भ गए तेण संति जिणो ॥८॥ थूहं रयण विचित्तं, कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुं जिणो । सुमिणे अरं महरिहं, पासइ जणणी अरो तम्हा ॥९॥ वरसुरा हिमल्ल सुअंणमि डोहलो तेण होइ मल्लि जिणो । जाया जणणी जं सुव्वइ त्ति, मुणि सुव्वओ तम्हा ॥१०॥ पणया पच्चंत निवा, दंसिया मित्ते जिणंमि तेण नमी । रिट्ठ रयणं च नेमिं, उप्पय माणं तओ नेमी ॥११॥ सप्पं सयणे जणणी, जं पासइ तम सि तेण पास जिणो वद्धइ नामकुलंति अ, तेण जिणो वद्धमाणो त्ति ॥१२॥

ये गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति में १०९३ से ११०४ तक आयी हैं। इनका भावार्थ ऊपर कहे हुए अर्थ में आ जाने से यहाँ पर दुबारा नहीं लिखते, स्वयं ही समझ लें। इस तरह चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के नामपूर्वक कीर्तन (स्तवन) करके अब चित्त की शुद्धि के लिए प्रणिधान (प्रार्थना) करते हैं-

एवं मए अभित्थुआ, विहु अरयमला पहीण जर मरणा।
चउ वीसं पि जिण वरा, तित्थयरा मे पसीयं तु ॥५॥

अर्थात्- "इस प्रकार मेरे द्वारा नामपूर्वक स्तुति किए गये कर्म रूपी मल से रहित और जरा मरण से मुक्त चौबीस जिनेश्वर श्री तीर्थंकर परमात्मा मुझ पर प्रसन्न हों।"

विशेष अर्थ- 'एवं' = इस तरह **'मया'** = मेरे द्वारा, **'अभित्थुआ'** = नामोल्लेख पूर्वक मैंने जिनकी स्तुति की, वे जिनेश्वर तीर्थंकर परमात्मा मुझ पर, प्रसन्न हों। इस गाथा में प्रयुक्त शब्दों के विशेष वर्णन करने के लिए कहते हैं- **'विहुअरयमला'** = रज और मल रूपी कर्मों को जिन्होंने दूर किया है। बंधते हुए कर्मों को रज और पहले बंधन हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्मों को मल कहते हैं । अथवा बद्ध कर्मों को रज और निकाचित कर्मों को मल कहते हैं अथवा गमनागमन आदि क्रिया से वीतराग दशा में बंधन होते कर्मों को रज और सराग अवस्था में कषाय के उदय से बंधन हुए कर्मों को मल समझना चाहिए। उक्त रज और मल रूप कर्मों को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, और इससे ही **'पहीण-जर मरणा'** अर्थात् कर्म रूप कारण के अभाव में जिनके जरा-मरण आदि दुःख नष्ट हो गये हैं वे **'चउ वीसं** पि' अर्थात् ऋषभ आदि चौबीस और अपि शब्द से अन्य भी **'जिणवरा'** अर्थात् जिनेश्वर भगवान, यानी श्रुत केवली आदि जिनो में उत्कृष्ट केवली ज्ञानी होने से मुख्य और **'तित्थयरा'** अर्थात् तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर परमात्मा **'मे पसीयं तु'** अर्थात् मुझ पर प्रसन्न हों । यद्यपि तीर्थंकर प्रभु राग द्वेष से रहित हैं, इसलिए उनकी स्तुति करने से वे तुष्ट अथवा निन्दा करने से रुष्ट नहीं होते । फिर भी स्तुति करने वाले को स्तुति फल और निन्दा करने वाले को निन्दा फल अवश्य ही मिलता है । जैसे चिन्तामणि रत्न, मन्त्र आदि में राग द्वेष नहीं होने पर भी उनकी आराधना करने से लाभ और विराधना करने से हानि रूप फल अवश्य मिलता है ऐसा ही श्री वीतराग परमात्मा के लिए समझ लेना । कलि काल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वर जी ने भी वीतराग-स्तोत्र में कहा है कि-

अप्रसन्नात् कथं प्राप्यं, फलमेतदसंगतम् ।
चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः ॥१६-३॥

अर्थात्- "जो प्रसन्न नहीं होते उनकी ओर से फल किस तरह से मिल सकता है ? यह कल्पना करना उचित नहीं है । क्या जड़ चिन्तामणि आदि फल नहीं देते ?" तो यहाँ फिर शंका की जाती है कि-'यदि स्तुति करने से तीर्थंकर प्रसन्न नहीं होते तो फिर 'प्रसन्न हों' ऐसी प्रार्थना करना व्यर्थ है, ऐसा व्यर्थ प्रलाप क्यों किया जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं-तुम्हारा यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि भक्तिवश ऐसा कहने में दोष नहीं है। कहा है कि-

क्षीणक्लेशा एते न हि प्रसीदन्ति न स्तवोऽपि वृथा ।
तस्वभाव विशुद्धेः, प्रयोजनं कम्मंविगम इति ॥१॥

अर्थात्- "राग, द्वेष, क्लेश दूर होने से वे वीतराग परमात्मा चाहे प्रसन्न न होते हों फिर भी उनकी स्तुति करना निष्फल नहीं है क्योंकि स्तुति करने से भावों की शुद्धि तो होती ही है और इससे कर्मों की निर्जरा भी होती है । अतः स्तुति का अपना प्रयोजन भी सफल होता है ।" और प्रार्थना करते हैं कि-

कित्तिय वंदिय महिआ जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरूग्ग बोहिलाभं, समाहिवर मुत्तमं दिं तु ॥६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''जो लोक में सर्वोत्तम सिद्ध हो गये हैं, उन तीर्थंकर भगवन्त की मैं मन, वचन और काया से स्तुति करता हूँ। कीर्तन, वंदन-स्तवन से वे मुझे आरोग्य, बोधि लाभ और उत्तम समाधि प्रदान करें।''

विशेष अर्थ-'कित्तिय' प्रत्येक का नामपूर्वक कीर्तन करने से **'वंदिया'** अर्थात्- तीनों योग-मन, वचन और काया से सम्यग् प्रकार से स्तुति करने से **'महिया'** अर्थात् पुष्पादि से पूजा करने से, किसी स्थान पर 'मइया' ऐसा पाठान्तर है, उसका संस्कृत में रूप होता है **मयका-मया** अर्थात् मेरे द्वारा कीर्तित, वन्दित और स्तुति किये हुए- ऐसा कौन ? उसे कहते हैं - **'जे ए लोगस्स उत्तमा'** अर्थात् जो कर्म मल नष्ट हो जाने से सर्व जीव लोक में उत्तम है और **'सिद्धा'** अर्थात् सिद्ध हो चुके हैं, अर्थात् सर्व प्रयोजन कृतकृत्य हो गये हैं वे **'आरूग्ग बोहिलाभं'** अर्थात् आरोग्य स्वरूप मोक्ष और इसका कारण भूत बोधि लाभ-अरिहंत प्रणीत सम्यग् धर्म प्राप्ति मुझे दें। ऐसा धर्म किसी भी सांसारिक पोदगलित सुख की अभिलाषा के बिना केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। वही वास्तव में धर्म माना जाता है। अत: मोक्ष के लिए बोधि लाभ की प्रार्थना करना और उसके लिए **'समाहिवर'** अर्थात् परम स्वस्थ चित्त रूप भाव समाधि अर्थात् आत्मा का सम भाव **'उत्तम'** वह भी अनेक भेद वाले तारतम्य भाव से रहित सर्वोत्कृष्ट समाधि **'दित्तु'** अर्थात् प्रदान करे। वीतराग प्रभु के प्रसन्न न होने पर भी भक्ति से प्रेरित होकर ऐसी प्रार्थना करना दोष नहीं है, युक्ति युक्त है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

भासा असच्च मोसा, नवरं भत्तीइ भासिआ एसा ।
न हु खीणपेज्ज दोसा, दिंति समहिं च बोहिं च ॥११०८॥

अर्थात्- ''क्षीण राग द्वेष वाले श्री वीतराग समाधि अथवा बोधि बीज नहीं देते, फिर भी भक्ति से इस तरह प्रार्थना करना, वह सत्य-अमृषा रूप व्यवहार भाषा है।'' जगत् में सभी व्यवहारों में व्यवहार भाषा बोली जाती है। इसलिए यह प्रार्थना भक्ति रूप होने से लाभदायक है। तथा-

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागर वर गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥७॥

अर्थात् - ''चन्द्रों से भी अधिक निर्मल, सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले, स्वयम्भू रमण समुद्र से भी अधिक गम्भीर ऐसे सिद्ध परमात्मा मुझे सिद्धि पद प्रदान करें॥''

विशेष अर्थ-'चंदेसु' में प्राकृत भाषा के सिद्ध हैम व्याकरण के **'पंचम्यास्तृतीया च'** ।८॥३॥१३६॥ इस सूत्र में पंचमी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति हुई है। इसलिए चंदेसु के स्थान पर संस्कृत में चन्द्रेभ्य: जानना। और **'निर्मलयरा'** = अति निर्मल अर्थात् सारे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्म मल नाश हो जाने से अनेक चन्द्रों से भी अति निर्मल । कहीं पर **'चंदेहि'** ऐसा पाठान्तर भी मिलता है । तथा- **'आइच्चेसु अहियं पयासयरा'** = अर्थात् अनेक सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं । सूर्य सीमित क्षेत्रों में प्रकाश करते हैं । जबकि अरिहंत केवल ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से लोकालोक के सभी पदार्थों को प्रकाशित करते हैं । आवश्यक निर्युक्ति में कहा भी है-

चंदाइच्चगहाणं, पहा पया सेइ परिमिअं खित्तं ।
केवलिय नाण लंभो, लोआलोअं पया सेइ ॥११०२॥

अर्थात्- ''चन्द्रमा सूर्य और ग्रहों की प्रभा परिमित क्षेत्र में प्रकाश करती है, किन्तु केवल ज्ञान की प्रभा तो लोक अलोक को सर्वथा प्रकाशित करती है ।''

तथा **'सागर वर गंमीरा'** अर्थात् परीषहों, उपसर्गों आदि से जरा भी क्षुब्ध न होने वाले, स्वयं भू रमण समुद्र के समान गम्भीर तथा **सिद्धा** अर्थात् कर्म रहित होने से कृत कृत्य सिद्धावस्था प्राप्त किये हुए सिद्ध भगवन्त **'सिद्धि मम दिसंतु'** अर्थात् परम पद-मोक्ष मुझे दें । इसे लोगस्स के नाम 'स्तव दंडक' तथा 'चउवीसत्थय' सूत्त अथवा 'चतुर्विंशति-जिन स्तव' नाम प्रसिद्ध है । अब सात गाथा के पद आदि कहते हैं-

अडवीस पय पमाणा, इह संपय वण्णं दुसय छप्पन्ना।
नाम जिणत्थय रूवो, चउत्थओ एस अहिगारो ॥१॥

अर्थात्- ''इसमें एक एक पद की संपदा होने से अट्ठाईस पद और उतनी ही (अट्ठाईस) संपदाएं हैं और दो सौ छप्पन अक्षर हैं । इसे जिन नाम की स्तवना रूप चौथा अधिकार कहा है । इस तरह चौथा अधिकार और तीसरा दंडक सूत्र यहाँ पूर्ण हुआ।

इस तरह चौबीस जिनेश्वर भगवन्तों की स्तुति करके सारे जगत् में विद्यमान तीर्थंकर प्रतिमाओं को वंदन आदि करने के लिए, काउस्सग्ग करने के हेतु **'सव्व लोए अरिहंत चेइ आणं करेमि काउस्सग्गं'** से लेकर **'अप्पाणं वोसिरामि'** तक का पाठ बोले। इसमें अरिहंत चेइआणं और अन्नत्थ सूत्र का अर्थ पहले लिखा गया है । केवल **'सव्व लोए'** शब्द का नहीं कहा गया था । सव्व लोए का अर्थ है - ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक रूप सर्व लोक के जिन बिम्बों के वन्दनादि करने को काउस्सग्ग करता हूँ- ऐसा अर्थ समझना । उसमें से अधोलोक में चमरेन्द्र आदि भुवनपति देवों के भुवन में, तिर्च्छालोक में द्वीप पर्वत तथा ज्योतिषी चन्द्र सूर्यों के विमान आदि में, और ऊर्ध्व लोक में सौधर्म देव लोक आदि के विमानों में जहाँ शाश्वत जिन प्रतिमाएँ हैं ।

प्रत्येक मन्दिर में मूल प्रतिमा समाधि का मुख्य कारण होने से सर्व प्रथम मूल नायक की स्तुति करके तत्पश्चात् सभी अरिहन्तों के गुण से एक सरीखे होने से समग्र लोक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के समस्त तीर्थंकरों की सर्व प्रतिमाओं को ग्रहण करके काउस्सग करना । काउस्सग्ग आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण का करना । उसके बाद **'नमो अरिहंताणं'** कहकर सर्व तीर्थंकरों की साधारण स्तुति बोलना चाहिए । क्योंकि काउस्सग्ग किसी और का किया जाय और स्तुति किसी अन्य की बोली जाय तो अति प्रसंग दोष लगता है । जो उचित नहीं माना जाता है । इसलिए सभी तीर्थंकर भगवन्तों की साधारण स्तुति कहनी चाहिए। यहाँ सर्वलोक के स्थापना जिन की स्तवना रूप पाँचवां अधिकार पूर्ण हुआ ।

अब जिससे उन अरिहन्तों और उनके द्वारा कहे हुए भावों को स्पष्ट रूप से जान सकें, ऐसे दीपक के समान सम्यक् श्रुत की स्तुति करनी चाहिए । उस श्रुत के वक्ता आप्त पुरुष अरिहंत भगवान् की सर्व प्रथम स्तुति कहते हैं-

पुक्खरवरदीवड्ढे धायइसंडे अ जंबुदीवे अ ।
भर हेर वय विदेहे धम्माइगरे नमं सामि ॥१॥

अर्थात्- ''पुष्कर वर द्वीप में आधा द्वीप, छातकी खंड और जम्बूद्वीप में विद्यमान भरत, ऐरावत और महा विदेह रूप कर्म भूमियों में श्रुत धर्म की आदि करने वाले श्री तीर्थंकर भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ''

विशेष अर्थ- भरहेर वय विदेहे अर्थात् भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र और महा विदेह क्षेत्र में, यहाँ समाहार द्वन्द्व समास करके और भीमसेन का भीम की तरह संक्षिप्त रूप करने से 'भरतैरापत विदेह' शब्द बना है । समान नाम वाले वे क्षेत्र अनेक होने से पाँच भरत पाँच ऐरावत और पाँच महा विदेह जानना, उसमें- **'धम्मा'** यानी श्रुत धर्म के **'आइगरे'** अर्थात् सूत्र में आदि करने वाले तीर्थंकर भगवान को **'नमं सामि'** = नमस्कार-स्तुति करता हूँ । उक्त क्षेत्र कहाँ कहाँ हैं ? इसे कहते हैं- **पुक्खरवर दीवड्ढे** = उसे पुष्करवर इसलिए कहा है कि वह पद्म कमल से भी श्रेष्ठ है । यह जम्बूद्वीप से तीसरा द्वीप है, उसके अन्दर अधो भाग में मानुषोत्तर पर्वत है, इसलिए उसे पुष्करवर द्वीपार्ध कहा है, उसमें दो भरत, दो ऐरावत, दो महाविदेह क्षेत्र- यों छह क्षेत्र हैं । **'धायईखंडे'** अर्थात् धातकी नाम के वृक्षों का खण्ड । उस वन में धातकी वृक्षों का बाहुल्य होने से उसका नाम धातकी खंड है । उसमें दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह- ऐसे छह क्षेत्र हैं । तथा **'जंबूदीवे'** जम्बू नाम के वृक्षों की प्रधानता होने से इसका नाम जम्बूद्वीप है । एक भरत, एक ऐरावत और महाविदेह- ऐसे तीन क्षेत्र हैं । सभी मिलाकर ६ + ६ + ३ = १५ कर्म भूमियां, शेष अकर्म भूमि हैं । इसलिए तत्वार्थ सूत्र ३ - १६ में कहा है कि- **'भरतेरावत विदेहा कर्म भूमयोऽन्यत्र देव कुरुत्तर कुरुभ्यः ।'** अर्थात् देव कुरु और उत्तर कुरु के सिवाय पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह क्षेत्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्म भूमियां हैं । यहाँ पर पहले पुष्करवर, बाद में धातकी क्षेत्र और उसके बाद जम्बू द्वीप- इस तरह व्युत्क्रम से जो कहा है वह उन क्षेत्रों की विशालता व मुख्यता बताने की दृष्टि से कहा है । भगवद् वचनों को जो अपौरुषेय व अनादि मानते हैं, उनके मत का खण्डन **धम्माइं गरे** 'धर्म के आदि कर्ता' शब्द से किया गया है । इस पर तर्क-वितर्क हम पहले कर चुके हैं । वहाँ से समझ लेना । और भी कहा है कि- **'इणमच्चत विरुद्धं वयणं चा पोरूसे अ च ।''** अर्थात्- वेद वचन रूप होने पर भी उनको कहने वाला कोई पुरुष नहीं है ।' ऐसा कहना वह अत्यन्त विरुद्ध है ।

यहाँ प्रश्न करते हैं कि - चाहे वेद वचन अपौरुषेय हो, उसका कोई कहने वाला हो तो भी भगवन्त उसके आदि कर्त्ता हैं, इस तरह तो कैसे कहा जाय ? क्यों कि **'तप्पुव्विआ अरहया'** अर्थात्- 'उस श्रुत ज्ञान के वचनपूर्वक ही अरिहंत होते हैं ।' इससे सिद्ध हुआ कि श्रुत ज्ञान अरिहंत भगवान के पहले अनादि से था तो फिर अरिहंत को आदि कर्त्ता कैसे कहा जाता है ? इसका उत्तर देते हैं-ऐसा नहीं है, परन्तु श्रुत ज्ञान और तीर्थंकर भगवन्त कारण कार्य सम्बन्ध से बीज और अंकुर के समान हैं । जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है, वैसे ही तीर्थंकर देवों ने भी पहले तीसरे जन्म में श्रुत धर्म के अभ्यास से तीर्थंकरत्व प्राप्ति एवं तीर्थंकरत्व से श्रुत धर्म के आदि करने वाले होते हैं । ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है । श्रुत ज्ञान पूर्वक ही अर्हन्त होते हैं, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि मरु देवी आदि को श्रुत धर्म के अभाव में भी केवल ज्ञान हुआ था, ऐसा सुना जाता है। अत: शब्द रूप श्रुत धर्म के अभ्यास द्वारा ही सर्वज्ञ होता है ऐसा निश्चय नहीं है, परन्तु अर्थ ज्ञान रूप श्रुत धर्म पूर्वक ही सर्वज्ञता प्रगट होती है, यह तो निश्चय है ही- यह कथन युक्त है । श्रुत धर्म के आदि करने वालों की स्तुति रूप यह छठा अधिकार कहा । अब श्रुत धर्म की स्तुति कहते हैं कि-

तम तिमिर पडल विद्धंसणस्स सुरगण नरिंद महि अस्स ।
सीमा धरस्स वंदे पप्फोडिअ मोह जालस्य ।।२।।

अर्थात्- ''अज्ञानरूपी अंधकार के पटल-समूह को नाश करने वाले' देव समूह राजा चक्रवर्ती आदि से पूजित, मर्यादा को धारण करने वाले और मोहजाल को सर्वथा नाश करने वाले श्रुत ज्ञान को वंदन करता हूँ ।''

विशेष अर्थ-'तम' = अज्ञान और तिमिर = अंधकार अर्थात् अज्ञान रूंपी अंधकार अथवा (१) बद्ध, (२) स्पृष्ट, (३) निधत्त और (४) निकाचित यानी जो कर्म आत्मा के साथ में कोरे कपड़े पर लगी धूल जैसे कि केवल धागे से बंधी हुई सुई समान लगा हो (१) **बद्ध** कहलाता है, इसका छुटकारा जल्दी हो जाता है । शास्त्र में यह इरिया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पथिक बंधन कहलाता है। वही सुई पानी आदि लगने से काठ से चिपक जाती है अथवा भीने कपड़े में लगी धूल के समान लगा कर्म वह (२) **स्पृष्ट** कर्म कहलाता है। परस्पर चिपट जाने से सुई घन से कूट कर अलग करनी पड़े या तेल वाले कपड़े पर लगी धूल के समान तीव्र कर्म बन्धन वह (३) **निधत्त** कहलाता है। अति चीकट वस्तु से वस्त्र के तंतु में लगी धूल के समान जो बन्धन होता है वह (४) **'निकाचित'** कर्म बन्धन कहलाता है। इस तरह ज्ञानावरणीय कर्म तिमिर-अंधकार है उसका जो **'पडल'** = समूह **'विध्वंसणास्स'** = अज्ञानी रूपी अंधकार का नाश करने वाले और **'सुरगण नरिंद महिअस्स'** = अर्थात् भुवन पति आदि चार निकायों के देव, चक्रवर्ती राजा आदि द्वारा पूजित। सुरासुर आदि आगम की महिमा करते हैं। **'सीमा धरस्स'** का अर्थ है-मर्यादा को धारण करने वाले श्रुत ज्ञान को। मर्यादा का मतलब है- कार्य-अकार्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, हेय-उपादेय, धर्म-अधर्म आदि सब की व्यवस्था (मर्यादा) श्रुत ज्ञान में ही रहती है। **क्वचित् द्वितीयादेः**।८।३।१३४॥ इस सूत्र से कर्म के अर्थ में द्वितीया के स्थान पर प्राकृत में षष्ठी विभक्ति होती है। **'वंदे'** अर्थात् उस श्रुत ज्ञान को मैं वंदन करता हूँ। **'पप्फोदिय मोह जालस्स'** अर्थात् जिन्होंने मिथ्यात्व आदि रूप मोह जाल को सर्वथा तोड़ दिया है उनको नमस्कार करता हूँ। अथवा उसके माहात्म्य को नमस्कार करता हूँ। सम्यग् श्रुतज्ञान की प्राप्ति होने के बाद विवेकी आत्मा में असद् राग द्वेष कषायादि की मूढ़ता नहीं रहती, उसका निनाश हो जाता है। इसलिए यह विशेषण भी सार्थक है। इस प्रकार श्रुत ज्ञान की स्तुति करके उसी के गुण बताकर अप्रमाद-विषयक प्रेरणा करते हुए कहते हैं-

जाई जरा मरण सो ग पणासणस्स,
कल्लाण पुक्खल विसाल सुहा वहस्स ।
को देव दाणव नरिंद गणच्चिअस्स,
धम्मस्स सार मुह लब्भ करे पमायं ॥३॥

अर्थात्- "श्रुत ज्ञान जन्म, जरा, मृत्यु तथा शोक का सर्वथा नाश करने वाला, कल्याण अर्थात् मोक्ष रूप सम्पूर्ण आदि सर्व प्रकार के विशाल सुख को देने वाला और अनेक देव-दानव-नरेन्द्र गण आदि द्वारा पूजित धर्म (श्रुत चारित्र रूप) का सार सामर्थ्य जानकर कौन बुद्धिमान पुरुष धर्म की आराधना में प्रमाद करेगा ?"

विशेष अर्थ-'को' कौन बुद्धिमान, **'धम्मस्स'** = श्रुत धर्म के **'सारं'** = सामर्थ्य (बल) को **'उवलब्भ'** प्राप्त कर जानकर धर्माचरण में, **'करे पमाय'** = प्रमाद करेगा ? अर्थात् कोई भी समझदार मनुष्य उसमें प्रमाद नहीं करेगा। इस धर्म का सामर्थ्य कैसा है ? उसे कहते हैं- **'जाइ जरा मरण सोग पणासणस्स'** अर्थात् जन्म, बुढ़ापा,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मृत्यु और मन के शोक आदि दुःखों को मूल से सर्वथा नष्ट करने वाले हैं। श्रुत (शास्त्र) में कहे अनुसार धर्म का अनुष्ठान करने से जन्म जरा का निश्चय ही नाश होता है। श्रुत ज्ञान के आधार पर धर्माचरण में सभी अनर्थों का नाश करने का सामर्थ्य है तथा **'कल्याणं'** = इसमें कल्य यानी आरोग्य और **'अणति'** = लाता है, वह कल्याण-मोक्ष है। **'पुक्खल'** पुष्कल = सम्पूर्ण, बहुत जरा भी कम नहीं, परन्तु **'विशाल'** =सर्व प्रकार विस्तृत, **'सुहावहस्स'** = सुख की प्राप्ति कराने वाला अर्थात् श्रुत केअनुसार धर्म का अनुष्ठान करने वाले को अपवर्ग-मोक्ष सुख प्राप्त होता है, श्रुत ज्ञान का यह विशिष्ट गुण बतलाया है। तथा **'देव दानव नरेन्द्र गणच्चिअस्स'** = वह श्रुत चारित्र रूप धर्म- देव, दानव, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि के समूह जिस श्रुत ज्ञान की पूजा करते हैं। अतः बुद्धिशाली उसकी आराधना में प्रमाद न करें। अब ऊपर कहे अनुसार धर्म के रहस्य को प्रगट करने वाले श्रुत ज्ञान में जो अचिंत्य सामर्थ्य है, उसे कहते हैं-

सिद्धे भो पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे
देव-नाग सुवण्ण किन्नर गणस्सब्भूअ भावच्चिए ।
लोगो जत्थ पइट्ठि ओ जगमिणं तेलुक्कमच्चा सुरं,
धम्मो वड्ढउ सांसओ विजयओ, धम्मुत्तरं वड्ढओ ॥४॥

अर्थात्- ''सुज्ञ जनो ! (नय निक्षेप से) सिद्ध एवं सदा संयम धर्म के अभिवर्द्धक जिन मत धर्म को प्रयत्न (आदर) पूर्वक नमस्कार करता हूँ जो कि सुर, नाग कुमार, सुपर्ण कुमार, किन्नर गण आदि असुरों द्वारा सच्चे भावों से पूजित है। जिस धर्म के आधार पर यह लोक टिका हुआ (प्रतिष्ठित) है, तथा जिसमें धर्मास्तिक आदि सारे द्रव्य एवं तीनों लोक के मनुष्य व सुर असुर आदि अपने अपने स्थान पर रहे हुए हैं। ऐसे संयम पोषक और श्रुत ज्ञान समृद्ध एवं दर्शन युक्त प्रवृत्त से शाश्वत धर्म की वृद्धि हो और विजय की परम्परा से चारित्र धर्म की नित्य वृद्धि हो।''

विशेष अर्थ- 'सिद्धे' = का अर्थ है- सफल यानी यह जिन धर्म निःसंदेह फल को देने वाला है अथवा सिद्ध का अर्थ है-सभी नयों में धर्म व्यापक होने के कारण या सर्व नय इसमें समाविष्ट हो जाते हैं, इस कारण से यह सिद्ध है अथवा कष, छेद और ताप रूप त्रिकोटि से परीक्षित होने के कारण शुद्ध रूप में होने से सिद्ध है अथवा यह सिद्ध विशेषण श्रुत-आगम रूप है **'भो ! पश्यन्तु भवन्तः'** = आदरपूर्वक आमंत्रण करते हुए कहते हैं-'अजी, आप देखिये तो सही कि इतने समय तक मैंने यथा शक्ति सदा संयमाभिवर्द्धक जिस धर्म की आराधना में प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्न किया है **'णमो जिणमए'**= उस जिन मत को नमस्कार हो।' इस प्रकार प्रयत्न शील मैं दूसरों की साक्षी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में नमस्कार करता हूँ। यहाँ प्राकृत भाषा के अनुसार चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति हुई है। इस श्रुत ज्ञान के रूप धर्म के योग में **'नंदी सया संजमे'** अर्थात् हमेशा चारित्र-संयम मार्ग में वृद्धि होती है, श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि-**'पढमं नाणं तओदया'** अर्थात् पहले ज्ञान और बाद में दया (संयम) प्राप्त होती है। वह संयम धर्म कैसा है ? उसे कहते हैं-**'देवं नाग सुवण्ण किन्नर गणस्सब्भूअ भावच्चिए।'** अर्थात् वैमानिक देव, धरणेन्द्र, नागदेव, सुपर्ण कुमार, किन्नर, व्यंतर देव और उपलक्षण से ज्योतिषी आदि सभी देव उस संयम धर्म का शुद्ध अंतःकरण के भाव से पूजन करते हैं। यहाँ देव पर अनुस्वार है, वह छंद शास्त्र के नियमानुसार पाद पूर्ति के लिए समझना चाहिए। तथा देवता आदि हमेशा संयमी को नमस्कार पूजा करते हैं तथा सहायता करते हैं। श्री दशवैकालिक सूत्र के सर्व पहले मंगल रूप में भी कहा है-**'देवा वितं नमंसति, जस्स धम्मे सयामणो'** अर्थात् जिसके मन में धर्म बसा हो उसे देवता भी नमस्कार करते हैं इसलिए संयम का विशेषण यह ज्ञान होना सार्थक है, ज्ञान से संयम में वृद्धि होती है। जिन धर्म का वर्णन करते हैं-**'लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं'** अर्थात् जिस जिन धर्म में लोक-दृश्यमान लोक या जिस ज्ञानालोक में सारा जगत् देखा जाय, उस ज्ञान से यह संसार प्रतिष्ठित है, क्योंकि जितना भी शुद्ध ज्ञान है वह जिनागम के आधीन है, यह जगत् तो ज्ञेय रूप में है। तात्पर्य यह है कि-जिन दर्शन रूप आगम की सेवा करने से ही ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान जिनागम में है तथा समस्त जगत् भी आगम से देखा या समझा जाता है इसलिए यह जगत् भी जिनागम में ही निहित है। कितने ही मनुष्य इस दृश्यमान लोक को जगत् मानते हैं, वह ठीक नहीं है इसलिए यहाँ जगत् का विशेषण दिया है- **'तेलुक्कमच्चासुरं'** अर्थात् मनुष्य, देव व उपलक्षण से शेष सभी जीव यानी ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक रूप आधार जगत् और उसमें रहे हुए सभी जीव अजीवादि भाव रूप आधेय जगत् है। इस तरह आधार रूप और आधेय रूप सारा जगत् जिन दर्शन में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जिन मत रूप यह **'धम्म'** = श्रुत चारित्र रूप धर्म **'सासओ'** = कभी भी नाश न होने वाला = अविनाशी धर्म **'वड्ढउ'** बढ़ता जाय। वह किस तरह से ? **'विजयओ धम्मुत्तरं'** = अर्थात् मिथ्या वादियों पर विजय पाता हुआ तथा श्रुत धर्म की आराधना के बाद चारित्र धर्म में **'वड्ढउ'** = वृद्धि हो। यहाँ दो बार 'वृद्धि हो' कहने से श्रुत धर्म की आराधना से चारित्र गुण में वृद्धि होती है इसलिए कहा है-मोक्ष की अभिलाषा वाले जीव को हमेशा ज्ञान वृद्धि करनी चाहिए और तीर्थंकर-नाम कर्म के कारणों में एक कारण यह भी बताया है।

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि **'अपुव्व नाण गहणे'** (१८१) अर्थात् अपूर्व अभिनव (नया-नया) ज्ञान ग्रहण करने से तीर्थंकर नाम कर्म बन्धन होता है। यह प्रार्थना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मोक्ष के बीज समान होने से वास्तव में क्षुद्र अभिलाषा रूप नहीं है अपितु शुद्ध भाव पूर्ण परमार्थ है। इसलिए यह प्रणिधान = प्रार्थना करके, श्रुत धर्म का ही वंदन करने के लिए कार्योत्सर्ग के निमित्त **'सूअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं'** का पाठ **'वंदण वत्तियाए'** से लेकर **'अप्पाणं वोसिरामि'** तक बोलना चाहिए। इसका अर्थ पहले कह आये हैं, यहाँ केवल **'सुअस्स भगवओ'** का अर्थ बाकी है अर्थात् श्रुत भगवान उसमें श्रुत यानी प्रथम सामायिक सूत्र अध्ययन से लेकर बिन्दुसार नामक दृष्टि वाद के अन्तिम अध्ययन तक अर्थात् द्वादशांगी रूप समग्र श्रुत, यश, प्रभाव आदि भगों से = ऐश्वर्यों से होने से भगवान् स्वरूप है अतः श्रुत भगवान् की आराधना के लिए काउस्सग्ग करता हूँ। इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना। यहाँ भी आठ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करना। उसके बाद पहले की तरह काउस्सग्ग पारकर श्रुत ज्ञान की तीसरी स्तुति बोलनी चाहिए। कहा है कि--

सुअ नाणत्थय रूवो, अहिगारो होइ एस सत्तमओ।
इह पय संपय सोलस, नवुत्तरा वण्ण दुन्निसया ॥१॥

अर्थात्- ''पुक्खरवरदी सूत्र श्रुत ज्ञान स्तवना रूप चैत्य वंदन का यह सातवाँ अधिकार कहा है। यह श्रुत स्तव या सूय धम्म नामक चौथे दण्डक सूत्र की चार गाथा, कुल सोलह पद हैं, उतनी ही उसकी संपदाएँ हैं, और दो सौ नौ अक्षर हैं।'' भाष्य में दो सौ सोलह अक्षर कहे हैं। वहाँ 'सुअस्स भगवओ' ये सात अक्षर मिलाकर कहे हैं। इसलिए दोनों बराबर हैं। यहाँ चौथा दण्डक पूर्ण हुआ। तत्पश्चात् श्रुत में कही हुई अनुष्ठान-परम्परा के फल रूप सिद्ध भगवन् की अवस्था को प्राप्त करने के लिए सिद्धों को नमस्कार रूप गाथा कहते हैं-

सिद्धाणं बुद्धाणं पार गयाणं परंपरा गयाणं ।
लोअग्गमुव गयाणं नमो सया सव्व सिद्धाणं ॥१।

अर्थात्- ''सिद्ध हुए, बुद्ध हुए, संसार का पार प्राप्त किए, परम्परा से सिद्ध बने और लोक के अग्र भाग पर स्थित हुए ऐसे सर्व सिद्ध भगवन्तों को सदा मेरा नमस्कार हो।''

विशेष अर्थ- 'सिद्धाणं'- अर्थात् सिद्ध कृतकृत्य बने हुए, जो गुणों से सिद्ध हैं, पूर्ण हो गये हैं भौतिक विषयों की जिन्हें कोई भी इच्छा नहीं है। पकाये हुए चावल फिर से नहीं पकाये जाते, उसी तरह सिद्ध हुए फिर किसी भी प्रकार की साधन की इच्छा नहीं रखते, ऐसे सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार वाक्य सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए। इसमें भी सामान्यतया कर्म आदि अनेक प्रकार से सिद्ध होते हैं जैसे आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कम्मे सिप्पेय विज्जा य मंते जोगेय आगमे ।
अत्थ जत्ता अभिप्पाये, तवे कम्मक्खए इय ॥६२७॥

अर्थात्- 'कर्म सिद्ध, शिल्प सिद्ध, विधा सिद्ध, मन्त्र सिद्ध, योग सिद्ध, आगम सिद्ध, अर्थ सिद्ध यात्रा सिद्ध, अभिप्राय: सिद्ध, तप सिद्ध और कर्म क्षय सिद्ध- इस तरह ग्यारह प्रकार के सिद्ध होते हैं ।' ये इस प्रकार हैं-

(१) कर्म सिद्ध- किसी आचार्य के उपदेश के बिना ही किसी का भार उठाना, खेती करना, व्यापार करना, इत्यादि कर्म कहलाता है । ऐसे कर्म को बारम्बार करने से वह सह्य गिरि-सिद्ध के समान निष्णात हो गया तब उसे कर्म सिद्ध कहते हैं ।

(२) शिल्प सिद्ध- किसी आचार्य के उपदेश से कोई लुहार, सुनार, चित्रकला आदि शिल्प कलाओं में से किसी कला का अभ्यास करके कोकास सुथार के समान पारंगत हो गया हो, वह शिल्प सिद्ध होता है ।

७(३) विधा सिद्ध- होम, जाप आदि से फल देने वाली विधा अथवा अधिष्ठायिका देवी हो वह विधा कहलाती है । किसी विधा का अभ्यास करते हुए किसी ने सिद्धि प्राप्त कर ली हो वह आर्य खपुटाचार्य के समान विधा सिद्ध कहलाता है ।

(४) मंत्र सिद्ध - जाप आदि किए बिना ही केवल बोलने से सिद्ध हो वह मन्त्र है। मन्त्र का अधिष्ठायक देव होता है, और किसी मन्त्र को सिद्ध कर ले वह स्तम्भाकर्ष के समान मन्त्रसिद्ध हो जाता है ।

(५) योग सिद्ध- जो अनेक औषधियों को एकत्रित करके लेप अंजन आदि तैयार करने में निष्णात हो, वह आर्य समिताचार्य के समान योग सिद्ध कहलाता है।

(६) आगम सिद्ध- आगम अर्थात् द्वादश (बारह) अंगों एवं उपांगों तथा सिद्धान्तों, नय, निक्षेपों आदि प्रवचनों व उसके असाधारण अर्थों का गोतम स्वामी के समान विज्ञाता आगम सिद्ध होता है ।

(७) अर्थ सिद्ध- अर्थ अर्थात् धन । मम्मन के समान दूसरों की अपेक्षा जो अत्यधिक धन प्राप्त करने में कुशल हो, वह अर्थ सिद्ध होता है ।

(८) यात्रा सिद्ध- जलमार्ग अथवा स्थलमार्ग में जो निर्विघ्न रूप में तुण्डिक के समान यात्रा कर चुका हो, वह यात्रा सिद्ध कहलाता है ।

(९) अभिप्राय सिद्ध- जिस कार्य को जिस तरह करने का अभिप्राय (इरादा) किया हो, उसे अभय कुमार के समान उसी तरह सिद्ध कर ले, वह अभिप्राय सिद्ध कहलाता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१०) तप सिद्ध- दृढ़ प्रहारी के समान जिसमें सर्वोत्कृष्ट तप करने का सामर्थ्य प्रगट हो गया हो, वह तप सिद्ध होता है ।

(११) कर्म सिद्ध- मरु देवी माता के समान ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को मूल से नष्ट करने से जो सिद्ध हो जाता है या हुआ है, वह कर्म सिद्ध कहलाता है ।

इन ग्यारह प्रकार के सिद्धों में से दस को छोड़कर यहाँ ग्यारहवें कर्म सिद्ध को ग्रहण करना चाहिए । ऐसे कर्म सिद्ध को नमस्कार करने के कारण साधक सिद्ध हो जाता है ।

'बुद्धाण'- अर्थात् बोधित- अज्ञान रूपी निद्रा में सोये हुए जगत् में दूसरों के उपदेश बिना जीवादि तत्वों के स्वरूप को जानकर बोधित हुए अर्थात् बोध-ज्ञान होने के बाद कर्मों का सर्वथा नाश करके जो सिद्ध हुए हैं उनको मेरा नमस्कार हो । कोई दार्शनिक यहाँ कहते हैं कि-सिद्ध सिद्धावस्था में संसार और निर्वाह का त्याग करके रहते हैं । ऐसा मानने से कहते हैं कि-

न संसारे न निर्वाणे, स्थितो भ (भु) वन भूतये ।
अचिन्त्यः सर्व लोकानां चिंतारत्नाधिको महान् ॥१॥

अर्थात्- ''जो तीन जगत् के कल्याण के लिए संसार में नहीं रहे, और न निवार्ण में रहते एवं जगत् का स्वरूप नहीं जान सकते, वे चिन्तामणि रत्न से भी बढ़कर और महान हैं ।'' उसके मत का खण्डन करते हुए कहते हैं-

'पार गयाणं' = संसार का पार पाने वाले यानी संसार के प्रयोजन का अन्त पाने वाले सिद्धों को नमस्कार हो । इस विषय में यदृच्छा वादियों का कहना है-जैसे कोई दरिद्र मनुष्य सहसा राजा हो जाता है वैसे ही जीव भी सहसा सिद्ध हो जाता है, इसमें क्रम जैसी कोई वस्तु नहीं है । इस बात का खण्डन करते हुए कहते हैं- **'परंपर गयाणं'** = इसका अर्थ है- परम्परा से बने हुए सिद्ध । तात्पर्य यह है- परम्परा से चौदह गुण स्थानक के क्रम से जिन्होंने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है वे, अथवा किसी प्रकार कर्म के क्षयोपशम आदि के योग से प्रथम सम्यग्दर्शन, फिर सम्यग्ज्ञान और उसके बाद सम्यक् चारित्र- इस क्रम से गुणों का विकास करते हुए परम्परा से सिद्ध रूप मोक्ष स्थान जिन्होंने प्राप्त किया है, उन्हें नमस्कार करता हूँ । कितने ही दार्शनिक मोक्ष का जो स्थान नियत है उसे अनियत मानते हैं । उनका कहना है कि-

यत्र क्लेश क्षयस्तस्य, विज्ञानमवतिष्ठते ।
बाधा च सर्वथाऽस्येह, तदभावान्न जातु चिद् ॥१॥

अर्थात्- ''जब आत्मा के संसार का अथवा अज्ञान रूपी क्लेश का नाश होता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तब वह आत्मा रहता तो इसी संसार में है, मगर उसका विज्ञान स्थिर रहता है और क्लेश का सर्वथा अभाव हो जाने से इस संसार में उसे कदापि लेशमात्र भी बाधा अथवा दुःख नहीं होता है ।'' उसकी इस मान्यता का खण्डन करने के लिए कहते हैं कि-

'लोअग्गमुवगयाणं' = लोक के अग्र भाग में अर्थात् चौदह राज लोक पर अन्त विभाग में रही इयत् प्राग भारा नाम की सिद्ध शिला पृथ्वी है । उसके **'उप'** यानी समीप में ही, न कि अन्य स्थान पर, सभी सिद्ध प्रभु कर्मों का क्षय करके उसी स्थान पर स्थिर हैं । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

जत्थ य ऐगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खय विमुक्का।
अण्णोण्ण मणा वाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥९६५॥

अर्थात्- ''जहाँ सिद्ध की एक आत्मा है वहीं पर कर्मों का क्षय करके जन्म मरण से मुक्त हुई अनंत दूसरी सिद्ध आत्माएं एक दूसरे को बाधा पहुंचाए बिना, अनंत सुख युक्त सुख में रहती हैं । उन्हें मेरा नमस्कार है ।''

यहां शंका करते हैं कि-जब सभी कर्मों का क्षय हो जाता है तब जीव की लोकाग्र तक गति किस तरह होती है ? उसका उत्तर देते हैं कि-पूर्व प्रयोग आदि के योग से सिद्ध जीव गति करते हैं । प्रशम रति में कहा है-

पूर्व प्रयोग सिद्धे र्बन्धच्छेदादसंग भावाच्च ।
गति परिणामाच्च तथा, सिद्धस्योर्द्धव गतिः सिद्धा ॥

अर्थात्- ''(१) पूर्व प्रयोग की सिद्धि से अर्थात् जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण पूर्व प्रयोग से स्वयं अपने आप आगे जाता है, उसी तरह जीव कर्म से मुक्त होने पर अपने आप ऊर्ध्व गति करता है । (२) जैसे रेंडी की फली में से छूटते ही रेंडी का दाना उछलता है, वैसे ही जीव कर्म बन्धन में से छूटते ही ऊंचा जाता है । (३) असंग से मिट्टी से लिप्त तुम्बा जैसे ही मिट्टी साफ होती है तुरन्त ऊपर आ जाता है, वैसे ही कर्म मल साफ होते ही असंग बना जीव ऊर्ध्व गति करता है और (४) गति स्वभाव से जीव अपने स्वभाव से ऊर्ध्व गति करता है। इस तरह कर्म क्षय होने पर जीव चार कारणों से उसी समय ऊंचा जाता है ।'' फिर शंका करते हैं कि जीव सिद्ध क्षेत्र में आगे, ऊंचे, नीचे या तिरछे क्यों नहीं जाता ? इसका समाधान 'प्रशम रति' में करते हैं कि-

नाधो गौरव विगमादसङ्ग भावाच्च गच्छति विमुक्तः।
लोकान्तादपि न परं, प्लवक इवोपग्रहा भावात् ॥२६३॥

योग प्रयोगयोश्चाऽभावात्, तिर्यग् न तस्स गतिरस्ति।
तस्मात्सिद्धस्योर्ध्वं, ह्या लोकान्ताद् गतिर्भवति ॥२६४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "(१) गुरुत्व अर्थात् कर्म का वजन समाप्त हो जाने से, नीचे जाने का और कोई कारण न होने से मुक्तात्मा नीचे नहीं जाता है। (२) मिट्टी से लिप्त तुम्बा नीचे जाता है, परन्तु मिट्टी दूर होते ही वह ऊर्ध्व गमन करता है, वैसे ही जीव जब तक कर्म से लिप्त हो तब तक नीचे रहता है, कर्म रहित वह ऊर्ध्व गमन करता है। जैसे पानी की सहायता के बिना पानी की सतह पर ऊँचाई में नौका नहीं जाती, वैसे ही जीव की गति में सहायक धर्मास्तिकाय के न होने से वह लोकान्त से ऊपर नहीं जाता है, अपितु ऊपर जाकर लोक के अन्त भाग में रुक जाता है। तिरछी गति में कारण रूप योग अथवा व्यापार (प्रवृत्ति) नहीं होने से तिरछी गति भी नहीं करता है। अत: सिद्ध की चौदह राज लोक के अंत तक ही ऊर्ध्व गति होती है।"

इस तरह लोक के अग्र भाग में विराजमान सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो। तथा **'नमो सया सव्व सिद्धणं'** अर्थात् 'सर्वसाध्य सिद्ध हो गये हैं अथवा जो तीर्थ सिद्ध आदि विविध पर्याय से अलग रूप में सिद्ध हुए हैं उन सर्व सिद्धों को मैं सदैव नमस्कार करता हूँ। सिद्ध परमात्मा के पंद्रह भेद हैं। श्री प्रज्ञापना सूत्र १।१६ में कहा है कि-

"तित्थ सिद्धा, अतित्थ सिद्धा, तित्थ, यरा सिद्धा, अतित्थ, यरा सिद्धा, सयंबुद्ध सिद्धा, पत्तेयबुद्ध सिद्धा, बुद्ध बोहि असिद्धा, थी लिंग सिद्धा, पुरिसा लिंग सिद्धा, नंपुसग लिंग सिद्धा, सलिंग सिद्धा, अन्न लिंग सिद्धा, गिहि लिंगा सिद्धा, एगसिद्धा, अणेग सिद्धा।" अर्थात्-(१) तीर्थ सिद्ध, (२) अतीर्थ सिद्ध, (३) तीर्थंकर सिद्ध, (४) अतीर्थंकर सिद्ध, (५) स्वयं बुद्ध सिद्ध, (६) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, (७) बुद्ध बोधित सिद्ध, (८) स्त्री लिंग सिद्ध, (९) पुरुष लिंग सिद्ध, (१०) नपुंसक लिंग सिद्ध, (११) स्वलिंग सिद्ध, (१२) अन्य लिंग सिद्ध, (१३) गृहस्थ लिंग सिद्ध, (१४) एक सिद्ध और (१५) अनेक सिद्ध- ये पन्द्रह प्रकार के सिद्ध होते हैं। उसे अनुक्रम से विस्तार पूर्वक कहते हैं-

(१) 'तीर्थ सिद्ध'- तीर्थ= चतुर्विध श्रमण संघ रूप तीर्थ स्थापना करने के बाद जो सिद्ध हुआ हो वह तीर्थ सिद्ध है।

(२) 'अतीर्थ सिद्ध'-तीर्थ का विच्छेद हो गया हो, अथवा दो जिनेश्वर (तीर्थ) के बीच का अन्तरकाल हो, जब साधु संस्था का विच्छेद हो गया हो, तब जाति स्मरण आदि ज्ञान के योग से साधना करके जो मुक्त हो हो, तब जाति स्मरण आदि ज्ञान के योग से साधना करके जो मुक्त हुआ हो, अथवा श्री मरु देवी माता की तरह तीर्थ स्थापना होने से पहले ही सिद्ध हो जाय अथवा अन्य तीर्थ में भी ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना करके मुक्त हो जाय, वह अतीर्थ सिद्ध कहलाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) **तीर्थंकर सिद्ध**- तीर्थंकर पद प्राप्त करके सिद्ध हुए भगवान् तीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं ।

(४) **अतीर्थंकर सिद्ध**-शेष सामान्य केवली होकर जो सिद्ध हुए हों वे सभी अतीर्थंकर सिद्ध हैं ।

(५) **स्वयं बुद्ध सिद्ध**- अपने आप बोध (ज्ञान) प्राप्त करके जो सिद्ध हुए हों वे स्वयं बुद्ध सिद्ध हैं ।

(६) **प्रत्येक बुद्ध सिद्ध**- जो प्रत्येक बुद्ध होकर सिद्ध हुए हों वे प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हैं । स्वयं बुद्ध और प्रत्येक बुद्ध में बोध-ज्ञान की प्राप्ति में, उपधि में, श्रुत ज्ञान में और वेष में परस्पर अन्तर होता है । स्वयं बुद्ध किसी बाह्य निमित्त या उपदेश बिना ही बोधित होता है और प्रत्येक बुद्ध जैसे करकंडु राजा को बैल की वृद्धावस्था को देखकर बोध हुआ था, वैसे किसी न किसी बाह्य निमित्त से विरक्ति जनक बोध होता है । स्वयं बुद्ध, पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (धर्मोपकरण) रखता है, जबकि प्रत्येक बुद्ध तीन प्रकार के वस्त्र छोड़कर शेष नौ प्रकार की उपधि रखता है । स्वयं बुद्ध को पूर्व जन्म में पढ़े हुए पूर्वों का ज्ञान वर्तमान काल में रहा हो ऐसा नियम नहीं है जब कि प्रत्येक बुद्ध को ज्ञान अवश्य रहता है । स्वयं बुद्ध साधुवेश को प्राप्त कर गुरु महाराज के सान्निध्य में भी दीक्षा ग्रहण करता है । जबकि प्रत्येक बुद्ध को नियम से देवता साधु वेश देता है । इस तरह दोनों में अन्तर रहता है ।

(७) **बुद्धबोधि सिद्ध**- ज्ञानी आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त करे और मुक्तिगामी बने वह बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाता है ।

(८) **स्त्रीलिंग सिद्ध**- और इन सभी प्रकार से कितनी ही स्त्री रूप में सिद्ध होती हैं वे स्त्री लिंग सिद्ध कहलाती हैं ।

(९) और पुरुष रूप में जो मुक्त होते हैं वे **पुरुष लिंग सिद्ध** होते हैं ।

(१०) नपुंसक रूप में जो मोक्ष प्राप्त करते हैं वे **नपुंसक लिंग सिद्ध** होते हैं ।

यहाँ शंका होती है कि 'क्या तीर्थंकर भी स्त्रीलिंग में सिद्ध हो सकता है' ? इसका उत्तर देते हैं कि-हाँ, हो सकते हैं, सिद्ध पाहुड (सिद्ध प्राभृत) में बताया है कि- **"सव्वाथोवा तिथ्ययरी सिद्धा, तित्थय रीतित्थे नोतित्थयर सिद्धा असंखेज्ज गुणा, तित्थयरी तित्थे नो तित्थरी सिद्ध ओ असंखेज्ज गुणाओ, तित्थयर तित्थे णो तित्थयर सिद्धा सखेज्ज गुणा ।"** अर्थात्- सब से कम स्त्रीलिंग तीर्थंकर सिद्ध होते हैं, स्त्री तीर्थंकर के शासन में अतीर्थंकर सिद्ध असंख्यात गुने होते हैं, उन स्त्री तीर्थंकरों के तीर्थ में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतीर्थंकर स्त्रीत्व रूप में सिद्ध असंख्यात गुने होते हैं और इनसे तीर्थंकर के तीर्थ में अतीर्थंकर सिद्ध संख्यात गुने होते हैं, अर्थात् तीर्थंकर भी स्त्रियों में सिद्ध होते हैं और उनके तीर्थ में सामान्य केवली अतीर्थंकर और स्त्री रूप में अतीर्थंकर आदि सिद्ध होते हैं। परन्तु उन दोनों में अतीर्थंकर सिद्धों की संख्या अधिक होती है, यानी असंख्यात गुनी ज्यादा होती है। तीर्थंकर सिद्ध नपुंसक लिंग में नहीं होते हैं तथा प्रत्येक बुद्ध सिद्ध पुरुष लिंग में ही होते हैं।

(११) रजोहरण, ओघा आदि द्रव्यलिंग रूप स्वलिंग में सिद्ध होते हैं वे स्वलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(१२) परिव्राजक आदि अन्य लिंग वेश में सिद्ध-मुक्त होते हैं, वे अन्य लिंग सिद्ध हैं।

(१३) मरु देवी आदि गृहस्थ लिंग में सिद्ध हुए हैं, वह गृहस्थ लिंग सिद्ध होते हैं।

(१४) एक समय में एक ही सिद्ध हो वहाँ एक सिद्ध और

(१५) एक समय में उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हुए हो वहाँ अनेक लिंग कहलाते हैं। इस तरह सिद्ध-मुक्त होने के विभिन्न १५ भेद हैं। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

बत्तीस अडयाला सट्ठी बावत्तरी अ बोधव्वा ।
चुलसीई छन्नउई, दुरहिय मट्ठुत्तर सयं च ॥४७८॥

अर्थात्-"एक से लेकर बत्तीस तक साथ में सिद्ध हों तो उत्कृष्ट आठ समय लगता है। तैंतीस से अड़तालीस तक साथ में सिद्ध होने पर उत्कृष्ट सात समय में, उनचास से साठ तक साथ में सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट छह समय में, इकसठ से बहात्तर तक सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट पांच समय में, तिहत्तर से चौरासी तक सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट चार समय में, पिचासी से छियानबे तक सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट तीन समय में, सत्तानबे से एक सौ दो तक साथ में सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट दो समय में और एक सौ तीन से एक सौ आठ तक साथ में सिद्ध होने वाले उत्कृष्ट एक समय में मोक्ष जाते हैं। उसके बाद निश्चय ही अन्तर पड़ता है।

प्रश्न करते हैं कि-सिद्ध के जो पंद्रह भेद कहे हैं, उनमें प्रथम तीर्थ सिद्ध और बाद में अतीर्थ सिद्ध कहा है। इन दोनों में शेष भेद समाविष्ट हो सकते हैं, क्योंकि तीर्थंकर सिद्ध आदि का तीर्थ सिद्ध में अथवा अतीर्थ सिद्ध में समावेश हो सकता है, फिर अन्य भेद की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं, 'आपका तर्क उचित है। दो ही भेदों में सर्व सिद्ध आ सकते हैं, परन्तु दो ही भेद कहने से सर्व साधारण को अन्य भेद का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए दूसरे भेदों को बताना आवश्यक है । मगर उत्तर उन्हें भेद कहा जा सकता है ।' इस तरह सामान्य रूप से सर्व सिद्धों की स्तुति करके निकट उपकारी वर्तमान शासनाधिपति श्री महावीर स्वामी की स्तुति करते हैं-

जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमं संति ।
तं देव देव महिअं सिरसा वंदे महावीरं ।।२।।

अर्थात्- ''जो देवों के भी देव हैं, जिससे उनको सर्व देव दो हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं । जो इन्द्र आदि से पूजित हैं उन श्री महावीर स्वामी को मस्तक झुका कर वंदन करता हूँ ।''

विशेष अर्थ-'जो' = भगवान श्री महावीर स्वामी, **'देवाणवि'** अर्थात भवन पति आदि सभी देवों के भी पूज्य होने से **देवों** = देव है और **जं देवा पंजली नमं संति'** = अर्थात् उन देव को मैं भी विनयपूर्वक दो हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ।**'तं देव देव महिअं'** = अर्थात् उन देवों के भी देव इन्द्रादि से पूजित, **'महावीरं'** = भगवान महावीर स्वामी को, **'सिरसा वंदे'**= अर्थात् मस्तक नमाकर वंदन करता हूँ । 'मस्तक से वंदन करता हूँ', यह कथन अत्यत आदर पूर्वक सत्कार बताने के लिए किया है । अब महावीर प्रभु कैसे हैं ? इसे विशेषण द्वारा बताते हैं- 'वि' का अर्थ विशेषतया (सर्वथा) कर्मों का 'इरण' का अर्थ नाश करते हैं, वह वि + ईर = वीर अथवा जो विशेष पराक्रम से मोक्ष में जाते हैं उन्हें वीर कहते हैं, और उन वीरों में भी महान् वीर भगवान महावीर हैं, ऐसा देवताओं ने नाम दिया । उनको मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ । इस तरह अपना आदर भाव बताते हैं । इस तरह स्तुति करके फिर परोपकार के लिए और अपने आत्म भावों की वृद्धि के लिए श्री महावीर प्रभु की स्तुति का फल बताने वाली दूसरी स्तुति गाथा कहते हैं-

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसार सागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ।।३।।

अर्थात्-'' जिनवरों में वृषभ के समान उत्तम श्री वर्धमान स्वामी को किया हुआ एक बार भी नमस्कार पुरुष अथवा स्त्री के संसार सागर से तार देता है ।''

विशेष अर्थ- 'इक्को वि नमुक्कारो'- अर्थात् बहुत बार नमस्कार करने की बात तो दूर रही, केवल एक बार ही नमस्कार-जो द्रव्य से मस्तक आदि झुकाने के रूप में शरीर को संकोच करने से और भाव से मन की एकाग्रता रूप नमन (संकोच लक्षण) से **'जिणवरवसहस्स'** = जिन अर्थात् श्रुत जिन, अवधि जिन आदि जिनों से भी बढ़कर केवली जिन और उनमें भी वर = श्रेष्ठ होने से जिनवर हैं, सामान्य केवलियों में भी तीर्थंकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नाम कर्म के उदय वाले भगवान उत्तम होते हैं । अत: जिनवरों में वृषभ समान । यों तो ऋषभदेव आदि तीर्थंकर वृषभ के समान उत्तम हैं, इसलिए यहाँ पर विशेष नाम कहते हैं **'वद्धमाणस्स'** अर्थात् श्री वर्धमान स्वामी को आदर पूर्वक किया हुआ एक बार भी नमस्कार । इस नमस्कार से क्या होता है ? वह कहते हैं- **'संसार सागराओ तारेइ'** अर्थात् तिर्यंच, नारक, मनुष्य और देव रूप जीवों का परिभ्रमण-संसरण ही संसार है, इस संसार में भव स्थिति एवं काय स्थिति आदि अनेक प्रकार की अवस्था होने से समुद्र के समान उसका पार करना बड़ा कठिन होता है । अत: संसार ही सागर है । इस संसार सागर से तार देता है-पार उतार देता है । किसको ? **'नरं व नारिं वा'** अर्थात् पुरुष अथवा स्त्री को । यहाँ जैन धर्म में पुरुष की प्रधानता बताने के लिए पहले पुरुष के लिए कहा है, और स्त्रियों को भी उसी जन्म में तारते हैं अथवा कर्मक्षय करके संसार समुद्र को पार करके वे भी मोक्ष में जा सकती हैं । यह बताने के लिए 'नारिं वा' शब्द का उपयोग किया है।

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में यापनीय तंत्र (संघ) नामक एक उप सम्प्रदाय है, जो स्त्री की मुक्ति मानता है । उसमें कहा है कि- **''नो खलु इत्थी अ जीवो, न यावि अभव्वा, न यावि दसंण विरोहिणी, नो अमाणुसा, नो अणायरि उप्पन्ना, नो असंखेज्जाउया, नो अइकूर मई, नो न उवसंत मोहा, नो असुद्धाचारा, नो असुद्ध बुंदी, नो ववसायविज्जा, नो अपुव्व करण विरोहिणी, नो नवगुणट्ठाण रहिया, नो अ जोग्गा लद्धीए, नो अ कल्लाण भायणं ति, कहं न उत्तम धम्मस्स साहगति ।''**

अर्थात्- यहाँ प्रश्न उठाये गये हैं- क्या स्त्री अजीव है ? ऐसा नहीं है । तो फिर क्या वह अभव्य है ? ऐसा भी नहीं है । उसको सम्यग् दर्शन नहीं हो सकता ? ऐसा भी नहीं है । मनुष्य नहीं है ? ऐसा भी नहीं है । क्या वह अनार्य रूप में ही उत्पन्न होती है? ऐसा भी एकान्त नहीं है । असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाली युगलिनी ही है ? एकान्त ऐसा भी नहीं है । क्या अतिक्रूर बुद्धि वाली ही है ? ऐसा भी नहीं है । अशुद्ध शरीर वाली ही है ? सर्वथा ऐसा भी नहीं है । क्या वज्र ऋषभ नाराच संघयण वाली नहीं होती ? ऐसा भी पूर्णतया नहीं है । स्त्री धर्म प्रवृत्ति से रहित नहीं है, अपूर्व करण गुण स्थानक की विरोधिनी नहीं है, अर्थात् वह स्वयं अपूर्व करण वाली ही होती है । स्त्री में सर्व विरति रूप छठे गुण स्थानक से चौदहवें गुण स्थानक तक होता है । नौवें गुण स्थानक तक ही रहती है ? ऐसा भी नहीं है । वह ज्ञानादि लब्धि गुण प्राप्त करने में अयोग्य है ? ऐसा भी नहीं है । एकान्तत: अकल्याण पथ गामिनी है ? ऐसा भी नहीं है, तो फिर स्त्रियां उत्तम धर्म (मोक्ष) की साधना नहीं कर सकतीं, ऐसा क्यों कर कहा जा सकता है ? मतलब यह है कि स्त्रियां भी मोक्ष मार्ग की साधना कर सकती हैं और उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहने का तात्पर्य है कि-सम्यग् दर्शन प्राप्त करने के बाद उत्तम भावपूर्वक किया हुआ एक बार का नमस्कार ही संसार सागर से पार उतारने वाला है। चहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष हो- वह ऐसा उत्तम अध्यवसाय प्रगट करता है तो वह उस अध्यवसाय से क्षपक श्रेणी प्राप्त कर संसार समुद्र से पार हो जाता है। इस तरह मोक्ष प्राप्त कराने वाले अध्यवसाय में नमस्कार कारण रूप है। फिर भी उपचार से कारण को कार्य रूप में मानकर नमस्कार ही संसार से पार उतारने वाला कहा है। यहाँ प्रश्न होता है कि नमस्कार से ही मोक्ष मिल जाता है तो फिर चारित्र पालन का क्या कोई फल नहीं है ? उत्तर में कहते हैं-ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि नमस्कार से प्राप्त होने वाला मोक्ष प्रापक अध्यवसाय ही निश्चय-चारित्र है, वस्तुतः नमस्कार से ऐसा विशिष्ट अध्यवसाय रूप चारित्र गुण प्रगट होता है। और इससे संसार समुद्र का निस्तारण होता है। इस तरह भगवान श्री वर्द्धमान स्वामी की स्तुति तथा उसका फल बताने वाली इस दूसरी और तीसरी गाथा से शासन= पति भगवान श्री महावीर प्रभु की वंदना रूप चैत्य वंदन का नौवां अधिकार कहा।

'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र की ये तीन गाथा रूप श्री गणधर कृत होने से नियमित रूप से बोली जाती हैं। कितने ही साधक इसके अतिरिक्त इसके बाद दो गाथाएं और बोलते हैं। आवश्यक चूर्णि के काउस्सग्ग अध्ययन में कहा है कि- 'ऐसा जहिच्छाए' 'अर्थात्' शेष गाथा अपनी इच्छा अनुसार कहना। इसी तरह पूज्य श्री हरिभद्र सूरीश्वर जी आदि पूर्वाचार्यों ने अनेक स्थानों पर शेष दो स्तुतियों का विधान बतलाया है। वह गांथा इस प्रकार हैं-

उज्जिंत सेल सिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्म चक्कवट्टीं अरिट्ठनेमिं नमं सामि ॥४॥

अर्थात्- "उज्जयंत शैल अर्थात् गिरनार (रैवतक गिरि) पर्वत के शिखर पर जिनके दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण-कल्याणक अर्थात् सर्व व्यापार प्रवृत्तियों का जहां अभाव हुआ हो वह मोक्ष-निर्वाण कल्याणक जिनका हुआ है, उन धर्म चक्रवर्ती श्री आरिष्टनेमि-नेमिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।" इस तरह श्री नेमिनाथ प्रभु के नमस्कार नाम का उत्कृष्ट चैत्य वंदन दसवाँ अधिकार कहा है तथा-

चतारि अट्ठ दस दोय वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं।
परमट्ठ निट्ठि अट्ठा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥५॥

अर्थात्- "अष्टापद पर्वत पर भरत महाराजा द्वारा बनायी गई और अनुक्रम से पूर्वादि सन्मुख स्थापन किये गये चार, आठ, दस और दो इस- तरह चौबीस जिनवर,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिन्होंने परमार्थ रूप से अपना लक्ष्य (मोक्ष सुख) सिद्ध-प्राप्त कर लिया है, वे सिद्ध परमात्मा मुझे सिद्धि पद प्रदान करें।''

यह अष्टापद तीर्थ की वंदना रूप चैत्य वंदन का ग्यारहवां अधिकार कहा। इस गाथा के अनेक प्रकार से विविध अर्थ कहे हैं, वे अन्य ग्रन्थों के आधार पर यहाँ देते हैं-

(१) श्री अष्टापद के ऊपर दक्षिण में चार, पश्चिम में आठ, उत्तर में दस, पूर्व में दो- इस तरह चौबीस को अथवा अन्य तरह से अष्टापद के ऊपर की मेखला में चार, बीच की मेखला में आठ और नीचे की मेखला में दस और दो मिलाकर चौबीस जिनेश्वरों की वंदना होती है।

(२) चत्तारि का अर्थ होता है-त्याग दिया है शत्रुओं को जिन्होंने वे आठ, दस और दो मिलकर सम्मेत शिखर पर सिद्ध हुए तीर्थंकर भी मुझे सिद्धि दें। इस अर्थ में 'च-उ-व्वीस' शब्द के 'च और उ' दो को अवयव जानना और वीस से बीस की संख्या का अर्थ करना। बीस परमात्मा शिखर जी मोक्ष गये हैं

(३) ऊपर कहे बीस को (चत्तारि अर्थात्) चार से भाग दें तो पाँच रहता है। उसमें ८ + १० = १८ मिलाने से २३ तीर्थंकर महाराज श्री शत्रुजंय पर पधारे हैं। फिर उनका दो = द्रव्य से भाव से इस तरह की वंदना हो सकती है।

(४) ४ × ८ = ३२ तथा १० × २ = २०, इस तरह ३२ + २० को मिलकर श्री नंदीश्वर द्वीप के बावन शाश्वता जिनालय की वंदना होती है।

(५) ऊपर कहे सम्मेत शिखर के बीस गिने गये, वह संख्या महा विदेह में विचरते २० विहरमानों की भी वंदना होती है।

(६) 'चत्तारि' अर्थात् 'त्याग किया राग द्वेषादि शत्रुओं का जिन्होंने' इस तरह अर्थ करने से उत्कृष्ट काल में पाँच महा विदेह में विचरते ८ × १० × २ = १६० तीर्थंकर देवों की भी वंदना होती है।

(७) दस में आठ मिलाने से अट्ठारह होते हैं और उसे चार गुना करने से १० + ८ = १८, १८ × ४ = ७२ होते हैं। इस तरह तीन काल की तीन चौबीसी के ७२ जिनेश्वरों की वंदना होती है। यहाँ 'दो' का अर्थ-द्रव्य-भाव दो प्रकार की वंदना करना।

(८) चार में आठ मिलाने से बारह होते हैं, उसे दस से और फिर दो की गुणा करने से ४ + ८ = १२, १२ × १० × २ = २४० होते हैं। वह पाँच भरत और पाँच ऐरावत मिलाकर चौबीसी के भगवान २४० होते हैं। उनको भी वंदन होता है।

(९) आठ वर्ग का आठ से ८ × ८ = ६४ और दस वर्ग का दस से १० ×

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१० = १००, इन दोनों ६४ + १०० मिलाने से १६४ तथा ४ + २ = ६ को मिलाने से कुल १७०, अठी द्वीप में एक साथ में विचरने वाले उत्कृष्ट एक सौ सत्तर तीर्थंकरों को भी वंदना होती है ।

(१०) 'चार' अर्थात् अनुत्तर विमान-नौग्रैवेयक, बारह कल्पोपपन्न एवं ज्योतिष- ये चार देवलोक । 'आठ' अर्थात् आठ व्यंतर । 'दस' अर्थात् दस भवन पति देव और 'दो' अधोलोक अधोलोक (कुबड़ी विजय) तथा तिरछा लोक रूप दो मनुष्य क्षेत्र । इस तरह सर्वत्र रही तीन लोक की शाश्वती तथा अशाश्वती सारी प्रतिमाओं की भी वंदना होती है । इस तरह अलग अलग अर्थ होता है' । अब सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र के लिए कहते हैं-

संपय पयप्प माणा, इह वीस बिहुत्तरं च वण्ण सयं ।
पणि वायदंडगाइसु, पञ्चमओ दंड ओ अ इमो ॥१॥

अर्थात्- ''इस 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र में पाँच गाथा के बीस पद हैं । उसी बीस पद में बीस संपदाएँ और एक सौ बहात्तर अक्षर हैं अथवा एक सो तिहत्तर अक्षर भी होते हैं । वैयावच्च आदि बाइस मिलाने से एक सौ बयानबें होते हैं । प्रतिपात दण्डक आदि पाँच दंडकों में यह सिद्धस्तव नाम का पाँचवां दण्डक सूत्र कहा है ।''

ऐसा कहने के बाद संचित पुण्य पुंज वाले श्रावक उचित कार्यों में उचित प्रवृत्ति करते हैं, इस न्याय से औचित्य बताने के लिए निम्नोक्त पाठ बोलना चाहिए- ''**वेयावच्च गराणं, संति गराणं, सम्मदिट्ठि समाहि गराणं करिमि काउस्सग्ग**'' उसमें '**वैयावृत्य कराणाम्**' अर्थात् श्री जैन शासन की सेवा-रक्षा रूप वैयावृत्य करने में तत्पर गोमुख यक्ष, अप्रतिचक्रा, चक्रेश्वरी देवी आदि यक्ष यक्षिणी सर्व लोक में '**संति गराणं**' = शान्ति करने वाले और '**सम्यग्दृष्टि समाहिगराण**' = सम्यग् दृष्टि जीवों को समाधि में सहायता करने वाले, '**करेमि काउस्सग्गं**' अर्थात् 'समस्त सम्यग् दृष्टि शासन देवों के निमित्त से काउस्सग्ग करता हूँ ।' यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है । इसके बाद **वंदन वत्ति आए**' आदि नहीं बोल कर केवल '**अन्नत्थ सूत्र**' बोलना चाहिए। क्योंकि देव अविरति वाले होते हैं, उनको वंदन-पूजन आदि करना योग्य नहीं है । इस प्रकार के करने से ही उनके भावों में वृद्धि हो जाती है, और वे स्मरण कर्त्ता के लिए उपकार दर्शक बनते हैं । अन्नत्थ सूत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है, वहीं से समझ लेना । केवल आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण काउस्सग्ग कर फिर पारकर यहाँ केवल वैयावच्च करने वाले देवों की स्तुति करना । यहाँ समकित दृष्टि देवों का स्मरण रूप चैत्य वंदन का यह बारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ । इसके बाद में उसी विधि से नीचे बैठकर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूर्ववत् 'प्रणिपात दण्डक' (नमुत्थणं) सूत्र कहकर मुक्ता शक्ति मुद्रा पूर्वक प्रणिधान-प्रार्थना सूत्र बोले । वह इस प्रकार है-

जय वीयराय ! जग गुरुहोऊ ममं तुहप्पभावओ भयवं ।
भव निव्वे ओ, मग्गाणु सारिआ इट्ठफल सिद्धी ॥१॥

लोग विरुद्धच्चाओ, गुरुजण पूआ परत्थ करणं च ।
सुह गुरु जोगो तव्व यण सेवणा आभवभखंडा ॥२॥

अर्थात्-"हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! आप की जय हो । हे भगवन्त ! आपके प्रभाव से मुझे (१) संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो, (२) सत्य (मोक्ष) मार्ग पर चलने की शक्ति प्राप्त हो, (३) इष्टफल की सिद्धि हो ॥१॥ हे प्रभो ! (४) निंदाजनक लोक विरुद्ध किसी भी कार्य में मेरी प्रवृत्ति न हो, (५) धर्माचार्य तथा माता पितादि बड़े व्यक्तियों के प्रति परिपूर्ण आदर भाव का अनुभव करूँ, (६) दूसरों का भला करने में तत्पर बनूं (७) हे प्रभो ! मुझे सद्गुरु का योग मिले, (८) उनकी अज्ञा के अनुसार चलने की शक्ति प्राप्त हो । यह सब जहाँ तक मुझे संसार में परिभ्रमण करना पड़े वहाँ तक अखण्ड रूप से प्राप्त हो ।"

विशेष अर्थ- 'जय वीयराय ! जय गुरु !' अर्थात्-हे वीत राग ! हे जगद्गुरो ! आप की जय हो । इस प्रकार भगवान श्री त्रिलोक नाथ को अपनी बुद्धि में स्थापित करने के लिए आमंत्रण किया है, **'होउ मम'** = मैं जो प्रार्थना करता हूँ वह सफल हो, **'तुहपभावओ'** = आपके प्रभाव से-सामर्थ्य से, **'भयवं'** = हे भगवन्त ! दूसरी बार यह संबोधन देकर अपनी भक्ति का अतिशय प्रगट किया है । क्या मिले ? उसके लिए कहते हैं-**'भव निव्वे ओ'** अर्थात् जन्म-मरण आदि दु:ख रूप संसार से निर्वेद (विरक्ति) वैराग्य भावना हो, वस्तुत: संसार की थकावट बिना मोक्ष का उद्यम वास्तविक नहीं होता। क्योंकि संसार से डरे बिना संसार का राग खत्म नहीं होता, न ही मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है । संसार में राग रखकर मोक्ष मार्ग का प्रयत्न करता है तो वह वास्तविक प्रयत्न नहीं समझा जाता, क्योंकि वह क्रिया जड़ के समान है । तथा **'मग्गानुसारिआ'** अर्थात् दुराग्रह रूप उन्मार्ग को त्यागकर तत्व भूत सत्य मार्ग के अनुसार तथा **'इट्ठफल सिद्धि'** = इष्टफल सिद्धि । इस संसार के इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति होने तक चित्त में स्वस्थता होती है और वह व्यक्ति आत्म कल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति कर सकता है । इस आशय से इस लोक के इष्ट फल की सिद्धि के लिए प्रार्थना करना अनुचित नहीं है । **'लोग विरुद्धच्चाओ'** = जिससे सभी लोगों में निन्दा हो ऐसा लोक विरुद्ध कार्य त्याग करना । दूसरे पंचाशक में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सव्वस्स चेव निंदा, विसेसओ तहय गुण समिद्धाणं ।
उजुधम्म करण हसणं, रीढा जण पूयणिज्जाणं ॥८॥

वहुजण विदुद्ध संगो, देसादाचार लंघणं चैव ।
उव्वण भोओ अ तहा दाणाइ वि पयऽमन्ने उ ॥९॥

साहू वसणम्मि तो सो, सइ सामात्थम्मि अपडि आरो अ।
एमाइ आइँ इत्थं, लोग विरुद्धाइं णे आइं ॥१०॥

अर्थात्- ''किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए, उसमें विशेषतः गुणवान् की तो कदापि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह लोक विरुद्ध है । तथा धर्म आराधना में सरल मनुष्य की कहीं भूल हो जाय तो उसका हास्य करना, लोगों में माननीय-पूजनीय का अपमान करना ॥८॥ जिसके बहुत जन विरोधी हों उनकी सोहबत करना, देश, काल, कुल आदि के आचारों का उल्लंघन करना, अर्थात् उस व्यवहार के विरुद्ध चलना, उद्धत वेश धारण करना तथा स्वयं द्वारा किए हुए दान, तप, यात्रा आदि की अपने मुँह से बड़ाई करना । उसे भी अन्य कई आचार्य लोक विरुद्ध मानते हैं ॥९॥ साधु-पुरुषों पर संकट आया हो तो उसे देखकर खुश होना, एवं स्वयं सामर्थ्य होने पर भी संकट से बचाने का प्रयत्न न करना, इत्यादि बातें भी लोक विरुद्ध समझी जाती हैं । ऐसे कार्य का मैं त्याग करूँ । तथा **'गुरुजणपुआ'** = गुरुजनों की उचित सेवा रूप पूजा करूँ । यद्यपि धर्माचार्य ही गुरु कहलाते हैं तथापि यहाँ माता पिता आदि को भी गुरुजन (बड़े) समझ लेना चाहिए ।'' योग बिन्दु में कहा है-

माता पिता कलाचार्य, एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरु वर्गः सतां मतः ॥११०॥

अर्थात्- ''माता, पिता, कलाचार्य, विद्या गुरु, उनके सम्बन्धी, समाज के वृद्ध तथा धर्मोपदेशक- इन सभी को सत्पुरुष गुरु तुल्य मानते हैं ।''

तथा **'परत्थ करणं च'** = जीवन का सार भूत दूसरे जीवों की भलाई का कार्य = परोपकार करना, वास्तव में यह धर्म पुरुषार्थ का चिह्न है । इस प्रकार से पूर्वोक्त गुणों की प्राप्ति से साधक जीवन में लौकिक सुन्दरता प्राप्त करता है और वही लोकोत्तर धर्म का अधिकारी बनता है । इसलिए कहा है- **'सुहगुरु जोगो'** = विशिष्ट चारित्रवान, पवित्र, शुद्ध गुरु भगवन्त, साधु, साध्वियों एवं धर्माचार्यों का संयोग-शुभ निश्रा मिले **'तव्वयण सेवणा'** = उन सद्गुरु महाराज के वचनानुसार आचरण करना । ऐसे सद्गुरु भगवन्त कभी अहितकर उपदेश नहीं देते । इसलिए उनके वचनों की सेवा **'आभवमखड़ा'** अर्थात् जब तक मोक्ष न हो संसार में परिभ्रमण करना पड़े, वहाँ तक सम्पूर्ण में प्राप्त हो ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह प्रार्थना खासकर त्याग की अभिलाषा रूप होने (नियाणा) निदान रूप नहीं है परन्तु मोक्ष के बीज रूप होने से हितकारी है और वह भी अप्रमत्त संयत सातवें गुण स्थानक की प्राप्ति के पहले ही होता है, क्योंकि अप्रमत्त गुण स्थानक से जीव को संसार या मोक्ष एक की भी अभिलाषा नहीं रहती, उनके लिए शुभ अशुभ सभी भाव निरपेक्ष होते हैं। इस तरह शुभफल की प्रार्थना रूप जय वीयराय की दो गाथा तक उत्कृष्ट चैत्य वंदन की विधि जानना। इस तरह आवश्यक चूर्णि आदि के आधार पर जो उत्कृष्ट चैत्य वंदन कहा है उसकी यह विधि है, ऐसा समझना। वर्तमान काल में दो स्तुति जोड़कर आठ थई पूर्वक किया जाता है।

अब श्री जिन मंदिर के विषय में शेष कर्त्तव्य मूल गाथा से कहते हैं-

आशतना परीहारं, स्वशक्यो चित्त चिन्तनम्।
प्रत्याख्यान क्रियाऽभ्यर्णे गुरोर्विनय पूर्वकम् ॥६२॥

मूलार्थ- "श्री जिन मंदिर आदि की आशातना का त्याग करना, अपनी शक्ति संपत्ति अनुसार जिन मंदिर आदि के करने योग्य उचित कार्य की चिन्ता (सार संभाल) करना और वन्दनादि विनय पूर्वक गुरु के पास पच्चक्खान करना इत्यादि श्रावक का विशेष धर्म है।"

व्याख्या- '**आय**' = ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति, उसकी '**शातना**' = नाश करना वह '**आय + शातना**' है। उसमें से निर्युक्ति (पदच्छेद) के कारण 'य' का लोप होने से 'आशतना' शब्द बना है। ज्ञानादि गुणों की घातक आशातनाओं का त्याग करना श्रावक का विशिष्ट धर्म है। यहाँ पर श्री जिन मंदिर का अधिकार होने से यहाँ उसकी आशातना बताना आवश्यक है, फिर भी प्रसंग को लेकर अन्य भी आशातनाओं का वर्णन करते हैं। आशातनाएँ- (१) ज्ञान, (२) देव और (३) गुरु आदि की होती हैं, इस तरह तीनों की जघन्य मध्यम, और उत्कृष्ट रूप में तीन प्रकार की होती हैं। उसमें प्रथम ज्ञान की आशातना का वर्ण करते हैं-

ज्ञान की आशातना- ज्ञान उपकरण (साधन) पुस्तक, पाटी, स्लेट, कागज आदि को थूक लगाना या उन वस्तुओं के पास होने पर अपान वायु हो, अथवा बोलते समय कम ज्यादा अक्षर बोलना, इत्यादि ज्ञान की जघन्य आशातना है। साधु, शास्त्र विरुद्ध, स्वाध्याय के निषिद्ध काल में पढ़े, श्रावक उसे सूत्र के उपधान = तप बिना और साधु उस सूत्र के योगोद्वहन के बिना पढ़े, बुद्धि की भ्रान्ति से गलत अर्थ करना, ज्ञान के उपकरण साधन को भूल से पैर आदि लगाना या नीचे गिरा देना इत्यादि से मध्यम आशातना लगती है। थूक से अक्षर मिटा दे, पुस्तक आदि पर बैठे, सो जाय, पुस्तकादि ज्ञान के साधनों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के पास होने पर भी मल मूत्र करे। ज्ञान या ज्ञानी की निंदा करना, पढ़ने पढ़ाने में अंतराय करना, पढ़ने वाले के प्रति द्वेष रखना, उसका उपघात-नाश करना, जानते हुए भी उत्सूत्र बोलना, इस प्रकार ज्ञान की उत्कृष्ट (महान) आशातनाएँ होती हैं।

देव की आशातना- श्री जिन प्रतिमा को, वाला कूची, कलश आदि लगाने से, श्वास लगने से, पहने हुए कपड़ों का छेड़ा लगने से जघन्य आशातना होती है। अशुद्ध अंग से अंग पूजा करना, प्रतिमा को नीचे गिरा देना-इत्यादि मध्यम आशातना, और श्री जिन मूर्ति को पैर, श्लेष्म, थूक पसीना आदि लगाने से, मूर्ति तोड़ने से या अपमान करने आदि से उत्कृष्ट आशातना होती है। अथवा शास्त्रों में संख्या की अपेक्षा से जघन्य दस, मध्यम चालीस और उत्कृष्ट चौरासी आशातना देव की लगती हैं। प्रवचन सारोद्धार द्वार ३७ में कहा है-

तम्बोल पाण मो अणु-वाण हथी भोग सुवण निट्ठुवणं।
मुत्तुच्चारं जूअं, वज्जे जिणं मंदिरस्सं तो ॥१॥

अर्थात्- "श्री जिन मंदिर में (१) तम्बोल-पान खाना, (२) पानी पीना, (३) भोजन करना, (४) जूते पहनना, (५)स्त्री सेवन करना, (६) शयन करना, (७) थूकना या श्लेष्म कफ फेंकना, (८) पेशाब करना, (९) मल करना और (१०) जुआ खेलना-इन दस बड़ी आशातनाओं का अवश्य त्याग करना चाहिए।"

मध्यम आशातना को सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में इस तरह कहा है-

मुत्त पुरीसं-पाणं पाणा सण सयण इत्थिं तंबोलं।
निट्ठी वणं च जुअं जुआइय लोयणं विगहा ॥२४८॥

पल्हत्थी करणं पि हु, पायपसरण परूप्पर विवाओ।
परिहासो मच्छरिआ, सीहासण माइपरि भोगो ॥२४९॥

केस सरीर विभूसण, छत्ताऽसि किरीड-चमर धरणं च।
धरणं जुवई हिं सवियार हास खिड्डुप्प संगाय ॥२५०॥

अकय मुह कोस मलिणंग वत्थ जिण पूअणापवित्तीए।
मण सो अणे गयत्तं, सचित्त दविआण अविमुअणं ॥२५१॥

अचित दवि अ बुस्सग्गणं च तह णेग सा डिअत्तभवि।
जिण दंसणे अणंजलि, जिणंमि दिट्ठंमि अ अपूआ ॥२५२॥

अहवा अणिट्ठ कुसुमाइ पूअणं तह अणायर पवित्ती।
जिण पडिणी अनिवारण, चेइ अदव्वसुवेक्खणमो ॥२५३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सइ सामत्थि उवाणह, पुव्वं चिइ वंदणाइ पढणं च ।
जिण भवणाइ ठिआणं, चालीसा सायणा एए ॥२५४॥

अर्थात्- "१. लघुनीति, २. बड़ी नीति, ३. सुरापान आदि पीना, ४. पानी पीना, ५. भोजन, ६. शयन, ७. स्त्री सेवन करना, ८. पान खाना, ९. थूक श्लेष्म फैंकना, १०. जुआ खेलना, ११. शरीर-कपड़े आदि में से जूं खटमल आदि बीनना, १२. राजकथादि पापकारी विकथा करना, १३. पैर के साथ में कमर बांधकर या पलाठी लगाकर बैठना तथा १४. लम्बे चौड़े पैर करके बैठना, १५. परस्पर वाद विवाद झगड़ा करना, १६. हास्य मखौल करना तथा १७. मत्सर करना, १८. मंदिर के सिंहासन पट्टे आदि धर्म कार्यों में भी अपने नाम का उपयोग करना, १९. केश कलाप आदि शरीर की शोभा श्रृंगार करना, २०. छत्र, छत्री धारण करना, २१. हाथ में तलवार आदि शस्त्र रखना, २२. मस्तक पर मुकुट पहनकर जाना, २३. अपने ऊपर चमरादि करवाना, २४. देनदार को मंदिर में पकड़ना या वहाँ लांघने बैठना, २५. युवती-स्त्रियों के साथ में विकारपूर्वक हँसना बोलना, २६. भांड़ आदि के समान वर्तन करना, २७. मुख कोष बंधन किये बिना जाना तथा २८. मलिन शरीर-वस्त्र आदि से पूजा करना, २९. मन को पूजा में एकाग्र नहीं करना, चंचल मन रखना, ३०. कलगी, हार, पुष्प आदि सचित्त पहनकर रखना, ३१. पहने हुए अचित्त आभूषण, अलंकार आदि मंदिर में जाते हुए या जाने के बाद निकाल देना, ३२. उत्तरासंग दुपट्टा खेस जोड़ा हुआ या फटा रखना या सर्वथा रखा ही नहीं हो, ३३. श्री जिनेश्वर के दर्शन होते ही दो हाथ जोड़कर नमस्कार नहीं करना, ३४. श्री जिन दर्शन करने पर अथवा पूजा के लिए संपत्ति-सामग्री की अनुकूलता होने पर भी पूजा नहीं करना, ३५. हलकी जाति के पुष्प चन्दन केसर आदि से पूजा करना, ३६. अनादरपूर्वक पूजा आदि कार्य करना, ३७. जिन विरोधियों को निंदा आदि करते देखकर अपने में सामर्थ्य होने पर भी नहीं रोकना, ३८. चैत्य-देव द्रव्य का नाश होता हो, उसमें अपना सामर्थ्य और अधिकार होने पर भी उपेक्षा करना, ३९. जूते पहनना, वाहन में बैठकर मंदिर में जाना और ४०. द्रव्य पूजा करने से पहले चैत्य वंदनादि भाव पूजा करना। इस तरह श्री जिन मंदिर में यह चालीस मध्यम अशातना जानना ।'

अब उत्कृष्ट चौरासी आशातना प्रवचन सारोद्धार, द्वार ३८ में कही हैं । वे इस प्रकार हैं कि-

खेलं केलि कलि कला कुल लयं तम्बोल मुग्गालयं,
गाली कंगुलिआ शरीर धुवणं केसे नहे लोहिअं ।
भत्तोसं तय पित्त वंत दसणा विस्सामणा दामणां,
दंत च्छी नह गल्ल नासिअ सिरो सोत्त च्छवीस मलं ॥४३३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मंतं मीलण लिक्खयं विभजण भंडार दुट्ठासणं,
छाणी कप्पड़ दालि पप्पड़ बड़ी विस्सारणं नासणं ।
अक्कंदं विकहं सरूच्छुघऽणं तेरिच्छ संठावणं ।,
अग्गिसेवणं रंधणं परिखणं निस्सिहि आभंजणं ॥४३४॥

छत्तो वाणह सत्थ चामर मणोऽणेगत्त मब्भंगणं,
सच्चित्ताणंमचाय चायमचिए दिट्ठीई नो अंजली ।
साडे गुत्तरसंग भंग मउडं मोलिं सिरो सेहरं,
हुड्डा जिउहगे डुि आइ रमणं जोहार मंडक्किकयं ॥३३५॥

रेक्कारं धरणं रणं विवरणं वालाण पल्हत्थिअं,
पाऊ पाय पसारणं पुडपुडी पंकं रजो मेहुणं ।
जुअं जेमण गुज्झ विज्झ वणिज्जं सिज्जं जलं मज्जणं,
एमाई अमवज्जकज्जमु जुओ वज्जे जिणिंदालए ॥४३६॥

अर्थात्- "जिन मंदिर के अन्दर १. कफ श्लेष्म आदि डालना । २. जुआ आदि खेलना । ३. झगड़ा करना । ४. धनुष बाण आदि कला सीखना । ५. कुल्ला करना । ६. पान खाना । ७. पान को थूकना । ८. गाली आदि असभ्य बोलना । ९. लघु बड़ी नीति करना । १०. हाथ पैर आदि धोना । ११. केश बनाना, सुधारना । १२. नाखून उतारना । १३. रक्त आदि के छींटे गिराना । १४. मिठाई आदि खाना । १५. फोड़ा फुन्सी आदि का बिगाड़ फैंकना । १६. औषध आदि से पित्त की उलटी करना । १७. वमन करना । १८. गिरा हुआ दांत फैंकना । १९. शरीर दबवाना इत्यादि सेवा करवाना । २०. गाय, भैंस, बकरी, घोड़ा आदि पशुओं का दमन करना । २१. से २८. तक दांत, आंख, नख, गंड स्थल यानी कनपटी, गाल, नाक, मस्तक, कान और चमड़ी- इस तरह आठ का मैल उतारना या डालना । २९. मन्त्र भूत प्रेत आदि को काबू करने का प्रयोग-मंत्र साधना करना, अथवा राज्य कार्य आदि गुप्त मंत्रणा करना । ३०. विवाहादि सावध कार्यों का निर्णय करना, पंच, जाति अथवा महाजन रूप में एकत्रित हो करके बैठना । ३१. अपने व्यापार आदि सम्बन्धी लेख दस्तावेज आदि लिखना । ३२. राज्य कार्य आदि का बंटवारा करना अथवा हिस्सेदार का हिसाब करना । ३३. अपना धन आदि का खजाना मंदिर में रखना । ३४. पैर पर पैर चढ़ाकर असभ्य रूप में बैठना । ३५. से ३९. तक उपले, वस्त्र, मूंग आदि दाल, पापड़ बड़ी आदि सुखाना, उपलक्षण से आम, चीमड़ा आदि अन्य वस्तुएँ सुखाना या लकड़ी आदि सुखाना, रखना इत्यादि आशातना है । ४०. राजा अथवा लेनदार आदि के भय से मन्दिर के अन्दर छिपकर रहना । ४१. पुत्र या स्त्री आदि के वियोग से-शोक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से रोना। ४२. स्त्री कथा आदि विकथा कहना। ४३. बाण या कोल्हू आदि बनाना, अथवा 'सत्थ' शब्द से बाण शस्त्रों को बनाना। ४४. गाय बैल आदि वहाँ बांधना, रखना। ४५. अग्नि से तापना। ४६. अनाज पकाना। ४७. पैसे रत्न सोना आदि की अपने स्वार्थ के लिए परीक्षा करना, कराना। ४८. विधिपूर्वक तीन निसीहि का पालन नहीं करना। ४९. से ५२. तक छत्र, जूते, शस्त्र चमर– ये चार मंदिर में ले जाना। ५३. पूजादि में मन की एकाग्रता नहीं करना। ५४. शरीर पर तेल आदि को मसलना। ५५. शरीर पर सचित्त पुष्पों आदि को पहनकर रखना। ५६. हार अंगूठी आदि नित्योपयोगी अचित्त आभूषण उतारकर जाना, ऐसा करने से 'अहो ! यह तो धर्म भिखारी का है' इस तरह हलके लोगों में धर्म का अपमान होता है। ५७. श्री जिनेश्वर परमात्मा का दर्शन होते ही तुरन्त दो हाथ जोड़कर नमस्कार नहीं करना। ५८. एक साड़ी दुपट्टा न रखना, अथवा जोड़ा हुआ या फटा हुआ रखना। ५९. मुकुट पहनकर रखना। ६०. मौली अर्थात् मोती आदि का सेहरा, पगड़ी, कलगी मस्तक पर पहनकर रखना। ६१. मस्तक पर पुष्पों का शिखर बनाना। ६२. होड़, शर्त करना। ६३. दण्डे आदि से क्रीड़ा आदि करना। ६४. मंदिर में माता पितादि सगे सम्बन्धी को नमस्कार आदि करना। ६५. कांख से आवाज करना इत्यादि विट भांड के समान कुचेष्टा करना। ६६. दूसरे को तिरस्कार पूर्वक बोलना। ६७. उधार लेना, वहाँ बैठकर धरणा देना या देनदार को पकड़ना। ६८. युद्ध संग्राम करना। ६९. सिर के बाल अलग करना या बनाना। ७०. पर्यस्तिका = दो घुटनों को कटी प्रदेश से बांधकर इत्यादि अविनयपूर्वक बैठना। ७१. पैर में खड़ाऊँ पहनकर रखना। ७२. स्वच्छंद रूप में पैरों को लम्बे चौड़े करके बैठना। ७३. मन के आनंद के लिए सीटी बजाना अथवा पैर की अंगुलियों की आवाज करना, पैर चंपी आदि करवाना। ७४. शरीर हाथ पैर आदि धोकर वहाँ कीचड़ करना। ७५. पैर आदि में लगी धूल रेती वहाँ साफ करना। ७६. मैथुन, स्त्री सेवन करना। ७७. खटमल जूँ आदि वहाँ रखना या बीनना। ७८. भोजन करना। ७९. गुप्तेन्द्रिय को विकारी बनाना अथवा जुज्झं पाठान्तर होने से इसका अर्थ दृष्टि युद्ध-वाग् युद्ध आदि युद्ध करना। ८०. वैद्यक कार्य अथवा औषध आदि का कार्य करना। ८१. व्यापार माल का लेन देन करना। ८२. बिछौना बिछाकर सोते रहना। ८३. पानी पीने को वहाँ रखना, पिलाना, या मंदिर के परनाल आदि वर्षा के पानी से स्नान करना और ८४. वहाँ बैठकर स्नान करना।

इस तरह तीन प्रकार की आशातना में जघन्य आशातना की संख्या बहुत कम है, परन्तु वह बहुत कठोर है और उसके ही भेद प्रभेद रूप चालीस और चौरासी हैं। वस्तुतः जघन्य दस में सारी आशातना अंतर्गत हो जाती हैं। इस तरह सब प्रकार की आशातनाएँ जिन मंदिर आदि में त्याग करनी चाहिएं। चैत्य वंदन वृहद् भाष्य में तो पांच ही आशातनाएँ कही हैं–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिण भवणंमि अवण्णा, पूयाई अणायरो तहा भोगो ।
दुप्पणि हाणं अणुचिअ वित्ती आसायणा पंच ॥८०॥

तन्थ अवन्ना सायण, पल्हत्थि अ देवपि ट्ठिदाणं च ।
पुडपुडी अपयपसारण, दुट्ठासण सेव जिणगेहे ॥८१॥

जारिसता रिस वेसो, जहां तहा जंमि तंमि कालंमि ।
पुआइ कुणइ सुन्नो, अणायरा सायणा एसा ॥८२॥

भोगो तंबा लाई, कीरंतो जिणगिहे कुणइ वस्सं ।
नाणाइ आण आयस्स, सायणं तो तमिह वज्जे ॥८३॥

रागेण व दोसेण व मोहण व दूसिआ मणो विती ।
दुप्पणिहाणं भण्णइ, जिण विसए तं न कायव्वं ॥८४॥

धरण रण रूअण विगहा, तिरि बंधण रंधणाई गिहि किरिया।
गाली विज्ज वणिज्जाइ, चेइए चयणु चिय वित्ती ॥८५॥

अर्थात्- "श्री जिनेश्वर भगवान के मंदिर में १. अवज्ञा करना, २. पूजा आदि में अनादर करना, ३. पान आदि वस्तुओं का भोग करना, खाना पीना, ४. मन में दुष्ट संकल्प, खराब भावना रखना तथा ५. अनुचित प्रवृत्ति करना। यह श्री जिन मंदिर की पांच आशातनायें हैं। उसमें पर्यस्तिका = दो पैर कमर के साथ में बांधकर या पालथी लगाकर बैठना, प्रतिमा की ओर पीठकर बैठना, खड़े होना, सीटी बजाना, मालिस करना, पैर लम्बे-चौड़े करके बैठना तथा असभ्यतापूर्वक बैठना इत्यादि 'अवज्ञा' नामक प्रथम आशातना जानना। जैसे तैसे कपड़े पहनकर, अपने मन इच्छानुसार जब अनुकूलता हो तब और शून्य चित्त से अनादर पूर्वक पूजा करना इत्यादि करने से दूसरी 'अनादर' नाम की आशातना कही है। पान आदि खाने से ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति रूप लाभ का नाश अवश्य होता है, इससे 'भोग' नाम की तीसरा आशातना नहीं करना। राग, द्वेष या मोह या अज्ञान मूढ़ता से दूषित मनोवृत्ति दुष्ट प्रणिधान कहलाता है। जिनेश्वर के प्रति उस मन के 'दुष्प्रणिधान' रूप चौथी आशातना का त्याग करना तथा उधार लेने के लिए वहाँ बैठकर लंघन करना, युद्ध मारा मारी-झगड़ा करना, शोकादि करना, रोना, राज कथा आदि विकथा करना, घोड़े गाय आदि पशुओं को वहाँ बांधना, रखना, रसोई करना, गाली देना, औषध करना, व्यापार आदि करना इत्यादि 'अनुचित प्रवृत्ति' नामक पाँचवीं आशातना है। ये पाँचों आशातना श्री जिनेश्वर मंदिर में नहीं करनी चाहिएं।"

इन पाँच में सब आशातना अन्तर्गत जानना। आशातनाओं का त्याग करने के लिए अधिक क्या कहना ? अत्यन्त विषयासक्त एवं अविरति देव भी जिनेश्वर भगवान के मंदिर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में आशातनाओं का त्याग करते हैं । श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

देवहरयंमि देवा , विसय विस विमोहिआ न कयावि ।
अच्छरसाहिंपि समं, हासक्की डाइ वि कुणति ॥१२४॥

अर्थात्- "विषय रूपी विष से मूढ़ भी देवता आदि जिन मंदिर के अन्दर अप्सराओं के साथ में भी कदापि हास्य,क्रीड़ा अथवा अनुचित शब्द उच्चारण आदि नहीं करते ।"

जिस तरह जिन मंदिर की आशातनाएँ गृहस्थ को त्याग करने योग्य हैं उसी तरह साधु मुनिराज से भी यदि संभव हो तो उनका साधु को भी त्याग करना चाहिए । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

आसायणा उ भव भमण कारणं इय विभाविउं जइणो।
मल मलिणु त्ति न जिण मंदिरं मि निवसंति इइ समओ ॥४३७॥

अर्थात्- "जिनेश्वर भगवन्त अथवा मंदिर में होने वाली आशातनाएँ संसार परिभ्रमण कराने वाली हैं, ऐसा जानकर साधु को अपने शरीर वस्त्रादि मैल से मलिन होने के कारण जिन मंदिर में चैत्य वंदनादि प्रयोजन पूर्ण होने के बाद अधिक रुकना नहीं चाहिए । ऐसा जिन आगम में कहा है ।"

गुरु आदि की आशातना- गुरु महाराज की आशातना भी जघन्य आदि तीन प्रकार की होती है । उसमें गुरु को पैर आदि का स्पर्श होने से वह जघन्य आशातना है । श्लेष्म-कफ, थूक आदि का अल्प मात्र भी लगना मध्यम आशातना है और गुरु देव की आज्ञा नहीं पालन करना, आज्ञा से विपरीत करना, कठोर-अपमान जनक शब्द कहना इत्यादि उत्कृष्ट आशातना होती है । इनकी तैंतीस आशातना हैं । वह गुरु वंदन अधिकार में कही जायेगी । गुरु की स्थापना की स्थापनाचार्य की आशातना भी तीन प्रकार की है उसमें स्थापनाचार्य जी को बारम्बार जहाँ तहाँ घुमाने से और पैर आदि का स्पर्श करने से जघन्य आशातना, जमीन पर नीचे गिराने से एवं अनादर से इधर उधर रखने से मध्यम आशातना और स्थापना जी का खंडन करने, तोड़ने अथवा अन्य रूप से नाश करने आदि से उत्कृष्ट आशातना होती है । इसके उपलक्षण से ज्ञान के उपकरण के समान दर्शन के उपकरण और चारित्र के उपकरण की भी आशातना का त्याग करना चाहिए । कहा है कि- **'अहवा णाणाइतिंग'** अर्थात् 'स्थापनाचार्य जी के अभाव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरणों की भी स्थापना स्थापन कर सकते हैं ।' इसलिए ऐसे उत्तम कार्य में उपयोगी ओघा, चखला, मुँहपत्ती, दण्डा-दण्डी आदि भी जिसका जिस प्रसंग पर जिस तरह उपयोग करना हो उसका उसी तरह ही उपयोग करना चाहिए । अन्य कार्य में उसका उपयोग करने से आशातना होती है । श्री महानिशीथ सूत्र में कहा है कि- "**अविहीए**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निअसणुत्तरिअं रयहरणं दंडग वा परिभुंजे चउत्थं ति ॥'' अर्थात् 'अविधि पूर्वक जहाँ तहाँ इधर उधर निवसन-चोल पट्टा उत्तरीय वस्त्र रजोहरण-ओघा अथवा दण्डा का उपयोग करने से 'चतुर्थ' प्रायश्चित लगता है।' इसलिए श्रावकों को भी चखला, मुँह पत्ती आदि उपकरण का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिए, और फिर उसे यहाँ वहाँ नहीं रखना, नियत स्थान पर सुरक्षित संभालकर रखना चाहिए क्योंकि धर्म साधनों को भी साध्य के उपचार से धर्म रूप होने से उसकी अवज्ञा-अनादर रूप आशातना लगती है। इन आाशातनाओं में 'उत्सूत्र भाषण, अरिहंत, गुरु आदि' की अवज्ञा आदि बड़ी आशातनाएँ हैं। इससे जीव को अनंत संसार बढ़ जाता है। इससे अनंतकाल तक संसार में जन्म मरणादि करना पड़ता है। अतः कहा है कि-

उस्सुत्त भास गाणं, बोहि णासो अणंत संसारो।
पाणच्चए वि धीरा, उस्सुत्तं ता न भासं ति ॥१॥

अर्थात्-''उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाले समकित का नाश करते हैं और अनंत संसार बढ़ जाता है। इसलिए धीर पुरुष प्राणान्त में भी उत्सूत्र-परमात्म के वचन नहीं बोलते हैं।'' उपदेश पद में भी कहा है कि-

तित्थयर पवयण सुअं, आयरिअं गणहरं महड्ढीअं।
आसां यतो बहुंसो, अणंत संसारिओ होइ ॥४२३॥

अर्थात्-''श्री तीर्थंकर, प्रवचन, संघ श्रुत, आगम, आचार्य गणधर भगवन्त और महर्द्धिक अर्थात् ज्ञानादि गुणों से महान, लब्धिवान् साधु मुनिराज की बारम्बार आशातना करने वाले अनंत संसारी होते हैं।''

इस तरह से देव द्रव्य, ज्ञान दृव्य, साधारण द्रव्य और गुरु द्रव्य अथवा उनके वस्त्र पात्र आदि का नाश करने से तथा सामर्थ्य एवं रक्षा करने की अपनी जवाबदारी का अधिकार होने पर भी नाश होते उपेक्षा करने से महा आशातना होती है। सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में कहा है-

चेइ अदव्व विणासे, ईसिधाए पवयणस्स उड्डाहे।
संजइ चउत्थ मंगे, मूलग्गी बोहि लाभस्स ॥१०५॥

अर्थात्-''देव द्रव्य का नाश करने से, मुनि का घात करने से, शासन की अपभ्राजना करने से और साध्वी का चतुर्थ व्रत खण्डन करने से समकित प्राप्ति के मूल में आग रखी जाती है फिर अनंत काल तक वह वस्तु नहीं मिलती है। इसी प्रकार ज्ञान द्रव्यादि धार्मिक द्रव्यों को भी इसी तरह समझना। उसमें देव द्रव्य का भक्षण अथवा अन्य रूप में उसका नाश होते जानकर भी उपेक्षा करना आदि भी द्रव्य नाश करने के समान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझना। श्रावक दिन कृत्य दर्शन शुद्धि प्रकरण तथा सॅगरध आदि ग्रन्थ में कहा है कि-

चेई अदव्वं साहारणं च जो दुहइ मोहिअमई ओ ।
धम्मं च सो न याणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥१०७॥

अर्थात्- "जो मूढ मति वाला देव द्रव्य अथवा साधारण द्रव्य का दोहन-कमाता है अथवा उसका नाश आदि करता है तो वह धर्म को नहीं जानता है अर्थात् उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है अथवा तो नरक का आयुष्य बाँधकर वह अवश्य नरक में उत्पन्न होता है।"

उसमें चैत्य (देव) द्रव्यतो प्रद्धि है, साधारण द्रव्य उसे कहते हैं कि जो मंदिर की पुस्तकादि-उपाश्रय का अथवा आपत्ति वाले श्रावकों का उद्धार आदि करने के लिए ऋद्धि वाले श्रावकों की ओर से एकत्रित किया हुआ हो। इस तरह दोनों प्रकार के द्रव्यों का जो नाश करता है अथवा उससे स्वयं ब्याज-सूद उत्पन्न करता है अथवा व्यापार करके उसका लाभ स्वयं खाता है वह मोह से मूढ़मति वाला जीवात्मा धर्म नहीं जानता अर्थात् वह धर्म विमुख होता है, और पहले आयुष्य बंधन किया न हो तो वह नरक का आयुष्य बांधकर नरक में जाता है। साधु के विषय में सम्बोध प्रकरण देवाधिकार में कहा है कि-

चेइ अदव्य विणासे, तद्दव्य विणासणे दुविहभेए ।
साहू उविक्ख माणो अणंत संसारिओ भणिओ ॥१०६॥

अर्थात्- "इस गाथा का अर्थ टीका में इस तरह कहा है-एक चैत्य द्रव्य अर्थात् सोना, चांदी, पैसे आदि और तद् द्रव्य अर्थात् दो प्रकार का जिन मंदिर का द्रव्य- एक नया खरीद किया और दूसरा पुराना निकाला हुआ मंदिर का लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि अथवा अन्य रूप से ऐसा भी अर्थ होता है कि-एक स्तंभ कुभि आदि मूल द्रव्य और दूसरा छत आदि ऊपर का अर्थात् उत्तर द्रव्य इन दोनों प्रकार के देव द्रव्य के नाश में उपेक्षा करने वाला, ऐसा समझने वाला। अन्य प्रकार से भी एक स्वपक्ष अर्थात् साधर्मिक श्रावक आदि वर्ग और परपक्ष अर्थात् अन्य धर्मीलोक- इन दो पक्ष द्वारा ऊपर कहे अनुसार सर्व प्रकार का देव द्रव्य अर्थात् धन या मंदिर की वस्तुओं का नाश होता हो तब श्रावक तो क्या यदि सर्व सावध का त्याग करने वाला साधु भी उपेक्षा करे, उपदेश आदि द्वारा उसे रोके नहीं-रक्षा करे करावे नहीं तो उसे भी अनंत संसारी कहा है।"

यहाँ प्रश्न करते हैं-पाप व्यापार का मन, वचन और काया से करना, कराना और अनुमोदना का त्याग करने वाले साधु मुनिराज को देव द्रव्य की रक्षा करने के अधिकार योग्य कैसे गिना जाय ? इसका उत्तर देते हैं-साधु को राजा आदि के पास से आज्ञा करके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

घर गांव आदि नया एकत्रित करने से दोष लगता है परन्तु कोई यथा भद्रिक-सरल परिणामी धर्म रुचि वाले आदि मनुष्यों ने पहले दिया हो अथवा अन्य रूप से एकत्रित किया हो, ऐसा द्रव्य नाश होता हो तब रक्षा करने वाले साधु को उसके पच्चक्खान में कोई कभी नहीं होती है, उलटा जिनाज्ञा के पालन से धर्म का पोषण होता है। इसके विषय में पञ्चकल्प भाष्य में कहा है कि-

चोएइ चेइ आणं, खित्त हि रण्णे अ गाम गावाई ।
लग्गं तस्य उ जईणो, तिगरण सोही कहं नुभवे ? ॥१॥

भण्णई इत्थ विभासा, जो एआइ सयं विमग्गेज्जा ।
तस्स न होइ विसोही, अह कोई हरिज्ज एआइं ॥२॥

तत्थ करंतु उवेहं सा जा भणिआ उ तिगरण विसोही।
सा य न होइ अभत्ती, तस्य य तम्हा निवारिज्जा ॥३॥

सव्वन्थामेण तहि संघेण य होइ लग्गि अव्वं तु ।
सचरितऽचरित्तीण य सव्वेहिं होइ कज्ज तु ॥४॥

अर्थात्- "शिष्य प्रश्न करता है कि चैत्य के क्षेत्र-गांव-पशु-पत्थर आदि की सार संभाल में पड़े हुए साधु को मन, वचन और काया की शुद्धि किस तरह हो सकती है ? उत्तर में गुरु महाराज कहते हैं कि-इसमें एकान्त नहीं है, स्वयं इन वस्तुओं को माँगे तो उस साधु को त्रिकरण शुद्धि नहीं रहती, परन्तु 'कोई इसका हरण करता हो तो तब भी उसकी उपेक्षा करना वह त्रिकरण शुद्धि है।' ऐसा जो कहता है वह वस्तुतः त्रिकरण शुद्धि नहीं है, परन्तु परमात्मा के प्रति अभक्ति है। इसलिए देवद्रव्य का हरण अथवा दुर्व्यय होते रोकना ही चाहिए। साधु हो या गृहस्थ, सभी का यह कर्त्तव्य है। इसलिए सर्व उपाय-बल पूर्वक चतुर्विध श्री संघ को उसका नाश होने से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।" व्यवहार भाष्य में भी कहा है कि-

चेइअ दव्वं गिण्हित्तु, भुंजए जा उ देइ साहूणं ।
सो आणा अण वत्थं, पावइ लिं तो विदिं तो वि ॥१॥

अर्थात्- "देव द्रव्य को ग्रहण करके स्वयं जो भक्षण करता है, आजीविका चलाता है और मुनिराज को उससे आहारादि देता है, वह लेने देने वाला दोनों जिनाज्ञा भंग करते हैं तथा अनवस्था पाप की परम्परा रूप दोष के हिस्सेदार बनते हैं अर्थात् 'जिनाज्ञा भंग और अनवस्था' ये दोनों दोष उनको लगते हैं। इसी तरह साधु भी देव द्रव्य की रक्षा के लिए जवाबदार है। देव द्रव्य का भक्षण और रक्षण और वृद्धि करने का अनुक्रम से फल श्राद्धदिन कृत्य द्वारा करते हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिण पव यण वुड्ढिकरं पभा वंग नाण दंसण गुणाणं।
भक्खंतो जिण दव्वं, अणंत संसारिओ होइ ॥१४२॥

अर्थात्- "देव द्रव्य हो तो मंदिर बनाना, चैत्य (प्रतिमा) बनानी और सार संभाल लेनी, महा पूजा या सत्कार आदि भक्ति कार्य करना इत्यादि हो सकता है, वहाँ दर्शनार्थ प्रायः कर साधुओं का भी आगमन होने से उनका व्याख्यान श्रवण आदि द्वारा श्री जैन शासन की वृद्धि भी होती है और इससे ज्ञान दर्शन और चारित्र गुणों की प्रभावना भी होती है, और इस तरह इस उपकारी देव द्रव्य का भक्षण-नाश करने वाला अनंत संसारी होता है।" आगे और भी कहा है-

जिण पवयण वुड्ढिकरं, प्रभावगं नाणदंसणं गुणाणं।
रक्खं तो जिण दव्वं, परित्त संसारिओ होइ ॥१४३॥

अर्थात्- "पूर्व कहे अनुसार श्री जिन शासन की उन्नति और ज्ञानादि गुणों की प्रभावना करने वाला, देव द्रव्य की रक्षा करने वाला अल्प संसारी होता है और अल्प जन्मों में मोक्ष जाने वाला है।" आगे भी कहा है कि-

जिण पवयण बुड्ढि करं पभावगं नाणं दंसण गुणणं।
वु (व) ड्ढंतो जिण दव्वं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥१४४॥

अर्थात्- "वह श्री जिन शासन की वृद्धि और ज्ञान-दर्शनादि गुणों की प्रभावना करने वाला, देव द्रव्य की विधि पूर्वक रक्षा एवं न्याय पूर्वक वृद्धि करने वाला जीव तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करता है।"

देव द्रव्य की वृद्धि भी कुव्यापार के बिना, सद्व्यवहार आदि से ही करनी चाहिए क्योंकि गृहस्थ की सर्व व्यवहार की शुद्धि का मूल न्यायोपार्जित द्रव्य है। वैसे धर्म व्यवहार की शुद्धि का मूल भी शास्त्रानुसार उचित उपायों से एकत्रित हुआ देव द्रव्य ज्ञान, द्रव्य आदि होना चाहिए। संयम की रक्षा और वृद्धि में निर्दोष आहार के समान धर्म की रक्षा और वृद्धि में निर्दोष द्रव्य भी लाभ प्रद है। यदि अज्ञान भाव से, अधिक पापमय या परिग्रह संज्ञा से, धार्मिक द्रव्य अनुचित मार्ग से एकत्रित किया जाय तो वह वस्तुतः गुणों का विकास करने वाला नहीं होता। इसलिए धार्मिक द्रव्यों का रक्षण, वृद्धि और सदुपयोग करने वाला तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करता है। नहीं तो उसका कारण संबोध प्रकरण देवाधि देवाधिकार में कहा है:-

जिणवर आणा रहिअं, वद्धारंता वि केवि जिण दव्वं।
बुड्डंति भव समुद्दे, मूढा मोहेण अन्नाणी ॥१०२॥

अर्थात्- "कितने मोह मूढ़ अज्ञानी जीव जिन आज्ञा के विरुद्ध अन्याय, लोभ,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ममता, आदि अव्यवहार मार्ग से देव द्रव्य को बढ़ाते हैं फिर भी संसार समुद्र में डूबते हैं ।''

कितने शास्त्रकारों का तो कथन है कि-अन्य धर्मी को देव द्रव्य देकर बहुमूल्य आभूषण-धरोहर लेकर भी अधिक ब्याज लेकर देव द्रव्य की वृद्धि करना योग्य नहीं है, क्योंकि सम्यकत्व सप्तति की टीका आदि में संकाश श्रावक की कथा में उसका निषेध किया है तथा तीर्थमाला आदि पहनने आदि में भी जो बोली बोलने में आती है वह देव द्रव्य गिना जाता है, इसलिए जल्दी दे देना चाहिए, विलम्ब से देने से देव द्रव्य का उपयोग किया गिना जाता है और इससे पूर्व कहे अनुसार दोष लगता है । जिसको तत्काल देने की अनुकूलता-शक्ति न हो उसे संघ के समक्ष पाक्षिक, महीना आदि स्पष्ट समय-अवधि नक्की करके उस मुद्दत से पहले दे देना चाहिए । मुद्दत पर नहीं देने से भी देव द्रव्य का उपभोग करने का पूर्व कथित दोष लगता है । देव के लिए बाजे, ढोलक, हारमोनियम, झांझ आदि भी गुरु महाराज या संघ, आगे उपयोग नहीं करना । कितने आचार्य कहते हैं कि खास कारण से विशेष किराया देकर उपयोग कर सकते हैं । कहा है कि-

मुल्लं विणा जिणाणं, उवगरणं चमरछत्त कल साई।
जो वावारेइ मूढो, निअकज्जे सो हवइ दुहिओ ॥१॥

अर्थात्- ''जो मूढ़ात्मा श्री जिनेश्वर भगवान के चमर, छत्र, कलश आदि का मूल्य-किराया-नकरा दिये बिना अपने कार्यों में उपयोग करता है, वह दुःखी होता है ।''

मूल्य-नकरा देकर भी अपने कार्य में उपयोग करते समय कभी कोई वस्तु खण्डित हो जाय तो अपने द्रव्य से वह नयी अच्छी तरह बनाकर वापिस देनी चाहिए । यदि अपना दीपक केवल देव दर्शन के लिए ही श्री जिन मंदिर में लाया हो तो वह मंदिर में लाने पर भी देव का दीपक नहीं गिना जाता, पूजा के उद्देश्य से देव सन्मुख रखा हो तो वह देव दीपक माना जाता है । क्योंकि इस विषय में परिणाम की प्रधानता है । देव को अर्पण किया हो तो देव का कहलाता है अन्यथा नहीं होता । यहाँ देव द्रव्य के विषय उचित अनुचित रूप में जानना, इस तरह ज्ञान द्रव्य के विषय में भी समझ लेना । ज्ञान के लिए साधुओं को दिये कागज पत्रे आदि भी श्रावक अपने उपयोग में नहीं ले सकता, तथा साधु साध्वी की मुँहपत्ति आदि भी श्रावक को उपयोग करना योग्य नहीं है । यह गुरु द्रव्य कहलाता है । श्राद्ध जीत कल्प में भी कहा है कि-

मुहपत्ति आसणाइसु, भिण्ण जलण्णामाइसु गुरु लहूगाई।
जइदव्व भोगि अ पुण, वत्थाइसु देव दव्वव्व ॥६८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''गुरु महाराज-साधु-साध साध्वी की मुंहपत्ति, आसन आदि उपयोग करने से 'भिन्न भास' नामक प्रायश्चित आता है तथा उनका आहार पानी आदि शब्द से वस्त्र आदि उपयोग करने से तथा विक्रमादित्य राजा के समान किसी के द्वारा साधु की निश्रावाला-साधु के लिए निश्चित्त किया हुआ सुवर्ण आदि उपयोग करने से अनुक्रम से गुरु-लघु आदि प्रायश्चित आते हैं। जल पीने से 'छह लघु' भोजन कराने से 'चतुर्गुरु' वस्त्र आदि का उपयोग करने से 'छह लघु' और सुवर्ण आदि का उपयोग करने से 'छह गुरु' आदि। इससे नक्की हुआ कि गुरु द्रव्य दो प्रकार का है- 'एक उनके उपयोग के वस्त्र, पात्र, आहार, पानी आदि भोग द्रव्य और दूसरा उनके पूजादि के समय में गृहस्थ का भेंट किया, जो श्रावक के पास में एकत्रित हुआ सोना मोहर आदि। ये दो प्रकार का गुरु द्रव्य भी श्रावक को उपयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ भिन्न भास, चतुर्लघु, गुरु, छह लघु-गुरु इत्यादि प्रायश्चित्त के सांकेतिक पारिभाषिक शब्द जानना।

साधारण द्रव्य भी यदि श्री संघ के उपयोग करने के कहा हो तो ही श्रावक अपने लिए उपयोग कर सकता है। इसलिए श्रावक को मुख्यतया साधारण खाते में ही धन को देना उत्तम है क्योंकि साधारण द्रव्य सर्व धर्म कार्यों में उपयोगी बनता है। श्रावक ने धर्म मार्ग में उपयोग करने का नक्की किया हो उसे आपने धन से भी अलग ही उपयोग करना चाहिए। अपने लिए बनता भोजन, दान आदि में एकत्रित उपयोग नहीं करना। ऐसा करने से स्पष्ट रूप में धार्मिक द्रव्य उपभोग का दोष लगता ही है। इससे जो तीर्थ यात्रादि में भोजन, गाड़ी, बस आदि किराया खर्च होता है उस अपने व्यक्तिगत खर्च को जो धर्मादा के लिए नक्की किए द्रव्य में से खर्च करता है उस मूढ़ात्मा की गति समझ में नहीं आती अर्थात् दुर्गति ही होती है।

उद्यापन (उजयना) आदि भी कोई अपने नाम से बड़े आडम्बर से करता है तो लोग उसकी प्रशंसा-अनुमोदना करते हैं, और उसमें देव द्रव्य, ज्ञान द्रव्य या साधारण द्रव्य की अनेक वस्तुओं का उपयोग होता है। उसका किराया (नकरा) योग्य नहीं दे अथवा अल्प मात्र दे तो उन धार्मिक वस्तुओं के उपयोग से अपनी प्रशंसा बढ़े उसका स्पष्ट दोष लगता है। इसलिए पूर्ण रूप से योग्य नकरा देना और श्री जिन शासन की प्रभावना का ही उद्देश्य रखना चाहिए। तत्व से अपनी प्रशंसा के लिए धार्मिक उपकरणों का उपयोग करना वह उसकी आशातना है।

अन्य किसी ने धार्मिक कार्यों के लिए धन दिया हो, तो उपयोग करने के समय संचालक कर्ता आदि कार्य करने वाले को मूल मालिक का नाम जाहिर करके उपयोग (खर्च) करना चाहिए नहीं तो संचालक कर्त्ता को पुण्य के स्थान पर उस धन की चोरी का दोष लगता है। इसी तरह से अन्त समय पिता आदि सम्बन्धियों के पीछे जो धर्मादा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहा जाता है उसे भी मरने वाला सावधान हो ऐसी सावध अवस्था में गुरु आदि संघ की साक्षी में जाहिर करना कि-तुम्हारे निमित्त इतने दिनों महीनों में इतना धन आदि धर्म मार्ग में खर्च करूँगा, उसकी आप अनुमोदना करो इत्यादि बीमार को सुनाना चाहिए और उसके अवसान होने के बाद कहे अनुसार सर्व लोग जानें इस तरह जल्दी मरने वाले के नाम से ही देना (उपयोग करे)।

अमारि द्रव्य-जीव दया पशु पक्षी के दानों के लिए धन तो देव के उपयोग में नहीं खर्च करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से उन जीवों को आहार (घास) पानी का अंतराय कर्म का बंधन होता है और इससे भोगांतराय कर्म का बंधन होता है तथा वह जीव भूख प्यास से मर जाय तो वहाँ हिंसा का महादोष लगता है। इसलिए जीव दया फंड उसी में खर्च करे।

इसलिए सर्व धर्म कार्यों में आशातना रोकने के लिए विवेक रखना ही आवश्यक है। वस्तुतः निष्पक्ष रूप में जिनाज्ञा अनुसार पालन करने से ही लाभ है, क्योंकि राग द्वेषादि से अथवा लोभ, मूर्च्छा, अज्ञान पक्षपात आदि से होने वाली अच्छी भी प्रवृत्ति अनुचित बन जाती है। इस तरह आशातना परिहार-त्याग रूप मूल बासठवीं गाथा के प्रथम पाद का वर्णन किया। अब 'अपनी शक्ति अनुसार उचित प्रवृत्ति करनी चाहिए' इस दूसरे पाद का वर्णन करते हैं।

मानव मात्र को अपनी संपत्ति, शक्ति या योग्यता अनुसार कार्य करना चाहिए वह कार्य आदर का पात्र होता है, और शक्ति से विशेष या कम प्रमाण में करे तो वह शोभास्पद या स्व-पर को लाभदायक नहीं होता है। इसलिए कहा है कि-चैत्य सम्बन्धी कार्य अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। जैसे कि 'मंदिर का प्रदेश साफ रखना अथवा मंदिर के आस पास या ऊपर का विभाग, दीवार, छत्र, शिखर, दरवाजा, बाहर का मंडप आदि साफ करना तथा मंदिर की भूमि फर्श आदि का प्रमार्जन करना-साफ करना, पूजा के लिए सामग्री तैयार करना, जिन प्रतिमा तथा परिकर आदि उज्जवल बनाना अर्थात् विशेष निर्मल करना, सुन्दर अंग रचना, दीपक की रोशनी आदि शोभा करनी चाहिए। यह कार्य जिन आज्ञा के विरुद्ध कार्य का त्याग करके करना चाहिए। अक्षत-नैवैद्य आदि का रक्षण करना, योग्य वस्तु संभाल कर रखना, चंदन, केसर, धूप, घी आदि उत्तम जाति की वस्तुओं का संग्रह करना। देव द्रव्यादि उगाही-वसूली में उद्यम रखना, देव द्रव्य व्यवस्थित स्थान पर रखना, उसकी आमदनी-व्यय तथा उपज-खर्च का हिसाब स्पष्ट साफ रखना अर्थात् बही में अच्छी तरह व्यवस्थित हिसाब लिखना। जब उसका जहाँ उपयोग करना जरूरी हो तब वहाँ उसका उपयोग विवेक पूर्वक करना। पुजारी आदि उत्तम स्वभाव वाले नौकर को अच्छे वेतन से संतोष देना, इत्यादि कार्य शक्ति अनुसार करना यह गृहस्थ का विशेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धर्म है। यहाँ तात्पर्य यह है कि-परिवार अथवा नौकर आदि के द्वारा किया जा सके ऐसे ही कार्य करवाना रूप संभाल धनी धनवान को सरल हैं। और अपने आप मेहनत से कुटुम्ब के मनुष्यों से हो सके ऐसे कार्य रूपी सेवा-संभाल सामान्य श्रावकों को सरल हैं। इसलिए जिसको जो कार्य जितना सामर्थ्य हो उसे वह कार्य अपने सामर्थ्य को छुपाये बिना शक्ति के अनुसार विशेष प्रमाण में करना चाहिए। उसमें भी थोड़े समय में हो सकें ऐसे कार्य दूसरे के कहने के पहले ही कर लेना और विशेष समय लगने वाला कार्य हो तो अपनी अनुकूलता अनुसार यथा समय में बाद में भी किया जाये तो हर्ज नहीं है। वस्तुतः गृहस्थ जीवन का यही वास्तविक सार-कमाई है। और कहा है कि-

तं नाणं तं च विन्नाणं तं कलासु अ कोसलं ।
सा बुद्धी पोरिसं तं च, देव कज्जेण जं वए ॥१॥

अर्थात्- "वही ज्ञान है, वही विज्ञान है, वही कला कौशल है, वही बुद्धि है और वही पुरुषार्थ सफल है कि जो तारक परमात्मा श्री जिनेश्वर भगवान के कार्यों में उपयोग हो।"

प्राचीन श्री जिन मंदिरों का जीर्णोद्धार करने में तो महान फल मिलता है। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

अप्प उद्धरिओ च्चिअ, उद्धरिओ तहय तेहि निअवंसो।
अन्ने अ भव्व सत्ता, अणु मोअंता उ जिण भवणं ॥१०१॥

खविअं नीआ गोअं, उच्च गोअं च बंधिअं तेहि ।
कुगइ पहो निट्ठ विओ, सुगइ पहो अज्जिओ तहण ॥१०२॥

इह लोगंमि सु कित्ती, सुपुरिसा मग्गो अ देसिओ होई।
अन्नेसिं भव्वाणं, जिण भवणं उद्धरं तेणं ॥१०३॥

सिज्झंति केई तेणेव, भवेण सिद्धत्तणं च पाविंति ।
इंद समा केई पुणो सुर सुक्खं अनुभवे ऊणं ॥१०४॥

अर्थात्- "जिसने प्राचीन जिनेश्वर भगवान के मंदिर का जीर्णोद्धार किया है उसने वस्तुतः तो अपनी आत्मा का, वंश परम्परा का और उसकी अनुमोदना करने वाले अन्य अनेक भव्य आत्माओं का भी उद्धार किया है ऐसा समझना। उन्होंने श्री जिन मंदिर के जीर्णोद्धार से नीच गोत्र खपा कर उच्च गोत्र का बन्धन किया है और दुगर्ति का मार्ग छोड़कर सद्गति का मार्ग प्राप्त किया है। श्री जिन मंदिर का जीर्णोद्धार करने वाले की इस लोक में निर्मल कीर्ति बढ़ती है और वह अन्य भव्य आत्माओं को सत्पुरुषों का कर्त्तव्य-मार्ग बतलाता है अर्थात् पूर्व काल में श्री अष्टापद आदि तीर्थोद्धार कराने वाले

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री सागर चक्रवर्ती के पुत्र आदि के समान तीर्थोद्धार-जीर्णोद्धार कराने वाले प्राचीन सत्पुरुषों का मार्ग आचरण करके अन्य भव्य आत्माओं को यह मार्ग बतलाया है, इसी प्रकार उनका किया हुआ भी जीर्णोद्धार देखकर, जानकर अन्य आत्मा भी वह करे करवाये- इस तरह मार्ग बतलाया हुआ कहलाता है । जीर्णोद्धार कराने वाले कई पुण्य शाली आत्मा उसी जन्म में सर्व कर्मों को तोड़ कर सिद्धिगति में जाते हैं, कई स्वर्ग लोक में इन्द्र बनते हैं, तो कोई इन्द्र समान ऋद्धि वाला-सामनिक देव उत्पन्न होकर देव सुखों को भोगकर उत्तम कुल में मनुष्य रूप में जन्म लेकर सिद्धि गति को, मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।''

इस तरह धर्म शाला उपाश्रय-पौषधशाला, गुरु महाराज और ज्ञान आदि के कार्य की चिन्ता भी शक्ति के अनुसार करना, शक्ति अनुसार उस कार्य की सार संभाल करना, क्योंकि देव-गुरु-ज्ञान आदि की चिन्ता संभाल-सेवा करने का धर्म श्रावकों का ही है। इस तरह बासठवीं गाथा के 'उचित प्रवृत्ति' अंश का वर्णन किया । अब 'विनय पूर्वक गुरु महाराज के पास में पच्चक्खान करना चाहिए' ऐसा कहते हैं ।

इस तरह श्री जिन पूजा आदि कार्य करने के बाद, यदि साधु मुनि राज देव वंदन करने पधारे हुए हों अथवा स्नात्रादि महोत्सव के दर्शन के लिए श्री जिन मंदिर में आए हों अथवा धर्मोपदेश देने पधारे हों अथवा विहार करते हुए पधारे हों तो वहाँ नहीं, जहाँ विराजमान हों उस उपाश्रय धर्मशालादि स्थान पर जाकर वहाँ भी जिन मंदिर के समान तीन बार निसीहि, पाँच अभिगम आदि यथा योग्य विनय पूर्वक प्रवेश करके गुरु-धर्माचार्य आदि मुनि के पास में जाकर विनय पूर्वक बंदनादि करे समीप का अर्थ अनके पास जाकर साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह (मर्यादा) के बाहर खड़े होकर विनय पूर्वक वंदन करे, उनका व्याख्यान उपदेश सुने । बाद में देव के समक्ष किया हुआ प्रत्याख्यान दम्भ रहित व निर्मल चित्त होकर गुरु के समक्ष प्रगट करे । क्योंकि प्रत्याख्यान की विधि तीन की साक्षी से होती है- (१) आत्मसाक्षी से, (२) देव साक्षी से और (३) गुरुसाक्षी से । इसलिए गुरु महाराज के पास में भी अवश्य करना चाहिए । और कहा भी है कि-

प्रत्याख्यानं यदासीतत्करोति गुरु साक्षिकम् ।
विशेषेणाथ गृहणाति, धर्मोऽसौ गुरु साक्षिकम् ॥१॥

अर्थात्-''पहले जो किया हो, धारण किया हो वह अगर उससे विशेष पच्चक्खान गुरु महाराज की साक्षी में ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि धर्म-साधना गुरु साक्षी में करने का कहा है ।''

गुरु महाराज की साक्षी में पच्चक्खान करने से-परिणाम-भावना में दृढ़ता होती

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है। कहा है कि-'गुरु सक्खिओ हु धम्मो' अर्थात् गुरुदेव की साक्षी में धर्म करना श्री जिन आज्ञा का पालन होता है। गुरु महाराज के मुख से वचन सुनने से शुभ आशय प्रगट होता है, इससे क्षयपशम बढ़ता है तथा उस क्षयोपशम से उस गुण (पच्चक्खानादि) की वृद्धि होती है। इस तरह उत्तरोत्तर अनेक लाभ होते हैं। अतः श्रावक प्रज्ञप्ति में कहा है कि-

संतंमि वि परिणामे, गुरु मूल पवज्जणं मि एस गुणो।
दढ या आणा करण, कम्म खओ व सम वुड्ढी अ ॥१॥

अर्थात्- "मन में अच्छे परिणाम होने पर भी गुरु महाराज की साक्षी से धर्म-पच्चक्खान आदि क्रिया करने से ये गुण प्रगट होते हैं- (१) परिणाम में दृढ़ता, (२) श्री जिनाज्ञा का पालन, (३) इससे कर्मों का क्षयोपशम, और (४)इस क्षयोपशम होने से उन धर्म-परिणामों की वृद्धि होती है।" इसलिए पच्चक्खान के समान अन्य भी छोटे बड़े नियम भी यदि गुरु महाराज का संयोग हो तो अवश्यमेव गुरुदेव की साक्षी में स्वीकार करना चाहिए।

॥ इति चैत्य वंदन अधिकार॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरु वंदन अधिकार

प्रत्याख्यान विनयपूर्वक करने को कहा है, विनय गुरु महाराज को वंदन आदि करने से होती है। इसलिए अब गुरु वंदन का स्वरूप कहते हैं। उसमें गुरु वंदन भाष्य की मूल गाथा कहा है कि-

गुरु वंदण मह ति विहं, तं फिट्टा १ छोभ २ बार सावत्तं ३।
सिर नमणाई सु पढम, पुण्ण खमासमण दुगि बीअं ॥१॥

तइ अं तु छंदण दुगे, तत्थ मिहो आइमं सयल संघे ।
बीअं तु दंसणीण य, पयट्ठि आणं च तइअं तु ॥४॥

अर्थात्-"गुरु वंदन तीन प्रकार का होता है एक फिट्टा वंदन, दूसरा छोभ या थोभ वंदन और तीसरा द्वादशावर्त्त वन्दन है। उसमें प्रथम मस्तक आदि नमाने से, दूसरा पांच अंग से दो पूर्ण खमासमण देने से और तीसरा दो वांदना देने से होता है। उसमें भी प्रथम चतुर्विध श्री संघ को परस्पर दूसरा साधु साध्वी को और तीसरा पद स्थ-आचार्य उपाध्याय पंन्यास गणी प्रवर्त्तक-स्थविर आदि पदवीधर को किया जाता है।

इसमें यह विवेक है कि फिट्टा वंदन साधु द्वारा साधुओं द्वारा, साध्वी ने सर्व साधु और साध्वियों को, श्रावक द्वारा सर्व साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाओं को, श्राविका को भी उन चारों को फिट्टा वंदन करना चाहिए। छोभ वंदन साधु द्वारा बड़े साधु को, साध्वी द्वारा सर्व साधु तथ बड़ी साध्वी को, श्रावक द्वारा सर्व साधुओं को, और श्राविका द्वारा सर्व साधु साध्वी को किया जाना चाहिए। द्वादशावर्त्त वंदन तो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका द्वारा सर्वपदस्थ-पदवी धर को ही किया जाना चाहिए। वह भी अपदस्थ साधुओं द्वारा सर्व पदस्थ को, तथा पदस्थ द्वारा बड़े पदस्थ को किया जाना चाहिए। यह द्वादशावर्त्त वंदन आज कल अधिकतः तो श्रावक श्राविकाओं को पौषध में राइ मुहपत्ति (लघु प्रतिक्रमण) रूप में तथा चतुर्विध श्री संघ में चौमासी सवंत्सरी के खामणा रूप में प्रवृत्ति देखी जाती है। किसी किसी समुदाय में हमेशा केवल एक वडिल-बड़े आचार्य श्री को द्वादशावर्त वंदन किया जाता है। सर्व पदस्थ को नहीं किया जाता।

जिसने प्रतिक्रमण गुरु महाराज के पास में नहीं किया हो उसे विधि पूर्वक वृहद् (द्वादशवर्त्त) वंदन करना चाहिए। उसकी विधि गुरु वंदन भाष्य में इस प्रकार से कही है-

इरिया कुसुमिणुस्सग्गो चिइवंदण पुत्ति वंदणा लोअं।
वंदण खामण वंदण, संवर चउछोभ दुसज्झाओ ॥३८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इरिया चिइ वंदण पुत्ति, वंदण चरिम वंदणा लोअं ।
वंदण खामण चउ छोभ दिवसुस्सग्गो दुसज्झाओ ॥३६॥

अर्थात्- ''इसका भावार्थ वहां कहा है कि-पहले इरिया वहि पडिक्कम्मी कुसुमिया दुसुमिण का काउस्सग्ग एक सौ या एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास का करना । फिर जग चिन्तामणी से जय वीयराय तक चैत्य वंदन करके आदेश मांगकर राइ मुंहपत्ति पडि लेहन कर दो वांदना देकर फिर **'इच्छा संदिसह भगवन् राइअं आलोउं ?** पडि ऐसा आदेश मांगकर 'जो मे राइओ०' आदि कहकर **'सव्वस्स वि'** आदि कहकर रात्रि सम्बन्धी आलोचना करना। यह आलोचना लघु प्रतिक्रमण रूप है । फिर दो वंदना देकर **राइ अब्भूट्ठिओ** से गुरु महाराज खमावे, फिर दो वांदना देना, फिर पच्चक्खान का आदेश मांगकर पच्चक्खान करना । फिर चार खमासमणा देने पूर्वक **'भगवान् हं'** आदि छोभ वंदन करना, और आखिर सज्झाय के दो आदेश मांगकर स्वाध्याय ध्यान करना (सज्झाय करना) । यहां आदेश मांगने के पहले खमासमण और आदेश स्वीकार रूप 'इच्छं' आदि विधि यथा योग्य समझ लेना । यह द्वादशावर्त्त वन्दन रूप लघु राइ प्रतिक्रमण जानना । (३८) ॥ शाम को भी खमासमण देकर इरिया वहि प्रतिक्रमण कर, खमासमण देकर, आदेश मांगकर चैत्य वंदन करना । फिर खमासमण देकर आदेश मांगकर देवसि-मुंहपत्ति पडिलेहन कर दो वांदना देना, फिर दिवस चरिमं आदि पच्चक्खान करना, फिर दो वांदना देकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन देवसिअं आलोउं ?'** यह आदेश मांगकर **'जो ये देवसिओ०' 'सव्वस्स वि०'** कहकर दैवसिक आलोचना करना (मंडली से भिन्न प्रतिक्रमण करने वाले को यह आलोचना रूप दैवसिक लघु प्रतिक्रमण जानना) । फिर दो वांदना देकर आदेश मांगकर, **देवसिअ अब्भुट्ठिओ** से गुरु से क्षमा याचना करना फिर चार खमासमणपूर्वक **'भगवान् हं'** आदि छोभ वंदन करना और आखिर में सज्झाय के दो आदेश मांगकर सज्झाय करना । यहाँ भी प्रत्येक आदेश के पहले 'खमासमण' और बाद में 'इच्छं' आदि बोलने का स्वयमेव समझ लेना । ३६॥''

यहां द्वदशावर्त्त वन्दना में एक सौ अट्ठानबे करणीय-स्थान कहे हैं । भाष्य में चार सौ बयानबे कहे हैं । उसमें इन १९८ के अतिरिक्त २२६ अक्षर, ५८ पद, चार, वंदनदाता चार वंदन नहीं करने वाला, अ निषेध चार स्थान, सुबह शाम को दो विधि, एक स्थापना, अवग्रह एक के बदले दो- इस तरह २२६ + ५८ + ४ + ४ +२ +१ + १ = ३०० अधिक गिनकर वंदन करने वाले के छः दोष वहाँ नहीं गिने । वे कम करने २९४ स्थान वहां अधिक कहे हैं । प्रवचन सारोद्धार में इस तरह कहा है-

महणं तय देहाव स्सएसु पण वीसं हुंति पत्तेअं ।
छट्ठाण छ गुरु वयणा, छच्च गुणा हुति नायव्वा ॥९३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अहि गारिणो य पंच य, इयरे पंचेव पंच आहरणा ।
एगोऽवग्गह पंचाभिहाण पंचेव पडिसेहा ॥६४॥

आसायण तितीसं, दोसा बत्तीस कारणा अट्ठ ।
छद्दोसा अडनउ अं ठाण सयं वंदणे होइ ॥६५॥

अर्थात्- ''पच्चीस मुंहपत्ति पडिलेहण के, पच्चीस शरीर पडिलेहण के स्थान, पच्चीस आवश्यक (कर्त्तव्य), शिष्य के गुरु से छः प्रश्न, गुरु द्वारा दिये हुए छः उत्तर, गुरु वंदन से छः गुण, वंदन कराने में अधिकारी पांच वंदनीय, अनाधिकारी पांच अवन्दनीय, गुरु वंदन के पांच उदाहरण, एक अवग्रह, गुरु वंदन के पांच नाम, वंदन न करने के पांच निषेध, गुरु महाराज की तैंतीस आशातनाएँ, वंदन के बत्तीस दोष, करण आठ और छः दोष- इस तरह २५ + २५ + २५ + ६ + ६ + ५ + ५ + ५ + १ + ५ + ५ + ३३ + ३२ + ८ + ६ = १९८, कुल विषय अनुक्रम से कहा जायेगा।'' उसमें प्रथम मुंहपत्ति के पच्चीस स्थान इस प्रकार से हैं-

दिट्ठ पडिलेह एगा पप्फाडा तिन्नि तिन्नि अंतरिआ ।
अक्खोडा पक्खोडा, नव नव मुंहपत्ति पण विसा ॥१॥

अर्थात्- ''एक दृष्टि पहिलेहण, तीन तीन मिलकर छः प्रस्फोटक, और तीन तीन बार अन्तर से नौ अक्खोडा तथा नौ पक्खोडा मिलकर कुल पच्चीस स्थान मुंहपत्ति के हैं।''

इसका विवेचन अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है-मुंहपत्ति का पडिलेहन उत्कट आसन से अर्थात् घुटनों के बल पर बैठे, फिर दोनों हाथ दोनों पावों के बीच में रखना, उसमें पहले-दृष्टि पडिलेहना = अपनी दृष्टि के सामने मुंहपत्ति को खोलकर किनारी वाला भाग दोनों किनारे से दोनों हाथ की तर्जनी और अंगूठे से चौड़ी पकड़कर दृष्टि से देखो, जीव आदि हो तो जयणा पूर्वक योग्य स्थान पर रख दो। फिर उसका बायें हाथ से पकड़ा हुआ कोना दायें से पकड़ो और दायें हाथ में पकड़ा हुआ कोना बायें हाथ में पकड़कर दूसरी ओर के भाग का बराबर निरीक्षण दृष्टि से करो- यह दृष्टि पडिलेहन कहलाता है। उसके बाद छः प्रस्फोटक करना इसे 'पुरिम' भी कहते हैं। दृष्टि पडिलेहन में दोनों हाथ से चौड़ा पकड़कर मुंहपत्ति के बायें हाथ से पकड़े कोने को तीन बार हिलाना-नचाना यह पहला तीन प्रस्फोटक है और मुंहपत्ति का पासा बदलकर दृष्टि से देखकर दायें हाथ वाले विभाग को पूर्व के समान तीन बार नचाना-हिलाना, वह दूसरा तीन प्रस्फोटक, इस तरह छः प्रस्फोटक जानना। प्रवचन सारोद्धार में केवल सामान्य से 'प्रस्फोटक करना' ऐसा कहा है, बायें दाहिने हाथ वाला कोना इत्यादि नहीं कहा। भाष्य में इसे 'उर्ध्व प्रस्फोटक' कहा है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसके बाद नौ अक्खोडा और नौ पक्खोडा अर्थात् प्रस्फोटक के बाद मुंहपत्ति को बायें हाथ में लाकर बीच का आवरण पकड़कर दुहरी करना, यहां से मुंहपत्ती का समेटन आरम्भ होता है। दो पड़ करके दोनों हाथ से इस तरह पकड़ना, या दृष्टि सामने आये फिर दायें हाथ की चार अंगुलियों के तीन मध्य भाग में मुहपत्ती को रखना शेष भाग नीचे लटकता रहे। इस तरह पकड़ना इसे वधूटक कहते हैं, इस तरह तीन वधूटक करना। प्रवचन सारोद्धार में वधूटक कहा है, फिर वह बायें हाथ से पकड़कर वधूटक वाली मुंहपत्ति द्वारा हाथ की हथेली का स्पर्श न हो इस तरह तीन बार कोहनी तक लाना– ये तीन प्रथम अक्खोडा कहलाता है। फिर कोनी की ओर से हाथ के स्पर्शपूर्वक तीन बार मुंहपत्ति को हथेली की ओर ले जाना उसे तीन पक्खोडा कहते हैं। फिर पहले के समान हथेली के अन्दर के भाग में कोनी तक ले जाते दूसरी बार तीन अक्खोडा, पुनः वहां से हथेली की ओर ले जाते दूसरा तीन पक्खोडा और कोनी से हथेली की ओर ले जाते तीसरा तीन पक्खोडा होता है। इस तरह अक्खोडा, फिर पक्खोडा और पक्खोडा फिर अक्खोडा एक दूसरे का अन्तर होता है। केवल भेद यह है कि– प्रारम्भ अक्खोडा से होता है और अक्खोडा में मुंहपत्ति हाथ को स्पर्श न हो इस तरह ऊपर हिलाकर हथेली से कोहनी की ओर ले जाई जाती है। इससे उलटा पक्खोडा अक्खोडा फिर होता है तथा उसमें मुंहपत्ति हाथ को स्पर्श तथा प्रमार्जन पूर्वक कोहनी की ओर से हथेली की तरफ ले जायी जाती है इसलिए भाष्य में तो पक्खोडा को प्रमार्जन भी कहा है। यहाँ मुंहपत्ति की विशिष्टता होने से ये मुंहपत्ति के स्थान कहलाते हैं। इन स्थानों में मन की स्थिरता के लिए चिन्तन करने के मुंहपत्ति के पच्चीस बोल इस तरह हैं–

सुत्तत्थ तत्त दिट्ठी, दंसण मोह तिगं च राग तिगं च।
देवाई तत्तां तंग तहय अदेव वाइ तत्त तिगं ॥१॥

नाणाइ तिगं तह त व्वि राहणा तिन्नि गुत्ति दंड तिगं।
इअ मुहणं तग पडिलेहणाइ कम सो विचिंतिज्जा ॥२॥

अर्थात्– ''दृष्टि पडिलेहण करते समय '**सूत्र-अर्थ तत्व करीसद्दहुं**' ऐसा चिन्तन करना अर्थात् 'सूत्र और अर्थ दोनों को तत्व रूप अर्थात् सत्य समझता हूँ और उसकी प्रतीति करके उस पर श्रद्धा करता हूँ।' फिर पहले तीन ऊर्ध्व प्रस्फोटक करते समय '**दर्शन मोहत्रिक = समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय परिहरूँ।**' अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म की ये तीन प्रकृतियां दूर करने योग्य हैं, इसलिए यहां मुंहपत्ति तीन बार हिलायी जाती है। फिर दूसरे तीन प्रस्फोटक में '**रागत्रिक अर्थात् कामराग, स्नेहराग, दृष्टि राग परिहरूं।**' ये तीनों प्रकार के राग दूर करने योग्य हैं इसलिए यहां मुंहपत्ती तीन बार हिलायी जाती है। उसके बाद प्रथम तीन अक्खोडा में 'देवादित्रिक'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् '**सुदेव सुगुरु सुधर्म आदरूं**' यानी सुदेव, सुगुरु और सुधर्म सम्बन्धी श्रद्धा अपने में प्रविष्ट हो– ऐसी इच्छा है । अत: मुहपत्ती को अंगुलियों के अग्र भाग से अन्दर लाने की क्रिया की जाती है । फिर तीन पक्खोडा में '**अदेवादित्रिक**' अर्थात् '**कुदेव कुगुरु कुधर्म परिहरूं**' = कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करता हूँ । उसके बाद दूसरी बार तीन अक्खोडा में '**ज्ञानादित्रिक**' = '**ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरूं**' अर्थात् ये तीनों वस्तुएं अपने अन्दर लाने के लिए इनका व्यापक न्यास किया जाता है । इसके बाद दूसरी बार तीन पक्खोडा में उसकी विराधना त्रिक = '**ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना, चारित्र विराधना परिहरू**' अर्थात् ये तीन वस्तुएं बाहर निकालने की हैं तदर्थ उसका प्रमार्जन किया जाता है । फिर तीसरी बार तीन अक्खोडा में तीन गुप्ति = '**मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति आदरूँ**' अर्थात् ये तीनों वस्तुएँ अपने अन्दर लाने के लिए इसका व्यापक न्यास किया जाता है । इसके बाद फिर तीसरी बार तीन पक्खोडा में तीन दण्ड = '**मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायादण्ड परिहरूँ**' अर्थात् ये तीनों वस्तुएं बाहर निकालने की हैं इसलिए इनका प्रमार्जन किया जाता है । इस तरह कुल पच्चीस स्थान से पच्चीस बोल का चिन्तन करना चाहिए । इस तरह सोलह द्वार में मुंहपत्ति पडिलेहन के पच्चीस स्थानक रूप यह प्रथम द्वार कहा । अब दूसरा द्वार कहते हैं– प्रवचन सारोद्धार में कहा है ।

पाया हिणेण तिअ तिअ, बाहु सु सीसे मुहे अ हिअए अ।
पिट्ठी इ हुंति चउरो, छप्पाए देह पण वीसा ॥६७॥

अर्थात्– ''प्रदक्षिणा के क्रम से दो भुजा, मस्तक, मुख और हृदय– इन पांच में तीन–तीन मिलाकर पंद्रह, पीठ में चार और पैरों में छ: इस तरह शरीर पडिलेहन के पच्चीस स्थानक हैं ।''

इस गाथा की टीका में कहा है कि– ये पच्चीस स्थानक पुरुष के आश्रित से कहे हैं, स्त्रियों को ढकने योग्य अंग ढके रहने से ''दो हाथ एक मुख और दो पैर'' इन पांच के तीन तीन मिलाकर पंद्रह स्थान ही हैं । मस्तक, हृदय और कंधा– ये दस स्थान स्त्रियों के कम जानना । इन पच्चीस स्थानों की विधि इस तरह है– मुंहपत्ति के स्थानों में आखिर तीन पक्खोडा के बाद बायें हाथ में वधूटक करना, मुंहपत्ति द्वारा ही पहले दायीं हथेली के पीछे का मध्य, बायां और दायां विभाग– इन तीनों के अनुक्रम से प्रमार्जन से बायें हाथ की तीन प्रमार्जना (पडिलेहन) होती हैं, फिर दाहिने हाथ के समान बयें हाथ से मुहपत्ति के तीन वधूटक करके उससे दाहिनी हथेली के पीछे, मध्य दाहिना और बायां इस तरह तीन विभाग के प्रमार्जन रूप दाहिने भुजा की तीन प्रमार्जना होती हैं । फिर वधूटक खोलकर दो पड़ वाली मुंहपत्ति को दो हाथ से दोनों भाग पकड़कर मस्तक–ललाट के मध्य, दाहिने और बायें भाग के प्रमार्जन से मस्तक की तीन प्रमार्जना करना, फिर इसी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम से मुख होठ का मध्य, दाहिने और बायें भाग के प्रमार्जन करने से मुख की तीन प्रमार्जना और इसी ही क्रम से हृदय के मध्य, दाहिने और बायें भाग का प्रमार्जन करने से हृदय की तीन प्रमार्जना होती हैं। इस तरह पांच त्रिक की पंद्रह प्रमार्जना होती हैं, फिर मुंहपत्ति को वधूटक से दाहिने हाथ में पकड़कर दाहिने कंधे के पीछे के वांसा के भाग सहित पडिलेहन करने से एक दाहिना कंधा, इसी तरह बाया कंधा भी, फिर उसी बायें हाथ से धारण की मुंहपत्ती से दाहिनी बगल के नीचे और पीछे के विभाग के पडिलेहन से तीसरे दाहिने बगल और दाहिने हाथ से मुंहपत्ति पकड़कर बायीं बगल में और पीछे के विभाग पडिलेहन से चौथी बायीं कक्षा (बगल) की, इस तरह दो दो मिलकर पीठ की चार प्रर्माजना होती हैं। फिर साधु को ओघा से और श्रावक को चखले से, पहले दाहिने पैर के घुटने से नीचे तक मध्य, दाहिने और बायें विभाग के प्रमार्जन से तीन दाहिने पैर की और उसी तरह से बायें पैर का मध्य, दाहिना और बायां विभाग प्रमार्जन करने से बायें पैर के तीन प्रर्माजन होते हैं। इस तरह कुल शरीर की पच्चीस प्रमार्जना होती हैं। प्रवचन सारोद्धार की टीका में पैर का प्रमार्जन भी मुंहपत्ति से करने को कहा है, परन्तु वर्तमान काल में सर्वत्र ओघा-चखले से प्रमार्जन देखा जाता है। वह योग्य भी दिखता है। जैसे पहले कहा उस तरह स्त्रियों के पंद्रह और साध्वी का मस्तक खुला रखने का विधान होने से मस्तक की तीन गिनने पर अठारह प्रर्माजना हो सकती हैं। इस तरह आचार्य श्री ज्ञान विमल सूरि कृत भाष्य के टबार्थ में बताया है, भाष्य की अवचूरी या प्रवचन सारोद्धार में यह स्पष्टीकरण नहीं है। इस पच्चीस में चिन्तन करने के बोल इस तरह हैं-

हासो रई अ अरई, भय सोग दुगंछया य वज्जिज्जा।
भुअ जुअलं पेहं तो, सीसे अपसत्थ लेस तिगं ॥१॥
गारव तिंग च वयणे, उरि सल्ल तिंग कसाय चउ पिट्ठे।
पय जुगि छज्जीव वहं, तणु पेहाए वि जाण मिणं ॥२॥

अर्थात्- "अनुक्रम से बायीं हथेली के पीछे प्रमार्जन करते समय '**हास्य रति अरति परिहरूं।**' अर्थात् हास्य रति और अरति का त्याग करता हूँ और दाहिनी हथेली प्रमार्जन करते समय '**मय शेक, दुर्गाच्छा परिहरूं**' अर्थात् भय, शोक, दुर्गच्छा का त्याग करता हूँ इस तरह हास्य षट्क के त्याग का चिन्तन करना। मस्तक का प्रमार्जन करते समय '**कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या परिहरूं**' ये ये तीन बोले और मुख का प्रमार्जन करते समय '**रस गारव, ऋद्धि गारव, शाता गारव परिहरूं।**' इन तीन बोल का चिन्तन करना। फिर बीच में और दायें बायें दोनों भागों में छाती पर तीन प्रमार्जन करते समय '**माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यात्व शल्य परिहरूं** का ध्यान करे। फिर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दायें पर, बायें कन्धे पर, दांयी कोख और बांयी कोख पर प्रमार्जन करते समय अनुक्रम से **'क्रोध परिहरूं, मान परिहरूं, माया परिहरूं, लोभ परिहरूं'** इस तरह चिन्तन करना। फिर दाहिने पैर के बीच में और दोनों भागों में प्रमार्जन करते समय **'पृथ्वी काय, अपकाय तेउ काय की रक्षा करुं।'** तथा बांयें पैर की इसी तरह प्रमार्जना करते हुए **'वायु काय, वनस्पति काय, त्रस काय की जयणा करू।'** इस तरह चिन्तन करना चाहिए। यहां अंग-शरीर की मुख्यता गिनने से उसे अंग पडिलेहन और अंग के बोल कहा है। यहां तो केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है, वस्तुतः गुरु महाराज के पास से अनुभव ज्ञान सीखना चाहिए और उसी के अनुसार पडिलेहन सम्यक् प्रकार करते हुए उसमें पचास बोल का चिन्तन एवं उपयोग पूर्वक करना चाहिए। यह आत्म शुद्धि का परम कारण है। शास्त्र में भी कहा है कि-

जइवि पडिलेहणाए, हउ जिअरक्खणं जिणाणा य।
तहवि इमं मण क्कड निज्जं तणंणत्थं मुणी बिंति ॥१॥

अर्थात्- "यद्यपि पडिलेहणा का सामान्य कारण तो जीव रक्षा और जिनाज्ञा पालन है, परन्तु मुख्य रूप में तो मन रूपी बन्दर को वश में करने के लिए है। इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है।"

इसलिए ही रात्रि के समय में भी मुंहपत्ति पडिलेहना करना उचित ही है। इस प्रकार अंग-शरीर पडिलेहन का दूसरा द्वार कहा। अब 'पच्चीस आवश्यक' रूप तीसरा द्वार कहते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

दुओणयं अहा जायं, किइ कम्मे वारसा वयं।
चउस्सिरं ति गुत्तं च, दुप वेसं इक्क निक्खमणं ॥१२०२॥

अर्थात्- "कृति कर्म अर्थात् गुरु वंदन में 'दो अवनमन, एक यथा जात, बारह आवर्त, चार मस्तक, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण' इस तरह पच्चीस आवश्यक होते हैं।"

उसमें **'अवनत'** = अपनी वन्दन करने की इच्छा प्रगट रूप निवेदन करना **'इच्छामि खमासमणो ! वदिउं जावणिज्जाए निसिहि आए'** = 'हे क्षमा श्रमण ! मैं अपनी शक्ति अनुसार निष्पाप रूप आपको वंदन करना चाहता हूँ।' इस तरह कहते हुए मस्तक सहित कटि से ऊपर विभाग का आधा शरीर भी कुछ नमाना वह 'अवनत' कहलाता है। दो वन्दन में दो बार करने से वह दो जानना। **'यथा जात'** = 'जन्म के समान' इसका भावार्थ है- जन्म दो प्रकार से गिना जाता है। एक माता की कुक्षि से निकलना- वह प्रथम मनुष्य रूप है, और दुसरा संसार की माया (राग) रूपी स्त्री की कुक्षि से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छूटना। प्रसव कालिक मुद्रा के समान दो हाथ जोड़कर मस्तक पर रखे हों। उसी तरह दीक्षा-ग्रहण के समय भी रजोहरण मुख वस्त्रिका वाले दो हाथ जोड़कर जिस स्थिति में जन्म होता है, वही मुद्रा (स्थिति) गुरु महाराज को वंदन करते समय होनी चाहिए। यह वंदन यथा जात कहलाता है। इससे रजोहरणादि पांच भी किसी किसी शास्त्र में (यथा जात) नाम से जाने जाते हैं। कहा है कि-

पंच अहा जायाइं चोल पट्टो तहेव रयहरणं ।
उण्णि अ खोमिअ निसिज्ज जुअलं तह य मुहपत्ती ॥१॥

अर्थात्-"पांच उपकरण 'यथा जात' कहलाते हैं- एक चोल पट्टा (कोटि वस्त्र), दूसरा रजोहरण (ओघा), तीसरा-चौथा ऊन और सुतराउ के दो निषधा-आजकल ओघे के ऊपर सुतराऊ निशेथिया और ऊन का ओघारिया लपेटा जाता है और पांचवीं मुख वस्त्रिका है ॥"

इस तरह चोल पट्टारजोहरण और मुंहपत्ति- ये तीन 'यथा जात' हैं। यहां जन्म के समान 'यथा जात' होकर वंदन किया जाता है, इसलिए वंदन भी यथा जात कहलाता है। इस तरह दो हाथ से अंजली तथा तीन उपकरण के सिवाय का त्याग- वह दो वंदन का एकत्रित 'एक यथा जात' जानना।

तथा **द्वादश आवर्त्त**- गुरु महाराज को बारह वंदन करते समय गुरु चरणों में तथा अपने मस्तक पर हाथ से स्पर्श करने रूप चेष्टा करना, उसे आवर्त्त कहते हैं वह **'अहो, कायं काय और जत्ता में जवणि, ज्जं च'** ये पद उच्चारण करते हुए छह आवर्त्त करना, फिर दूसरी बार प्रवेश करे तब भी दूसरी बार छह आवर्त्त करना, इन दोनों को मिलाकर बारह आवर्त होते हैं। इसका वर्णन विस्तार से आगे सुगुरु वंदन सूत्र में कहा जायेगा।

'चउस्सिर'- जिसमें चार बार मस्तक को नमाया जाता है। प्रथम वंदन में शिष्य **'इच्छामि खमासमणो'** बोलते समय गुरु को मस्तक नमाता है, बाद में गुरु भी **"अहमवि खामेमि"** ऐसा उत्तर देते हुए कुछ सिर नमाते हैं, इस तरह गुरु शिष्य दोनों का मस्तक नमाना। इसी प्रकार दूसरी बार वंदन मिलाकर कुल चार बार मस्तक नमाना है। इस तरह १६ भेद हुए।

'त्रिगुप्त'- गुरु महाराज के वंदन में मन, वचन और काया के योग से एकाग्रता पूर्वक बंदन करना, अर्थात मन की एकाग्रता, वचन से अस्खलित पाठ का शुद्ध उच्चारण करना और काया से अवनत-यथा जात-आवर्त आदि सम्पूर्ण आचरण पूर्वक वंदन करना, इस तरह मन वचन और काया के वंदन के सिवाय व्यापार को रोककर वंदन क्रिया में जुड़ जाना। इस तरह तीन वंदन मिलाकर बाईस भेद हुए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'दुप्पवेस'- गुरु महाराज के आसन से प्रत्येक दिशा में साढ़े तीन हाथ तक के स्थान का गुरु अवग्रह होता है। अतः शिष्य उस अवग्रह से दूर रहकर ही विनय करनी चाहिए और शारीरिक सेवा या वंदन आदि के लिए उनकी आज्ञा लेकर ही उस अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए। यह प्रथम आज्ञा लेकर प्रवेश करना है और बाद में निकलकर दूसरी बार प्रवेश करना वह एक निष्क्रमण (अवग्रह) से बाहर निकलना है। पहले वंदन में **आवस्सि आए** कहकर बाहर निष्क्रमण नहीं होता। इस तरह दो प्रेवश से चौबीस आवश्यक हुए और एक **निष्क्रमण** = अवग्रह में से बाहर निकलना 'निष्क्रमण' कहलाता है। इस तरह कुल पच्चीस आवश्यक नाम गुरु वंदन का तीसरा द्वार कहा। अब शिष्य को गुरु के प्रश्न रूप छह अभिलाषाएं होती हैं। वह आवयक निर्युक्ति १२३२, गुरुवंदन भाष्य ३३, प्रवचन सारोद्धार में कहा है -

इच्छा य अणुन्नवणा, अव्वावाहं चं जत जवणा य ।
अवराह खामणा वि अ, वंददायस्स छट्ठाणा ॥९९॥

अर्थात्- "(१) इच्छा, (२) अनुज्ञा, (३) अव्या बाधा, (४) संयम यात्रा, (५) समाधि और (६) अपराध की क्षमा याचना।" अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही यह अभिलाषाएं कही हैं। इन छहों के लिए जो जो पाठ नियत हैं, उस उस पाठ से शिष्य प्रश्न करता है। वह शिष्य के षट्स्थान रूप गुरु वंदन के द्वारा जानना युक्त है। उन छहों प्रश्नों का उत्तर गुरु महाराज इस तरह से देते हैं। वह आगे इन्हीं ग्रन्थों में आवश्यक आदि देते हैं-

छंदेणऽणु जाणामि, तहत्ति, तुब्भपि वट्टए एवं ।
अहमवि खामेमि तुमं, आलावा वंदणा रिहस्स ॥१०१॥

अर्थात्- "(१) जैसी तुम्हारी इच्छा, (२) अनुज्ञा देता हूँ, (३) वैसे ही है, (४) तुम्हें भी इसी प्रकार से है? (५) इसी तरह से है और (६) मैं भी तुम से क्षमा चाहता हूँ।"

इस तरह गुरु महाराज छह उत्तर देते हैं इन। दोनों गुरु-शिष्य की व्याख्या उपयुक्त प्रसंग पर सूत्र की व्याख्या के समय करेंगे। अब गुरु वंदन से होने वाले छह गुण कहते हैं-

विणयो वयार माणस्स भंजणा पूअणा गुरु जणस्स ।
तित्थ यराण य आणा सुअ धम्मा राहणा ऽ किरिआ ॥१००॥

अर्थात्- "(१) विनयोपचार, (२) मान का भंग, (३) गुरु की पूजा, (४) जिनाज्ञा का पालन, (५) श्रुत धर्म की आराधना और (६) मोक्ष- ये छह गुण गुरु महाराज

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को वंदन करने से प्राप्त होते हैं '' यह गाथा आवश्यक निर्युक्ति १२२६ में विचार, सार ७१८ में और प्रवचन सारोद्धार १०० गाथा में मिलती है ।

इसमें एक विनयोपचार = विनय यही उपचार है । वह भक्ति विशेष है अर्थात् गुरु महाराज को वंदन से विनय रूपी भक्ति उत्पन्न होती है । (२) इससे अपने अभिमान का नाश होता है । (३) अभिमान छोड़कर विनीत भाव से वंदन करने से 'गुरुजनों के प्रति सुन्दर पूजा सत्कार जागृत होता है'। (४) धर्म का मूल विनय है, इसलिए मोक्षार्थी को विनयादि अवश्य करनी चाहिए- ऐसी तीर्थंकर भगवन्त की आज्ञा है, उसका पालन होता है । (५) ज्ञानी को वंदन करने से ज्ञानी की पूजा रूप श्रुत की आराधना का लाभ होता है तथा (६) अनुक्रम से केवल ज्ञानादि गुण प्रगट होने से थोड़े समय में ही सर्व क्रिया का नाश रूप अक्रिया-क्रिया रहित मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस तरह गुरु वंदन से होने वाले गुणों को छठा द्वार कहा । अब सातवां द्वार पांच वंदनीय द्वार कहते हैं । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

आयरिअ उवज्झाए, पवित्ति थेरे तहेव रायणिए ।
एएसिं किइ कम्मं कायाव्व निज्जरट्ठाए ॥१०२॥

अर्थात्- '' श्री आचार्य भगवन्त, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और रत्नाधिक मुनि- इन पांचों को कर्म निर्जरा के लिए अवश्य वंदन करना चाहिए ।'' आचार्य आदि का स्वरूप आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

पंच विहं आयारं, आयार माणा तहापभांसता ।
आयारं दंसंता, आयरिआ तेण बुच्चंति ॥९९९॥

बार संगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहेहिं ।
तं उवइसंति तम्हा, उज्झाया तेण बुच्चंति ॥१००१॥

तव संजम जोगेसुं, जो जोगो तत्थ तं पवत्तेइ ।
असुहं च निय त्तेई गणत त्तिल्लो पवत्ती उ ॥१००४॥

थिर करणा पुण थेरो, पवत्ति वावा रिए सु अत्थेसुं ।
जो जत्थ सीयइ जई, संत बलो तं थिरं कुणइ ॥११००७॥

अर्थात्- ''ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार- इन पांच आचारों का पालन करने वाले, अन्य जीवों को इन पांच आचारों के उपदेश द्वारा तत्व का प्रकाश करने वाले और पडिलेहण आदि क्रियाओं द्वारा इन आचारों का पालन साक्षात् कर दिखाने वाले होने से 'आचार्य' कहलाते हैं । (आचार्य के ३६ गुण सम्बोध प्रकरणादि से जानना) । श्री जिनेश्वर ने अर्थ से जो कहा है, और गणधर रूप ज्ञानियों द्वारा सूत्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप में रचना किये बारह अंगों का जो स्वाध्याय है, उसका उपदेश देने करने वाले, पठन पाठन करने वाले 'उपाध्याय' कहलाते हैं। तप संयम आदि की आराधना में अर्थात् जो आत्मा जिस आराधना के लिए योग्य हो उस आत्मा को उस उस आराधना में जोड़े और जिस आराधना में जो अयोग्य-अशक्त हो उसे उसमें से रोके- इस तरह साधु समुदाय की सार संभाल रखने वाले 'प्रवर्त्तक' कहलाते हैं। प्रवर्त्तक द्वारा आराधना में जोड़े हुए जो साधु शक्ति होने पर भी प्रमाद करें, उनको वह आराधना में पुनः स्थिर कर उसमें लगा दे वह 'स्थविर' कहलाता है।"

स्थविर मुनि तीन प्रकार के होते हैं। जघन्य से समवायांग नाम के चौथे अंग तक के सूत्र-अर्थ को जानने वाले 'ज्ञान स्थविर' होते हैं, दीक्षा पर्याय बीस वर्ष या उससे अधिक हो, वे 'पर्याय स्थविर' हैं और जन्म से सत्तर अथवा इससे अधिक वर्ष की उम्र वाले हों वे 'वय स्थविर' कहलाते हैं। यहां 'गणावच्छेदक' को नहीं गिना, फिर भी आचार्यादि के समान गच्छ के उपकारी होने से उनको भी वन्दनीय जानना। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

उद्धावणा पहावण, खित्तोवहि मग्गणासु अविसाई।
सुत्तत्थ तदुभय विऊ, गणवच्छो एरिसो होई ॥११६५॥

अर्थात्- "सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्रार्थ)- इन तीनों प्रकार से श्रुत के जानकार, सर्व साधु समुदाय के लिए क्षेत्र (वसति), वस्त्रादि उपधि तथा आहार आदि संयम में उपयोगी सर्व सामग्री की प्राप्ति के लिए लगातार घूमने वाले, फिर भी उसमें जरा भी विषाद नहीं करने वाले उत्साही 'गणावच्छेदक' होते हैं। इसकी टीका में गणावच्छेदक को स्थविर के समान माना है और भाष्य की अवचूरी में रत्नाधिक को ही गणावच्छेदक कहा है। यह आचार्य आदि के पर्याय से कम होते हैं, फिर भी वे वन्दनीय हैं, इसलिए वंदन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त चारित्र पर्याय से जो बड़े होते हैं रत्नाधिक कहलाते हैं। ऐसे रत्नाधिकों को भी वन्दन करना चाहिए। श्रावकों को तो सर्व साधु वन्दनीय हैं। आवश्यक चूर्णि में कहा है कि- "**अन्ने पुण भणंति-अन्नो वि जो तहा विहो रायणिओ सो वंदे अव्वो, रायणिओ नाम जो नाण दंसण-चरण साहणेसु सुटठु पव ओ त्ति ॥**" (वंदन अध्ययन) अर्थात् 'अन्य आचार्य कहते हैं अन्य भी जो इस तरह रत्नाधिक मुनि हों उनको वंदन करना चाहिए। रत्नाधिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना में श्रेष्ठ प्रयत्नशील। तात्पर्य यह है कि-पर्याय से छोटा हो फिर भी रत्नाधिक को वंदन करना चाहिए। यह पांच वंदनीय रूप गुरू वंदन का सातवां द्वार कहा। अब आठवें द्वार में पाँच अवन्दनीय का स्वरूप कहते हैं। सम्बोध प्रकरण गुर्वाधिकार ८ व प्रवचन सारोद्धार में कहा है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो ।
अहछंदों वि अ एए, अवंदणिज्जा जिण मयं मि ॥१०३॥

अर्थात्- '' (1) पासत्थो, (२) अवसन्न, (३) कुशील, (४) संसक्त और (५) यथा छंद- इन पांच प्रकार के साधु को जैन शासन में अवन्दनीय कहा है । उनको वंदन नहीं करना चाहिए ।''

१. पासत्थो = जो ज्ञानादि गुणों के पास में रहे, परन्तु वास्तविक में उसे ज्ञानादि गुण न हो वह '**पार्श्वस्थ**' अथवा मित्थात्व आदि कर्म-बंधन के कारण रूप 'पास' बन्धन में रहता है, रमण करता हो वह 'पाशस्थ'- ये दोनों 'पासत्थ' कहलाते हैं । सम्बोध प्रकरण गुर्वाधिकार में कहा है-

सो पासत्थो दुविहो, सव्वे देसे य होइ नायव्वो ।
सव्वंमि नाणदंसण-चरणाणं जो उ पासम्मि ॥९॥

देसम्मि य पासत्थो, सिज्जायर भिहडराय पिंडं च ।
नीयं च अग्ग पिंडं भुंजइ निक्कारणे चेव ॥१०॥

कुल निस्साए विहरइ, ठवण कुलाणि य अकारणे विसइ।
संखडिप लोयणाए, गच्छइ तह संथवं कुणइ ॥११॥

अर्थात्- ''वह पासत्थ दो प्रकार का होता है, एक सर्व पासत्थ एवं दूसरा देश पासत्थ। उसमें ज्ञानादि गुणों के पास में रहता हो परन्तु उसके जीवन में गुण न हों-केवल वेशधारी हो वह 'सर्वपासत्था' है और जो कारण के बिना शय्यातर का पिंड, सामने से लाया आहार आदि-अभ्याहत पिंड, राज पिंड, नित्य पिंड या अग्र पिंड का उपयोग करे, अमुक नियत घरों से आहार पानी आदि के आधार पर जीवन निर्वाह करे, स्थापना कुलों में से निष्कारण आहार ले, जहां मिठाई बनती हो वह घर खोजता रहे और पर्वू पश्चात् संस्तव-गृहस्थों की प्रशंसा करे उसे 'देश पासत्था' जानना ।''

विशेषार्थ- साधु जिसके मकान में रात को सोये या प्रतिक्रमण करे, उस मकान मालिक का आहार पानी आदि शय्यातर पिंड कहलाता है, और गृहस्थ सामने लाकर- साधु के निवास उपाश्रय आदि में लाकर आहारादि दे वह अभ्याहत पिंड कहलाता है । मन्त्री, सेनापति, सेठ आदि सप्तांग राज्य वाला राजा का आहार पानी राज पिंड है । हमेशा एक ही प्रकार का अमुक ही आहारादि लाना वह नित्य पिंड है और तैयार हुआ आहारादि ऊपर ताजा मसाला युक्त प्रथम लेना वह अग्र पिंड कहलाता है, और 'अमुक घर मेरे परम भक्त हैं' ऐसा मानकर उन्हीं घरों में आहार लेना वह कुल निश्रा और प्राधूर्णक साधु के लिए या आचार्यादि गच्छ धिपति आदि के लिए निश्चित किया हो- जिसके यहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशिष्ट कारण से ही आहार के लिये जाया जाता है वह स्थापित कुल कहलाता है। सामुदायिक भोजन को संखडी कहते हैं– ऐसे घरों की खोज करता घूमा करे। आहार लेने के पहले अथवा बाद में गृहस्थ की प्रशंसा करके इष्ट आहारादि प्राप्त करे वह संस्तव पिंड कहलाता है। इत्यादि दूषित पिंड (आहार) को खाये तो उसको देश पासत्था जानना। निशीथ चूर्णि की साक्षी देकर श्री प्रवचन सारोद्धार की टीका में पासत्था को सर्वथा चारित्र बिना का नहीं परन्तु मलिन चारित्र वाला कहा है।

२-ओसन्न- जो प्रमाद के कारण मोक्ष मार्ग में थके हुए के समान क्रिया में उत्साह रहित क्रिया का दरिद्री होता है वह ओसन्न कहलाता है। उसका स्वरूप सम्बोध प्रकरण गुर्वाधिकार तथा प्रवचन सारोद्धार में भी कहा है–

ओसन्नो वि अ दुविहो, सव्वे देसे य तत्थ सव्वं मि।
उउबद्ध पीठ फलगो, ठवियग भोई अ नायव्वो ॥१२॥

आवस्सय सज्झाए, पडिलेहण ज्झाण भिक्ख अत्तट्ठे।
आगमणे निगमणे, ठाणे निसीयन तु अट्ठे ॥१३॥

आवस्स याइ आइं न करइ अहवा वि हीण महि आइं।
गुरु वयण बलाइ तहा, भणिओ एसो उ ओसन्नो ॥१४॥

अर्थात्- "ओसन्न भी सर्व ओसन्न और देश ओसन्न दो प्रकार का होता है। उसमें **'अवबद्ध पीठफलक'** = साधु चौमासे में शयनादि के लिए एक अखण्ड तख्ता (पट्टे) पर और ऐसा न मिले तो अनेक तख्तों को भी रस्सी के साथ में बांधकर उसके ऊपर शयन आदि करे तथा प्रत्येक पखवारे में उसे छोड़कर प्रमार्जन कर पुनः बांधे, इस तरह जिन आज्ञा है उसका जो नहीं पालन करे, पखवारे में भी उसका पडिलेहण न करे अथवा जो बारम्बार शयन आदि के लिए संथारा बिछाकर ही रखे या संथारा बिछाये बिना ही सोता रहे वह प्रत्येक 'अवबद्ध पीठ-फलक' अथवा किसी जगह 'उउबद्ध' पाठ है वहां वर्षा चौमासे के सिवाय शेष = ऋतुबद्ध काल में बिना कारण से तख्ता चौकी आदि का उपयोग करे वह 'ऋतुबद्ध पीठ फलक' कहलाता है। गृहस्थ ने साधु को देने की भावना से अलग रखा हो तो वह 'स्थापना पिंड' है। साधु को देने के निमित्त जल्दी या देरी से रसोई बनाये या साधु के आगमन के कारण विवाह आदि जल्दी-देरी करे, वह ऐसा माने कि-साधु आए तब विवाह आदि मिठाई करे तो भक्ति का लाभ मिलेगा, इस तरह विचार कर साधु का निमित्त लेकर जल्दी देरी से बनाये आहार को 'प्राभृतिका पिंड' जानना। यह स्थापना या प्राभृतिका दोष वाला आहार ग्रहण करने वाला 'स्थापितक भोगी' कहलाता है। जो इस तरह अवबद्ध पीठ फलक तथा स्थापितक भोगी हो उसे सर्वथा ओसन्न जानना। जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया, रहने का धर्मशाला आदि मकान शय्यातर है, वाचना पृच्छादिक 'स्वाध्याय', तथा वस्त्र पात्र आदि का 'पडिलेहन', धर्म ध्यानादि 'ध्यान', आहार-पानी 'भिक्षा', भोजन या मांडली के कार्य करना वह 'भक्तार्थ', बाहर से आना वह 'आगमन', बाहर जाना वह 'निर्गमन', काउस्सग्गादि के लिए खड़ा होना वह 'स्थान', बैठना वह 'निषीदन' तथा शयन करना वह 'त्वग् वर्तन' साधु के इन आचारों का सर्वथा पालन न करे, अथवा कम ज्यादा पालन करे यानी जहां जिस समय वह न करने का हो वहां उस समय करे, बड़ी मुश्किल से करे तथा गुरु के कहने पर भी न करे, और करे तो गुरु को कठोर शब्द से प्रतिकार करके करे इत्यादि विस्तृत विवेचन प्रवचन सारोद्धार आदि ग्रन्थों से जान लेना। इस तरह अवश्यकादि साधु समाचारी में जो साधु दरिद्र-शिथिल हो उसे देश ओसन्न कहा है ।

३. '**कुशील**'- ज्ञान दर्शन और चारित्र का घातक, दुष्ट आचार, शील स्वभाव वाला होता है । उसके ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील और चारित्र कुशील- इस तरह तीन भेद होते हैं । सम्बोध प्रकरण व प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

काल विणयाइ रहिओ, नाण कुसीलो अदंसणे इण मो।
निस्संकि आइ विजुओ, चरण कुसीलो इमो होइ ॥१५॥

कोउअ भूइ कम्मे, पसिणापसिणे निमित्तमा जीवी ।
कक्क करूआइ लक्खण, उवजीवइ विज्जमं ताई ॥१६॥

अर्थात्- ''काल, विनय आदि ज्ञान के आठ आचारों की विराधना करने वाला ज्ञान कुशील है, और निःशंकित, निष्कांक्षित आदि दर्शन के आठ आचारों से रहित को दर्शन कुशील जानना। कौतुक, भूति कर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीवक, कल्ककुरूका लक्षण, विधा तथा मंत्र आदि के बल से आजीविका (आहारादि) को प्राप्त करने वाला चारित्र कुशील कहलाता है ।''

विशेषार्थ- इसमें लोगों में प्रसिद्धि-मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अन्य को पुत्र आदि की प्राप्ति कराने के लिए जाहिर में विविध औषधियां प्राप्त करके मंत्रा हुआ पानी देना, स्नान करवाना, या जड़ आदि बांधना, अथवा तो मुख में गोली डालकर कान या नाक में से निकालना, मुख में से अग्नि प्रगट करना इत्यादि आश्चर्य उत्पन्न कराने को 'कौतुक' कहते हैं । बुखार आदि की बामारी के समय आस-पास चारों दिशाओं में मंत्री हुई राख-भस्म डालना वह 'भूति कर्म', अन्य के पूछने पर अथवा बिना पूछे उसके मन में रहे भाव को स्वप्न में आराधना की हुई किसी विधा के कहने से, या कर्ण पिशाचिका या मंत्र से अभिषेक की हुई घटी हुई आदि से जानकर कहना वह प्रश्नाप्रश्न, निमित्त शास्त्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के बल से भूत, भावी और वर्तमान को कहना वह निमित्त तथा जाति, कुल, तप, श्रुत, शिल्प, कर्म और गण- इन सात द्वारा दातार-गृहस्थ के साथ में अपनी समानता बताकर दातार का अपनी ओर आदर-आकर्षण बढ़ाकर आहारादि आजीविका प्राप्त करना वह आजीविका पिंड कहलाता है । जैसे कोई साधु ब्राह्मण को कहे कि-मैं भी ब्राह्मण हूँ, इससे उसे उस साधु के ऊपर प्रीति होती है और आहार आदि वस्तुएँ देता है। इस तरह जाति की समानता से आजीविका चलाने वाला 'जाति-आजीवक' आदि स्वयं समझना। शठता से अन्य को ठगना उस 'कल्ककुरुका' कहलाता है । अन्य आचार्य तो प्रसूति आदि रोगों में खार पातन करने को या अपने शरीर से लोध्रक आदि का उद्वर्तन न करना वह 'कल्क' और स्नान करना अथवा स्त्री-पुरुष आदि के लक्षण कहना वह 'कुरुका' इस तरह अलग अलग अर्थ करते हैं । जिसकी अधिष्ठाता देवी हो उसकी साधना करनी हो वह 'विधा', जिसका अधिष्ठाता देव हो और साधन किये बिना ही पाठ मात्र से सफल हो वह 'मंत्र' जानना । सामुद्रिक शास्त्रोक्त स्त्री पुरुष की रेखाएं, मसातिल आदि लक्षण देखकर भूत भावी भावों को कहना वह 'लक्षण', स्त्री-पुरुष में परस्पर द्वेष करवाना या द्वेष हो तो मिलाप करवाना, अथवा गर्भधारण या गर्भापात करवाना वह मूल कर्म है तथा चूर्ण-योग का प्रयोग, शरीर शोभा इत्यादि कौतुक समझना । चारित्र को मलिन कराने वाले इन पाप कर्मों को करने वाला साधु चरण कुशील जानना ।

४.**'संसक्त'** - संवेगी-असंवेगी जैसा साधु मिले उसके साथ वैसा वर्तन-आचरण करना वह संसक्त जानना । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

पासत्थाई एसु, संविग्गेसु च जत्थ मिलई उ ।
तहिं तारिसओ होई, पिय धम्मो अहव इयरो अ ॥११८॥

सो दुवि अप्पो भणि ओ, जिणे हिं जिअ राग दोस मोहेहिं ।
ऐगा य संकिलिट्ठो, असंक्किलिट्ठो तहा अण्णो ॥१२०॥

अर्थात्- "पूर्व कहे अनुसार पासत्थादि या संविग्न जो साधु मिले वहां उनके साथ में वैसा प्रियधर्मी अथवा अप्रियधर्मी होता है वह संसक्त कहलाता है । उसके 'संक्लिष्ट' और 'असंक्लिष्ट' दो भेद राग द्वेष और मोहादि को जीतने वाले श्री जिनेश्वर भगवान ने कहे हैं ।"

विशेषार्थ- जो पूर्व कहे वैसे गुण और दोष से मिश्र हो जाय वह संसक्त कहलाता है । जैसे गाय के खाने के टोकरे में पशु आहार आदि झूठा और अच्छा- सारा मिला होता है वैसे ही संसक्त में अहिंसादि मूल गुण और पिंड विशुद्धि आदि उत्तर गुणों के साथ बहुत दोष भी होते हैं, इसलिए वह संसक्त कहलाता है । उसमें जो प्रारणातिपात,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

असत्य आदि पांच आश्रव-पाप में प्रवृत्ति करने वाले, ऋद्धि आदि तीन गारव में आसक्त, स्त्री प्रतिसेवी और गृहस्थ के धन, अनाज, पशु, मनुष्य की संभाल रखने वाला वह संक्लिष्ट संसक्त और पूर्व कहे अनुसार वैसा- जिसके साथ मिले उसके जैसा हो जाय वह असंक्लिष्ट संसक्त जानना। संक्लिष्ट-संसक्त धर्म रहित और असंक्लिष्ट संसक्त धर्म प्रिय भी अनवस्थित होता है । इस तरह शास्त्र में संसक्त का स्वरूप कहा है ।

५. 'यथाछंद' - गुरु आज्ञा अथवा आगम की मर्यादा बिना सर्व कार्यों में अपनी इच्छा से जैसा चाहे वैसा वर्तन करना, वह 'यथाछंद' साधु जानना । प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

उस्सुत्त मणु वइट्ठं सच्छंद विगप्पिअं अणणुवाई ।
परततिं पवत्तेइ तिणे अ इणमो अहाछंदो ॥१२२॥

अर्थात्- "उत्सूत्र, जिनेश्वर द्वारा नहीं कहा हुआ, परन्तु अपनी बुद्धि कल्पना से और आगम के विरुद्ध आचरण करे, ऐसा ही जो विरुद्ध उपदेश भी दे, गृहस्थ के काम करे, उसकी प्रशंसा करे और बार बार गुस्सा हो उसे यथाछंद जानना ।"

यथाछंद साधु सूत्र विरुद्ध, जिनेश्वर भगवान ने नहीं कहा हो, फिर भी अपनी इच्छानुसार आचरण करने वाला तथा वैसा ही उपदेश देने वाला, आगम सिद्धान्त के अनुसार नहीं चलने वाला, गृहस्थ के पापकारी सावध कार्यों को करने वाला, दूसरें से करवाने वाला, और अनुमोदना करने वाला होता है । कोई साधु अल्प भी अपराध में बारम्बार गुस्से होने वाला, अपने माननीय सामान्य आलम्बन का प्रिय हमेशा ऐशो-आराम, सुख विलास, विगइ रस स्वाद में आसक्त होता है और रस गारव आदि तीन गारव से युक्त होता है । ऐसे को वंदन आदि करने से कोई लाभ नहीं है । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

पासत्थाइ वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होइ ।
काया किलेसं एमेव, कुणई तह कम्म बंधं च ॥११०८॥

अर्थात्- "पूर्व कहे हुए पासत्था, ओसन्न आदि का वंदन करने से कीर्ति नहीं बढ़ती, न ही कर्म निर्जरा होती है, केवल काया कष्ट होता है और विशेष में अशुभ कर्म का बंधन होता है ।"

अधिक क्या कहें ? उनका संसर्ग करने वाले अच्छे साधुओं को भी वंदन करने योग्य नहीं है । अतः आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

असुइट्ठाणे पडिमा, चंपग माला न कीरई सीसे ।
पासत्थाइ ठाणे सु, वट्टमाणा तह अपुज्जा ॥१११११॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पक्कण कुले वसंतो, सउणी पारो विगर हिओ होइ ।
इअ गर हिआ सुविहि आ, मज्जि वसंता कुसीलाणं ॥१११२॥

अर्थात्- ''जिस तरह अशुचि में पड़ी हुई चंपा के पुष्पों की माला भी मस्तक पर धारण करने योग्य नहीं होती, वैसे ही पासत्था आदि का संसर्ग करने वाले उत्तम साधु भी पूजने योग्य नहीं होते हैं । जैसे चंडाल आदि नीच कुल वालों की सोहबत से चौदह विद्या का पारगामी विद्वान भी निंदा का पात्र होता है वैसे ही पासत्था आदि की सोहबत से अच्छा साधु मुनिराज भी निंदा का पात्र होता है ।''

इस विषय में आवश्यक निर्युक्ति के वंदन अध्ययन में विस्तारपूर्वक प्रश्नोत्तरी है। यदि शासन का नुकसान आदि होता हो तो ऐसे विशिष्ट कारण के सिवाय पासत्था आदि को वंदन नहीं होता, परन्तु किसी विशिष्ट कारण से ही केवल बाह्य दिखावे के लिए द्रव्य वंदन करने का निषेध नहीं है । उनको सुसाधु मानकर भावपूर्वक कर्म निर्जरा आदि के लिए वंदन नहीं किया जाता परन्तु किसी विशेष कार्य के लिए केवल दिखावे मात्र से शासन का अहित न हो इसलिए वंदन किया जाता है । यह स्याद्वाद के अनुसार हितकारी है । अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि के कारण से किसी समय पासत्था आदि को भी वंदना करना, क्योंकि वे चारित्र द्वारा मलिन हैं परन्तु सर्वथा दर्शन-समकित से भ्रष्ट ही नहीं होते । यदि 'प्रभु कथित साधु वेश धारण करने वाले सभी हमारे लिए पूज्य हैं'- ऐसा मानकर कारण बिना भी वदंन करना वह योग्य नहीं है यदि वेषधारी को वदंन करने में आए तो जमाली आदि निह्नवों को भी वंदन का समय आयेगा । यह गुरु वंदन का पांच अवन्दनीय स्थान का आठवां द्वार कहा । अब नौवा द्वार कहते हैं । कहा भी है कि-

दव्वे भावे वंदण रयहरणा ऽऽवत्त नमण विणएहिं ।
सीयल खुइड्डुय कण्हे सेवय पालय उदाहरणा ॥१॥

अर्थात्- ''१. वंदन, २. रजोहरण, ३. आवर्त, ४. नमस्कार और ५. विनय, इन पांच प्रकार में 'द्रव्य और भाव' पूर्वक वंदन में अनुक्रम से १. शीतलाचार्य, २. क्षुल्लकाचार्य, ३. कृष्णमहाराज, ४. दो सेवक और ५. पालक शाम्ब का उदाहरण जानना ।''

वंदन के पांच प्रकार में 'द्रव्य और भाव' दो दो समझना । उसमें १. गुरु गुणों की स्तुति करना वह सत्कार वंदन है, २. द्रव्य से रजोहरण आदि को धारण करना और भाव से ज्ञानादि गुणों को धारण करना वह चिति या संचय रूप वंदन है । ३. वंदन में आवर्त्त आदि संभालकर विधिपूर्वक वंदन करना वह आवर्त्त वंदन है, ४. मस्तक नमाना आदि नमस्कार वंदन है और ५. विनय पूर्वक कार्य करना वह विनय वंदन कहलाता है । गुरु वन्दन भाष्य और श्री आवश्यक निर्युक्ति आदि में इसे अनुक्रम से-वंदन कर्म, चिति कर्म, कृति कर्म, पूजन कर्म और विनय कर्म नाम से कहा है । और उनका द्रव्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाव स्वरूप समझाने के लिए अनुक्रम से (१) शीतलाचार्य, (२)क्षुल्लकाचार्य, (३) कृष्ण जी और वीरक, (४) दो सेवक और (५) शाम्ब तथा पालन के पांच उदाहरण कहे हैं । उनकी कथा अति संक्षेप में देते हैं-

(१) शीतलाचार्य- इस नाम के एक जैनाचार्य थे । उनकी बहन के चार पुत्रों ने अन्य गुरु के पास दीक्षा ग्रहण की थी । एक समय वे अपने मामा शीतलाचार्य को वंदन करने के लिए चले । मार्ग में विलम्ब होने से शीतलाचार्य के पास में नहीं पहुँच सके । इससे रात्रि में गांव के बाहर रहे और अपने आगमन का समाचार श्री शीतलाचार्य के पास पहुँचा दिया । शीतलाचार्य अति प्रसन्न हुए और सुबह 'अभी आयेंगे, अभी आयेंगे' इस तरह राह देखने लगे । इधर उन चारों मुनियों को उस रात्रि में गुरु वंदन करने की निर्मल भावना रूप शुभ ध्यान के योग से केवल ज्ञान हुआ । इससे वंदन करने गये नहीं, आखिर राह देखते शीतलाचार्य अभिमान से 'वे नहीं आए इसलिए मैं उनके सामने जाता हूँ ।' इस तरह विचार कर उनके पास में गये, फिर भी केवल ज्ञानी होने से उन्होंने सत्कार नहीं किया । इससे शीतलाचार्य ने क्रोधित होकर स्वयं बड़े होने पर भी वंदन किया, तब केवल ज्ञानी मुनियों ने कहा- 'यह तो द्रव्य वंदन किया, अब भाव वंदन करो ।' आचार्य ने पूछा-'यह कैसे जाना ?' मुनियों ने कहा- 'ज्ञान से ।' आचार्य ने पूछा- 'कौन से ज्ञान से ?' केवली बोले-' अप्रतिपाति केवल ज्ञान से ।' इससे शीतलाचार्य ने- 'अरे रे ! मैंने केवल ज्ञानियों की आशातना की ।' इस तरह पश्चात्ताप करके क्षमा याचना की और पुनः भाव पूर्वक उन चारों मुनियों को वंदन किया । यहां उस शीतलाचार्य का प्रथम बार का वंदन 'द्रव्य वंदन' और दूसरी बार का 'भाव वंदन' जानना ।

२. क्षुल्लकाचार्य – गुण सुन्दर नामक एक आचार्य ने छोटी उम्र के एक क्षुल्लक मुनि को आचार्य पदवी दी । साधु और संघ को उन्हें सौंपकर स्वयं का स्वर्गवास हो गया । सर्व संघ क्षुल्लकाचार्य की आज्ञा में रहने लगा और वे नये आचार्य भी गीतार्थ के पास अभ्यास करने लगे । मोह कर्म के संयोग से एक समय उनको चारित्र छोड़ने की इच्छा हुई । इससे बड़ी नीति के बहाने से बाहर जाकर साथ के साधु को अमुक स्थान पर रोक कर स्वयं आगे चले । वहां मार्ग में एक खीजड़े का वृक्ष देखा । उसके चारों तरफ चबूतरा बना हुआ था और लोगों को उस वृक्ष की पूजा करते देखा । इससे उसने विचार किया कि-यहां उत्तम वृक्ष होने पर भी इस काटों वाले वृक्ष की लोग पूजा करते हैं, इसमें इसके चारों ओर बांधा हुआ पीठिका-चौतरा कारण है । इस बात का निर्णय करते एवं लोगों को पूछने से भी वह जबाब मिला, तब स्वयं ने विचार किया कि ज्ञानादि गुण से भरे हुए अन्य उत्तम साधुवर्य उत्तम वृक्ष के समान हैं और मैं निर्गुण खीजड़े के समान हूँ, फिर भी सर्व लोग मेरी पूजा करते हैं । उस गुरु महाराज ने यह रजोहरण आदि वेश

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा आचार्य पद अर्पण किया है, उसकी महिमा है, इसलिए मुझे वह छोड़ना नहीं चाहिए। इस तरह विचार करके वे तुरन्त वापस आकर गच्छ की सार संभाल करने लगे और गीतार्थों के पास प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए। उस क्षुल्लकाचार्य को पहले रजो हरणादि संचय- 'द्रव्य से संयम' था और प्रायश्चित्त लेने के बाद 'भाव से संचय' जानना। ये **'चिति'** = उपकरणों का संचय रूप 'चिति वंदन' के द्रव्य और भाव भेद में क्षुल्लकाचार्य का दृष्टान्त समझना। तात्पर्य यह है कि साधु के समान साधु का वेश भी पूजनिक है। इन आचार्य ने पहले उसका महत्त्व नहीं समझने से बहुमान बिना धारण किया था, इसलिए वह 'द्रव्य चिति' वंदन था और फिर से उसका बहुमान समझकर भाव पूर्वक धारण किया, अतः वह 'भाव चिति वंदन' कहा है।

३. कृष्ण और वीरक – कृष्ण वासुदेव का परम भक्त और जमाई 'वीरक' नामक किसान एक दिन कृष्ण के साथ में श्री नेमिनाथ भगवान को वंदन करने गया। वहां कृष्ण जी ने सर्व साधुओं को द्वादशावर्त्त वंदन किया। उनके साथ में अन्य राजा आदि थे, वे थोड़े को वंदन करते ही थक जाने से बैठ गये, परन्तु वीरक ने कृष्ण जी के दाक्षिण्यता से भाव बिना भी सर्व को वंदन किया। आखिर में थके हुए कृष्ण ने कहा- तीन सौ साठ संग्राम में भी मुझे ऐसा श्रम नहीं लगा था, इससे अब अधिक थकावट लगी है। तब भगवान ने कहा-कृष्ण ! तूने वंदन करने से क्षायिक समकित तथा तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया है और सातवीं नरक की आयुष्य स्थिति घटने से केवल तीन नरक रह गयी है। इस वंदन में कृष्ण महाराज का भाव-आवर्त्त वंदन था और कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वीरक ने जो वंदन किया उसे 'द्रव्य-आवर्त्त वंदन' ज्ञानना अर्थात् भाव कृति कर्म में कृष्ण जी का, और द्रव्य कृति कर्म में वीरक का दृष्टान्त है।

४. दो राज सेवक– एक राजा था, उसके दो सेवक थे। वे नजदीक के गाँव में रहते थे। उनकी जमीन की सीमा के विषय में परस्पर विवाद-झगड़ा होने से न्याय कराने के लिए वे राज दरबार में जाने के लिए चले। गांव में से निकलते ही एक साधु मुनिराज सामने मिले। इससे एक ने विचार किया कि - इस मुनि के दर्शन से मेरा काम सिद्ध होगा। इससे उसने साधु को प्रदक्षिणा पूर्वक भाव से वंदन किया, दूसरे ने केवल पहले का अनुकरण रूप से भाव बिना किया। फिर परिणाम से दरबार में भाव से वंदन करने वाले के पक्ष में न्याय मिला और दूसरे को पराभव हुआ। यहां पहले सेवक का विनय 'भाव विनय कर्म' वंदन और दूसरे का विनय 'द्रव्य विनय कर्म' वंदन जानना।

५. शाम्ब और पालक - द्वारिका नगरी में कृष्ण के शाम्ब-पालक आदि पुत्र थे। एक समय श्री नेमिनाथ प्रभु उद्यान में पधारे। उस समय कृष्ण जी ने उनको कहा कि- 'जो सुबह में भगवान को पहले वंदन करेगा, उसे मैं अपना घोड़ा दूँगा।' उसके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बाद शाम्ब कुमार ने सुबह में शय्या पर से उठकर वहीं से नमस्कार किया और पालक ने जल्दी उठकर घोड़े के लोभ से घोड़े पर बैठकर भगवान के पास जाकर वंदन किया। पालक अभव्य था और उसकी वंदना भाव रहित केवल घोड़े के लोभ से थी। सुबह को कृष्ण महाराज ने पूछा तब भगवान ने कहा कि- पालक ने यहां आकर द्रव्य वंदन और शाम्ब कुमार ने वहां रहकर भाव वंदन किया है। इससे शाम्ब कुमार को अश्व रत्न मिला। यहां शाम्ब कुमार का भाव नमस्कार था और पालक का द्रव्य नमस्कार था।

इस तरह नौवां द्वार कहा। अब 'गुरु अवग्रह' दसवां द्वार कहते हैं कि- गुरु महाराज के आसन के चारों ओर साढ़े तीन हाथ तक भूमि को 'गुरु अवग्रह' कहते हैं। इसका स्वरूप आगे वंदन सूत्र के अर्थ में कहा जायेगा।

अब ग्यारहवें द्वार में 'पांच नाम' कहते है। ऊपर के उदाहरण के साथ में वंदना के पांच नाम अर्थ सहित कहे हैं, उसी अर्थ से एक ही गुरु वंदन रूप है, फिर भी पर्याय से अलग जानना। प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि -

वंदण चिइ किइ कम्मं पूआ कम्मं च विणय कम्मं च।
वंदणगस्स एए नामाइँ हवंति पचेव ॥१२७॥

अर्थात् - "वंदन, चिति कर्म, कृति कर्म, पूजा कर्म और विनय कर्म- ये पांच पर्याय वाचक नाम हैं।"

इनका विवेचन पूर्व गाथा में आ गया है। अब वंदन के 'पांच निषेध स्थान' रूप बारहवां द्वार कहते हैं। आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११९८ तथा प्रवचन सारोद्धार गाथा १२४ में कहा है कि-

वक्खि त्तयराहुत्ते, पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा ।
आहारं च करिंत्ते, निहारं वा जइ करेइ ॥१॥

अर्थात् - "व्याक्षिप्त-व्यग्र चित्त वाले, परावृत्त और प्रमत्त हों अथवा जब आहार अथवा निहार करते हों तब कभी भी वंदन नहीं करना चाहिए।"

(१) जब गुरु महाराज व्याख्यान देते हों, वाचना देते हों या पडिलेहणा आदि कार्य में लगे हों, या किसी शासन के महत्तपूर्ण कार्य के विषय में विचार विमर्श करने में व्यग्र चित्त वाले हों (२) विपरीत मुख से बैठे हों- सन्मुख मुख न हों, (३) क्रोध-निद्रा आदि प्रमाद के वश हों, (४) आहार करते हों अथवा उसकी तैयारी में हों तथा (५) स्थंडिल, मात्रा (मल-मूत्र) आदि निहार करते हों अथवा करने की इच्छा वाले हों। ऐसे पांच प्रसंग पर वंदन नहीं करना चाहिए। इसमें दोष लगता है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब गुरु महाराज की तैंतीस आशातनाएँ तेरहवां द्वार वंदन सूत्र की व्याख्या में कहा जायेगा। वंदना के बत्तीस दोष का चौदहवाँ द्वार कहते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में १२११ गाथा से १२२५ तक और प्रवचन सारोद्धार में १५० से १५४ तक गाथा में कहा है:-

आणा ठिअं च थद्धं च पविद्धं परि पिंडिअ ।
टोल गइ अंकु सं चेव, तहा कच्छ भरि गिअं ॥१॥

मच्छुव्वत्तं मणसा, पउट्ठं तहय वेइया बद्धं ।
भयसा चेव भयंतं, मिति गारव कारण ॥२॥

तेणियं पडिणीयं चेव, रूट्ठं तज्जिय मेव य ।
सठं च हीलीयं चेव, तहा विपलि उं चियं ॥३॥

दिट्ठमदिट्ठं च तहा सिगं च करमो अणं ।
आलिद्धमणालिद्ध ऊणं उत्तर चूलि अ ॥४॥

मूलं चढड्ढरं चेव, चुडलियं च अ पच्छिमं ।
बत्तीस दोस परिसुद्ध किइ कम्मं पउंजए ॥५॥

अर्थात् – "(१) अनाहत, (२) स्तब्ध, (३) पविद्ध, (४) परि पिण्डित, (५) टोलगति, (६) अंकुश, (७) कच्छ परिगित, (८) मत्स्योद्वर्तन, (९) मनः प्रदुष्ट, (१०) वेदिकाबद्ध (११) भय, (१२) भजंत, (१३) मैत्री, (१४) गोरव, (१५) करण, (१६) स्तेन, (१७) प्रत्यनीक, (१८) रुष्ट, (१९) तर्जना, (२०) शठ, (२१) होलित, (२२) विपरि कुंचित, (२३) दृष्टादृष्ट, (२४) श्रृंग, (२५) कर, (२६) भुक्त, (२७) आश्लिष्टानाश्लिष्ट, (२८) न्यून, (२९) उत्तर चूडा, (३०) मूक, (३१) ढड्ढर और (३२) चूडलि दोष– ये वंदन के बत्तीस दोष हैं। जिन्हें त्यागकर विधि पूर्वक वंदन करना चाहिए।"

विशेषार्थ – बत्तीस दोषों का वर्णन ग्रंथकार स्वयं ही गाथाओं के अर्थ द्वारा बतलाते हैं कि (१) **अनाहत दोष**– सभ्रम सहित आदर-सत्कार के बिना शून्य चित्त से वंदना करना। (२) **स्तब्ध दोष** – आठ प्रकार के मद के वश होकर मदान्ध रूप में वंदन करना। (३) **प्रविद्ध दोष** – अधूरे-अपूर्ण वंदन करके भाग जाना। (४) **परि पिंडित दोष** – एक साथ सभी को इकट्ठा एक ही वंदन करना, अथवा दो हाथ पेट पर तथा दोनों पैर इकट्ठे करके वंदन करना या सूत्र उच्चारण करने में अक्षर, पद संपदाओं के यथा योग्य स्थान पर रुके बिना एक साथ अस्पष्ट उच्चारण करना इत्यादि। (५) **टोलागति दोष**– टिड्डी की तरह फुदक फुदक कर अस्थिरता से वंदन करना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) **अंकुश दोष** – गुरु महाराज खड़े हो या सोये हो अथवा अन्य कार्य में लगे हों, उस समय उनका रजोहरण, चोलपट्टा, वस्त्र या हाथ से पकड़कर अथवा अवज्ञा से हाथी पर अंकुश लगाने की तरह खड़े हुए गुरु को आसन पर बिठाना और प्रयोजन पूर्ण होने पर या वंदन करने के बाद आसन से उठाना। पूज्य पुरुषों के साथ इस प्रकार की खींचातानी करना योग्य नहीं है। ऐसा करने से उनका अविनय होता है, अथवा रजोहरण पर अंकुश के समान हाथ रखकर वंदन करना अथवा अंकुश से पीड़ित हाथी के समान वंदन करते समय सिर हिलाना। (७) **कच्छ परिगित दोष** – खड़े खड़े ही '**तितिसणयाए**' इत्यादि सूत्र बोलना, अथवा बैठे बैठे ही '**अहो कायं काय**' इत्यादि पाठ–बोलना, वन्दन करते समय बिना कारण कुछए के समान आगे पीछे रेंग कर वंदन करना। (८) **मत्स्योद्वर्तन दोष** – मछली जैसे जल में एकदम नीचे जाकर फिर ऊपर उछल जाती है वैसे ही करवट बदल कर एकदम रेचकावर्त्त करके उछल कर वंदन करे अथवा वंदन करते समय उछल कर खड़ा होना, या मानो गिर रहा हो इस तरह से बैठ जाना, एकदम वंदन करके मछली के समान करवट बदल कर दूसरे साधु के पास वंदन करना। (९) **मनः प्रदुष्टदोष** – गुरु महाराज ने शिष्य को कोई उपालम्भ दिया हो, इससे रुष्ट होकर उनके प्रति मन में द्वेष रखकर वन्दन करना या अपने से हीन गुण वाले को मैं कैसे वन्दन करूँ ? अथवा ऐसे गुणहीन को क्यों वंदन किया जाए ? ऐसा विचार करते हुए वंदन करना। (१०) **वेदिका बद्ध दोष** – आवर्त्त देते समय दोनों हाथ घुटनों के बीच में रखने चाहिएं। उसके बदले (१) दोनों हाथ घुटनों पर रखे, (२) घुटनों के नीचे हाथ रखे, (३) गोद में हाथ रखे, (४) दोनों घुटनों के बाहर रखे अथवा बीच में हाथ रखे या (५) एक घुटने पर हाथ रखे और वंदन करे, इस तरह इसके पांच भेद हैं। (११) **भय दोष** – इन्हें वन्दन नहीं करूंगा तो संघ समुदाय, गच्छ या क्षेत्र से बाहर या दूर कर देंगे, इस भय से वंदन करना। (१२) **भजंत दोष** – मैं वंदन आदि से इन्हें खुश करता या सेवा करता हूँ, इसलिए गुरु आदि भी भविष्य में मेरी सेवा करेंगे– ऐसा सोचकर अमानत रखने के समान वंदन करना है। (१३) **मैत्री दोष** – इन आचार्य आदि के साथ मेरी मित्रता है, अतः यदि मैं इन्हें वंदन करूंगा तो उनके साथ सदा मित्रता बनी रहेगी, इस लिहाज से वंदन करना। (१४) **गोरव दोष** – मैं गुरु वंदन आदि में कुशल हूँ, ऐसा सोचकर आवर्त्त आदि दूसरे को बताने के लिए सुन्दर रूप देकर अभिमान पूर्वक वंदन करना। (१५) **करण दोष** – ज्ञानादि के कारण बिना ही वस्त्र पात्र आदि प्राप्ति के लोभ से वंदन करना। अथवा ज्ञानादि गुण से जगत में पूज्य बनूं, इस आशय से ज्ञान प्राप्ति के लिए वन्दन करना या वंदन से वशीभूत गुरु महाराज मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरायेंगे, मेरा कहना करेंगे इस अभिप्राय से वंदन करना। (१६) **स्तेन दोष** – स्तेन अर्थात् चोर। मैं दूसरे को वंदन करूंगा तो छो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहलाऊंगा, इसलिए चोर के समान छिपकर वन्दन करना अथवा चोर के समान कोई न देखे इस प्रकार जल्दी जल्दी वंदन करना। (१७) **प्रत्यनीक दोष** – गुरु महाराज आहार आदि कार्य में व्यग्र हों तब वंदन करना। पूर्व में आवश्यक निर्युक्ति पाठ देकर कहा है कि "गुरु महाराज व्यग्र चित हों, प्रमाद या निद्रा में हों, आहार-निहार करते हों, या करने की इच्छा हो तब उन्हें वंदन नहीं करना चाहिए।' (१८) **रुष्ट दोष** – गुरु महाराज कोपायमान हों तब वंदन करना अथवा स्वयं रुष्ट या क्रुद्ध हो उस समय वंदन करना। (१९) **तर्जना दोष** – गुरुदेव ! आप वंदन न करने से न तो गुस्से होते हैं और न वंदन करने से प्रसन्न ही होते हैं, अथवा वंदन करने वाले और न करने वाले का अन्तर आप नहीं जानते, यों बोलकर तर्जना करना। अथवा आप बहुत से लोगों के बीच मुझ से वंदन करवाकर मुझे नीचा दिखाते हैं, मगर जब आप अकेले होंगे तब आपको खबर पड़ेगी यों, अंगुली या मस्तक से ताना मार-तर्जना करके अपमान पूर्वक वंदन करना। (२०) **शठ दोष** – कपट से गुरु को अथवा आम लोगों को दिखाना कि-यह विनयवान् भक्त या शिष्य है। इस प्रकार उन पर विश्वास उत्पन्न कराने के लिए या प्रभाव डालने के लिए मायापूर्वक वंदन करना अथवा बीमारी आदि का बहाना बनाकर अच्छी तरह वंदन नहीं करना। (२१) **हीलित दोष** – अरे गुरु जी! वाचकवर्य जी ! आपको वंदन करके मुझे क्या लाभ होगा ? इत्यादि अपमान करते हुए वंदन करना। (२२) **विपरिकुंचित दोष** – आधा वंदन कर बीच में देश कथादि दूसरी बातें करना। (२३) **दृष्टादृष्टदोष**– बहुतों की आड़ में न दिखाई दे, अथवा अन्धेरा हो तब वन्दन न करे, उस समय बैठा रहे और जब गुरु देखें तब वंदन करे। (२४) **श्रृंगदोष– अहो कायं काय** इत्यादि आवर्त्त बोलकर ललाट के मध्य भाग में स्पर्श न करके मस्तक के दांये बायें अविधि से श्रृंगभाग में स्पर्श करते हुए वंदन करना। (२५) **कर दोष** – राजा को कर देने के समान श्री अरिहन्त भगवान को भी कर के रूप में यह वंदन करना पड़ता है, ऐसा मान कर वंदन करना। (२६) **मुक्त दोष** – दीक्षा लेकर मैं राजादि के लौकिक कर से तो छूट गया, मगर इस वंदन रूप कर से नहीं छूट पाया। ऐसा मान कर बिना मन से वंदन करना (२७) **आश्लिष्टानाश्लिष्ट दोष – अहो कायं काय** इत्यादि बोलकर आवर्त्त करते समय रजोहरण, ललाट, दो हाथ एवं हथेली का स्पर्श करे, रजोहरण का स्पर्श करे परन्तु ललाट का स्पर्श न करे, या ललाट का स्पर्श करे परन्तु रजोहरण का स्पर्श न करे अथवा दोनों का स्पर्श न करे। इन चारों में प्रथम भंग निर्दोष है और शेष तीन भंगों से यह दोष लगता है। (२८) **न्यून दोष** – वंदन सूत्र के अक्षरों का पूरा उच्चारण न करना अथवा पच्चीस आवश्यक पूर्ण न करके वंदन करना। (२९) **उत्तर चूडा दोष** – वंदन करने के बाद ऊँचे स्वर से '**मत्थएण वंदामि**' बोलना। (३०) **मूक दोष** – गूंगे के समान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समझ में न आए, इस तरह वंदन सूत्र का उच्चारण करके वंदन करना, मन में ही बोलकर वन्दन करना। (३१) **ढड्ढर दोष** – बहुत ही उच्च स्वर से बोलकर वंदन करना। (३२) **चूडली दोष** – जैसे जलती हुई लकड़ी को लेकर बालक घुमाता है, वैसे ही रजोहरण के सिरे को पकड़कर घुमाते हुए वंदन करे अथवा हाथ लम्बा करके मैं वंदन करता हूँ– यों बोलते हुए वंदन करे, या हाथ घुमाते हुए सभी को वंदन करता हूँ– इस तरह बोलना। इस प्रकार गुरु महाराज को वंदन करते समय बत्तीस दोषों का त्यागकर विधि पूर्वक शुद्ध वन्दन करना चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि–

किइ कम्मं पि कुणंतो, न होइ किइ कम्म निज्जरा भागी।
बत्तीसा मन्नयरं, साहू ठाणं विराहं तो ॥१२०५॥

बत्तीस दोष परिसुद्धं, किइ कम्मं जो पउंजइ गुरुणं।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाण वासं वा ॥१२९६॥

अर्थात् – "गुरु महाराज को वंदन करने पर जिस साधु को बत्तीस में से एक भी दोष लगता है, वह उस गुरु वन्दन से कर्म निज्जरा रूप फल को नहीं प्राप्त कर सकता। जो बत्तीस दोष रहित–शुद्ध विधि पूर्वक गुरु वंदन करता है वह अल्प काल में मोक्ष अथवा वैमानिक दैव रूप में उत्पन्न होता है।"

इस तरह गुरु वंदन का यह चौदहवां द्वार कहा। अब पंद्रहवें द्वार में आठ कारणों का वर्णन करते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि:–

पडिक्कमणे सज्झाए, काउस्सग्गाव राहपाहुणए।
आलो अण संवरणो, उत्तमट्ठे अ वंदण यं ॥१२००॥

अर्थात् – "शास्त्र में सर्व अनुष्ठान प्रायः साधु के उद्देश्य से कहे हैं, उसमें से जितने रूप में वह पालन हो सके, उतने रूप में वह अवश्य श्रावक को पालन करना चाहिए। ऐसी शास्त्र की मर्यादा है। यहां वंदन के आठ कारण मुख्य रूप में साधु के लिए कहे है। वह इस प्रकार (१) प्रतिक्रमण, (२) सज्झाय, (३) काउस्सग्ग, (४) अपराध, (५) प्राधूर्णक, (६) आलोचना, (७) संवर और (८) उत्तमार्थ हैं।

उसमें १. **प्रतिक्रमण** में सुबह और शाम में चार समय दो दो वंदन दिये जाते हैं, उसका यहां एक 'प्रतिक्रमण' कारण गिना है अर्थात् १. गुरु वंदन प्रतिक्रमण का। वाचना आदि स्वाध्याय में तीन बार गुरु वंदन दिया जाता है वह २. स्वाध्याय का। उसमें ऐसी विधि है कि साधु योग की क्रिया में एक सज्झाय परठने पर, दूसरा प्रवेदन–पवेयणा करते समय वंदन देकर जो सूत्रादि का उद्देश या समुद्देश किया हो वह पढ़े। इन उद्देश–समुद्देश के वंदनो को प्रवेदन के वंदनों में ही गिना जाता है। इस तरह पढ़ते–स्वाध्याय करते सूर्योदय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से पौना पहर (पादोन पोरसी) इतना समय हो जाय तब यदि वह पढ़ना शेष न हो तो उसी समय वन्दन करे और पढ़ना शेष रहे तो वंदन किये बिना ही पात्र पडिलेहन कर फिर शेष को पढ़े । तीसरे काल में वंदन करके काल का प्रतिक्रमण करे, ऐसा पूर्व कालिक साधु समाचारी का क्रम था । वर्तमान में योगो वहन की क्रिया में ही १. सज्झाय परठते, २. प्रवेदन करते और ३. काल के प्रतिक्रमण करते समय वंदन किया जाता है । यह वंदन स्वाध्याय के लिए देना होने से दूसरा कारण **'स्वाध्याय'** जानना । इस प्रकार सुबह प्रतिक्रमण के चार और स्वाध्याय के तीन मिलाकर सात वंदन किये जाते हैं । उसे अनुज्ञा के भी अंतर्गत जानना । इस तरह शाम को भी ये सात वंदन किये जाते हैं । हमेशा देना होने से उपवासी या भोजन न करने वाले साधु को यह चौदह 'ध्रुव वंदन' हैं । भोजन करने वाले को चौदह के अतिरिक्त आगे कहेंगे । वह पचक्खान के कारण अधिक हैं । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि :-

चत्तारि पडिक्कमणे, किइ कम्मा हुंति तिन्नि सज्झाए ।
पुव्वण्हे अवरण्हे, किइ कम्मा चोद्दस हवंति ॥ १२०१ ॥

अर्थात् - "चार वंदन पडिक्कमणा में और तीन स्वाध्याय में- यह मध्याह्न पहले के सात और मध्याह्न के बाद के यही सात मिलकर चौदह वंदन हमेशा ध्रुव रूप होते हैं ।"

वंदन का तीसरा कारण काउस्सग्ग है । साधु को योग द्वहन में एक दिन निविगई और दूसरे दिन आयंबिल करने का कहा है, फिर भी आयंबिल की बारी में कारण वशात् निविगई करनी पड़े तो वह पाली पलटाने की विधि में काउस्सग्ग यहां कारण समझना अर्थात् उस काउस्सग्ग के लिए वंदन किया जाता है । वंदन का यह तीसरा कारण **'काउस्सग्ग'** जानना । (४) गुरु की विनय का उल्लंघन या गुरु आज्ञा आदि का उल्लंघन करने के अपराध की क्षमा याचना के लिए पहले वंदन देकर फिर क्षमापना करना- यह चौथा कारण **'अपराध वंदन'** जानना । पक्खी खामणा के वंदन आदि भी इस खामना में ही गिने जाते है । (५) किसी अन्य क्षेत्र में से विहार करके आए साधु बड़े हों तो उन्हें वंदन किया जाता है, वह **'प्राधूर्णक'** नामक कारण जानना । इसकी विधि में कहा है कि-

संभोइ अण्णसंभोइआ य दुविहा हवंति पाहुण या ।
संभोइए आयरिअं आपुच्छि त्ता उ वंदंति ॥१॥
इअरे पुण आयरिअं वंदित्ता संरिसा विअ तहय ।
पच्छा वंदंति जइ, गय मोहा अहव वंदावे ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''आने वाले साधुओं में एक सांभोगिक-अर्थात् समान समाचारी वाले और दूसरे असांभोगिक अर्थात् भिन्न समाचारी वाले होते हैं, यदि उसमें समान समाचारी वाले हों तो अपने आचार्य को पूछकर उनको वंदन करें और भिन्न समाचारी वाला हो तो पहले अपने आचार्य को वंदन करके उनका आदेश प्राप्त कर वंदन करे। यदि आने वाला निर्मोही वंदनीय योग्य हो तो आचार्य आदेश दे, नहीं तो निषेध करे॥'' यह पांचवां कारण ''प्राधूर्णक'' समझना।

(६) संयम में कोई 'अतिक्रमादि दोष लगा हो तो उसकी आलोचना करते समय वंदन करने का विधान है। यह छठा कारण '**आलोचना**' जानना। आवश्यक निर्युक्ति-वृत्ति में विहार करके आए तब विहार की आलोचना के लिए गुरु को वंदन करे, उसे भी इसी के अन्तर्गत जानना। (७) भोजन के बाद छूटे खुले रखे अगारों का त्याग करने के लिए 'दिवसचरिम, तिविहार-चोविहार' आदि विशेष पच्चक्खान करे अथवा पच्चक्खान एकासणादि का किया हो- उसे बढ़ाकर उपवास आदि करे तब इस तरह पुनः पच्चक्खान के लिए गुरु वंदन का सातवां कारण '**संवर**' जानना और (८) उत्तमार्थ अर्थात् अनशन यानी अन्त काल में संलेखना के लिए गुरु वंदन किया जाता है। यह आठवां कारण '**उत्तमार्थ**' जानना। इस तरह आठ कारणें का यह पंद्रहवां द्वार कहा। अब आखिर में सोलहवें द्वार में गुरु वंदन नहीं करने से जो दोष उत्पन्न होते हैं, उन्हें कहते हैं-

मानो अ विणय खिंसा नीआ गोयं अबोहि भव बुड्ढी।
अनमंतें छद्दोसा, एवं अडनउ असयम हियं ॥१॥

अर्थात्- ''गुरु महाराज को वन्दन-नमस्कार नहीं करने से १. अभिमान, २. अविनय, ३. शासन की अपभ्राजना (निंदा), ४. नीच गोत्र का बंधन ५. समकित प्राप्ति की दुलर्भता और ६. संसार की वृद्धि, इस तरह छह दोष उत्पन्न होते हैं।''

इस तरह गुरु वंदन के कुल १९८ स्थान बतलाए हैं। इस गुरु वंदन की गाथा में सोलह द्वारों से १९८ स्थान कर्त्तव्य बतलाये हैं अब गुरु वंदन (वांदना) सूत्र की व्याख्या कहते हैं।

बड़ा-द्वादशावर्त्त वंदन करने की इच्छा वाला साधु प्रथम लघु वंदन खमासमण देकर संडासा प्रमार्जन कर बैठे हुए ही पूर्व कहे अनुसार पच्चीस बोल से मुंहपत्ति और पच्चीस बोल से शरीर पडिलेहन करे। उसके बाद परम विनय पूर्वक मन, वचन और काया से शुद्ध होकर, गुरु महाराज के आसन से साढ़े तीन हाथ भूमि रूप अवग्रह के बाहर खड़े होकर रस्सी चढ़ाये धनुष के समान टेढ़ा अर्थात् कमर के ऊपर के भाग का शरीर मस्तक सहित नमाकर ओघा-मुंहपत्ति हाथ में लेकर वंदन करने के लिए इस प्रकार से सूत्र पाठ बोले-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

''इच्छामि खमासमणो वंदिउं, जावणिज्जाए, निसीहिआए अणु जाणह मे मिउग्गहं निसीहि । अहो-कायं-काय संफासं खमणिज्जो भे ! किलामो अप्प किलं ताणं बहुसुभेण भे ! दिवसो वइक्कंतो ? जता भे ! जवणि ज्जं च भे ! खामेमि खमासमणो देव सिअं वइक्कमं जावस्सि आए पडिक्कमामि खमासमणाणं, देवसि आए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मण दुक्कडाए, वय दुक्कडाए, काय दुक्काडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्व कालि आए, सव्वमिच्छो वयाराए सव्व धम्माइवक मणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो पडिक्कामामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।''

सूत्र-व्याख्या-'इच्छामि' – अर्थात् मैं चाहता हूँ । किसी दबाव या बलात्कार से वंदन नहीं करता, अपितु अपनी इच्छा से वंदना करता हूँ । **'खमासमणो'** = हे क्षमाश्रमण ! इसमें क्षम् धातु में स्त्रीलिंग का आ प्रत्यय लगने से क्षमा शब्द बना है । इसका अर्थ 'सहन करना' होता है तथा श्रम् धातु के कर्त्ता के अर्थ में अनर् प्रत्यय लगने से श्रमण रूप बनता है । इसका अर्थ होता है–संसार के विषय में उदासीन होकर जो तप करता है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र के बारे में या आत्म साधना में जो स्वयं श्रम–पुरुषार्थ करता है उसे श्रमण कहते हैं । इसका प्राकृत भाषा के सम्बोधन में 'खमाखमणो' बनता है । क्षमा शब्द ग्रहण करने से उसके साथ मार्दव–लघुता आर्जव–सरलता आदि गुणों का भी ग्रहण हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि–क्षमा आदि प्रधान गुणों से युक्त श्रमण–साधु क्षमाश्रमण कहलाता है । यहां सूचित किया जाता है कि ऐसे क्षमादि गुणों से युक्त होने से वास्तव में वे वंदनीय है । अब क्या करने की इच्छा है ? **'वंदिउं'** –आपको वंदना करना चाहता हूँ । वह किस तरह ? **''जावणिज्जाए निसीह आए''** इसमें निसीह आए विशेष्य और जावणिज्जाए विशेषण है । निसीहि आए अर्थात् जिसमें प्राणातिपात आदि पाप नहीं है । ऐसी जावणिज्जाए = सशक्त काया से । इस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है– 'हे क्षमादि गुणों से युक्त श्रमण ! वंदन करने में हिंसा आदि न हो, इस तरह सशक्त काया से मैं आपको वंदन करना चाहता हूँ ।' यहां पर थोड़ा सा रुकना चाहिए । इस वंदन के समय गुरु यदि दूसरे कार्य में लगे हों अथवा कोई विघ्न वाला कार्य हो तो गुरु महाराज कहें दे कि थोड़े समय के बाद करना, अभी रहने दे । कारण कहने योग्य हो तो कहें, नहीं कहने योग्य हो तो न भी कहें– ऐसा चूर्णिकार का मत है । आवश्यक टीकाकार का मत है कि–ऐसे समय में मन, वचन और काया तीनों से वंदन करने का निषेध है, अतः शिष्य संक्षिप्त वंदन कर ले और यदि गुरु दूसरे कार्य में रुके न हों और उसे वंदन करने की आज्ञा दे दें और कहें कि–'छन्देन = अभिप्रायेण'– 'तुम्हारी इच्छा हो तो मुझे वंदन करो, मुझे आपत्ति नहीं है– खुशी से वंदन करो ।' तब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वंदन करने हेतु साढ़ तीन हाथ दूर खड़े होकर कहे- **अणु जाणह मे मिउग्गहं'** आप मुझे अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए। यहां पर चारों दिशाओं में अपने शरीर के प्रमाण में साढ़े तीन हाथ भूमि का आचार्य श्री का अवग्रह होता है, उसमें उनकी अनुमति बिना प्रवेश नहीं कर सकता । कहा भी है-

आयप्पमाण मित्तो, चउ दिसि होइ उग्गहो गुरुणो ।
अणणुण्ण गस्स सया न कप्पए तत्थ पविसेउं ॥१॥

अर्थात्-"चारों दिशा में अपने शरीर के प्रमाणानुसार स्थान गुरु का अवग्रह होता है, गुरु की आज्ञा बिना उसमें प्रवेश करना कदापि कल्पनीय नहीं है ।"

तत्पश्चात् गुरु महाराज कहे '**अणुजाणामि**' यानी 'मैं प्रवेश करने की अनुज्ञा देता हूँ ।' तब शिष्य भूमि का प्रमार्जन कर '**निसीहि**' कहकर अवग्रह में प्रवेश करे । गुरु महाराज के पास जाने के समय निसीहि का अर्थ है-सर्व अशुभ व्यापारों का त्याग करता हूँ। बाद में सड़ासा के प्रमार्जन पूर्वक नीचे बैठे और गुरु महाराज के चरणों के पास जमीन पर ओघा रखकर, उस ओघे की दशियों (फलियों) के मध्य भाग में कल्पना से गुरु चरण युगल की स्थापना करके दाहिने हाथ में मुंहपत्ति पकड़कर दाहिने कान से बांये कान तक, ललाट को तथा दाहिने घुटने को तीन बार प्रमार्जन करे, मुंहपत्ती दाहिने घुटने पर स्थापित करे ।

उसके बाद '**अहो**' पद के 'अकार' का उच्चारण करते ही रजोहरण को दसों हाथ की अंगुलियों से स्पर्श करके, होकार का उच्चारण करे उस समय ललाट का स्पर्श करना, उसके बाद 'का' अक्षर का उच्चारण करते समय फिर उसी तरह हाथ से ओघे की दशियों का स्पर्श करना, उसके बाद फिर का बोलते समय ओघा और 'य' बोलते समय ललाट का स्पर्श करना । उसके बाद '**संफासं**' बोलते हुए दो हाथ और मस्तक से गुरु चरण रूप रजोहरण का स्पर्श करे। उसके बाद मस्तक पर दो हाथ की अंजलि कर गुरु के सन्मुख दृष्टि रखकर '**खमणिज्जो मे किला मो**' से लेकर '**दिवसोवइक्क कतो**' तक सूत्र बोलना। इन पदों का अर्थ इस प्रकार **है**- '**अहो कायं**' - गुरुदेव की काया रूपी चरण को '**काय**' - हाथ और मस्तक रूपी मेरी काया से '**संफासं**' - स्पर्श करता हूँ । यहां अध्याहार से अर्थात् आप श्री जी के चरणों को मैं नमस्कार करता हूँ । उसकी आज्ञा दें। पहली मांगी हुई आज्ञा के साथ इसका सम्बन्ध है। अनुमति बिना गुरु का अंग-स्पर्श करने का अधिकार नहीं है । बाद में '**खमणिज्जो ये**' आप क्षमा करने योग्य हैं। हे भगवन्! आपको '**किलामो**' अर्थात् मेरे स्पर्श से आपके शरीर में दुःख रूप तथा '**अप्पकिलंताणं**' - अल्पमात्र में पीड़ा हुई, '**बहुसभेण**' - बहुत सुख रूप '**भे**'-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आपका, '**दिवसो वइक्कंतो**' – दिन पूर्ण हुआ है ? यहां दिन शब्द से रात्रि पक्ष, चौमासी एवं संवत्सरी भी प्रसंगानुसार समझ लेना चाहिए। इसी तरह दो हाथ जोड़कर गुरु महाराज का प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा से शिष्य को गुरु कहे कि '**तहत्ति**' – वैसे ही हुआ है अर्थात् मेरा दिन सुख रूप से पूर्ण हुआ है। इस तरह तीसरी बार गुरु के शरीर के कुशल समाचार पूछे। अब तप नियम सम्बन्धी कुशलता पूछते हैं –

'**जत्ता भे**' इस पद में अनुदत्त स्वर से 'ज' कार उच्चारण करते समय दोनों हाथों से रजोहरण की दशियों को स्पर्श करे। बाद में हाथ को उठाते हुए रजोहरण और ललाट के मध्य में चौड़ा करते हुए '**ता**' स्वस्ति स्वर से उच्चारण करे और अपनी दृष्टि गुरु मुख के सामने रखे, फिर उन दोनों से ललाट का स्पर्श करते समय उदात्त स्वर से 'भे' अक्षर का उच्चारण करे। यहां 'जत्ता' – यात्रा और '**भे**' हे भगवंत ! के अर्थ में हैं–अर्थात् भगवन्त ! आप श्री की क्षायिक, क्षायोपशामिक और औपशमिक भाव वाली संयम यात्रा, तप और नियम रूप यात्रा वृद्धि–शुद्धि युक्त है ? गुरुदेव उत्तर दे कि–'**तुब्भे वट्टइ**' – तुझे भी वैसे है ? अर्थात् मेरी तप संयम की यात्रा में तो वृद्धि हो रही है, तुम्हारी भी उस यात्रा में आगे वृद्धि होती होगी ? तब निग्रह करने योग्य पदार्थ के विषय में फिर से कुशल मंगल पूछता है–'**जवणिज्जं च**' उसमें '**ज**' अनुदात स्वर से उच्चारण करते हुए पूर्ववत् हाथ ओघे से स्पर्श करे। बाद में दोनों हाथ उठाकर ललाट की ओर ले जाते हुए बीच में चौड़ा करके स्वरित्त स्वर से '**व**' का उच्चारण करे और ललाट पर आते ही उदात्त स्वर से '**णि**' का उच्चारण करे– यह तीन अक्षर बोलने पर प्रश्न अधूरा होने पर भी उत्तर की राह देखे बिना ही फिर अनुदात्त स्वर से '**ज्ज**' बोलते हुए दोनों हाथों से रजोहरण का स्पर्श करे, बाद में रजोहरण से ललाट की ओर ले जाते हुए मध्य में हाथ चौड़े कर स्वरित स्वर से '**च**' का उच्चारण करे, फिर हाथ से ललाट का स्पर्श करते हुए उदात्त स्वर से '**भे**' शब्द का उच्चारण करे। उसके बाद गुरु महाराज के प्रत्युत्तर की राह देखे और उसी अवस्था में बैठा रहे। यहां '**जवणिज्जंच भे**' का अर्थ है–निमंत्रण करने योग्य आप श्री की इन्द्रियां और मन उपशमादि के सेवन से अबाधित हैं ? तात्पर्य यह है–आपका शरीर, इन्द्रियां तथा मन पीड़ा से रहित हैं ? इस तरह भक्ति पूर्वक पूछकर शिष्य ने गुरु का विनय किया। शिष्य का यह पांचवां प्रश्न जानना। इसके बाद गुरु देव ने उत्तर दिया कि–'**एवं**'– हां इसी तरह इन्द्रिय आदि से मैं अबाधित हूँ। इसके बाद शिष्य ओघे पर दो हाथ और मस्तक पर लगाकर अपने अपराध की क्षमा याचना के लिए इस प्रकार कहता है–'**खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं**' –अर्थात् हे क्षमा गुण युक्त श्रमण ! आज सम्पूर्ण दिन में अवश्य करने योग्य अनुष्ठान में विराधना रूप जो मेरे अपराध हुए हों, उनके लिए आप से क्षमा मांगता हूँ। उसके बाद गुरु भी कहे कि–'**अहमवि खामेमि**'–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मैं भी तुम्हें खमाता हूँ अर्थात् पूरे दिन भर में तुम्हारे प्रति हित शिक्षा आदि में प्रमाद से, अविधि से कोई अपराध हुए हों तो उसके लिए मैं भी क्षमा चाहता हूँ।

इसके बाद शिष्य नमस्कार पूर्वक क्षमा याचना करके अपने पैर के पीछे की भूमि का प्रमार्जन कर अवग्रह से बाहर आकर '**आवस्सि आए**' से लेकर '**जो मे अइयारो कओ**' तक सूत्र पाठ का उच्चारण करे। इस पाठ में अपने अतिचारों को निवेदन करने हेतु आलोचना (आत्म निवेदन) नामक प्रायश्चित्त का सूचक सूत्र है। इसके बाद '**तस्स खमासमणो पडिक्कमामि**' इत्यादि पाठ में प्रतिक्रमण के योग्य प्रायश्चित्त विधि की सूचना है और इसे साधक-फिर मैं ऐसा अपराध नहीं करूंगा और आत्मा को शुद्ध करूंगा-इस तरह की बुद्धि से अवग्रह से बाहर निकलते हुए बोले '**आवस्सि आए**'-इसका अर्थ है-चरणसत्तरी-करणसत्तरी रूप अवश्य करने योग्य कार्यों के आसेवन सूचित करते हुए उसके निमित्त से अयोग्य सेवन हुआ हो उसका '**पडिक्कमामि**' - प्रतिक्रमण करता हूँ। अर्थात् उससे पीछे हटता हूँ। यह सामान्य अर्थ कहकर अब विशेष रूप से कहते हैं-'**खमासमणाणं देवसि आए आसायणाए**' अर्थात् क्षमाश्रमण गुरु महाराज के प्रति पूरे दिन में की हुई ज्ञानादि लाभ की होने वाली आशातना की हो उन अपराधों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। कितनी आशातनाएं हैं ? उसे कहते हैं-'**तित्तीसन्नयराए**' अर्थात् गुरु महाराज की तैंतीस आशातनाएं होती हैं, उनमें से दो, तीन या इससे अधिक आशातनाएं लगती हैं। सम्पूर्ण दिन में अनेक आशातनाएं लगने की संभावना होने से यहां पर सभी आशातनाओं का उल्लेख किया है। इनका विवेचन इस प्रकार से है-

गुरु की तैंतीस आशातनाएं- इसको विस्तारपूर्वक समझाते हैं- (१) शिष्य गुरु के आगे आगे निष्प्रयोजन चले तो विनय भंग रूप आशातना लगती है। यदि मार्ग बताना हो या किसी वृद्ध, अंधे आदि की सहायता करने के लिए आगे चले तो यह दोष नहीं लगता। (२) गुरु जी के साथ दाहिने या बांये चलने से और (३) गुरु के एकदम पीछे चलने से- इससे निःश्वास, छींक, श्लेष्म आदि गुरु के शरीर पर पड़ना संभव होने से आशातना लगती है। (४) इसी तरह आगे खड़े होने से। (५) बराबर में बहुत पास खड़े होने से। (६) बहुत नजदीक खड़े रहने से आशातना लगती है। (७) इसी प्रकार गुरु के आगे बैठने से। (८) पीछे साथ में बैठने से। (९) बराबर साथ में बैठने से ये तीन आशातनाएं होती हैं। (१०) गुरु या आचार्य के साथ शिष्य स्थंडिल भूमि गया हो, वहा पहले स्वयं जावे और प्रथम देह शुद्ध करे तो आचमन नामक आशातना लगती है। (११) गुरु के साथ कोई बात करता हो, उससे गुरु से पहले शिष्य ही बातें करे या पहले ही अपने पास बुलाकर बातें करे वह पूर्वालापन आशातना है। (१२) आचार्य के साथ बाहर गया हो, किन्तु वापिस आचार्य के पहले जल्दी लौटकर गमनागमनं की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आलोचना करे तो गमनागमन की आलोचना नामक आशातना होती है। (१३) आहार लाकर गुरु से पहले किसी छोटे साधु के पास आलोचना कर फिर गुरु के पास आलोचना करे। (१४) इसी प्रकार आहार लाकर गुरु से पहले छोटे साधु को दिखाकर फिर बाद में गुरु को दिखाए। (१५) आहार लाकर गुरु को पूछे बिना ही छोटे साधु की इच्छानुसार यथेष्ट- पर्याप्त आहार दे देना। (१६) भिक्षा लाकर पहले किसी छोटे साधु को निमन्त्रण देना, बाद में गुरु को निमंत्रण देना। (१७) स्वयं भिक्षा लाकर उसमें से थोड़ा सा गुरु को देकर बाकी का बढ़िया मनोज्ञ उत्तम वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श वाला स्निग्ध स्वादिष्ट आहार, व्यंजन आदि स्वयं खाए। (१८) रात्रि के समय गुरु महाराज जब आवाज दें कि- आर्य ! कौन जागता है ? कौन सोता है? तब यह सुनने पर भी और जागने पर भी उत्तर नहीं देना। (१९) इसी प्रकार दिन को या अन्य किसी समय गुरु महाराज के बुलाने पर भी उत्तर नहीं देना। (२०) गुरु के बुलाने पर भी जहां पर बैठा हो, सोया हो वहीं से उत्तर देना अथवा गुरु बुलाए तब आसन या शयन से उठकर पास में जाकर मत्थएण वंदामि कहकर गुरु की बात सुननी चाहिए, किन्तु ऐसा न करे तो आशातना लगती है। (२१) गुरु के बुलाने पर 'मत्थएण वंदामि' न कहकर, क्या है ? इस प्रकार तुनक कर बोलना। (२२) गुरु महाराज को शिष्य अविनयपूर्वक रेत् इत्यादि तुच्छ शब्दों से सम्बोधित करे। (२३) रोगी, ज्ञानी आदि की वैयावच्च-सेवा के लिए गुरु महाराज आज्ञा दें कि तुम यह काम करो, तब शिष्य उलटे गुरु को कहे-तुम स्वयं क्यों नहीं कर लेते ? गुरु कह- तुम प्रमादी हो।' तब उद्दण्डता से सामने बोले कि- प्रमादी आप हो।' इस तरह सामने उत्तर देना, तज्जात वचन नामक आशातना है। (२४) गुरु महाराज को कठोर वचन कहे अथवा उनसे उच्च स्वर से बोले। (२५) गुरु महाराज उपदेश देते हों, तब बीच में बिना पूछे ही 'वह तो ऐसा है' इस प्रकार टोकना। (२६) गुरु जी धर्म कथा करते हों तब 'यह बात आपको याद नहीं है,' इसका अर्थ आप नहीं समझते' इस प्रकार शिष्य बीच बीच में बोले। (२७) गुरुदेव धर्म कथा सुनाते हों तब उनके प्रति मन में पूज्य भाव नहीं होने से शिष्य चित्त में प्रसन्न नहीं होता, गुरु के वचन की अनुमोदना नहीं करता, 'आपने बहुत अच्छा कहा' ऐसी प्रसन्नता नहीं लाता- इससे उसे 'उपहत मन सत्व' नाम की आशातना लगती है। (२८) जब गुरु धर्म कथा सुनाते हों तब शिष्य कहे-अभी तो भिक्षा का समय हुआ है या अब सूत्र पढ़ाने या आहार करने का समय है, इत्यादि कहकर सभाभेदन (भंग) करने की आशातना लगती है। (२९) गुरु जी उपदेश देते हों तब 'मैं उपदेश दूंगा' ऐसा कहकर गुरु की सभा और उपदेश को बीच में ही तोड़ देना, वह कथा छेदन आशातना है। (३०) गुरुदेव व्याख्यान देते हों उस समय सभा उठने के पहले ही सभा में अपना चातुर्य आदि बताने के लिए शिष्य व्याख्यान करने लगे तो आशातना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगती है । (३१) गुरु के आगे, ऊंचे या समान आसन पर शिष्य बैठे तो आशातना होती है । (३२) गुरु की शय्या, आसन के पैर लगाना, उनकी आज्ञा के बिना हाथ से स्पर्श करना, इन अपराधों के हो जाने पर भी क्षमा न मांगना आशातना है । दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६, उद्देश्य २, गाथा १८ में कहा है कि–

सघंट्टइता काएणं तहा, अव हिणा मवि ।
खमेह अवराहं मे वइज्ज न पुण ति अ ॥१८॥

अर्थात् – "गुरु देव अथवा उनके कपड़े आदि वस्तुओं का शरीर से स्पर्श हो जाय अथवा आज्ञा बिना स्पर्श कर ले तो 'मेरे अपराध क्षमा करें' कहकर शिष्य क्षमा याचना करे और आइंदा ऐसी भूल नहीं करूंगा– ऐसा कहे ।"

(३३) गुरु की शय्या, संथारा, आसन आदि पर खड़े रहने से, बैठने या सोने से, उनके वस्त्र, पात्र आदि किसी भी वस्तु का स्वयं उपयोग करे तो आशातना लगती है । इस प्रकार तैंतीस आशतनाएं पूर्ण हुईं । अब छह गाथाएं शास्त्र में कही हैं, वह इस प्रकार हैं–

पुर ओ पक्खा सन्ने गमणं ठाणं निसीअणं ति नव ।
सेहे पुव्वं आयमई आलवइ य तहय आलोए ॥१॥

असणाइ अमालोएइ पडिदंसइ देइ उवनिमंतेइ ।
सेहस्स तहाहाराइ लुब्धोनिद्धाइ गुरुपुर ओ ॥२॥

राओ गुरुस्य वयओ, तु सिणि सुणिरो वि सेस काले वि ।
तत्थगओ वा पडिसुणइ वेइ किं ति व तुमं ति गुरु ॥३॥

तज्जाए पडिहणइ वेइ बहुं तह कहंतरे वयइ ।
एवमिमं ति अ न सरसि नो सुणे भिंदइ परिसं ॥४॥

छिंदइ कहं तहाणुट्ठिआइ परिसाइ कहइ सविसेसं ।
गुरु पुरओ वि निसीअइ, ठाइ समुच्चसणे सेहो ॥५॥

संघट्टइ पाएणं, सिज्जा संथारयं गुरुस्स तहा ।
तत्थेव ठाइ निसीअइ, सुयइ व से होत्ति तेत्तीसं ॥६॥

अर्थात्– इन गाथाओं में तैंतीस आशातनाओं का विधान है । उसका अर्थ उपर्युक्त विवेचन में आ गया है इसलिए पुनः नहीं लिखते । यद्यपि ये आशातनाएं साधु के लिए कही हैं, फिर भी श्रावक वर्ग को भी ये आशातनाएँ लगनी संभव हैं । क्योंकि प्रायः साधु की क्रिया के अनुसार ही श्रावक की अधिकांश प्रवृत्तियाँ क्रिया होती हैं । सुना जाता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि- कृष्ण वासुदेव ने द्वादशावर्त्त वंदन से अट्ठारह हजार मुनियों को वंदन किया था। इस कारण साधु की तरह श्रावक के लिए भी ये आशातनाएं यथा संभव समझ लेनी चाहिएं और उनका त्याग करना चाहिए ।

अब इन आशातनाओं के सम्बन्ध में ही कुछ विशेष कहते हैं- **'जं किंचि मिच्छाए'** अर्थात् जो कोई मिथ्या भाव से यानी उसके निमित्त से विपरीत भावों से किया हो **''मण दुक्कडाए, वय दुक्कडाए, काय दुक्कडाए''** अर्थात् दुष्ट मन से या प्रद्वेष के कारण, दुष्ट, असभ्य कठोर वचन बोलकर, काया से दुष्टता अथवा अत्यन्त सटकर बैठकर या साथ चलते शरीर की कुचेष्टा द्वारा आशातना की हो । उनमें भी **'कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए'** - क्रोध रहित, मान रहित, माया रहित या लोभ रहित अर्थात् क्रोधादि करने से या किसी प्रकार के विनय भंग आदि से होने वाली आशातनाएं दिन में की हों । इसी प्रकार पक्खी, चौमासी, संवत्सरी-सम्बन्धी काल में हुई हों तथा इस जन्म से पूर्व जन्मों में अथवा भूत काल या भविष्य काल में जो आशातना हुई हो साधक उन सबको ग्रहण करके निवेदन करता है- **'सव्व कालियाए'** अर्थात् सर्व (तीन) काल विषयक आशातना । इसमें भविष्य काल की आशातना किस तरह लगती है ? उसका उत्तर देते हैं कि 'कल गुरु का इस तरह अनिष्ट या नुकसान करूंगा ।' इस प्रकार विचार करने से, इसी तरह आगामी जन्मों में या भूतकाल में भी उनके वध आदि का निदान करना संभव हो सकता है । इस प्रकार तीनों काल सम्बन्धी आशातनाओं से **'सव्व मिच्छोवयाराए'** अर्थात् सर्व दंभ-कपट या माया से पूर्ण गलत प्रवृत्ति रूप असत्क्रिया की आशातनाओं से तथा **'सव्व धम्माइक्कमणाए आसायणाए'** – अष्ट प्रवचन माता का पालन सामान्य रूप से संयम करने योग्य सर्व कार्य रूप सर्व धर्मानुष्ठान में जो अतिक्रमण-उल्लंघन विराधना रूप सर्व धर्मों की इत्यादि गुरु की आशातनाओं से **'जो मे अइआरो कओ'** – मैंने जो कोई अतिचार-अपराध किया हो **'तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि'** – हे क्षमाश्रमण ! मैं उन अतिचारों का आपकी साक्षी में प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् फिर नहीं करने का संकल्प करके अपनी आत्मा को अपराधों से पीछे हटाता हूँ तथा **'निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि'** अर्थात् संसार से विरक्त मैं भूत काल की अपनी पाप युक्त आत्मा की प्रशान्त चित्त से वर्तमान काल के शुद्ध अध्यवसायों से निन्दा करता हूँ, आप की साक्षी से दुष्ट कार्य करने वाली मेरी आत्मा को गर्हा करता हूँ और आत्मा की अशुद्ध प्रवृत्ति के अनुमोदन का त्याग करता हूँ । इस प्रकार गुरु वंदन सूत्र बोलकर फिर उसी प्रकार अवग्रह के बाहर खड़ा होकर पुनः **'इच्छामि खमासमणो'** से लेकर **'वोसिरामि'** तक दूसरी बार सम्पूर्ण पाठ बोले । परन्तु इसमें इतना विशेष समझे कि दूसरी बार के गुरु वंदन में अवग्रह से बाहर निकले बिना ही **'आवस्सियाए'** पद छोड़कर शेष सारा सूत्र पाठ बोले ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब वंदन की विधि बताने वाली आगमोक्त गाथा प्रस्तुत करते हैं-

"आयारस्स उ मूलं, विणओ सो गुण वओ आडिवत्ती । सा य विहि वंदणाओ, विही इमो वारसावत्ते ॥१॥ होउ महा जाओ पहि, संडासं पमज्ज उक्कुडु अठाणो । पडिलेहिअ मुहपोत्ती, पमज्जि ओवरिमदेहद्धो ॥२॥ उट्ठेउं परिसंठि अ कुप्परधिअपट्ठगो नमियकाओ । जुत्ति पिहि अपच्छद्धो, पवयण कुच्छा जह न होइ ॥३॥ वामं गुलि मुहपोत्ती, कर जुअल तलत्थ जुतरयहरणो । अवणिय जहुत्त दोसं, गुरु समुहं भणइ पयडमिण ॥४॥ इच्छामि खमासमणो, इच्चाई जा निसीहि या एत्ति। छंदेणं निसुणेउं, गुरु वयणं उग्गह जाए ॥५॥ अणु जाणह मे मिउग्गहमणु जाणामिति भासिए गुरुणा । उग्गह खेतं पविसइ, पमज्ज संडासए निसिए ॥६॥ संदंसं रयहरणं पमज्ज भूमीइ संठ वे उण । सीस फुसणेण होही, कज्जं ति तओ पढममेव ॥७॥ वाम कर गहिय पोत्तीइ, ए गद्देसेण वाम कण्णाओ । आरंभिऊण निडालं पमज्ज जा दाहिणो कण्णो ॥८॥ अविच्छिन्नं वामय जाणु निसीउण तत्थ मुहपोत्तिं । रयहरण मज्झ देसंमि, ठावए पुज्जपाए जुगं ॥६॥

सुपसारिय बाहु जुओ उरूय जुयसंतरं अ फुस माणो । जमल ट्ठिअग्ग पाणी अकार मुच्चार यं फुसइ ॥१०॥ अब्भंतर परियट्टि अ, करयल मुवणीअ सीस फुसणंतं । तो कर जुअलं निज्जा होक्कारोच्चार समकालं ॥११॥ पुण हिट्ठामुह करयल, काकार समं छिविज्ज रयहरणं । यं सद्देणं समयं, पुणो वि सीसं तहच्चेव ॥१२॥ का का रस मुच्चारण-समयं रयहरण मालि हेऊणं । यत्ति अ सद्देण समं पुणो वि सिसं तहा चेव ॥१३॥ संफासं ति भणंतो, सीसेणं पण मिऊण रयहरणे । उन्नामि अमुद्धंजली, अव्वा वाहं तओ पुच्छे ॥१४॥ खमणिज्जो भे किलामो, अप्प किलं ताण बहुसुभेणं भे । दिवसो पक्खो वरिसो वा, वइकं तो इय तओ तुसिणी ॥१५॥ गुरूणा तहत्ति भणिए, जत्ता जवणीय पुच्छियव्वा य । परिसंठि एण इणमो, सराण जोएण कायव्वं ॥१६॥ तत्थ य परि भा से मो (मा), मंद मइ विणेय गाहण ट्ठाए । नि उच्च मिज्झि माओ, सरजुत्ती ओ विणेयव्वा ॥१७॥ निओ तत्थणुदत्तो, रयहरणे उच्चओ उदत्तो अ । सीसे णिदसणीओ तदंतरालंमि सरिओ य ॥१८॥

अणुदत्तो अ जकारो, त्ता सरिओ होइ भे उदत्तसरो । पुणरवि जवणी सद्दा अणुदत्ताई मुणेअव्वा ॥१६॥ जं अणुदत्तो अ पुणो च स्सरिओ भे उदत्त सरणामो । एवं रयहर णाइसु, तिसु ढाणेसुं सर णेया ॥२०॥ पढमं आवत्ततिंग वण्णु दुगेणं तु रहअमणुकमसो । वीयावत्ताणं तिंग तिहिं तिहिं वण्णेहिं निप्फन्नं ॥२१॥ रयहरणंमि जकारं त्ताकारं कर जुएण मज्झंमि भेकारं सीसंमिय, काउं गुरुणो वयं सुणसु ॥२२॥ तुब्भंपि वट्टइ त्ति य, गुरुणा भणियंमि सेस आवत्ता । दुण्णिवि काउं तुसिणी, जा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरुणा भणिअ मेवं ति ॥२३॥ अह सीसो रयहरणे, कयं जलि भणइ सविणयं सिरसा। खामेमि खमासमणो, देव सिआई वइ क्कमणं ॥२४॥ अहमपि खामेवि तुमे, गुरुणा अणुणाए खामणे सीसो । निक्खमइ उग्गहाओ, आवसिआए भणेऊणं ॥२५॥ आयण देहो अवराह खामणं सव्वमुच्चरे ऊण । निंदिअ गरहिअ वोसट्ठ सव्व दोसो पडिक्कंतो ॥२६॥ खामिता विणएगं, तिगुत्तो तेण पुणरवि तहेव । उग्गहजा यण पविसण, दुओण यं दोप वेसं च ॥२७॥ पढमे छच्चावत्ता बीअ पवे संमिहुंति छच्चेव । ते अ 'अहो' इच्चाई, असं करेणं पउत्तव्वा ॥२८॥ पढम पवेसे सिरना मणं दुहा बीअए अ तह चेव । तेण उ चउ सीरं तं भणिय मिण मेग निक्खमणं ॥२९॥ एवमहा जाएगं, तिगुति सहियं च हुंति चत्तारि । सेसेसुं खित्तेसु पण वीसावस्सया हुंति ॥३०॥

भावार्थ- "आचार का मूल विनय है । वह गुणवान की सेवा करने से होता है तथा विधिपूर्वक गुरु को वंदन करने से होता है और उस द्वादशवर्त्त वंदन की विधि इस तरह जानना ॥१॥ गुरु वंदन करने का इच्छुक साधक यथा जात अवस्था (जन्म समय की मुद्रा में) स्थित होकर अवग्रह के बाहर संडासा का प्रमार्जन कर उत्कटिकासन में बैठकर मुख वस्त्रिका का प्रतिलेखन करके शरीर के ऊपर के आधे भाग का प्रमार्जन करे ॥२॥ बाद में खड़ा होकर कमर पर कुहनी से चोल पट्टे को दबाकर (पहले चोट पट्ट पर डोरी नहीं बांधते थे) शरीर को नमाकर युक्ति पूर्वक पीछे का भाग धर्म की निंदा न हो इस प्रकार से ढक ले ॥३॥ दाहिने हाथ की अंगुलियों से मुंहपत्ती और दोनों हाथों में रजोहरण पकड़ कर पूर्वोक्त बत्तीस दोषों से रहित निर्दोष वंदन के लिए गुरु महाराज के सामने इस प्रकार उच्चारणपूर्वक बोले ॥४॥ **'इच्छामि खमासमणो मे निसीहि आए'** तक बोलकर बाद में गुरु का **'छंदेण'** उत्तर सुनकर अवग्रह की याचना करने के लिए ॥५॥ **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'** बोले और गुरु **'अणुजाणामि'** कहे, तब अवग्रह भूमि में प्रवेश करके संडासा प्रमार्जन कर नीचे बैठे ॥६॥ इसके बाद रजाहरण की दशियों का प्रमार्जन कर मस्तक से स्पर्श उपयोगी होगा- ऐसा मानकर भूमि पर स्थापन करे, उसके बाद प्रथम ॥७॥ बांये हाथ से एक ओर से पकड़ी हुई मुंहपत्ती से बांये कान से लेकर दाहिने कान तक का और ललाट का प्रमार्जन करे ॥८॥ और सिकोड़े हुए बांये घुटने पर प्रमार्जन करके उस पर मुंहपत्ती रखे तथा ओघे के अग्र भाग में गुरु के चरण-युगल की कल्पना (स्थापना) करे ॥९॥

तदनन्तर दोनों हाथ लम्बे करके दोनों जाघों के मध्य भाग का स्पर्श न हो, इस प्रकार दोनों हाथों से ओघे की दशियों का स्पर्श करते अकार का उच्चारण करे ॥१०॥ उसके बाद दोनों हाथों को मुख की ओर घुमाकर ललाट का स्पर्श करते हुए 'होकार'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का उच्चारण करे ॥११॥ फिर दोनों हाथों से आघे का स्पर्श करते हुए 'का' बोले और 'यकार' बोलते हुए फिर ललाट का स्पर्श करे ॥१२॥ फिर 'का' का उच्चारण करते समय तीसरी बार ओघे का स्पर्श करे और 'यकार' बोलते हुए फिर ललाट का स्पर्श करे ॥१३॥ बाद में **'संफासं'** पद बोलते हुए रजोहरण को दो हाथ और मस्तक से नमस्कार कर मस्तक ऊंचा करके दोनों हाथ जोड़कर अव्याबाद-सुखशाता (कुशल मंगल) पूछने के लिए ॥१४॥ **'खमणिज्जो भे ! किलामो अप्प किलंताण बहुसुभेण** भे दिवसो (**पक्खो वारिसो वा) वइक्कं तो** ?' यों बोलकर क्षण भर मौन रहे ॥१५॥ जब गुरु महाराज **'तहत्ति'** कहें, तब फिर संयम यात्रा और यापनिका (इन्द्रिय और मन की निराबाधता) पूछे, उस समय भी पूर्ववत् दूसरी बार तीन आवर्त्त करना और उसमें स्वर का योग ॥१६॥ यहां प्रश्न उठता है कि मंद बुद्धि शिष्य पर अनुग्रह-उपकार करने के लिए उस स्वर योग को किस तरह स्थापन करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं कि जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम स्वर (आवाज) से युक्त उच्चारण करके स्थापन करना ॥१७॥ उसमें जघन्य (अनुदात्त) स्वर से रजोहरण पर, उत्कृष्ट (उदात्त) स्वर से ललाट पर और मध्यम (त्वरित) स्वर से दोनों के बीच में स्थापन करना ॥१८॥

अनुदात्त से **'ज'** कार, त्वरित से **'त्ता'** और उदात्त से **'भे'** बोलना, पुनः **'ज व जी'** ये तीनों अक्षर भी इसी तरह अनुदात्त आदि स्वर से बोलना ॥१९॥ तीसरी बार **'ज्जं'** अनुदात्त से **'च'** स्वरित से और **'भे'** उदात्त स्वर से बोलना । इसी प्रकार रजोहरण पर हृदय के सामने और ललाट पर स्पर्श करते हुए यथायोग्य स्वर बोलना चाहिए ॥२०॥ प्रथम तीन आवर्त्त क्रमशः दो-दो अक्षरों के और बाद के तीन आवर्त्त क्रमशः तीन-तीन अक्षरों के कहे हैं ॥२१॥ इस तरह आवर्त्त का स्वरूप जानकर अब दूसरे तीन आवर्त्त की विधि बताते हैं-दोनों हाथों से रजोहरण का स्पर्श करते हुए **'जकार'**, मध्य में **'त्ता'** और ललाट में **'भेकार'** कहकर बाद में गुरु वचन सुनना ॥२२॥ गुरु जब **'तुब्भं पि वट्टए'** कहे तब शेष दो आवर्त्त साथ में करके जब तक गुरु **'एवं'** न बोले तब तक मौन रहे ॥२३॥ गुरु के **'एवं'** कहने के बाद शिष्य रजोहरण पर दो हाथों से अंजलि बनाकर और मस्तक लगाकर विनयपूर्वक **'खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कम'** आदि बोले ॥२४॥ बाद में जब गुरु **'अहमवि खामेमि तुम'** यों कहकर क्षमा याचना की सम्मति दे तब शिष्य **'आवस्सिआए'** कहकर अवग्रह में से निकल जाए ॥२५॥ बाद में शरीर झुकाकर सभी अपराधों की क्षमा याचना करके सर्व दोषों की निंदा, गर्हा और त्याग करे। इस तरह से प्रतिक्रमण -प्रायश्चित्त करे ॥२६॥ इसी प्रकार विनय पूर्वक तीन गुप्ति से गुप्त (रक्षित) होकर प्रथम क्षमा याचना करे, फिर उसी तरह दूसरी बार वंदन करे । उसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी अवग्रह की याचना, प्रवेश आदि सब पहले की तरह करे। इसमें दो वंदन, दो अवनत और दो प्रवेश होते हैं ॥२७॥ वंदन के प्रथम प्रवेश में छः आवर्त्त और दूसरे प्रवेश में छः आवर्त्त होते हैं । यहां अहो आदि अक्षर अलग अलग बोलने से बारह आवर्त्त समझना । ॥२८॥ प्रथम प्रवेश में दो बार सिर झुकाना और दूसरे में भी उसी तरह दो बार सिर झुकाना होता है । इससे चार सिर कहा है और एक निष्क्रमण कहा है ॥२९॥ तथा एक यथा जात और तीन गुप्त सहित चार होते हैं, इन चारों को शेष में मिलाने से २ + २ + १२ + ४ + १+ १ + ३ = २५ कुल पच्चीस आवश्यक होते हैं ॥३०॥ ''

इसी तरह साधु के समान श्रावक को भी करना चाहिए जैसे कृष्ण महाराज ने की थी। इस तरह वंदन कर अवग्रह में स्थिर होकर अतिचार की आलोचना करने का इच्छुक शिष्य शरीर को कुछ नमाकर गुरु से इस प्रकार निवेदन करे-**'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअं आलोएमि ?'** अर्थात्-आपकी इच्छा हो तो आज्ञा दीजिये कि मैं दिन में लगे हुए अतिचारों को आपके सामने प्रगट करूं। यहां दिन सम्बन्धी और उपलक्षण से रात्रिक, पाक्षिक चातुर्मासिक और सांवत्सरिक अतिचार भी **'आलोएमि'- आ** अर्थात् मर्यादा - विधिपूर्वक अथवा सर्व प्रकार से और **'लोएमि'** - आपके सामने खोलकर सुनाता हूं। यहां दिन आदि की आलोचना में काल-मर्यादा इस प्रकार है-दिन के मध्य भाग तक से लेकर रात्रि के मध्य भाग तक दैवसिक और रात्रि के मध्य भाग से कर दिन के मध्य तक रात्रिक अतिचारों की आलोचना हो सकती है अर्थात् दिन या रात का प्रतिक्रमण इसी तरह हो सकता है और पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक आलोचना-प्रतिक्रमण तो पंद्रह दिन का, चातुर्मास का और पूरे वर्ष भर का होता है। इसके बाद **'आलोएह'**- आलोचना करो' यों गुरु के द्वारा कथित वचन को स्वीकार कर शिष्य **'इच्छं आलोएमि'** = कहे अर्थात् आपकी आज्ञा स्वीकार करता हूँ और आलोचना-क्रिया द्वारा प्रकट करता हूँ। इस तरह प्राथमिक कथन कहकर शिष्य साक्षात् आलोचना के लिए यह पाठ बोलता है-

'जो मे देवसिओ अइ आरो कओ, काइओ वाइ ओ, माण सिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंति ओ अणा यारो अणिच्छि अव्वो असावग-पाउग्गो, नाणे तह दंसणे चरित्ता चरित्ते, सुए, सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं पचण्ह मणुव्व याणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्ह सिक्खा व याणं, बारस विहस्स सावगधम्मस्स जं खडिंयं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।'

सूत्र की व्याख्या- 'जो मे' अर्थात् मैंने जो कोई **'देवसिओ अइआरो'** - दिवस सम्बन्धी विधि का उल्लंघन करने के रूप में अतिचार **'कओ'**- किया हो, वह अतिचार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी साधन भेद से अनेक प्रकार के होते हैं । अत: कहा है-'**काइओ वाइओ माणसिओ**' अर्थात् शरीर से, वाणी से और मन से मर्यादा विरुद्ध गलत प्रवृत्ति करने से अतिचार लगे हों, वह भी '**उस्सुत्तो**' – सूत्र विरुद्ध वचन बोलने से, '**उम्मग्गो**'- उन्मार्ग अर्थात् क्षयोपशमिक रूप भाव मार्ग का उल्लंघन करना उन्मार्ग है अथवा आत्मस्वरूप (क्षायोपशमिक भाव) का त्याग कर मोहनीय आदि औदयिक भाव में परिणमन होना उन्मार्ग है, उससे लगा हुआ अतिचार तथा '**अकप्पो**' अर्थात् कल्प यानी न्याय विधि, आचार तथा चरण-करण रूप व्यापार (प्रवृत्ति), इससे जो विपरीत हो वह अकल्प्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि संयम का कार्य यथार्थ स्वरूप में नहीं होने से लगे हुए अतिचार में '**अकरणिज्जो**' = सामान्य रूप से नहीं करने योग्य कार्य को करने लगा अतिचार । ऊपर कहे अनुसार उत्सूत्र आदि शब्द कार्य-कारण रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं । उत्सूत्र हो तो व्यक्ति उन्मार्ग में जाता है, उन्मार्ग पर जाने से कल्प्य अकल्प्य का विवेक नहीं रहता। अकल्पय से व्यक्ति अकरणीय कार्य करता है । इस तरह कायिक, वाचिक अतिचार का विशेष स्वरूप बनाने के लिए उत्सूत्र से उन्मार्ग तक के शब्द का प्रयोग किया है । अब विशेषत: मानसिक अतिचार के लिए कहते हैं :-

'**दुज्झाओ**' अर्थात् एकाग्र चित्त होकर दुष्ट ध्यान करने से आर्त्त ध्यान, शौद्र ध्यान रूपी अतिचार तथा '**दुव्विचिंतिओ**' = अर्थात् चंचल चित्त से दुष्ट चिन्तन रूप अतिचार कहा है कि- '**जं विरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तवं चित्तं** ।' अर्थात् मन का स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान कहलाता है और चंचल अध्यवसाय चित्त कहलाता है । इस तरह ध्यान और चित्त में स्थिर चंचल चित्त रूप भेद समझना ।'**अइयारो**' अर्थात् यह श्रावक के लिए आचरण करने योग्य नहीं है, अत: अनाचरणीय है और अनाचरणीय के लिए कहते हैं - '**अणिच्छि अव्वो**' = मन से इच्छा करने योग्य नहीं है ।इसलिए ही '**असावग पाउग्गो**' अर्थात् जिस गृहस्थ ने सम्यकत्व स्वीकार किया हो, अणु व्रत आदि व्रत नियम अंगीकार किये हों, सदा साधु के पास जाता हो, साधु श्रावकों की समाचारी या आचार मर्यादा-कर्तव्य कल्प सुनता हो, ऐसे श्रावक के लिए करने योग्य नहीं है । इस प्रकार अतिचार कहकर अब उसका विषय कहते हैं '**णाणे दंसणे-चरित्ता चरित्ते**' अर्थात् ज्ञान तथा दर्शन विषय में तथा स्थूल रूप से आश्रव त्याग यानी सावध योग से विरताविरत अर्थात् स्थूल रूप से सावध योग त्याग के कारण चारित्र और सूक्ष रूप से सावध योग के त्याग के अभाव के कारण अचरित्र, इस प्रकार चारित्रा = चरित्र जानना । ये देश वरति-आराधना के विषय में लगे हुए अतिचार हुए । अब ज्ञानादि-विषयक अतिचार पृथक्-पृथक् रूप से बतलाते हैं - '**सुए**' – श्रुत ज्ञान के विषय में, उपलक्षण से शेष मतिज्ञानादिचार ज्ञान का ग्रहण करना, ज्ञान के विपरीत-उत्सूत्र प्रारूपणा करना, या काल में स्वाध्याय करना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि ज्ञानाचार के आठ आचारों का पालन नहीं करना अतिचार है, उसके सम्बन्ध में तथा '**सामाइए**' अर्थात् सामायिक के विषय में, यहां सामायिक ग्रहण करने से सम्येत्व-सामायिक व देश विरति-सामायिक जानना। सम्यकत्व सामायिक में शंका, कांक्षा आदि अतिचार हैं। देश विरति सामायिक के अतिचार के भेद कहते हैं - '**तिण्हं गुत्तीणं**' अर्थात् तीन गुप्ति से खंडित किया हो वह अतिचार है। यहां मन, वचन और काया के योगों के निरोध में तीन गुप्ति पर श्रद्धा न करने से, तथा विपरीत प्ररूपणा करने से, खण्डन = विराधना करने से '**चउण्हं कसायाणं**' अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ रूपी कषायों से जिन अप्रशस्त कषायों का करने का निषेध है, उन्हें करने से तथा कषाय-विजय पर अश्रद्धा होने के कारण उनके विपरीत प्ररूपणा करने से तथा '**पंचण्हमणुव्य यांणं तिण्ह गुण व्ययाणं, चउण्ह सिक्खावयाणं**' - अर्थात् श्रावक के पांच अणुव्रत तीन, गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों में (इनका स्वरूप पहले कह आए हैं) लगे अतिचार '**बारस विहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं**' अर्थात अणुव्रत आदि सब मिलाकर श्रावक धर्म केकुल बारह व्रत होते हैं, उनका देशत: भंग किया हो, अधिक भंग किया हो, मूल से भंग नहीं होने से व्रत की विराधना हुई हो तो '**तस्स मिच्छामि दुक्कडं**' = अर्थात् उस दिन सम्बन्धी ज्ञानादि विषय में तथा तीन गुप्ति, चार कषाय, बारह प्रकार के श्रावक धर्म रूप चारित्र के विषय में खण्डन-विराधना रूप अतिचार लगा हो तो वह मेरा पाप मिथ्या हो। इस प्रकार पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ। मेरे लिए वह करने योग्य नहीं है। क्योंकि दुष्कर्तव्य है। ऐसा स्वीकार करता हूँ।

इसके बाद शिष्य आधे शरीर को नमाकर उत्तरोत्तर बढ़े हुए वैराग्य से सम्पन्न होकर माया-अभिमान आदि से रहित होकर अपने सभी अतिचारों की विशुद्धि के लिए इस प्रकार का सूत्र बोले- '**सव्वस्सवि देवसियं दुच्चितिय दुब्भासिय, दुच्चिट्ठिय इच्छाकारेण संदिसह ?**' इसका अर्थ इस तरह से है '**सव्वस्सवि देवसियं**' सारे दिन में अणुव्रत आदि सभी के विषय में नहीं करने योग्य के करने से और करने योग्य के नहीं करने से जो अतिचार लगे हों वे किस तरह से ? उसे कहते हैं- '**दुच्चितियं**' – आर्त रौद्र ध्यान रूप दुष्ट चिन्तन करने से मानसिक अतिचार - '**दुब्भासिय**'– पापकारी खराब वचन बोलने से वचन-विषयक अतिचार-तथा '**दुच्चिट्ठियं**' - निषिद्ध या दुष्ट चेष्टाएं-दौड़ना, कूदना इत्यादि कायिक क्रियाएं करने से लगे हुए कायिक अतिचार। इन मन, वचन, काया के अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के हेतु कहते हैं - '**इच्छा कारेण संदि सह (भगवन्)**' अर्थात् = (हे भगवन्त !) किसी के दबाव या जोर जबर्दस्ती से नहीं, किन्तु अपनी इच्छा से मुझे प्रतिक्रमण करना है-दोष से पीछे हटना है, उसके लिए अनुमति दें यों कहकर शिष्य मौन पूर्वक गुरु के सन्मुख खड़ा रहकर उत्तर की प्रतीक्षा करे। जब

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरु **'पडिक्कमह'** – प्रतिक्रमण करो, कहे तब शिष्य बोले **'इच्छं'** = मुझे आपकी आज्ञा प्रमाण है । **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** उपर्युक्त समस्त अतिचार रूप मेरा पाप मिथ्या हो अर्थात् मैं इन दोषों या अपराधों से जुगुप्सा (निंदा) करता हूँ । इसके बाद **'वंदित्तु सूत्र'** भी अतिचार के विस्तारपूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के लिए यहां कहना । उसका अर्थ आगे कहा जायेगा । इसके बाद गुरु सम्बन्धी जो दैवसित अतिचार लगे हों उन अपराधों की क्षमा याचना के लिए दो बार वंदन पाठ बोले । तदनन्तर अवग्रह में खड़े-खड़े आधा शरीर नमाकर शिष्य अपने अपराधों की क्षमा याचना के लिए गुरु महाराज से इस प्रकार निवेदन करे :-

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! – हे भगवन्त ! मेरी अपनी इच्छा है, मुझे आज्ञा दें । किस बात की आज्ञा ? उसे कहते हैं - **'अब्भुट्ठिओऽहं अब्भितर देव सिअं खामेमि'** अर्थात्- आप के प्रति दिन में मेरे द्वारा अपराध हुए हों, उनकी क्षमा मांगने के लिए, अन्य इच्छाओं को छोड़कर क्षमा याचना करने के लिए तत्पर बना हूँ । किसकी क्षमा याचना करनी है ? उसे कहते हैं - **'अब्भिंतर देव सियं'** = दिन में जो अतिचार लगने की संभावना हुई हो, उनके लिए **'खामेमि'** – मैं क्षमा याचना करता हूँ । यहां पर अतिचार का अध्याहार जानना । अन्य आचार्य इस स्थान पर दूसरा पाठ बोलते हैं- **''इच्छामि खमासमणो ! अब्भुट्ठिओमि अब्भितर देव सिअं खामेउ'** । यहां **'इच्छामि'** आदि का अर्थ है - क्षमा याचना की इच्छा करता हूँ । हे क्षमा = श्रमण ! केवल क्षमा याचना की इच्छा ही नहीं करता, परन्तु मैं क्षमा मांगने के लिए आप के समीप उपस्थित हुआ हूँ, ऐसा कहकर मौन पूर्वक गुरु के आदेश की प्रतीक्षा करे । जब गुरु कहें **'खामेउ'** – क्षमा मांगो, तब गुरु महाराज के वचन को आदर पूर्वक शिरोधार्य करते हुए कहे कि- **'इच्छं खामेमि'** – आप की आज्ञा स्वीकार कर अपने अपराध को खमाता हूँ । यहां से क्षमा याचना की क्रिया प्रारंभ करते हैं । इसके बाद विधि पूर्वक दो हाथ, दो घुटने और मस्तक को जमीन पर लगाकर और मुंहपत्ती को मुंह के पास रखकर इस प्रकार पाठ बोले -

''जं किंचि अपत्तिअं पर पत्तिअं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतर भासाए उवरि भासाए जं किं चि मज्झ विणय परिहीणं सुहुमं वा वायरं वा तुब्भे जाणह अहं न याणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं''

सूत्र व्याख्या - **'जं किं च'** – जो कोई सामान्य-सहज **'अपत्तिअं'** – अल्प अप्रीति रूप और **'परपत्तिअं'** – विशेष अप्रीति रूप अथवा किसी दूसरे निमित्त से तथा उपलक्षण से मेरे निमित्त से आप के प्रति मेरा या मेरे प्रति आपका ऐसा कोई अपराध हुआ हो वह मिथ्या हो, इस प्रकार अन्तिम पद के साथ जोड़ना । अपराध किन किन विषयों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में हुआ ? '**भत्ते**' भोजन में '**पाणे**' – पानी में '**विणए**'– विनय-व्यवहार में, खड़े आदि होने में '**वेयाव च्चे**'– औषध, पथ्य, अनुकूल आहार आदि के सहायक होने में '**आलावे**'– एक बार बोलने में आलाप से '**सलावे**' – परस्पर अधिक वार्तालाप करने में '**उच्चासणे**' – आप के सामने ऊंचे आसन पर बैठने से '**समासणे**' आप के बराबर आसन लगा कर बैठने से तथा '**अंतर भासाए**' – गुरुदेव किसी से बात करते हों तब बीच में बोलने से '**उवरि भासाए**' – गुरु ने जो बात कही हो, उसे अधिक बढ़ा-चढ़ाकर कहने से '**जं किं च**' – जो कोई सहज भाव अथवा विशेष-सर्व प्रकार से '**मज्झ**' – मेरे से '**विणय-परिहीणं**' – अविनय से-आपकी शिक्षा से विपरीत से हुआ है '**सुहुमं वा वायरं वा**' – अल्प प्रायश्चित्त से शुद्ध होने वाले शुद्ध या विशेष प्रायश्चित्त से शुद्ध होने वाले बादर (स्थूल) यहां दूसरी बार वा का प्रयोग दोनों के विषय में मिथ्या दुष्कृत देने के लिए है । '**तुब्भे जाहण, अहं न जाणामि**' – आप सकल भाव उचित, अनुचित को या उन मेरे अपराध को जानते है, मैं नहीं जानता । मूढ़ होने से मैं अपने अपराध को नहीं जानता, और मैंने जो अपने अपराध गुप्त रूप से किये हों, वे आप को नहीं बताये हो, उन्हें (मेरे उन अपराधों को) मैं जानता हूँ और आप दूसरों के किए हुए अपराध नहीं जानते, और मैं भी विस्मृति आदि के कारण कई अपराधों को नहीं जानता हूँगा, तथा आप के सामने प्रत्यक्ष किए हुए अपराध मैं और आप जानते हैं । इस प्रकार अपराध के चार विकल्प किए । वे सभी यहां पर समझ लेना । '**तस्स**' – उस अप्रीति-विषयक और अविनय-विषयक अपराध के लिए - '**मिच्छामि दुक्कडं**' – मेरा पाप मिथ्या हो, अपने गलत आचरण का पश्चात्ताप या स्वीकार रूप प्रतिक्रमण करता हूँ । ऐसा जैन शासन में पारिभाषिक वाक्य है । 'प्रयच्छामि' अर्थात् देता हूँ, यह पद अध्याहार्य समझना । '**तस्स मिच्छामि दुक्कडं**' – इस पद का दूसरा अर्थ इस तरह है – **तस्स** अर्थात् अप्रीति और अविनय से हुआ यह मेरा अपराध '**मिच्छा**'– मोक्ष मार्ग की साधना में विरोध करने वाला है '**मि**' मुझको '**दुक्कडं**'– वह पाप है । इस तरह अपने दोषों की स्वीकृति रूप प्रतिक्रमण अथवा अपराध की क्षमा याचना जानना ।

इस तरह प्रथम वंदन में आलोचना और क्षमापना के लिए वंदन करने का विधान किया है । इसके बाद '**देवसिअं आलोउं**' और '**अब्भुट्ठिओ**' सूत्र की व्याख्या जानना। नहीं तो उसका अवसर प्रतिक्रमण आवश्यक में आता है, इसी तरह द्वादशावर्त्त वंदन विधि पूर्ण हुई । यदि गुरु को 'व्यग्र चित्त' आदि के कारण द्वादशावर्त्त वन्दन न हो तो छोभ वंदन से-दो खमासमण से भी वंदना करना । गुरु वंदन करने से कर्म निर्जरा रूप मोक्ष फल होता है । शास्त्र में कहा है :-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"वंदएणं मते ! जीवे किं अज्जिणइ ? गोयमा अट्ठ कम्म पगडीओ निविड बंधण वद्धाओ सिढिल बंधण वद्धाओ करेइ, चिर काल टिइ आओ अप्प काल ठिइ आओ करेइ, तिव्वाणु भावाओ मंदाणु भावओ करेइ, बहुपए सगाओ अप्पपए सगाओ करेइ, अणाइ अं अणवदग्गं संसार कंतारं नो परि अट्ठई ॥" अर्थात् श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर प्रभु से पूछा कि- भगवन ! वंदन करने से जीव को क्या लाभ मिलता है ? भगवान ने कहा-गौतम ! ज्ञानावरणीय आदि कर्म जो गाढ़ रूप में बन्धन किये हों वे कर्म वंदन करने से शिथिल हो जाते है । लम्बे काल तक स्थिर नहीं रहते, तीव्र रस वाले हो वे कर्म मंद रस वाले हो जाते हैं, और बहुत प्रदेश वाले कर्म बन्धन हो गये हों- वे अल्प प्रदेश वाले हो जाते हैं। इससे अनादि-अनंत संसार रूपी अटवी में दीर्घ काल तक भ्रमण नहीं करना पड़ता है ।

दूसरे प्रश्न में फिर पूछा- **"वंदएणं भते ! जीवे किं अज्जिणइ ? गोयमा ! वंदएणं नीआ गोअं कम्मं खवेइ, उच्चा गोअं कम्मं खवेइ, उच्चा गोअं, कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च अप्पडि हयं आणफलं निवत्तेइ त्ति ॥"** (उत्तराध्ययन के तीसवें अध्ययन गाथा १० में कहा है कि- प्रश्न- "हे भगवन्त ! गुरु वंदन करने से जीव को क्या फल मिलता है ?" भगवन् ने कहा- "गौतम ! गुरु वंदन करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करके उच्च गोत्र कर्म का बन्धन करता है, और अप्रतिहत-आशा फल अर्थात् जो गुरु की आज्ञा को खंडित नहीं करता, वह सौभाग्य नाम कर्म उपार्जन करता है ।"

卐 इति गुरु वन्दन अधिकार 卐

पच्चक्खान अधिकार

इस तरह गुरु महाराज को वंदन करके उनके सन्मुख अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान (पच्चक्खान) करे । यह गृहस्थ का विशेष धर्म है । यहां प्रसंगानुसार पच्चक्खान का स्वरूप कहते हैं:-

प्रत्याख्यानानि तद्भंगाऽऽकार सूत्राऽर्थ शुद्धयः ।
प्रत्याख्यान फलं चाथ, किञ्चि देवोच्यतेऽधुना ॥१॥

अर्थात् - "(१) प्रत्याख्यान, (२) उसके भेद, (३) आगार, (४) सूत्र पाठ, (५) अर्थ, (६) शुद्धि और (७) फल- इन सात द्वारों से उसका वर्णन संक्षेप में कुछ कहा जायेगा।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसमें **(१) पच्चक्खान**- प्रत्याख्यान के अर्थ में कहा है । प्रति+आ+ख्यान- इन तीन शब्दों से प्रत्याख्यान शब्द बना है । 'प्रति' का अर्थ है - प्रतिकूल प्रवृत्ति, 'आ' = मर्यादा पूर्वक और 'ख्यान' = कथन करना, अर्थात् अनादि काल से विभाव दशा में रहे हुए मन, वचन, काया से आत्मा के द्वारा वर्तमान स्वभाव से (पाप प्रवृत्ति से) प्रतिकूल मर्यादा का त्याग करके अनुकूल मर्यादा का स्वीकार करना प्रत्याख्यान कहलाता है । इस प्रत्याख्यान व्याख्या में क्रिया और क्रियावान का थोड़ा अभेद होने से प्रत्याख्यानी की क्रिया को ही प्रत्याख्यान कहा गया है अथवा जिसके योग से भोगादि का निषेध किया जाय, न भोगा जाय- वह प्रत्याख्यान है । इस संस्कृत शब्द को प्राकृत में 'पच्चक्खान' कहते हैं । इसको विशेष प्रसिद्ध रूप कहा जाता है ।

इस पच्चक्खान के दो भेद हैं- प्रथम मूल गुण और दूसरा उत्तरगुण । इन दो के दो दो भेद होते हैं- एक देश से, दूसरा सर्व से । साधुओं के लिए पांच महाव्रत और श्रावकों के लिए पांच अणु व्रत मूल गुण हैं । साधुओं के लिए पिंड विशुद्धि आदि गुण है और श्रावकों के लिए गुण व्रत और शिक्षा व्रत उत्तर गुण है । इस तरह मूल गुण पच्चक्खान सर्व से और देश से- दो प्रकार से जानना । उत्तर गुण रूप पच्चक्खान साधु को सर्व से होता है, उसके अनेक भेद होते हैं । जैसे कि-

पिंडस्स जा विसोही, समिई ओ भावणा तवो दुविहो।
पडिमा अभिग्ग हाविअ, उत्तर गुणमो विआणाहि ॥१॥

अर्थात् - "पिंड की विशुद्धि अर्थात् आहार-पानी, वस्त्र-पात्रादि वस्तुयें बयालीस दोष रहित निर्दोष ग्रहण करना, इर्या समिति आदि पांच समितियों का पालन करना, अनित्यादि बारह, मैत्यादि चार भावना अथवा महा व्रत की पच्चीस भावनाओं का चिन्तन, बाह्य-अभ्यंतर दो प्रकार से तप करना, साधु की बारह प्रतिमा धारण करना और द्रव्य क्षेत्रादि विविध अभिग्रह धारण करना- ये सर्व साधु के उत्तर गुण जानना ।"

श्रावक को देश से तीन गुण व्रत, चार शिक्षा व्रत स्वरूप उत्तर गुणों का पच्चक्खान जानना । मूल गुण का सर्व से और देश से प्रत्याख्यान हिंसा आदि पांच पापों का त्याग रूप है । जबकि उत्तर गुण में साधुओं के लिए पिंड विशुद्धि आदि, श्रावकों के लिए दिग्व्रतादि के नियम प्रतिपक्ष भाव के त्याग के रूप में होते हैं- इस तरह आवश्यक सूत्र की तथा योगशास्त्र की टीकाओं में कहा है । इसलिए गृहस्थ और साधु दोनों में जिसको जो योग्य हो वह उत्तर गुणों को सर्व से पच्चक्खान 'अनागत' आदि दस प्रकार से करना चाहिए । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है -

अणागय मइक्कंतं, कोडि सहियं निअंटि अ चेव ।
सागारमणागारं परिमाण कडं निरवसे सं ॥१५६४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संकेअं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं तु दस विहं होइ ।
सयमेवाणु वालणया, दाणु वए से जह समाधि ॥१५६५॥

अर्थात् - "(१) अनागत, (२) अतिक्रान्त, (३) कोटि सहित, (४) नियंत्रित, (५) आगार सहित, (६) अनागार, (७) परिमाणकृत, (८) निरवशेष, (९) सांकेतिक और (१०) अद्धा-इन दस पच्चक्खाणो का स्वयं पालन करना, परन्तु दूसरे को आहारादिक या उपदेश देने-दिलाने में समाधि अनुसार अधिक लाभ हो वैसा, वर्तन करना ।

उसमें पर्यूषण आदि पर्वों में करने का जो तप है, वह वैयावच्च अथवा अन्य कारणों से उन दिनों में न हो सकता हो तो पहले कर लेना वह **१. अनागत** पच्चक्खान है । उन पार्व के दिनों का तप करने की भावना होने पर भी किसी कारण से न कर सके तो कारण की समाप्ति होने के बाद करना **२. अतिक्रान्त** पच्चक्खान है । एक पच्चक्खान पूर्ण होने के साथ ही दूसरा पच्चक्खान करना, इस तरह दो पच्चक्खान के अन्तिम आदि दो पल्ले एकत्रित करना वह **३. कोटि सहित** पच्चक्खान है, उसमें भी छट्ठ के साथ छट्ठ, अट्ठम के साथ अट्ठम, आयंबिल के साथ में आयंबिल आदि समान पच्चक्खान जोड़ना, वह समकोटि सहित जानना और उपवास ऊपर के आयंबिल आदि दूसरा पच्चक्खान अन्य प्रकार का करना वह विषम कोटि सहित पच्चक्खान जानना । अमुक महीने में या अमुक दिन अमुक अट्ठम आदि कोई निश्चित तप-पच्चक्खान रोगी या निरोगी किसी भी हालत में भी करना ही है, ऐसा निरपवाद-निर्णय वह **४. नियंत्रण** पच्चक्खान है । यह पच्चक्खान चौदह पूर्वधरों का तथा जिन कल्प का विच्छेदन होने के साथ ही विच्छेद हो गया है । जिसमें 'महत्तरागार' आदि आगार (अपवाद) खुल रखी हो वह **५. सागार** पच्चक्खान है और जो आगार रहित हो वह **६. अनागार** (निरागार) पच्चक्खान है । इसमें भी छद्मस्थ को अनिवार्य होने से 'अनाभोग और सहसात्कार' दो आगार तो अनागार में भी होते ही हैं इसलिए उसके सिवाय के 'महत्तरागार' आदि आगार रहित को निरागार जानना । यह पच्चक्खान प्रथम संघयण वाले जीव को प्राणांत संकट या भिक्षा के सर्वथा अभाव में होता है । हाल में ऐसे संघयण के अभाव में सागार पच्चक्खान ही होता है । जिसमें दत्ती, कवल, ग्रास, घर या द्रव्य आदि अमुक संख्या से अधिक नहीं उपयोग करने का नियम करने में आता है वह **७. परिमाण कृत** पच्चक्खान है । यहां हाथ से अथवा पात्र में से एक साथ में या एक धार से जितना आहार देने में आए वह एकदत्ती प्रमाण है । सुख पूर्वक मुख में रख सके- चबा सके उतने आहार का एक कवल कहलाता है । पुरुष को बत्तीस और स्त्री को अट्ठाईस कवल प्रमाण आहार माना जाता है उसमें कम संख्या धारण करना वह कवल प्रमाण है । अमुक घरों के बिना अन्य से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आहारादि नहीं लेना वह घर प्रमाण और अमुक वस्तुओं के सिवाय अन्य सब का त्याग करना वह द्रव्य प्रमाण समझना। चारों आहार का सर्वथा त्याग करना वह **८. निरवशेश** पच्चक्खान है। यह पच्चक्खान विशेषत: मृत्यु के समय में संलेखना के लिए किया जाता है। अंगूठे, मुट्ठी या गांठ आदि न खोल लूं वह **६. संकेत** पच्चक्खान। है जैसे -गृहस्थ पोरिसी आदि पच्चक्खान करके कार्य के लिये बाहर जाता है या घर रहे, किन्तु पच्चक्खान के समय पर किसी कारण से भोजन न करना हो तो पच्चक्खान पूर्ण होने के बाद जब तक भोजन न करे- उस समय तक अविरति न जाय, उसके लिए वह संकेत करे कि- अंगूठा नहीं छोड़ूं या मुट्ठी छोड़ूं नहीं या गांठ खोलूं नहीं। 'घर में प्रवेश नहीं करूं, जब तक पसीने की बूंदें न सूख जाएं या जब तक इतने श्वासोच्छ्वास पूरे न हों', पानी में भीगी चारपाई जब तक सूख न जाए अथवा जब तक इसमें से बूंदें टपकनी बन्द न हो जाएं अथवा जब तक दीपक न बुझ जाए तब तक मैं भोजन नहीं करूंगा या पारणा नहीं करूंगा इत्यादि' संकेत पच्चक्खान है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि:-

अंगुट्ठ मुट्ठि गंठी घर से ऊसास थि बुग जो इक्खे।
एअं संकेअ भणिअं धीरेहिं अनंत नाणी हिं ॥१५७८॥

अर्थात्- "(१) अंगूठा, (२) मुट्ठी, (३) गांठ, (४) घर, (५) पसीना, (६) श्वासोच्छ्वास, (७) बिन्दु और (८) ज्योति-दीपक-प्रकाश इत्यादि संकेत की अपेक्षा से किए जाने वाले प्रत्याख्यान को अनन्त ज्ञानी धीर महापुरुषों ने संकेत पच्चक्खान कहा है।"

इस तरह संकेत आठ प्रकार का है। काल-समय की मर्यादा वाला दसवां अद्धा पच्चक्खान दस प्रकार का है। आवश्यक निर्युक्ति गाथा १६११ तथा प्रवचन सारोद्धार गाथा २०२ में कहा है :-

नवकार पोरिसीए, पुरिमड्ढे गासणे गठाणे अ।
आयंबिल अभत्तट्ठे चरिमे अ अभिग्गहे विगई ॥

अर्थात्- "अद्धा पच्चक्खान उसे कहते हैं जिसमें काल की मर्यादा-सीमा होती है। वह दस प्रकार का है- (१) नवकार सहित नौकारसी, (२) पोरसी, (३) पुरिमड्ढ (पूर्वार्द्ध), (४) एकासण, (५) एकलठाणा, (६) आयंबिल, (७) उपवास, (८) दिवस चरिम अथवा भवचरिम, (९) अभिग्रह और (१०) नि वग्गई या विग्गइय। इस तरह काल पच्चक्खान दस हैं।

यहां शंका होती है कि-एकासण आदि प्रत्याख्यान में तो स्पष्ट रूप से काल की कोई मर्यादा नहीं मालूम होती, फिर उसे काल पच्चक्खान क्यों कहा गया है ? इसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समाधान यों देते हैं क यह ठीक है कि एकासन के साथ काल मर्यादा की आवश्यकता नहीं है, परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा इसकी भी काल मर्यादा (सीमा) बांधी है । पच्चक्खान पंचाशक की तीसरी गाथा की टीका में कहा है कि - 'एकासणा, आयंबिल आदि परिमाणकृत होने से अद्धापच्चक्खान के साथ किए जाते हैं इसलिए इसे अद्धपच्चक्खान कहते हैं । सर्व से उत्तरगुण के पच्चक्खान ये दस जानना । उसमें से संकेत और अद्धा पच्चक्खान हमेशा हो सकते हैं और शेष यथा समय पर कर सकता है । यह पच्चक्खान के भेद का प्रथम द्वार कहा ।

२. पच्चक्खान के भेद - मन, वचन और काया- इन तीन योग तथा करना करवाना, और अनुमोदना- ये तीन करण के योग से एक संयोगी आदि भेद को तीन काल के आश्रित कुल एक सौ सैंतालीस भेद होते हैं इस विभाग को समझना ही शुद्ध पच्चक्खान है । श्रावक व्रत भंग तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है :-

सीयालं भंग सयं, पच्चक्खाणं मि जस्स उवलद्धं ।
सो खलु पच्चक्खाणे, कुसलो सेसा अकुसला उ ॥१३३८॥

अर्थात् - ''पच्चक्खान के एक सौ सैंतालीस विभाग - जो उसके अर्थ-रहस्य को समझता है, जिसने उसका ज्ञान प्राप्त किया है उसे पच्चक्खान में कुशल-योग्य कहा है, शेष को अकुशल जानना ।'' आवश्यक निर्युक्ति आदि में कहा है -

पच्चक्खाया पच्चक्खा विंत याण चउभंगा ।
जाणग जाणप एहिं, निप्फन्ना हुंति नायव्वा ॥१६१३॥

अर्थात् - ''पच्चक्खान करने वाला और कराने वाला, इन दोनों के जानकार और नहीं जानकार के योग से चतुर्भंगी (चार विभाग) जानने योग्य हैं ।''

जैसे कि-जिसने पहले उचित समय पर अपने आप पच्चक्खान ग्रहण किया हो, ऐसा पच्चक्खान के स्वरूप का जानकर श्रावक प्रत्याख्यान के पूर्व विशेषज्ञ गुरु महाराज के सविनय उपयोग पूर्वक चित्त की एकाग्रता के साथ प्रत्याख्यान के लिए जाता है और वे जिस प्रत्य ख्यान का पाठ बोलते हैं तदनुसार स्वयं भी उसके अर्थ पर चिन्तन करते हुए उस प्रत्याख्यान को स्वीकार करे। इस सम्बन्ध में प्रत्याख्यान की चतुर्भंगी जानने योग्य है-उसमें (१) स्वयं भी प्रत्याख्यान का अर्थ जाने और कराने वाला गुरु भी जाने- यह पहला शुद्ध भंग है, (२) पच्चक्खान दाता गुरु महाराज जाने परन्तु लेने वाला न जाने, यह दूसरा शुद्धाशुद्ध भंग है । यदि प्रत्याख्यान कराते समय गुरु लेने वाले को संक्षेप में समझाकर प्रत्याख्यान कराए तो यह अंग भी शुद्ध हो सकता है, (३) गुरु प्रत्याख्यान विधि से अनभिज्ञ हो, किन्तु शिष्य भिज्ञ हो यह- तीसरा अशुद्ध-शुद्ध भंग है । यह भंग भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विज्ञ गुरु के योग के अभाव में गुरु के प्रति बहुमान होने से गुरु के बदले साक्षी रूप में पिता, चाचा, मामा, बड़े भाई आदि को मानकर प्रत्याख्यान करे तो पूर्ववत् शुद्ध माना जा सकता है, (४) किन्तु जहां गुरु भी प्रत्याख्यान विधि से अनभिज्ञ हो और शिष्य भी विवेक हीन हो, वहां दोनों अशुद्ध होने से चौथा भंग सर्वथा अशुद्ध ही है। इस तरह पच्चक्खान के चार विभाग (भंग) समझना।

यहां पच्चक्खान करने वाले अथवा कराने वाले को पच्चक्खान का स्वरूप, उसके पाठ का उच्चार स्थान, पच्चक्खान भंग, आगार, पच्चक्खान की शुद्धि, पच्चक्खान का सूत्र पाठ, अर्थ फल और उस पच्चक्खान में क्या कल्पता है, क्या नहीं कल्पता ? इत्यादि ज्ञान जिसको हो वही वस्तुतः जानकर गिना जाता है। इसलिए अब क्रमशः उसका वर्णन करते हैं। पच्चक्खान का स्वरूप उसके भेद सहित प्रारंभ में ही बता दिया है।

पच्चक्खान के उच्चस्थान- वह पांच हैं। पहले स्थान में 'नमुक्कार सहि' आदि पांच काल पच्चक्खान तथा 'अंगूठे सहि' आदि आठ संकेत पच्चक्खान आते हैं। इनमें प्रायः चार प्रकार के आहार का त्याग होता है। दूसरे उच्चार स्थान में विगइ निव्विगई और आयबिल पच्चक्खान आता है, इसमें विगई का पच्चक्खान छः भक्ष्य विगइयों में से एक का भी त्याग न करे फिर भी प्रायः अभक्ष्य चार महाविगइयों का त्याग सभी लोग कर सकते हैं। तीसरे उच्चार स्थान में एकासना, बियासना, एकलठाना आदि पच्चक्खान तिविहार या चौविहार पूर्वक किया जाता है अर्थात् एकासना आदि करने के बाद पानी के सिवाय तीन का या पानी सहित चार आहार के त्यागपूर्वक भी हो सकता है। चौथे उच्चार स्थान में 'पाणस्स' आदि से सचित्त पानी का त्याग रूप पच्चक्खान किया जाता है और पांचवें उच्चार स्थान में पहले से निश्चित किए सचित्त द्रव्य आदि का त्याग करना अथवा संक्षेप रूप चौदह नियम करना वह देसावगासिक व्रत का पच्चक्खान दिया जाता है। यह पांच उच्चार स्थान भोजन करने वाले के पच्चक्खान के लिये कहे हैं। उपवास या षष्ट भक्त आदि तप करने वाले के लिये चार उच्चार स्थान होते हैं। पच्चक्खान भाष्य की आठवीं गाथा में तो उपवास के पच्चक्खान में भी शाम को पाणहार के पच्चक्खान सहित पांच उच्चार स्थान कहे हैं। उसमें प्रथम स्थान में अभक्तार्थ (उपवास) के पाठ का उच्चारण है, दूसरे स्थान में तिविहार उपवास वाले को पाणहार के साथ में पोरसी आदि के पाठ का उच्चारण, तीसरे स्थान में सचित्त पानी का त्याग रूप पाणस्स आदि का उच्चारण और चौथे स्थान में देसावगासिक व्रत (चौदह नियम) का पच्चक्खान का उच्चारण आता है। प्रत्याख्यान भाष्य में कहा है कि-

पढमे ठाणे तेरस, बीए तिन्नि उ तिगा य तइ अंमि।
पाणस्स चउत्थं मि, देसवगासाइ पंच भए ॥६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''पहले उच्चार स्थान में तेरह, दूसरे में तीन, तीसरे में तीन, चौथे में पाणस्स का एक और पांचवें में देसावगासिक आदि का एक- इस तरह पांच स्थान में इक्कीस पच्चक्खान होते हैं ।''

इसमें उपवास, आयंबिल, निव्विगइ आदि पच्चक्खान प्रायः त्रिविधाहार के अथवा चतुर्विधाहार के त्याग से (भोजन के बाद तिविहार या चउविहार से) होता है और अपवाद-विशिष्ट कारण से निव्विगइ आदि तथा पोरषी आदि दुविहार से भी होता है । नमुक्कारसहि का पच्चक्खान तो चौविहार ही (चार आहार के त्याग से ही) होता है- ऐसी संप्रदाय परम्परा है । कहा है कि ''**चउहाहारं तु नमो, रत्तिं पि मुणीण सेस दु ति चउहा**'' (प्रत्याख्यान भाष्य १२) अर्थात्-'साधु श्रावक दोनों को नमुक्कार सहि का और मुनि को तो रात्रि का दिवस चरिम आदि का पच्चक्खान भी चारों आहार के त्याग से ही होता है, शेष का दुविहार, तिविहार या चउविहार पूर्वक हो सकता है । दुविहार अति गाढ़ (विशेष) कारण से ही होता है । इस तरह प्रत्याख्यान पंचाशक की गाथा ३५ में कहा है । किसी विशेष कारण से ही ऐसा पच्चक्खान हो सकता है- ऐसा समझाया है। मुख्य रूप में तो साधु को तिविहार-चौविहार से ही पच्चक्खान कहा है । श्राद्धविधि में तो साधु को भवचरिम और उपवास में तिविहार-चउविहार तथा नमुक्कार सहि और रात्रि सिवाय के पच्चक्खानों में दुविहार, तिविहार एवं चउविहार करने को कहा है । श्राद्ध विधि वृत्ति में कहा है कि-

साहूणं रयणीए नवकार सहिए य चउव्विहाहारं ।
भव चरिमं उपवासो अं बिल तिह चउव्विहाहारं ॥१॥

सेसा पच्चक्खाणा दुह तिह चउहा वि हुंति अहारे ।
इअ पच्चक्खाणे सुं, आहार विगप्पणा नेया ॥२॥

अर्थात्- ''साधु को रात्रि का तथा नमुक्कार सहि का पच्चक्खान चौविहार तथा भवचरिम अर्थात् अन्तिम अनशन का तथा उपवास और आयंबिल का पच्चक्खान तिविहार या चौविहार से होता हे ॥१॥ शेष पच्चक्खान दुविहार, तिविहार और चौविहार कर सकता है । इस तरह पच्चक्खान में आहार के विषय में दुविहार-तिविहार आदि विकल्प से जानना ॥२॥''

श्री देवसूरि विरचित यति दिनचर्या में तो आठ संकेत पच्चक्खान भी चउविहार से ही बतलाया गया है-

संकेअच्चक्खाणं, साहूणं रयणि भत्त वेरमणं ।
तह य नवकार सहिअं, नियमेण चउव्विहाहारं ॥५०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''संकेत पच्चक्खान साधुओं, के रात्रि में आहार त्याग का पच्चक्खान तथा सर्व का नमुक्कार सहि का पच्चक्खान- इन सबमें नियम से चार आहार का त्याग करना चाहिए।''

पच्चक्खान भाष्य की गाथा १२ में कहे अनुसार श्रावक को पोरिसी-पुरिमार्द्ध एकासना आदि पच्चक्खान तथा रात्रि के पच्चक्खान दुविहार-तिविहार- चउविहार के भी होते हैं और आयंबिल-निवि-उपवास तथा भवचरिम पच्चक्खान तिविहार-चउविहार होते हैं। श्राद्धविधि की टीका में कहा है कि- **''प्रातः सायं व उपवासा चाम मल निर्विकृत कानि प्रायः त्रिचतुर्विधाहाराणि, अपवादातु निर्विकृति कादि पौरुष्यादि च द्विविहारस मपि स्यात्''** अर्थात्-सुबह और शाम के तथा उपवास, आयंबिल और निर्विकृतिक पच्चक्खान प्रायः तिविहार, चउविहार से एवं अपवाद से निर्विकृति आदि तथा पोरिसी आदि दुविहार से भी होते हैं- इस तरह कहते हैं। फिर भी वर्तमान में साधु साध्वी को रात्रि का और श्रावक श्राविका चतुर्विध संघ को नमुक्कार सहि आदि पांचों काल का पच्चक्खान चउविहार से ही होता है।

निवी, आयंबिल आदि के पच्चक्खान में कल्पनीय-अकल्पनीय पदार्थ का विभाग या विवेक अपनी अपनी समाचारी के अनुसार जानना और पच्चक्खान के भेद तथा विभाग आदि के लिये कहने का विस्तार कितना करें? यह पच्चक्खान अधिकार में भेद का दूसरा द्वार कहा गया है।

३. पच्चक्खान के आगार- इसके आगार अमुक मर्यादा सहित करने चाहिएं क्योंकि वर्ततान काल में आयुष्य, संघयण बल अथवा भविष्य आदि के ज्ञान के अभाव में आगारों की छूट रखे बिना विषम प्रसंग पर भंग होने का दोष लगता है। अतः पञ्चाशक की ५/१२ में, पंचवस्तु की ५१२ में, प्रवचन सरोद्धार की २१६ गाथा में कहा है-

वय भंगे गुरु दोसो, थे वस्स वि पालणा गुणकरी उ।
गुरु लाघवं च णेयं, धम्मंमि अओ अ आगारा ॥१॥

अर्थात्- ''व्रत के भंग होने से महान दोष लगता है, थोड़ा-छोटा भी पच्चक्खान का पालन गुणकारी होता है। इस तरह धर्म में लाभ-हानि को समझना योग्य है। इसलिए ही नियम में ही आगार कहा है।''

पच्चक्खान का भंग न हो जाए इसके लिए जिस मर्यादा की छूट दे रखी है उसे आगार कहते हैं। नमुक्कारसहि आदि पच्चक्खान में कितने आगार होते हैं, उसका दिग्दर्शन कराते हैं। आवश्यक निर्युक्ति गाथा १५६६ से १६०१ तक पंचाशक गाथा ५/८ से १० तक और प्रवचन सारोद्धार गाथा २०३ से २०५ में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो चेव नमोक्कारे, आगारा छच्च पोरसी ए उ ।
सत्तेव उ पुरिमड्ढे, एगासण अट्ठे व ॥१५६६॥

सत्ते गट्ठाणस्स उ अट्ठेव य अंविलंमि आगारा ।
पंचेव अभत्तट्ठे, छप्पाणे चरिमि चतारि ॥१६००॥

पंच य चउरो भिग्गहि, निव्वीए अट्ठ नव य आगारा ।
अप्पउरणे पंच य, हवंति सेसेसु चत्तारि ॥१६०१॥

अर्थात्- "नमुक्कार सहि (नौकारसी) पच्चक्खान के दो, पोरसी के छः, पुरिमड्ढ पच्चक्खान के सात, एकासना के आठ आगार होते हैं ॥१॥ एकलठाणा के सात, आयंबिल के आठ, उपवास के पांच, पानी सहित उपवास के छः दिवस चरिम और भव चरिम पच्चक्खान के चार आगार होते हैं ॥२॥ अभिग्रह पच्चक्खान के पांच या चार, नीवी के आठ या नौ आगार होते हैं । इसमें अप्रमावरण अभिग्रह में पांच और शेष अभिग्रह पच्चक्खान में चार आगार होते हैं ।"

यहां शंका करते हैं नीवी में आठ अथवा नौ आगार किस तरह होते हैं ? उसे कहते हैं कि-

नवणीओगाहिमए, अद्दवदहि पिसिअछण गुडे चेव ।
नव आगारा एसिं सेसदव्वाणं तु अट्ठेव ॥१६०२॥

अर्थात्- "कठोर मक्खन, अवगाहिम अर्थात् तली हुई चीज और कठिन दही, गुड़ आदि कठिन वस्तुएं होने से इन विगइयों के त्याग में नौ और अन्य प्रवाही विगइयों के त्याग में 'उक्खित विवेग'-अर्थात् इस आगार के अनुसार सख्त द्रव्य आदि का त्याग होते हुए भी कदाचित् गुड़ आदि किसी कठिन द्रव्य का कण रह जाय और वह खाने में आ जाय तो भी उक्त दोष नहीं है- वह आठवां आगार है ।"

अभिग्रह 'अप्रावरण' अर्थात् पूर्व काल में केवल साधु के लिए 'चोलपट्टागार' पच्चक्खान में था, परन्तु वर्तमाल काल में यह व्यवहार में नहीं है अर्थात् वह भी नहीं पहनना- ऐसा सर्व वस्त्रों के त्याग में चोलपट्टागार के साथ में पांच और शेष के अभिग्रह में चार आगार कहे हैं । इन आगारों का विवेचन उन पच्चक्खान सूत्र पाठ की व्याख्या के साथ में कहा जायेगा कि कौन से पच्चक्खान में कितने आगार होते हैं ? उसका यह तीसरा द्वार कहा ।

४. **पच्चक्खान के सूत्र पाठ और ६. उसका अर्थ**- ये दोनों द्वार अब साथ में कहे जाते हैं-

अग्गए सूरे नमुक्कार सहिअं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं वोसिरइ ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सूत्रार्थ- '**उग्गए सूरे** अर्थात् सूर्य-उदय से लेकर '**नमोक्कार सहिअं** अर्थात् पंच परमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र सहित और समस्त धातुओं का 'करना' इस अर्थ में व्याप्त होते हैं इस न्याय से '**पच्चक्खाइ**' अर्थात् नमस्कार सहित प्रत्याख्यान करता हूं। इसमें पच्चक्खान देने वाले गुरु महाराज के अनुवाद रूप में कहे जाने वाले वचन हैं, उसको स्वीकार करने वाला शिष्य '**पच्चक्खामि**' अर्थात् मैं पच्चक्खान करता हूँ- ऐसा बोले। इसी तरह **वोसिरइ** (वयुत्सृजति) के स्थान में भी गुरु महाराज के कथित वचन को स्वीकार करने के लिए शिष्य अनुवाद के रूप में '**वोसिरामि**' - 'त्याग करता हूँ' बोले। **व्युतुत्सर्ग** (त्याग) किसका किया जाय ? वह कहते हैं-'**चउव्विहं पि आहारं**'- चार प्रकार के आहारादि का त्याग करता हूँ। इस विषय में प्रत्याख्यान करने के पूर्व रात्रि से लेकर चारों आहार का त्याग करना नौकारसी है अथवा रात्रि त्याग व्रत को उसकी तटीय सीमा तक पहुंचकर पार उतरते हुए सूर्य से एक मुर्हूत (४८ मिनट) काल पूर्ण होने पर नमस्कार मंत्र से उच्चारण पूर्वक पारणा करने से नौकारसी पच्चक्खान पूर्ण होता है।

यह प्रश्न करते हैं कि-इस पच्चक्खान में काल मर्यादा-प्रमाण नहीं कहा, केवल नवकार मन्त्र गिनने का विधान है तो उसे संकेत पच्चक्खान न कहकर काल पच्चक्खान क्यों कहा ? इसका समाधान यों करते है कि-यह बात यथार्थ नहीं नही है। यहां 'नमुक्कार सहि' शब्द में 'नमुक्कार' शब्द के साथ 'सहिय' शब्द जुड़ा हुआ है। सहिय का अर्थ है- सहित। अत: 'सहित' शब्द मुर्हूत्त काल सहित का द्योतक है, फिर 'सहिय' शब्द विशेषण है और विशेषण से विशेष्य का बोध होता है। अत: 'सहिय' शब्द से 'मुहूर्त्त काल सहित' अर्थ निकलता है। यहां फिर प्रश्न उठाया जाता है कि यहां 'मुहूर्त्त शब्द तो है नहीं, फिर यह विशेष्य कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं कि-शास्त्र में इसे काल-पच्चक्खान में गिना है और प्रहर आदि काल वाले पोरसी आदि पच्चक्खान तो आगे अलग से हम कहेंगे इसलिए उसके पहले यह पच्चक्खान मुहुर्त्त-प्रमाण का माना जाता है, इसलिए नमुक्कार सहित पच्चक्खान में मुहूर्त्त काल है, यह समझा लेना चाहिए। फिर शंका की जाती है कि इसका काल एक मूहूर्त्त के बदले दो मुहूर्त्त का क्यों नहीं रखा गया ? इसका समाधान देते हैं कि-नौकारसी में केवल दो ही आगारों की छूट रखी है, जबकि पोरसी में छह आगार रखे हैं। नमुक्कार सहिय में दो आगार रखने से उसका अल्प-फल मिलता है, क्योंकि एक मुहूर्त्त के अनुपात में ही तो उसका फल मिलेगा। अत: यह नमुक्कारसी (नमस्कार सहित) का प्रत्याख्यान एक मुहूर्त्त प्रमाण का ही समझना। वह अल्प काल का पच्चक्खान भी नमस्कार मन्त्र के साथ है अर्थात् सूर्योदय होने के बाद एक मुहूर्त्त पूर्ण होने के बाद भी जब तक नवकार-मन्त्र का उच्चारण न करे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तब तक वह पच्चक्खान पूर्ण नहीं होता। किन्तु दो घड़ी से पहले ही यदि नवकार-मन्त्र बोलकर पच्चक्खान पार ले तो प्रत्याख्यान काल मर्यादा के अनुसार उसका काल अपूर्ण होने से पच्चक्खान भंग हो जाता है। इसमें सिद्ध कि नमुक्कारसी पच्चक्खान सूर्योदय से मुहूर्त प्रमाण काल और नवकार मन्त्र के उच्चारण सहित होता है। ऐसा जानना।

अब आगे सूत्र पाठ में आहार के चार प्रकार नाम पूर्वक कहे हैं- (१) अशंनं, (२) पानं, (३) खादिमं और (४) स्वादिमं। उसमें पेट भर कर खाया जांए वह 'अशन' है, पीने में आए वह 'पान' है, खाया जाय वह 'खादिम' है और जिसका स्वाद लिया जाय वह 'स्वादिम' है अथवा खादिम-स्वादिम के बदले 'खाद्य-स्वाद्य शब्द' भी बनता है। यह चार प्रकार के आहार का विभाग श्राद्ध विधि की टीका में इस तरह कहा है-

१. **अशनं**- चावल, गेहूँ आदि सक्तु, सेका हुआ अथवा कच्चा अनाज का आटा आदि, राब आदि पेय पदार्थ, लड्डू आदि मिठाई, खीर आदि, सूरन आदि वनस्पति, सभी जात की साग सब्जियां, मंडक, रोटी, पूरी, पूड़े इत्यादि सर्व अशन कहलाते हैं। पंचाशक २-२७ तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है-

असणं ओअण सत्तुग, मुग्गज गाराइ खज्जग विहीअ।
खीराई सूरणाई, मंडगप भिई अ विन्नेयं ॥२०७॥

अर्थात्- इसकी टीका में कहा है कि-अशन = सर्व जाति के चावल, गेहूँ आदि अनाज, सक्तु = मूंग, चने, जुआर आदि का सेका हुआ आटा, मूंगी आदि सर्व जाति का अनाज, राबड़ी आदि खाद्य पदार्थ, लड्डू, पेड़े आदि सर्व प्रकार की मिठाई, घेवर, लापसी, हलवा आदि खीर आदि, दूध और उसके बने वासुदी आदि, दही, श्रीखंड आदि तथा घी, छाछ आदि रसदार वस्तुएं आदि, सूरन, अदरक आदि सर्व जात की वनस्पति की साग सब्जियां, रोटी, पूड़े, इत्यादि सारा जिससे भूख मिट जाये वह 'अशन' गिना जाता है।

२. **पान**- कांजी, जौ आदि का धोवन, शराब, भांग आदि पेय पदार्थ, सर्व जाति के कुएँ, बरसात आदि का पानी तथा ककड़ी आदि फलों के अन्दर का पानी जानना। इसी तरह पंचाशक और प्रवचन सारोद्धार में आगे की गाथाओं में कहा है-

पाणं सोवीर जवो दगाई चित्तं सुराइअं चेव।
आउक्काओ सव्वो, ककडगजलाइअ च तहा ॥२०८॥

अर्थात्- "टीका में कहा है कि-सोवीर-कांजी एवं जौं का धोवन, आदि शब्द से गेहूँ आदि, चावल तथा कोद्रवा आदि अनाज का धोवन, अलग अलग जाति का शराब आदि का पानी तथा सर्व जाति के सरोवर, नदी, कुएँ, बावड़ी, बरसात आदि का पानी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एवं ककड़ी, खजूर, दाक्ष, इमली आदि का धोवन या नारियल आदि फलों के अन्दर का पानी और गन्ना, दाडिम, मौसमी आदि का रस इत्यादि सब 'पान' समझना चाहिए ।

३. **खादिम**- सेका हुआ अनाज, गुड़, पापड़ी, यति दिनचर्या में तो गुड़ और तिल पापड़ कहा है । खजूर, नारियल , द्राक्ष, ककड़ी, आम, खरबूजा आदि सारे फलों को 'खादिम' में गिना जाता है । आगे उन्हीं ग्रन्थों में कहा है-

भत्तोसं दताई खज्जूरग नालिकेर दक्खाई ।
कक्कडि अंबग फणासाइ बहु बिह खाइमं नेअं ॥२०६॥

अर्थात्- ''इसकी टीका में कहा है - चना, गेहूँ आदि सब सेका हुआ अनाज, गोंद, चिरोंजी, खांड, गन्ना, शक्कर या गुड़ से संस्कार किया एवं खजूर, श्रीफल, द्राक्ष, अखरोट, काजू, बादाम आदि मेवा और ककड़ी, खरबूजा, आम, केला आदि सर्व जात के भक्ष्य फल- इस तरह खादिम अनेक प्रकार के होते हैं ।''

४. **स्वादिम्** (स्वाद्य)- दातून, तम्बोल, तुलसी, पिंडालू, अजवायन, मधु, पीपल इत्यादि स्वादिम होते हैं । आगे उन्हीं ग्रन्थों में कहा है-

दंतवणं तंबोल, चित्तं तुलसी कुहेड गाईअं ।
महु पिप्पलि सुंठाई, अणेगहा साइमं होइ ॥२१०॥

अर्थात्- ''इसकी टीका में कहा है कि दातून, पान, ताम्बूल, सुपारी, इलायची, सौंफ, जायफल आदि, चित्रक, तुलसी का पान, पिंडालू तथा आदि शब्द से जीरा, हलदी आदि, मधु, पीपल, सोंठ तथा आदि शब्द से गुड़, मिर्च, अजवायन, हींग, हरै, बहेड़े, आंवले, इमली आदि स्वादिम अनेक प्रकार के कहे हैं ।

इस गाथा के 'अणेगहा' शब्द से श्राद्धविधि की टीका में कहा है कि-सोंठ, हरै, मधु, पीपल, मिर्च काले-सफेद-लाल, जीरा, अजवायन, जायफल, जावित्री, कत्था, कसेलक, खेरसार, जेठी मध, तमाल पत्र, इलायची, लौंग, कोठी फल, बांवडींग, अज्जक, कुलिंजन, पीपरमूल, चीएरीक, बावा, शूडकच्चूरों, मोथ, कर्पूर, चचल, हरै, बहेडा, कुमटीया, बावल, खेर और खीजड़ा- इन वृक्षों का छिलका, पत्ते और सुपारी, हिंगाष्टक, हींग आदि तेइस वस्तुओं का चूर्ण, पंच फल, पीपर, पीपलमूल, चवक, चित्रक और सौंठ का चूर्ण, जवासा का मूल तथा बावची, तुलसी और कर्पूरी, दारू हलदी का छिलका-कंद आदि सब स्वादिम जानना । जीरा को भाष्य तथा प्रवचन सारोद्धार में स्वादिम कहा है और वृहत्कल्प की टीका में खादिम कहा है । अजवायन भी खादिम है- ऐसा कोई कोई कहता है । प्रत्येक स्वादिम तथा इलायची, कर्पूर आदि का पानी दुविहार पच्चक्खान में कल्पता है । तथा बेसण (१) सौंफ, सवा, कोठ, बड़ी आंवले की गांठ,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२) आम, गुठली, कउचली और चूहपत्र (वनस्पति विशेष) इत्यादि खादिम होने से दुविहार में उपयोगी नहीं हैं। और तिविहार में तो पानी ही कल्पता है। शास्त्र में मद्य, गुड़, चीनी, खांड आदि को स्वादिम कहा है परन्तु वह दुविहार में उपयोग नहीं होता और द्राक्ष, शक्कर आदि का पानी, तथा, छाछ आदि को पान (पानी) में गिना है फिर भी वह तिविहार में उपयोग नहीं होता है। नागपुरीय गच्छ प्रत्याख्यान भाष्य में कहा है कि-

दक्खा पाणाईअं, पाणं तह साइमं गुडाइअं ।
पढिअं सुअंमि तहवि हु, तित्तीजण गंति नायरिअं ॥१॥

अर्थात्- सूत्र में द्राक्ष आदि का पानी पान में गिना है तथापि तिविहार में आचरण नहीं करते तथा गुड़ आदि को स्वादिम कहा है परन्तु वह तृप्तिजनक होने से दुविहार में उपयोग नहीं होता।"

प्रसंगानुसार अणाहारी वस्तुएं कहते हैं। उसमें नीम के लिम्बोडी, पान, छिलका, मूल (जड़) और फूल- ये पांचों अंग, गलो, कडु करीयातु, अतिविष की कली, चीड़, जड़, देवदार की लकड़ी, चन्दन, राख प्रत्येक भस्म, हलदर, रोहिणी (संरोहिणी नाम की औषधि), वज, उपलेट, त्रिफला, (हरै, बहेड़ा और आंवले का समान विभाग का चूर्ण) तथा अन्य आचार्यों के मतानुसार बबूल का छिलका भी अणाहारी है। इनके अतिरिक्त धमासो नाही, आसंधी (आसन), रिंगणी (भोंयरिंगणी, तथा उभी रिंगणी), एलिया, गुगल, हरडेदला, वऊणी तथा बेरी, कंथेर, करेड़ा की जड़ें, पुंआड, मजीठ बोल-हीरा बोल-कमरकस की लकड़ी, कुंआर, चित्रक की जड़ें, और कुन्दरू (धूप में डालने में आता है) इत्यादि वस्तुएं जो कि-स्वाद अनिष्ट (खराब) हों ऐसी वस्तुएं चौविहार पच्चक्खान में भी रोग आदि आपत्ति आने के कारण औषध में कल्प सकती हैं।

अणाहारी वस्तु भी पानी के साथ में लेने से अथवा उसका स्वाद मुख में हो वहां तक पानी लेने से आहार रूप में गिनी जाती है। खास आपत्ति बिना सहज कारण से उपयोग करना उचित नहीं है। अणाहारी वस्तु भी अभ्यास के कारण बारम्बार लेने से पच्चक्खान का भंग होता है। इसके सिवाय भी अन्य ग्रन्थों में अगर, अफीम, आक का पंचाग, अम्बर, इन्द्र वरणा का मूल, करेण की जड़, कस्तूरी, कत्था, खैर सार, खैर का मूल तथा छिलका, गौ मूत्र, चीमेड, चूनो, जरदो, जवखार, जहरी गुठली, सुहागा, डाभडाक मूल, तगर, तमाकू, थोर की मूल, अनार का छिलका, निर्मली पानी की जड़, फटकड़ी, बुचकण, बहेड़ा की छाल, बेरी का छिलका, मलयागरु, मरेठी, वखमो, वडगुंदा, सरोखार, साजीखार, हीमज, हरडे का छिलका, हीरा बोर इत्यादि को अणाहार में गिना है। कितने तो केसर, खार, चोप चीनी, जहरी कोपरू आदि को भी अणाहारी कहते हैं परन्तु उसका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अणाहारी रूप में उपयोग करना उचित नहीं है। यहां प्रसंगोपात तपस्वियों के उपकारार्थ अणाहारी वस्तु के कई गुण वैद्य के अभिप्राय: से कहते हैं।

(१) **अगर** – प्यास और मूर्च्छा को दूर करने वाली, शीतल तथा मिरगी-अपस्मार में गुण कारक है।

(२) **अफीम**-ग्राही, पीडोपशामक नींद, लाने वाली तथा पसीना कराने वाली है।

(३) **अफीम** के साथ **केसर** देने से कोलेरा को शान्त करता है।

(४) **आसंघ**- (घोड़ा आसन) ग्राही, दमा, खांसी में लाभदायक एवं पौष्टिक कारक है

(५) **एलिया** - रेचक, ऋतु ले आने वाला तथा ज्वर नाशक है।

(६) **आंक का पंचाग**– वात हर, कफ नाशक, वामक और पसीना लाने वाला है।

(७) **अम्बर**– वायु हर, प्यास, व्याकुलता तथा पैर का दर्द शान्त करने वाला और पौष्टिक है।

(८) **अति विष कली**- ज्वर नाशक, कटु, पौष्टिक और ग्राही है

(९) **इन्द्र वरणा का मूल**- रेचक, अजीर्ण, आम दोष, और पित्तनाशक है।

(१०) **उप लेप की लकड़ी**- वायु हर, प्यास-उलटी शामक और उष्ण है।

(११) **करेण की जड़**– ज्वर नाशक, मस्तक वेदना को शान्त करता है।

(१२) **करीआतु**– ज्वरनाशक सारक और अरुचि को मिटाने वाला है।

(१३) **कस्तूरी**-अंग का खिंचाव, हिचकी, वायु, प्यास, उलटी तथा शोष का नाश करती है।

(१४) **कडु**- सारक, पाचक और ज्वर नाशक है।

(१५) **कुंआर**-बदहजामी मिटाने वाला, रेचक, गुल्मघ्र, पित्त नाशक, तिल्ली को शान्त करने वाला है।

(१६) **केसर** -कंठ रोग, मस्तक शूल और उलटी मिटाने वाला, शीतल, स्तंभक और पौष्टिक है।

(१७) **कुंदरु**-उष्ण, कफ नाशक, रक्त, अतिसार नाशक, ज्वरघ्न और स्वेदन है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१८) **कत्था**- दांत में से खून निकलने को रोकने वाला, स्तंभक और शीतल है ।

(१९) **केरडा का मूल**- रुचिकारक, शूल नाशक और वायु हरने वाला है ।

(२०) **खार**- पेट के दर्द को मिटाने वाला है ।

(२१) **खैरसार**- कफ नाशक, दांत को हितकारी तथा खांसी को मिटाने वाला है ।

(२२) **खैर वृक्ष का मूल और छिलका**-रक्त शोधक है ।

(२३) **गुगल**-वातघ्न तथा सूजन को उतारने वाला है ।

(२४) **गलो**– ज्वरनाशक, शीतल, पित्त नाशक, मूत्रल, तृषा दाह तथा भ्रमण नाशक है।

(२५) **गोमूत्र**-मूत्रल, सारक, मलावरोध तथा पेट के रोग को मिटाने वाला, रेचक तथा चमड़ी का हितकारी है ।

(२६) **चित्रक का मूल** – उष्ण, पेट के दर्द को शान्त करने वाला, दीपक, पाचक, और वातहर है ।

(२७) **चीमेड**- वातहर, पौष्टिक और नेत्र को हितकारी है ।

(२८) **चीड़** (देवदार का काष्ट तलिया)-मूत्रशोधक, मलावरोध, अंफरा, हिचकी और मूर्च्छा मिटाने वाला, वायुहर, दीपक और पाचक है।

(२९) **चूना**- शीतल और अजीर्ण में हितकर है ।

(३०) **चोप चीनी**- तृषाहर, घबराहट, बेचैनी हरने वाला, पौष्टिक और वातोपशामक है ।

(३१) **जरदा** (तमाकू का)– कफ नाशक, वातानुलोमन और वातहर ।

(३२) **जवखार**- मूत्रल, उष्ण दीपक, और पाचक है ।

(३३) **जहरी गुठली**-ज्वर नाशक और तृषा उपशामक है ।

(३४) **जहरी कोपरू**-पौष्टिक, ज्वर नाशक, बदहजमी, मल, ऐंठन को मिटा देता है ।

(३५) **सुहागा** – मूत्रल, ऋतु लाने वाला तथा वेण लाने वाला है ।

(३६) **डाभ का मूल**- वस्ती शूल, उल्टी और वायु हरने वाला, रक्त स्तंभक और तृप्ति कारक है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३७) **तगर**-उल्टी शामक है ।

(३८) **तमाकू**- जिसमें कुछ भी मिला हो (खाने वाली अथवा सूंघने वाली) स्नायु की शिथिलता और हिस्टीरिया शम करने वाला तथा दांत दर्द शान्त करने वाला है ।

(३९) **त्रिफला**- सारक, पित्त शामक और दाह तृषा तथा घबराहट, बेचैनी को शान्त करने वाला है ।

(४०) **थोहर का मूल**- नींद नाशक और गुल्म शोधक है ।

(४१) **दाडिम (अनार) का छिलका**- खांसी, कफ और पित्त को शम करने वाला तथा ग्राही है ।

(४२) **धमासो**- मूत्रक और उलटी, खांसी, बुखार, दाह तथा हिचकी को रोकने वाला है।

(४३) **निर्मली**- मूत्रक, शूल शान्त करने वाला तथ रुचिकर है ।

(४४) **नइकंद**- उलटी करने वाला, सर्फ का जहर उतारने वाला और सख्त है ।

(४५) **पान की जड़**- वातहर, उष्ण, रुचिकारक, सुस्तीपन मिटाता है ।

(४६) **पुंआड के बीज**- ज्वर नाशक और चमड़ी के रोग मिटाने वाला है ।

(४७) **फटकड़ी**- ग्राही और रक्तशोधक है ।

(४८) **बुचकण** (मुचकण-पिस्ता के फूल)- पित्त की उल्टी मिटाने वाला, वायु से होने वाले सिर दर्द को शान्त करने वाला और तृषा शामक है ।

(४९) **बहेड़ा का छिलका**- खांसी और कफ नाशक एवं शीतल है ।

(५०) **बेरी का छिलका**- श्रम नाशक शोष नाशक और शमक और ग्राही है।

(५१) **बेरी का मूल**- ज्वर और कफ, पित्त नाशक है ।

(५२) **बबूल का छिलका**- रक्त, अतिसार एवं खांसी मिटाने वाला है ।

(५३) **बीया** (कमर कस की लकड़ी)- रक्त-पित्त नाशक, रक्त स्तंभक और ग्राही है।

(५४) **बोल**- सारक, आर्तव और रक्त शोधक है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(५५) **भोरिंगणी या भोंयरीगणी**- ज्वर नाशक, कमर दर्द, दमा, खांसी और हृदय रोगों का नाश करने वाला है ।

(५६) **मलयागरु**- तृषा, दाह तथा ज्वर नाशक स्वादु और रक्त पित्त नाशक है।

(५७) **मजीठ**- शूल-अर्श, रक्त अतिसार और पित्तशामक है ।

(५८) **मूलहटी**- गले की प्रवृत्ति इससे नहीं रुकती, अचानक शोथ-सूजन हो जाता है उसे तथा खांसी को खत्म करती है ।

(५९) **राख** (सब जात की)- दांत करने के लिए है ।

(६०) **रोहिनी का छिलका**- वातहर, पौष्टिक और शोधक है ।

(६१) **नीम का पंचाग**- पौष्टिक, पित्त शामक, ज्वर, उलटी बंद करने वाला, शीतल, तृषाहर और घबराहट, बेचैनी नाशक है ।

(६२) **वखमा**- पेट दर्द तथा अंफरा मिटाने वाला, भेदक और वातहर है ।

(६३) **वडगंदे**- ग्राही, अतिचार और हैजा आदि में उपयोगी है ।

(६४) **वज**- ग्राही, गले का शोष-कफ और मलावरोध दूर करने वाला है ।

(६५) **सुरोखार**- मूत्रक, स्वेदल, और शीतल है ।

(६६) **साजीखार**- वायुहर, दीपक और पाचक है ।

(६७) **चन्दन**- शीतल और पित्त शामक है ।

(६८) **हलदी**- बदहजमी मिटाने वाली, कफ नाशक और पौष्टिक है ।

(६९) **हरड़े**- तृषा, बेचैनी दूर करने वाला तथा रेचक है ।

(७०) **हरड़े का छिलका**- आयु:वर्धक, सारक, शोधक और रसायण है

(७१) **हीरा बोल**-रक्तातिसार नाशक, कफ नाशक, उष्ण और आर्तव है ।

रोग के यथायोग्य निदान करने के बाद आवश्यकतानुसार इन अणाहारी वस्तुओं का उपयोग करने से एक अभक्ष्य औषध से बच सकते हैं और दूसरा तपस्या अथवा अंगीकार किए व्रत-नियमादि का पालन हो सकता है परन्तु यह खास ख्याल रखना कि उपयोग करने के पहले गीतार्थ गुरु महाराज की अनुमति लेना आवश्यक है । इस प्रकार 'अशन-पान-खादिम और स्वादिम' इन चार प्रकार के आहार का स्वरूप कहा । अब पच्चक्खान भंग न हो, उसके रक्षण के लिए आगारों का स्वरूप कहते हैं-

"**अन्नत्थाणा भोगेणं, सहसा गारेण**" यहां पंचमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का प्रयोग किया गया है । उसमें 'अन्यत्र-सिवाय-बिना' जैसे कि द्रोण-भीष्म से अन्यत्र अर्थात् द्रोण-भीष्म सिवाय के अन्य योद्धा । तात्पर्य कि- 'अनाभोग' और 'सहसाकार' इन दो के सिवाय पच्चक्खान का खण्डन होता है, इन दो में पच्चक्खान अखंडित रहता है। अनाभोग का अर्थ है-अत्यन्त विस्मृति के कारण पच्चक्खान भूल जाना और सहसाकार का अर्थ है-उतावली या हड़बड़ी में की गई प्रवृत्ति अथवा अकस्मात (यकायक) मुंह में चीज डाल लेने से या पड़ जाने की हुई क्रिया । जैसे गाय दुहते समय अचानक दूध के छींटे या स्नान करते समय सहसा उछल कर पानी के छींटे मुंह में पड़ जाना सहसाकार है । ऐसा हो जाने पर पच्चक्खान भंग नहीं होता है । यदि गले में उतरने के पहले ख्याल आ जाय तो उसी समय मुंह में से निकाल देना चाहिए । यदि ख्याल आ जाने के बाद भी खा जाय तो पच्चक्खान का भंग होता है । और अगारों से भूल होने पर भी पच्चक्खान अखण्ड रहे, उसकी शुद्धि रहे और परिणाम निर्ध्वंस न हो जाय इसलिए योग्य गुरुदेव के पास भूल का यथास्थित निवेदन कर प्रायश्चित्त लेना चाहिए । नमुक्कार सहि में यह दो ही आगार (अपवाद) कहे हैं, परन्तु उसके साथ में मुट्ठि सहित-संकेत पच्चक्खान करता है तो चार आगार होते हैं । उसमें दो तो अनाभोगेन और सहसागारेण हैं और विशेष दो **महत्तरा गारेण,** और **सव्व समाहिवति आगारेण'** आगार हैं । इसका अर्थ कहेंगे । इस तरह नमुक्कार सहि का अर्थ कहा । अब पोरिसी पच्चक्खान का पाठ और अर्थ कहते हैं-

''पोरुसिं पच्चक्खाइ, उग्गाए सूरे चउव्विहंपि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं, पच्छन्न का लेणं दिसामोहेणं साहु वयणेणं सव्व समाहिवत्तिया गारेणं वोसिरइ ।''

सूत्र व्याख्या- पोरिसी (पोरुषी) का अर्थ है-सूर्योदय के बाद पुरुष के शरीर की छाया आ जाय उतने समय को पोरुषी कहते हैं । उसे प्रहर (पहर) भी कहते हैं । उसमें जैसे कर्क सक्रान्ति में दिन के पहले और अन्तिम भाग में पुरुष की ऊंचाई के अनुसार शरीर की परछाईं पड़े, पुरुष प्रमाण जितनी छाया रहे तब उस तरह पोरसी कहलाती है अर्थात् पुरुष सूर्य के सामने खड़ा रहे, उसका परछाईं जितनी दूर पड़े वहां परछाईं के अन्तिम छेड़े पर उत्तर दक्षिण लम्बी रेखा कर स्वयं खड़ा हो, वहां से इस रेखा का अन्तर मापते उस शरीर की ऊँचाई हो तो पोरसी-पहर का समय सूर्योदय के बाद हो गया या शाम को सूर्यास्त में इतना समय शेष है, ऐसा समझना । इस तरह पोरिसी का माप समझना अथवा दूसरी रीति से दक्षिणायन में कर्क संक्रान्ति के पहले दिन पुरुष के दाहिने कान के ऊपर सूर्य का प्रकाश आय इस तरह खड़ा रहकर पैर के तलिये से घुटने तक की परछाईं मापे तो वह दो पैर की हो, तब पोरिसी का समय समझना । ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आसाढे मासे दुषया, पोसे मासे चउप्पया ।
चित्ता सोएसु मासेसु, तिपया होइ पोरिसी ॥२८४॥

अर्थात्- "अषाढ़ महीने में दो, पोष महीने में चार और चैत्र तथा अश्विन में तीन तीन कदम परछाईं पड़े तब पोरिसी का समय आता है ।"

शेष मासों में या दिनों में यह समय निकालने के लिए अंगुल के प्रमाण से बढ़ाने या घटाने का होता है । ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

अङ्गुलं सत्तरत्तेणं पक्खेणं तु दुअङ्गुलं ।
वद्धए हायए वा वि, मासेणं चउरंगुलं ॥२८५॥

अर्थात्-"अषाढ़ महीने से सात दिन एक, पखवारा दो, और महीना हो तब चार अंगुल दो कदम में क्रमशः बढ़ाना चाहिए, इसी तरह पौष महीने के बाद घटाना चाहिए अर्थात् प्रत्येक महीने में चार अंगुल बढ़ाते तीन महीनें में बारह अंगुल- एक कदम बढ़ता है । इससे आषाढ़ में तीन और पौष में चार कदम होता है । उसके बाद घटते हुए चैत्र में तीन और उषाढ़ में दो कदम होता है ।"

आगे आते **'साहु वयणेण'** आगार से 'पादोन पोरिसी' काल का भी पच्चक्खान में सम्बन्ध है । वह बताने के लिए ऊपर कहे अनुसार उस पोरिसी की छाया में अंगुल बढ़ाने के लिए कहा है । यति दिनचर्या में कहा है-

जिट्ठामूले आसाढ सावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा ।
अट्ठा हिं बीअतइअंमि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥४८॥

अर्थात्- "जेठ के प्रारम्भ से अषाढ़ और श्रावण महीने तक छः-छह अंगुल तक, उसके बाद के तीन महीने में आठ-आठ अंगुल, फिर तीन महीने में दस-दस अंगुल, और फिर तीन महीने में आठ-आठ अंगुल पोरिसी का माप बढ़ाना, अर्थात् उन महीनों के उन दिनों में बताया है, पारिसी के सुबह के माप में उतने अंगुल परछाईं बढ़ती है तब सूर्योदय के बाद पौन पहर गया, ऐसा समझकर उस समय पादोन पोरिसी का पडिलेहन करना चाहिए ।" अब पोरिसी के समान उतने ही आगार वाले सार्द्धपोरिसी पच्चक्खान का समय-सूर्योदय से डेढ़ पहर जानने के लिए छाया का प्रमाण कहते हैं-

पोसे तणु छायाए, नवहिं पएहिं तु पोरिसी सड्ढा ।
तावेक्केका हाणी, जावा साढे पया तिन्नि ॥१॥

अर्थात्-"पौष महीने में शरीर की परछाईं नौ कदम प्रमाण होती है तब सार्द्ध (डेढ़) पोरिसी का समय होता है, फिर प्रत्येक महीने में एक कदम कम करते अषाढ़

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

महीने में परछाईं तीन कदम हो जाय तब सार्द्ध पोरिसी का समय होता है । उसके बाद प्रत्येक महीने एक कदम बढ़ाते मार्ग शीर्ष में आठ कदम परछाईं होती है तब सार्द्ध पोरिसी का समय आता है ।'' जो पुरिमड्ढ पच्चक्खान कहा जायेगा, उसका माप यहां प्रसंग होने से कहते हैं-

पोसे विहत्थि, वारस अंगुल पमाण पुरिमद्धे ।
मासि दुअंगुल हाणी, आसाढे निट्ठिआ सव्वे ॥१॥

अर्थात्-''पौष महीने में शरीर की परछाईं घट-घटकर जब बारह अंगुल हो जाय तब पुरिमार्द्ध पच्चक्खन का समया जानना, फिर प्रत्येक महीने में दो-दो अंगुल घटातेा हुए अषाढ़ में जब कुछ भी परछाईं न पड़े तब पुरिमड्ढ और फिर प्रत्येक महीने में दो-दो अंगुल बढाते मार्ग शीर्ष में दस अंगुल परछाईं होती है तब पुरिमड्ढ का समय जानना ।

यह पोरिसी, पादोन पोरिसी, सार्द्ध पोरिसी तथा पुरिमड्ढ के समय को बताने वाला, अपने शरीर की परछाईं का प्रमाण नीचे का कोष्टक देखने से सरलता पूर्वक समझ में आ जायेगा-

महीना	पोरिसी		पादोन पोरिसी					सार्द्ध पोरिसी		पुरिमड्ढ	
	पद	अंगुल	अधिक	पद		अंगुल		पद	अंगुल	पद	अंगुल
१. अषाढ़	२	+ ०	६ अंगुल	= २	-	६		३	०	०	०
२. श्रावण	२	+ ४	६ अंगुल	= २	-	१०		४	०	०	२
३. भादों	२	+ ८	८ अंगुल	= ३	-	४		५	०	०	४
४. आसोज	३	+ ०	८ अंगुल	= ३	-	८		६	०	०	६
५. कार्तिक	३	+ ४	८ अंगुल	= ४	-	०		७	०	०	८
६. मार्गशीर्ष	३	+ ८	१० अंगुल	= ४	-	६		८	०	०	१०
७. पौष	४	+ ०	१० अंगुल	= ४	-	१०		९	०	०	१०
८. माह	३	+ ८	१० अंगुल	= ४	-	६		८	०	०	१०
९. फाल्गुन	३	+ ४	८ अंगुल	= ४	-	०		७	०	०	८
१०. चैत्र	३	+ ०	८ अंगुल	= ३	-	८		६	०	०	६
११. बैशाख	२	+ ८	८ अंगुल	= ३	-	४		५	०	०	४
१२ ज्येष्ठ	२	+ ४	६ अंगुल	= २	-	१०		४	०	०	२

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब शेष रहे पदों की व्याख्या करते हैं । पूर्व कहे काल प्रमाण तक चारों प्रकार के आहार का त्याग पच्चक्खान करना पोरसी पच्चक्खान कहलाता है । वह पच्चक्खान किस रूप में होता है ? इसे कहते हैं-अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ । 'वोसिरामि' क्रिया पद के साथ इस वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना । इस प्रत्याख्यान में छह आगार हैं । उसमें पहला और दूसरा आगार नमुक्कासी के पच्चक्खान के समान ही समझ लेना चाहिए । बाकी के **पच्छन्न कालेणं दिसा मोहेणं साहुवयणेणं सव्व समाहि पत्ति आगारेणं**– ये चार आगार हैं । उसमें **पच्छन्न कालेण** का अर्थ है-काल का उदृश्य होने से अर्थात् बादलों के कारण, आकाश में रज उड़ने से या पर्वत की आड़ में सूर्य के ढक जाने से परछाईं के न दिखने के कारण पच्चक्खान पूर्ण होने के समय का मालूम न होने के कारण कदाचित् पोरसी आने से पहले पच्चक्खान पार लेने पर भी उसका भंग नहीं होता परन्तु जिस समय वह खा रहा हो, उस समय कोई ठीक समय बता दे या ठीक समय ज्ञात हो जाय तो आधा खा लिया हो वहीं रुक जाय शेष भोजन पूर्ण समय होने पर ही करे । यदि अपूर्ण समय जानने के बाद भी भोजन करता है तो उसका वह पच्चक्खान भंग हो जाता है । यद्यपि वर्तमान काल में घड़ी का उपयोग होता है परन्तु उसमें भी गड़बड़ी हो सकती है, इसलिए यह आगार सार्थक है ।

'दिसा मोहेणं' अर्थात् दिशाओं का भ्रम हो जाने से, पूर्व को पश्चिम दिशा समझकर अपूर्ण समय में भी भोजन कर लेता है तो इस आगार के कारण पच्चक्खान भंग नहीं होता । यदि भ्रान्ति मिट जाय और सही समय मालूम हो जाय तो पहले की तरह वहीं रुक जाय । यदि वह भोजन करता ही चला जाता है तो उसका पच्चक्खान खण्डित हो जाता है । **'साहू वयणेणं'** – अर्थात् 'उद्घाटा पौरुषी' इस प्रकार के साधु के कथन के आधार पर समय आने से पूर्व ही पोरसी पार ले तो उक्त आगार के कारण प्रत्याख्यान भंग नहीं होता यानी साधु पोरसी पच्चक्खान के पूर्ण होने से कुछ पूर्व ही पोरिसी पढ़ावे, उस समय **'बहुपडिपुण्णा पोरसी'** यों उच्च स्वर से आदेश मांगे । उसे सुनकर श्रावक विचार करे कि पोरसी पच्चक्खान पारने का समय हो चुका है । इस भ्रम से आहार पानी कर ले तो उसका पच्चक्खान भंग नहीं होता । मगर पता लग जाने के बाद वहीं भोजन करता रुक जाय, तब तो ठीक है अगर न रुके तो अवश्य ही प्रत्याख्यान भंग का दोष लगता है । पोरसी का पच्चक्खान करने के बाद तीव्र शूल आदि पीड़ा उत्पन्न हो जाय, पच्चक्खान पूर्ण होने तक धैर्य न रहे और आर्तध्यान, रौद्र ध्यान होता हो, असमाधि पैदा होती हो तो **'सव्वसमाहिवत्ति आगारेण'** नामक आगार (छूट) के अनुसार प्रत्याख्यान पूर्ण होने के समय से पहले ही औषध, पथ्यादि ग्रहण कर लेने पर भी उसका पच्चक्खान भंग नहीं होता अथवा किसी भयंकर व्याधि की शान्ति के लिए वैद्य आदि पोरसी आने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से पहले ही भोजन करने के लिये जोर दे तो पच्चक्खान भंग नहीं होता । थोड़ा खाने के बाद उस बीमारी में कुछ राहत मालूम दे तो समाधि शान्त होने पर उसका कारण जानने के बाद भोजन करता हुआ रुक जाय एवं सामान्य कारण से पोरसी से पहले नहीं खाना चाहिए । तप की भावना से उसको श्रद्धापूर्वक किया जाय तो बहुत लाभदायक है। सत्वशाली जीव प्राणांत कष्ट में भी पच्चक्खान पालन करते हैं । आगार तो सत्वहीन व्यक्ति के लिए संकट के प्रसंग पर कहा है । परन्तु सत्वशाली तो सर्वशक्ति से-पच्चक्खान का आगार-अपवाद के बिना पालन कर आराधना करते हैं ।

साड्ढ पोरिसी अर्थात् डेढ़ पोरसी के पच्चक्खान का पाठ भी पोरसी पच्चक्खान के समान हैं, फर्क सिर्फ इतना ही है कि पोरिसी के स्थान में साड्ढ पोरिसी बोले । अब पुरिमड्ढ पच्चक्खान का पाठ कहते हैं- **''सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं-साइमं, अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं पच्छन्न कालेणं दिसा मोहेणं साहु वयनेणं महत्तारा गारेणं सव्वा समाहि वत्ति आगारेणं वोसिरइं ।''**

इसमें पुरिम + अर्द्ध अर्थात् पूर्व च तदर्ध च पूर्वार्द्धम-यानी दिन के पहले आधे भाग (दो पहर) तक का प्रत्याख्यान कहलाता है । मागधी-प्राकृत भाषा में 'पुरिमड्ढ' बनता है । इसमें सात आगार हैं छः आगारों का अर्थ पहले कहा जा चुका है । सातवां आगार **'महत्तरा गारेणं'** इसका अर्थ है- जो पच्चक्खान अंगीकार किया है उससे अधिक कर्म निर्जरा रूप महालाभ का कोई कारण आ जाय तो पच्चक्खान का समय आने के पूर्व भी आहार कर लेने पर उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता । जैसे कोई साधु बीमार हो उस पर अथवा संघ पर कोई संकट आ गया हो अथवा चैत्य, मन्दिर या संघ आदि का कोई खास काम हो जो दूसरे से या दूसरे में नहीं हो सकता हो, इत्यादि महत्वपूर्ण (महत्तर) कारणों को लेकर 'महत्तरागारेण' के आगार के अनुसार समय पूरा होने के पूर्व-पहले भी पच्चक्खान पूर्ण किया जा सकता है । यह आगार नौकारसी पोरसी आदि प्रत्याख्यान में इसलिए नहीं बताया गया है कि ये पच्चकखान तो बहुत थोड़े समय तक के हैं, जबकि इसका समय लम्बा है । अब एकासन (एकाशन) पच्चक्खान का वर्णन करते हैं । इसमें आठ आगार हैं । इसका सूत्र पाठ इस प्रकार है-

''एगासणं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि-तिविहं पि वा आहारं असणं, पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं सगारिआ गारेणं आउंटण पसारेणेणं गुरु अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठवणिआ गारेण महत्तरागारेणं सव्व समाहि वत्तियागारेणं वोसिरइ ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मैं एकासन का पच्चक्खान करता हूँ। एक + अशनं– इस तरह पदच्छेद करते (एक बार) भोजन करना। अथवा 'एकासन' पर्याय वाचक शब्द है। एक + आसन इस तरह पदच्छेद करते, एक ही आसन पर भोजन करना– ऐसा अर्थ होता है। एक आसन का मतलब यह है कि गुदा का भाग चलायमान न हो इस तरह बैठे बैठे आहार करना। एकाशन 'तिविहार' होता है तो आहार करने के बाद भी 'पानी' लिया जा सकता है, किन्तु 'चउविहार' हो तो आहार के समय ही लिया जा सकता है, बाद में नहीं। इसमें उक्त आठ आगार हैं। उसमें पहले के दो और अन्तिम दो आगारों का अर्थ पहले बताया जा चुका है। बीच के चार आगारों का स्वरूप बताते हैं। **'सागारि आगारेणं'** – जो आगार के सहित हों उसे सागारिका कहते हैं अथवा सागारी ग्रहस्थ को भी कहते हैं। उससे सम्बन्धित जो आगार हो, उसे भी सागारिका गार कहते हैं। इस आगार का तात्पर्य यह है– साधु का आचार है कि जहां गृहस्थ की दृष्टि पड़े, वहां बैठकर साधु साध्वी को भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से जिन शासन की निन्दा–बदनामी होती है। अतः ओघ निर्युक्ति में कहा है :–

छक्काय दयावंतो ऽ वि, संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं।
आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंड गहणे य ॥४४२॥

अर्थात् –"षट्जीव निकाय (प्राणी मात्र) पर दया करने वाले साधु साध्वी आहार या निहार (मलमूत्रादि–निवारण) गृहस्थ के सन्मुख करें अथवा घृणित या निन्दित कुलों से आहार–पानी ग्रहण करें तो इससे शासन की बदनामी होती है, ऐसा करने से उसे सम्यकत्व (बोधि) प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।"

इसी कारण साधु का ऐसा आचार है कि साधु जहां बैठकर आहार कर रहा हो, वहां यदि उस समय कोई गृहस्थ भाई बहन आ जाय और उसी समय चला जाय तब तो साधु भोजन के लिए वहीं बैठा रहे, लेकिन यदि वह गृहस्थ वहां काफी देर तक रुका रहे तो फिर साधु को वहां नहीं बैठे रहना चाहिए क्योंकि अधिक समय तक एक ही आसन पर आहार स्थगित किये बैठे रहने से स्वाध्याय, सेवा आदि अन्य दैनिक चर्याओं में विघ्न पड़ेगा। इस कारण साधु अथवा साध्वी वहां से उठकर यदि दूसरे स्थान पर बैठकर आहार करते हैं तो इस आगार के कारण उनका एकासन पच्चक्खान भंग नहीं होता। यह विधान साधु की अपेक्षा से किया गया है। गृहस्थ की अपेक्षा से इस आगार का तात्पर्य यह है कि कोई गृहस्थ एकासन के लिए आहार करने बैठा हो, उस समय किसी के देखने या नज़र लगने से हजम न होने की आशंका से यदि वह स्थान बदलता है तो सागारिकागार के कारण उसका एकासन पच्चक्खान खण्डित नहीं होता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा **'आउंटण पसारेणं'** - आकुंचन-प्रसारण करने से अर्थात् घुटने, जंघा, पैर आदि को सिकोड़ने या पसारने फैलाने-लम्बे चौड़े करने से । मतलब यह है कि-कई व्यक्ति भोजन करते समय अधिक देर तक एक आसन से स्थिरतापूर्वक बैठ नहीं सकते, बीमारी, अशक्ति या बुढ़ापे आदि के कारण उनके अंगोपांग ज्यादा देर तक एक ही आसन से बैठना सहन नहीं कर सकते । ऐसे व्यक्ति एकासन करते समय यदि शरीर के अंगोपांग सिकोड़ते या पसारते हैं, लम्बा चौड़ा करते हैं, उसमें जरा सा आसन चलायमान हो जाय तो इस आगार (छूट) के कारण उसका एकासना पच्चक्खान खण्डित नहीं होता । तथा गुरु **'गुरु अब्भुट्ठाणेणं'** - इसका अर्थ है एकासन में भोजन करते समय यदि गुरुदेव पधारें तो उनके विनय के लिए आसन पर खड़े हो जाने पर भी इस आगार के कारण पच्चक्खान भंग नहीं होता क्योंकि गुरु महाराज का सम्मान खड़े होकर अवश्य करना चाहिए । **'पारिट्ठावणिया गारेणं'** - भुक्त, शिष्ट, अति मात्रा में आनीत वस्तु को निरवद्य स्थान पर डालना, त्याग कर देना या किसी तपस्वी साधु साध्वी को दे देना परिष्ठापन कहलाता है । तात्पर्य यह है कि साधु की भिक्षा में आहार मात्रा से अधिक आने से बच गया हो, दूसरे दिन के लिए उसे रखना तो कल्पनीय नहीं है, ऐसी दशा में उसे परिठाने (डालने) के सिवाय कोई चारा न हो उस समय उस आहार को एकासन पच्चक्खान आदि वाला खा ले तो इस आगार के कारण पच्चक्खान भंग नहीं होता । क्योंकि उक्त आहार को परिठाने-फेंकने पर जीव विराधना आदि बहुत दोष लगते हैं, जबकि शास्त्र-मर्यादा अनुसार उस परिठाने योग्य आहार को पच्चक्खान वाला साधु खा ले तो उसमें अधिक गुण हैं । इस कारण बढ़ा हुआ आहार गुरु-आज्ञा से पच्चक्खान वाला कर ले तो उसका पच्चक्खान भंग नहीं होता । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

विहिगहिअं विहिभुत्तं, उद्धरिअं जं भवे असण माई।
त गुरुणाणुन्नायं कप्पइ आयंबिलाई णं ॥१६११॥

अर्थात्- "विधि पूर्वक लोलुपता-मूर्च्छा रहित बयालीस दोष रहित प्राप्त किया और साधु मंडली में बैठकर विधि पूर्वक उस आहार वापरने (खाने) के बाद बढ़ा हुआ अशन आदि गुरु महाराज की आज्ञा से आयंबिल-उपवास आदि तप वाला भी खा सकता है ।"

श्रावक को उसके गृहस्थ-आचार के अनुसार परिठाने का या अधिक खा जाने का प्रसंग नहीं आता, उनके लिए यह आगार निरर्थक है । परन्तु सूत्र पाठ को अखंड रखने के लिए श्रावक को भी यह आगार उच्चारण करने के लिए कहा जाता है । इसके बाद **'वोसिरइ'** अर्थात् इन आगारों के अलावा एक ही आसन और आहार के अतिरिक्त आसन या आहार का त्याग करता हूँ ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब **'एकलठाणा'** के पच्चक्खान का स्वरूप कहते हैं । इसमें सात आगार हैं। इसका पाठ भी एकासन के समान ही है सिर्फ एकासणं के बदले एगलठाणं बोलना और **'आउंटण पसारणेण'** का आगार छोड़कर सभी आगारों को बोलना चाहिए । क्योंकि एगलठाणं में यह नियम है कि शरीर के अंग जिस तरह रखे हों उसी तरह अन्त तक रखकर भोजन करना चाहिए अर्थात् एक ही स्थिति में अंगोपांग रखना एगलठाणा है । मुंह और हाथ को हिलाए बिना तो भोजन किया नहीं जा सकता, इसलिए इन दोनों को हिलाने का इसमें निषेध नहीं है । यहां "आउटंण प्रसारणेण" आगार को छोड़ने का विधान एकासन और एकलठाणं पच्चक्खान में अन्तर बताने के लिए किया गया है अन्यथा ये दोनों पच्चक्खान एक सरीखे हो जाते । अब आयंबिल पच्चक्खान का स्वरूप कहते हैं। इसमें आठ आगार हैं और उसका सूत्र पाठ इस प्रकार है-

आयंबिल पच्चक्खाइ, अन्नथणा भोगेणं सहसा गारेणं लेवा लेवेणं गिहत्थ संसट्ठेणं उक्खित्त विवेगेण पारिट्ठावणिया गारेण, महत्तरा गारेणं सव्व समाहिवत्ति आगारेणं वोसिरइ ।"

आयम्बिल जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है । संस्कृत आचामाम्ल होता है- आयं यानी आयाम = ओसामण (मांड) और अम्ल = चौथा-खट्टा पानी या खटाई, उपलक्षण से तमाम विगई मिर्च-मसाले आदि स्वादवर्द्धक या स्निग्ध वस्तुओं का सेवन नहीं करना । जिसमें प्रायः नीरस-स्वाद रहित, रूखी-सूखी खाद्य वस्तु-चावल, गेहूं, चने, उड़द आदि का भोजन एक बार करके निर्वाह किया जाय उसे जैन शासन में आयंबिल या आचामाम्ल तप कहते हैं । तात्पर्य यह है कि आयंबिल-पच्चक्खान में स्वाद जीतने के लिए पौष्टिक, सरस, स्वादिष्ट, चटपटी, गरिष्ठ आदि वस्तुओं से रहित रूखा-सूखा, नीरस भोजन करना होता है । इसमें प्रथम दो आगार और अन्तिम तीन आगारों की व्याख्या पहले की जा चुकी है । बीच के तीन आगारों की व्याख्या इस प्रकार है-

'लेवालेवेण' - लेप और अलेप से । अर्थात् आयंबिल करने वाले के लिए अकल्पनीय-असेवनीय घी, तेल, गुड़, दूध, दही, मिर्च, मसाले, हरे साग, सूखे मेवे, पके फल आदि वस्तुओं का लेप आयंबिल के योग्य रूखे सूखे भोजन या बर्तन के साथ पहले से लगा हो तो उसका आगार है, अथवा भोजन व बर्तन के लेप तो न लगा हो, लेकिन तेल आदि अकल्पनीय वस्तुओं से लिप्त हाथ या कपड़े से साफ किए हुए या पोंछे हुए बर्तन में भोजन किया गया है तो उसे अलेप का आगार है । मतलब यह है कि लेप और अलेप के आगार के कारण पच्चक्खान भंग नहीं होता है । तथा **'गिहत्थसंसट्ठेणं'** - अर्थात् आहार देने वाला गृहस्थ जिस चमचे या कड़छी आदि से साधु के पात्र में भोजन देता है उसके साथ में अकल्प्य कोई विगई या मिर्च मसाले आदि वस्तु लगी हो, अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आयंबिल करते समय कड़छी आदि में लगी उस अकल्पनीय वस्तु का अंश मात्र मिला हो, आयंबिल योग्य आहार में उस वस्तु का स्वाद भी स्पष्ट रूप से मालूम होता हैं, फिर भी ऐसी लेपायमान वस्तु के खाने पर इस आगार के कारण आयंबिल पच्चक्खान का भंग नहीं होता । तथा **'उक्खित्त विवेगेण'** - अर्थात् आयंबिल में खाने योग्य रूखी रोटी, चने, चावल आदि वस्तु पर आयंबिल में नहीं खाने योग्य सूखी विगई-गुड़-मिठाई आदि रखी हो, उसे अच्छी तरह उठा लेने के बाद भी उसका अंश अथवा लेप रोटी चावल आदि पर लगा हो तो आयंबिल में खाने से आगार के कारण पच्चक्खान भंग नहीं होता है अर्थात् आयंबिल में खाने योग्य वस्तु में अकल्प्य वस्तु का स्पर्श हो गया हो तो आयंबिल भंग नहीं होता । परन्तु हलवा, साग आदि वस्तु को पूर्ण रूप से उठा नहीं सकते अत: वह विगई आदि कल्प्य खाद्य के रूप में लगी रह जाती है, इससे रूखी रोटी-चावल आदि खाने पर व्रतभंग होता है । इस तरह इन आगारों (छूट) के अतिरिक्त आयंबिल में नहीं खा सकने योग्य अन्य चारों आहारों का त्याग करता हूँ । शेष पदों का अर्थ पहले आ चुका है । अब उपवास के पच्चक्खान का वर्णन करते हैं । इसके पांच आगार हैं । उसका सूत्र पाठ इस प्रकार है-

''सूरे उग्गए अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि तिविहं पि आहारं असणं, पाणं खाइमं साइमं अण्णत्थणा भोगेणं सहसागारेणं परिट्ठावणि आगारेण सव्व समाहि वत्ति आगारणं वोसिरइं ।''

'सूरे उग्गए' अर्थात् सूर्योदय से लेकर । इसका यह अर्थ हुआ कि भोजन करने के बाद शेष दिन के समय में उपवास नहीं हो सकता । तथा **'अब्भत्तट्ठ'** = अर्थात् जिस प्रत्याख्यान में भोजन करने का प्रयोजन नहीं हो, उसे अभक्तार्थ-उपवास कहते हैं । इसकें आगार पूर्व के समान हैं । इसमें **'पारिट्ठावणि आगार'** विशेष रूप है । यदि तिविहार उपवास किया हो तो उसे पानी पीने की छूट होने से बढ़ा हुआ आहार गुरु की आज्ञा से खाकर पानी पी सकता है, परन्तु जिसने चउविहार उपवास किया हो वह तो आहार पानी दोनों बढ़ गये हों तभी खा सकता है, पानी न बढ़ा हो तो अकेला आहार नहीं खा सकता ।

(पूर्व में मुनि आहार के समान पानी भी बासी रखने का व्यवहार न था, इसलिए यह बात कही है कि पानी भी बढ़ा हो तभी चउविहार उपवास वाला परिठाने (डालने) वाला आहार-पानी दोनों गुरुदेव की आज्ञा से खा सकता है । केवल आहार खाने से अजीर्ण आदि का संभव होने से नहीं खाना चाहिए ।) **'वोसिरइ'** उपर्युक्त आगारों के अतिरिक्त अशनादि चारों या तीनों अशनादि आहार का त्याग करता हूँ।

अब पानी सम्बंधी पच्चक्खान कहते हैं । उसमें पोरसी, पुरिमड्ढ, एकासना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एकलठाणा, आयंबिल तथा उपवास के पच्चक्खान में उत्सर्ग मार्ग में चौविहार पच्चक्खान करना योग्य है अर्थात् भोजन के पहले और बाद में भी चार आहार का त्याग करना युक्त है। फिर भी तिविहार पच्चक्खान करे, भोजन के बाद पानी की छूट रखी जाय तो उसके लिए यह आगार बताए हैं। उसका सूत्र पाठ इस प्रकार है–

''पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहुलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरइ''

पोरिसी आदि के आगारों में 'अण्णात्थणा भोगेणं' आगार के साथ में इसे जोड़ना और जो तृतीया विभक्ति है उसे पंचमी के अर्थ में समझना तथा **'लेवाडेण वा'** – ओसामण अथवा खजूर, इमली आदि के पानी से या जिस बर्तन आदि में उसके लेप सहित पानी हो उसके सिवाय त्रिविध आहार का मैं त्याग करता हूँ। शुद्ध पानी के अभाव में लेपकृत पानी सकारण उपयोग करने का यह आगार है, उसका स्वाद न आये वैसे ही पानी का उपयोग हो सकता है। वर्तमान काल में यह आगार रखा है, फिर भी ऐसा पानी पीने का व्यवहार नहीं है। गाढ कारण से मुनि को कल्प्य पानी के अभाव में अपवाद मार्ग से उपयोग हो सकता है अर्थात् ऐसा लेपकृत पानी उपवास अथवा एकासन आदि में भोजन के बाद पिये तो भी पच्चक्खान का भंग नहीं होता है। प्रत्येक शब्द के साथ अथवा के अर्थ में **वा** शब्द (अव्यय) है, वह लेपकृत-अलेपकृत आदि सर्व प्रकार के पानी **'पाणस्स'** – पानी के पच्चक्खान में अवर्जनीय रूप में विशेष प्रकार से बताने के लिए समझना। वह इस प्रकार से **'अलेवाडेण वा'** अर्थात् जिस बर्तन आदि में लेप न हो परन्तु छाछ आदि का नितारा हुआ पानी हो, उस अलेपयुक्त पानी के पीने से भी इस आगार के कारण पच्चक्खान भंग नहीं होता है। **'अच्छेणं वा'** अर्थात् उबाले हुए निर्मल शुद्ध के सिवाय अन्य सब जल का त्याग। इस आगार से एक पानी की छूट रखी जाती है। क्योंकि तप या सचित्त त्याग में तीन उबाले से गरम किये हुए स्वच्छ पानी का उपयोग कर सकता है। **'बहुलेणं वां'** – तिल या कच्चे चावल का धोवन बहुल जल अथवा गुडल जल कहलाता है। इससे तथा **'संसित्थेण वा'** – पकाये हुए चावल या मांड, दाना अथवा ओसामन वाले पानी को कपड़े से छानकर पीयें तो इस आगार से पच्चक्खान का भंग नहीं होता है तथा **'असित्थे वा'** – आटे के कण का नितारा हुआ पानी भी इसी प्रकार के पानी के आगार के समान समझना। इस तरह पानी के पच्चक्खान छः आगारों का स्वरूप जानना।

अब चरम प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं–चरम अर्थात् अन्तिम पच्चक्खान। इसके दो भेद हैं–एक दिन के अन्तिम भाग तक का और दूसरा भव = जीवन के अन्तिम भाग तक का होता है। इन दोनों पच्चक्खानों को क्रमशः दिवस चरिम और भव चरिम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहते हैं । उसमें भव चरिम प्रत्याख्यान यावत्जीव-जब तक प्राण हों तब तक का होता है । दोनों के चार चार आगार हैं और इसका सूत्र पाठ इस प्रकार से है-

"दिवस चरिमं भव चरिमं वा पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं , महत्त रागारेणं सव्व समाहिवत्तिया गारेणं वोसिरइ।"

यहां शंका करते हैं कि-एकासन आदि पच्चक्खान भी इसी तरह से होता है, फिर दिवस चरिम पच्चक्खान की क्या आवश्यकता है ? अत: दिवस चरिम पच्चक्खान निष्फल है । इसका समाधान करते हैं कि-यह कहना यथार्थ नहीं है । परन्तु एकासना आदि में आठ-सात आगार हैं जबकि दिवस चरिम में केवल चार ही आगार हैं। अत: इसमें आगार (अपवाद-छूट) संक्षिप्त होने से यह पच्चक्खान सफल ही है । यद्यपि साधु साध्वियों को रात्रि भोजन का त्रिविध-त्रिविध (तीन करण, तीन योग) से आजीवन त्याग होता है और गृहस्थ के एकासन आदि का पच्चक्खान भी दूसरे सूर्योदय तक का होता है क्योंकि दिवस शब्द का अर्थ दिन होता है । वैसे ही पूरी रात्रि सहित दिन यानी 'अहोरात्र' भी होता है अर्थात् अहोरात्र शब्द भी दिवस का पर्यायवाची-समानार्थक होता है । तथापि जिनको रात्रि भोजन का त्याग हो उन साधु-श्रावकों को फिर रात्रि भोजन त्याग रूप दिवस चरम पच्चक्खान पुन: उस पच्चक्खान का स्मरण-याद करा देता है, इसलिए सफल है । भव चरिम पच्चक्खान में सिर्फ दो आगार ही होते हैं । इसमें 'सर्व समाधि' प्रत्यय आगार और 'महत्तरागार' की जरूरत नहीं होती । सर्फ 'अनाभोग' और 'सहसाकार' इन दो आगारों से भव चरिम-पच्चक्खान होता है । उपयोग शून्यता अथवा सहसा उंगली आदि मुंह में डालना संभव होने से इस प्रत्याख्यान में दो आगार ही रखे गये हैं । क्योंकि चरम प्रत्याख्यान कर्त्ता इन दोनों आगारों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता ।

अब अभिग्रह प्रत्याख्यान का स्वरूप बताते हैं । किसी न किसी रूप में तप त्याग के अनुरूप कोई संकल्प या नियम करना, अभिग्रह कहलाता है । वह दण्ड का प्रर्माजन-प्रतिलेखन करने, उठने, देने आदि विविध नियमों के रूप में होता है । ऐसा कोई भी अभिग्रह युक्त पच्चक्खान करना अभि प्रत्याख्यान कहलाता है । इसमें चार आगार हैं । इसका सूत्र पाठ इस प्रकार है-**"अभिग्गहं पच्चक्खाइ अन्नत्थणा भोगेणं सहसा गारेणं महत्तरा गारेणं सव्वहि वत्ति आगारेणं वोसिरइ ।"** इन पदों की व्याख्या पहले की जा चुकी है । इतना जरूर समझ लेना कि यदि कोई साधु वस्त्र त्याग रूप अभिग्रह, प्रत्याख्यान करता है तो उसके साथ **'चोलपट्टा गारेण'** नामक पांचवां आगार अवश्य बोलें । श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है **"हैमन्तेसु अवाउडा"** अर्थात् ठंडी के समय उत्तम मुनि विशेष कर्म निर्जरा के लिए ठंडी को सहन करने के लिए, अथवा शरीर सत्कार त्यागार्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वस्त्र त्याग का अभिग्रह करे तब कोई गृहस्थ आ जाय तो उस समय चोल पट्टा पहनना होने से उसके लिए यह आगार है , इस आगार के कारण यदि किसी गाढ़ कारण वश वह चोल पट्टा धारण कर लेता है तो भी उसके इस पच्चक्खान का भंग नहीं होता। अब विग्गइ-पच्चक्खान का स्वरूप कहते हैं। इसमें आठ अथवा नौ आगर बताये गये हैं। इसका सूत्र पाठ इस प्रकार है-

"विग्गइओ पच्चक्खाइ, अन्नत्थणा भोगेणं, सहसा गारेणं, लेवालेवेण गिहत्थ संसट्ठेणं, उक्खित्त विवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठा वाणिया गारेणं महत्तरा गारेणं सव्व समाहिवत्ति आगारेणं वोसिरइ।" यहां खाद्य पदार्थ जो प्रायः मन में विकार पैदा करने में कारण भूत होते हैं, उन्हें जैन परिभाषा में विगई (विकृतिक) जाता है। इसके दस भेद हैं। पंचवस्तुक में कहा है कि-

खीरं दहि णवणीयं, घयं तहा तेल्लमेव गुडमज्जं।
महु मंसं चेव तहा, उग्गाहिमंगं च विगईओ ॥३७१॥

अर्थात्- "(१) दूध, (२) दही, (३) मक्खन, (४) घी, (५) तेल, (६) गुड़, (७) शराब (मदिरा), (८) मद्य, (९) मांस और (१०) अवगाहिम अर्थात् तली हुई वस्तुएं (मिठाइयां आदि)- इस तरह विगई दस प्रकार से हैं।"

उसमें (१) **दूध**- गाय, भैंस, बकरी, ऊंटनी और भेड़ इन पांचों का दूध विगई गिना है। पिंड निर्युक्ति में ऊंटनी का दूध अपेक्षा से अभक्ष्य बताया है। (२) ऊंटनी के दूध का दही नहीं बनता, अतः उसे छोड़कर शेष का दही विगई है। (३) इसी प्रकार इन चारों का मक्खन (४) और इसी प्रकार घी विगई, (५) तिल, अलसी, नारियल तथा सरसों (इसमें लाहा भी शामिल है)- इन चारों के तेल विगई में माने जाते हैं। अन्य तेल विगई में नहीं माने जाते, वे केवल लेपकृत माने जाते हैं (६) इक्षुरस या ताड़रस को उबालकर बना हुआ नरम व सख्त दोनों प्रकार का गुड़ विगई है-गुड़ के अन्तर्गत खांड, चीनी, बूरा, शक्कर, मिश्री आदि, इनसे बनी हुई मिठाइयां भी विगइ में मानी जाती हैं। (७) **मद्य**-शराब दो प्रकार की है- एक तो महुआ, गन्ना, ताड़ी के रस से बनती है, उसे काष्ठ जन्य मद्य कहते हैं, दूसरी आटे को सड़ा-गला कर उसे बनाया जाता है, उसे पिष्ट जन्य कहते हैं (दोनों प्रकार की शराब महा विकृति कारक होने से सर्वथा त्याज्य है)। (८) **मधु**-शहद तीन प्रकार का होता है। एक मधुमक्खी से, दूसरा कुन्ता नामक नमक उड़ने वाले जीवों से और तीसरा भ्रमरी के द्वारा तैयार किया हुआ होता है। ये तीनों प्रकार के शहद सर्वथा वर्जित हैं। (९) मांस भी तीन प्रकार होता है- जलचर, स्थलचर और खेचर जीवों का। जीवों की चमड़ी, चर्बी, रक्त, हड्डी आदि भी मांस के अन्तर्गत हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१०) **अवगाहिम** अर्थात् तली हुई वस्तुएं-मिठाइयां अवगा + हिम कहलाती है। सिद्ध हेम व्याकरण का **भावादित** ६-४-सूत्र से **(अवगाह)** के भाव अर्थ में **'इम'** प्रत्य लगने से अवगाहिम शब्द बना है। इसका अर्थ होता है-तेल-घी आदि से भरी कड़ाही में अवगाहन करके-डुबोकर जो खाद्य वस्तु, जब वह उबल जाय तब बाहर निकाली जाय। यानी तेल, घी आदि में तलने के लिए खाद्य पदार्थ डाला जाय और तीन बार उबल जाने के बाद उसे निकाला जाय, ऐसी वस्तु मिठाई, बड़े, पकोड़े या अन्य तली हुई चीजें भी हो सकती हैं और वे शास्त्रीय परिभाषा में विगई कहलाती हैं। वृद्ध आचार्यों की धारणा है कि अगर चौथी बार की तली हुई कोई वस्तु हो तो वह नीवी (निर्विकृतिक) के योग्य मानी जाती है। ऐसी नीवी (निविग्गई = विगई रहित) वस्तु योगोद्वहन साधु के लिए नीवी पच्चक्खान में कल्पनीय है। अर्थात्-तली हुई वस्तु विगई के त्याग में भी योगोदवहन करने वाले साधु-साध्वी नीवी पच्चक्खान में भी तीन घान के बाद की तली हुई मिठाई या विगई ले सकते हैं, बशर्ते कि बीच में उसमें तेल या घी न डाला हो। वृद्धाचार्य की ऐसी भी धारणा है कि जिस कड़ाही में ये चीजें तली जा रही हों, उस समय उसमें एक ही पुआ इतना बड़ा तला जा रहा हो जिससे कड़ाही का तेल या घी पूरा का पूरा ढक जाय तो दूसरी बार की उसमें तली हुई मिठाई आदि चीजें योगेद्वाहक साधु साध्वी के लिए नीवी पच्चक्खान में भी कल्पनीय हो सकती हैं परन्तु वे सब चीजें लेपकृत समझी जायेंगी। शेष विगइयों को भी निवियाती बनाना चाहिए। प्रवचन सारोद्धार में दूध निविगई केबारे में इस तरह कहते हैं-

अह पेया दुद्धट्टी, दुद्धावलेही य दुद्धसाडी य ।
पंच य विगइगयाइं, दुद्धंमी खीर सहि याइं ॥२२७॥

अंबिल जुअंमि दुद्धे दुद्धट्टी दक्खमीस रद्धंमि ।
पय साडी तह तंदुल चुण्ण य सिद्धंमि अवलेही ॥२२८॥

अर्थात्-"दूध निवियाता-निविगई में पहले थोड़ा चावल डालकर दूध को उबाला जाता है, वह पेया (दूध पाक) कहलाता है। दूसरा-कांजी आदि के साथ उबाला हुआ दूध 'दुग्घाटी' अन्य आचार्य इसे बहलिका-बली (जो नई प्रसूति) भैंस का गाढ़ा (जमा हुआ दूध), तीसरा-चावल के आटे के साथ उबाला हुआ अवलेहिका। आजकल ऐसा उपधान की नीवी में उपयोग होता है। चौथा द्राक्ष डालकर उबाला हुआ दूध पय:शाटी (वासूदी) और पांचवां अधिक मात्रा में चावल डालकर बनाया हुआ दूध 'खीर' कहलाती है। ये दूध विगई के पांच निविगई अर्थात् विकार रहित निवियाता कहलाती हैं। अब आगे प्रवचन सारोद्धार में दही की पांच निविगई कहते हैं -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दहिए विगइ गयाइं घोल वडा घोल सिहरणि करंभो।
लवण कण सहिय महियं, संगरि गाइम्मि अप्पडिए ॥२२६॥

अर्थात्-"दही विगई के निवियाता बनाने में पहले वस्त्र से छाना हुआ दही, उसमें तले हुए बड़े डाले वह 'दही बड़े' या दही का घोल डालकर बड़े बनाना वे घोल बड़ा, दूसरा -दही का पानी निकाले बिना, केवल वस्त्र से छाना हुआ घोल-मट्ठा, तीसरा-हाथ से कपड़े में शक्कर आदि के साथ में छाना हुआ दही वह शिखरणी (श्रीखंड), चौथा-दही में पकाया हुआ चावल आदि डालकर बनाया हुआ 'करम्बो' और पांचवां हाथ से मंथन किये दही में नमक आदि मसाला डालकर बनाया हुआ रायता- इसमें सांगरी आदि अन्य वस्तु डालने के बाद नीवियाता होता है। आगे उसी ग्रन्थ में घी विगई के पांच निवियाता कहते हैं-

पक्क घयं घय किट्टी, पक्कोसहि उवरि तरिय सप्पि च।
निब्भंजण-विस्संदण गा-य घय विगइ गयाइं ॥२३०॥

अर्थात्- "पहला-आवंले आदि औषधियां डालकर पकाया हो वह घी 'पक्वघृत', दूसरा-घी उबालते समय ऊपर तरी आई हो- घी का मैल जम जाय उसे घी की 'कीट्टी', तीसरा-औषधि आदि डालकर उबाला हुआ घी, ऊपर जमी घी की तरी 'पक्वौषधि तरी', चौथा-मिठाई आदि तलने के बाद का बढ़ा हुआ जला हुआ घी वह 'निर्भंजन' और पांचवा-दही की तर में आटा डाल कर बनाया हुआ फुलेर वह 'विस्यंदन' कहलाता है- ये घी विगई के पास निवियाता जानना। वृहत कल्प और पंचवस्तु की वृत्ति में तो 'आधे जले घी' में चावल डालकर बनाई हुई खुराक विशेष को 'विस्यंदन' कहते हैं। अब आगे तेल विगई के पांच निवियाता कहते हैं-

तिल्ल मल्ली तिल कुट्टी दद्धतिल्लं तहो सहुव्व रिअं।
लक्खाइदव्वपक्कं तिल्लं तिल्लंमि पंचेव ॥२३१॥

अर्थात्- पहला-तेल की मली- तेल से भरे पात्र में नीचे जमा हुआ मिट्टी सहित तेल का भाग, दूसरा 'तिल कुट्टी' - तिलवटी प्रसिद्ध है, तिल और सख्त गुड़ एकत्रित कूट कर एक समान बना देना उसे तिल कुट्टी कहते हैं। तीसरा- तेल में मिठाई आदि तलने के बाद बढ़ा हुआ एवं जला हुआ तेल, चौथा - तेल में उबाली हुई औषधि के ऊपर जमी हुई तेल की तरी और पांचवा-लाख आदि वस्तुओं में पकाया लक्षपाक आदि पक्व तेल। ये तेल निवियाता कहलाते हैं।" अब गुड़ विगई के पांच निवियाता कहते हैं -

अद्धकओ इक्खु रसो, गुलाबाणि अयं च सक्करा खंडा।
पाय गुडो गुलविगइ विगई गयाइं तु पंचेव ॥२३२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "पहला-आधा उबाला हुआ गन्ने का रस, दूसरा- खट्टे पूड़े आदि के साथ खाने के लिए गुड का पानी 'गुलपानी', तीसरा-प्रत्येक जात की शक्कर, चौथा-प्रत्येक जात की खांड, और पांचवा-गुड़ का उबाला हुआ रस-जो खाजा आदि के ऊपर चढ़ाया जाता है-गुड़ की चाशनी। ये गुड़ विगइ के पांच निवियाता जानना।" तली हुई विगई के पांच निवियाता कहते हैं-

एगं एगस्सुवरिं, तिण्होवरि बीयंग च जं पक्कं ।
तुप्पेणं तेण चिय, तइअं गुलहाणि याप भिई ॥२३३॥
चउत्थं जलेण सिद्धा, लप्प सिआ पंचमं तु पूअलि या ।
तुप्पडिय ताविआए, पारिपक्का तास मिलिए सुं ॥२३४॥

अर्थात् - "पहला-कड़ाही में डाला घी अथवा तेल पूरा पूरा ढक जाय इस तरह पहला घान हो वह मिठाई कहलाती है और दूसरी बार जो घान उतरे वह मिठाई निवियाता कहलाती है। दूसरा छोटी-छोटी पूरियां बहुत हों और तीन (घान) बार तलने के बाद, उसमें नया घी तेल न डाला हो, उसी में ही चौथी बार की तली हुई वह वस्तु। तीसरा-गुड़ आदि का रस बनाकर उसमें खील-लावा डालकर बनाए हुए लड्डू आदि। चौथा-मिठाई तलने के बाद उस घी-तेल से लिप्त बर्तन में पानी तथा आटा डालकर बनी हुई लपन श्री-राव-सिरा-हलवा आदि निवियाता हैं और पांचवां तवी, कड़ाही आदि में घी-तेल से बने परोंठे आदि, ये मिठाई- तली हुई विगई के पांच निवियाता होते हैं। इस तरह छः विगई की कुल तीस निवियाती वस्तु जानना।

उपर्युक्त दस प्रकार की विगइयों में मांस, मदिरा, मधु और मक्खन महा अनर्थ का-पाप का कारण होने से इन चार महा विगइयों को अभक्ष्य कहा है। शेष छः दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और मिठाई विगइयां भक्ष्य कहलाती हैं। इन भक्ष्य विगइयों में से एक विगइ से लेकर छः विगइयों तक का पच्चक्खान अलग-अलग रूप में लिया जा सकता है और एक साथ सभी विगइयों का पच्चक्खान भी नीवी पच्चक्खान के साथ लिया जा सकता है। इसमें जो आगार हैं, उनका अर्थ पूर्ववत् ससझ लेना चाहिए। विशेष आगार ये हैं -

गिहत्थ संसट्ठेणं अर्थात् गृहस्थ ने अपने लिए दूध में चावल मिलाए हों, उस दूध में चावल डालने के बाद अगर वह दूध उस बर्तन में चार अंगुल ऊपर हो, तो वह विगई नहीं माना जायेगा- वह संसृष्ट द्रव्य है और नीवी पच्चक्खान में ग्राह्य है किन्तु यदि दूध चार अंगुल से ज्यादा ऊपर हो तो वह विगई में शुमार है। इसी तरह दूसरी विगइयों में भी संसृष्ट द्रव्य का आगार प्रवचन सारोद्धार में इस तरह कहा है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खीर दहिं वि अडाणं, चतारि अ अंगुलाइ संसट्ठं ।
फाणि अतिल्ल घयाणं, अंगुलमेगं तु संसट्ठं ॥२२२॥

महु पुग्गलस्सयाणं अद्धं गुलयं तु होइ संसट्ठं ।
गुलपोग्गलन वणीए, अद्दामलगं तु संसट्ठ ॥२२३॥

अर्थात्- "दूध, दही और मदिरा में मिलाई वस्तु के ऊपर दूध, दही या मद्य चार अंगुल तक तैरता हो तो 'संसृष्ट द्रव्य' कहलाता है, विगई नहीं कहलाता । चार अंगुली से अधिक तैरता हो तो वह विगई गिना जाता है । और 'फाणित' अर्थात् प्रवाही गुड़ चावल, रोटी, आदि वस्तुएं साथ में मिली हों, वह प्रवाही गुड़, तेल या घी एक अंगुली तक तैरता रहे तो 'संसृष्ट द्रव्य' और अधिक तैरे तो वह विगई मानी जाती है । मिली हुई वस्तु के ऊपर मद्य और पुद्गल का रस आधा अंगुल तक तैरता हो तो 'संसृष्ट द्रव्य' और उससे अतिरिक्त तैरे तब विगई गिनी जाती है तथा सख्त गुड़ मक्खन आदि से मिश्रित की हुई वस्तु में वह गुड़ या मक्खन आदि घोटी संख्या में बहुत हो फिर भी प्रत्येक आर्द्र आमलक अर्थात् पीलु फूल के समान छोटे टुकड़े हों तो संसृष्ट द्रव्य कहलाता है और उससे बड़ा एक ही हो तो भी विगई गिनी जाती है । मतलब यह है कि गृहस्थ द्वारा संतुष्ट द्रव्य साधु-साध्वी नीवी में खा लें तो उसका पच्चक्खान इस आगार के कारण भंग नहीं होता है ।

"**उक्खित विवेगेण**"– अर्थात् आयंबिल से आगार में कहे अनुसार सख्त द्रव्य आदि का त्याग होते हुए भी कदाचित् गुड़ आदि किसी कठिन द्रव्य का कण रह जाय और वह खाने में आ जाय तो भी उक्त पच्चक्खान भंग नहीं होता है । किन्तु यह आगार (छूट) सिर्फ कठोर सख्त विगई के लिए है, नरम रसदार के लिए नहीं है । '**पडुच्चमिक्खएणं**' अर्थात्-रूखी रोटी आदि नरम रखने के लिए अल्पमात्रा में गृहस्थ द्वारा उसे चुपड़ दी जाती है, उसे खा लेने पर भी 'प्रतीत्य भक्षित' नामक आगार के कारण यह पच्चक्खान भंग नहीं होता । बशर्ते कि उसे खाने पर घी का स्वाद जरा भी मालूम न हो । अंगुली में लगा हुआ ममूली तेल-घी आदि रोटी आदि के लग जाय, उसे खाने पर भी यह पच्चक्खान भंग नहीं होता । परन्तु विशेष रूप से घी आदि डालकर खाना उक्त धार विगई के पच्चक्खान वाले के लिए कल्पनीय नहीं है । इस प्रकार विगई त्याग और उपलक्षण से नीवी-पच्चक्खान के आगार बताए हैं, उनकी यतना रखकर बाकी का **वोसिरई** = त्याग करता हूँ । त्याग की हुई किसी विगई में गुड़ का टुकड़ा रखा हो तो उसे उठाकर वह विगई ली जा सकती है । इस दृष्टि से गुड़ विगई को नौ और दूध आदि प्रवाही विगई के आठ आठ आगार समझ लेने चाहिएं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां शंका करते हैं कि नीवी के कहे हुए आगार विगई -त्याग रूप पच्चक्खान के अन्तर्गत बताए हैं, तो कोई तमाम विगइयों का त्याग न करके कुछ विगइयों की छूट रखता है, किसी या किन्हीं विगइयों का ही त्याग करता है, ऐसे विगई-पच्चक्खान में आगार किस तरह समझने चाहिएं ? इसका समाधान यह है कि-नीवी पच्चक्खान के साथ ही उपलक्षण से परिमित-विगई पच्चक्खान का भाव भी ग्रहण कर लेना चाहिए। उसमें भी वे ही आगार समझने चाहिएं अर्थात् नीवी में जो आगार बताए हैं, वे ही आगार (परिमित) विगई पच्चक्खान में भी हैं। इसी प्रकार एकासन के साथ बियासन तथा पोरसी के साथ साड्ढ पोरसी और पुरिमड्ढ के साथ अवड्ढ का पच्चक्खान समझ लेना। अप्रमत्तता की बुद्धि होने से उस पच्चक्खान के साथ बोलना अनुचित नहीं है। एकासनादि सम्बन्धी आगार एक सरीखे होने से बियासना में पोरसी साड्ढ पोरसी आदि में समझ लेना। क्योंकि चउविहार में जो आगार हैं, वे ही तिविहार, दुविहार पच्चक्खान में आगार हैं, उसी तरह विआसण आदि व एकासन आदि के आगार आसनादि शब्द की समानता से युक्त हैं।

यहां और शंका करते हैं कि-बियासणा आदि पच्चक्खान यदि अभिग्रह रूप हैं तो उसके चार आगार होने चाहिएं, आधिक क्यों ? इसका समाधान यों करते हैं कि-एकासन आदि के समान ही उसका ग्रहण, पालन, रक्षण आदि होने से उसके साथ समानता है, इसलिए बियासन में भी उतने ही आगार जानने चाहिएं। अन्य आचार्यों की मान्यता है कि-बियासन आदि के पच्चक्खान भूल पच्चक्खानों में नहीं गिनाए हैं। मूल में एकासन आदि दस पच्चक्खान ही माने गये हैं, अतः इतने ही ठीक हैं। यदि कोई एकासन आदि पच्चक्खान करने में असमर्थ हो तो वह अपनी भावना और शक्ति के अनुसार पोरसी आदि बड़े पच्चक्खान कर सकता है। इससे भी अधिक लाभ प्राप्ति के अभिलाषी को उस पोरसी आदि के साथ गंठि सहित, मुट्ठि सहित आदि पच्चक्खान करना उचित है, क्योंकि गंठि सहित आदि पच्चक्खान भी अप्रमत्त दशा को बढ़ाने वाले और फलदायी हैं। ये पच्चक्खान स्पर्शनादि गुण वाले होते हैं और सुपच्चक्खान कहलाते हैं। अतः महा फलदायी होते हैं। श्री देव सूरी कृत यति दिनचर्या में कहा है कि-

जे निच्च ममत्ता, गंठिं बंधति गंठि सहि अस्स ।
सग्गा पवग्ग सुक्खं तेहिं निबद्धं संगढिम्मि ॥५६॥

भणि ऊण नमुक्कारं, निच्चं विस्सरण विज्ज आ धन्ना।
छोडंति गठि सहिअं, गंठिं सह कम्म गंठि हिं ॥५७॥

इइ कुणई अब्भासं, अब्भासं सि पुरस्स जइ महसि(इ)।
अणसण सरिसं पुण्णं वयंति एअस्स समयण्णु ॥५८॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्-"जो अप्रमत्त आत्मा हमेशा गंठि सहित पच्चक्खान की गांठ बांधता है। वह स्वर्ग और मोक्ष को सुख की अपने लिए गांठ बांधता है। (५६) ॥ और उसका विस्मरण किये बिना वह धन्य पुरुष श्री नवकार मंत्र स्मरण करके गंठि सहित की गांठ छोड़ता है, वह कर्म रूपी गांठ को छोड़ता (खोलता) है। (५७) ॥ इस तरह जो गंठि सहित का अभ्यास करता है वह शिवपुर के मार्ग का अभ्यास करना चाहता है। गीतार्थ महापुरुषों ने इस गंठिसहित पच्चक्खान का फल अनशन करने के जितना कहा है। (५८) ॥"

जो रात में चौविहार का पच्चक्खान करता है और दिन में एक स्थान पर ताम्बूल-पान आदि खाकर फिर मुख शुद्धि आदि करके विधिपूर्वक गंठि सहित पच्चक्खान करता है और हमेशा ऐसासना करता है, उसको एक महीने में चौविहार २९ (उनतीस) उपवास का फल मिलता है और जो बार भोजन (बियासना) करता है उसका चौविहार अट्ठाईस उपवास का फल मिलता है। इस तरह वृद्ध महापुरुषों ने कहा है। क्योंकि एक बार भोजन तथा तम्बोल जल आदि खाने में प्राय: दो घड़ी समय लगता है, वह तीस दिन में साठ घड़ी रूप एक दिन होता है, शेष दिनों में अनशन होता है। अधिक बार भोजनादि करने वाले को भी प्रतिदिन चार घड़ी गिनते महीने में से ३० × ४ = १२० घड़ी-दो दिन जात हैं, शेष अट्ठाईस दिन चारों आहार का त्याग इस पच्चक्खान से जाता है। श्री पद्म चरित्र में भी कहा है कि-

भुंजइ अणं तरेणं, दुन्नि उ वेलाउ जो निओगेणं ।
सो पावइ उपवासं, अट्ठा वीसं तु मासेणं ॥१॥

इक्कंपि अह मुहुत्तं परिवज्जइ जो चउव्वि हारं ।
मासेणं तस्स जायइ उपवास फलं तु पर लोए ॥२॥

दस वरिससहस्साऊं भुंजइ जो अण्ण देव या भतो ।
पलि ओवम कोडी पुण, होइ ठिई जिण वर तवेण ॥३॥

एवं मुहुत्त वुड्ढी, उव वासे छट्ठ अट्ठ माईणं ।
जो कुणइ जहा थामं, तस्स फलं तारिसं भणिअं ॥४॥

अर्थात्-"लगातार एक महीने तक प्रतिदिन जो दो ही बार भोजन करता है, उसे महीने में अट्ठाईस उपवास का फल प्राप्त होता है। (१) ॥ प्रतिदिन एक मुहूर्त्त प्रमाण भी चउविहार का पच्चक्खान एक महीने तक करता है, उसे परलोक में एक उपवास का फल मिलता है। (२) ॥ अन्य देवों के भक्त (जैनेतर) जिस तप से दस हजार वर्ष का देव आयुष्य भोगता है वह श्री जिनेश्वर भगवान कथित उतना तप करने से एक करोड़

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पल्योपम का देव का आयुष्य भोगता है । (३) ॥ इस तरह एक एक मुहूर्त्त की वृद्धि से एक एक उपवास का फल अधिक गिनते हमेशा चार घड़ी चौविहार करने वाले को एक महीने में छठा का और छह घड़ी चौविहार करने वाले को एक महीने में अट्ठम का फल मिलता है । इस तरह एक एक एक मुहूर्त्त चौविहार अधिक करने वालों को एक एक उपवास का फल बढ़ता जाता है । इस प्रकार शक्ति अनुसार जो जितना अधिक करे, उसे उतना अधिक फल मिलता है । (४) ॥"

इस कथन से गंठि सहित पच्चक्खान के ऊपर जो फल कहा है वह उचित है । इस तरह चिन्तन करना । पच्चक्खान में सूत्र पाठ तथा अर्थ का यह चौथा और पांचवां द्वार पूर्ण हुआ ।

६. पच्चक्खान की शुद्धि- अब छठे द्वार के अन्दर पच्चक्खान की छः शुद्धि कहते हैं । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

सा पुण सद्दहणा जाण णाय विणय अणुभाषणा चेव।
अणु पालणा विसोही, भाव विसोही भवे छट्ठा ॥१५८६॥

अर्थात्- "(१) श्रद्धा शुद्ध, (२) ज्ञान शुद्ध, (३) विनय शुद्ध, (४) अनुभाषण शुद्ध, (५) अनुपालन शुद्ध और (६) भाव शुद्ध- इस तरह छः प्रकार की पच्चक्खान की शुद्धि मानी गयी है तथा आवश्यक भाष्य में कहा है कि-

पच्चक्खाणं सव्वण्णु देसिअं जं जहिं जहा काले ।
तं जो सद्दहई नरो, तं जाणसु सद्दहण सुद्धं ॥२४६॥

पच्चक्खाणं जाणइ, कप्पे जं जंमि होइ कायव्वं ।
मूल गुणे उत्तर गुणे तं जाणसु जाणणा सुद्धं ॥२४७॥

किइ कम्मस्स विसुद्धिं, पाउंजई जो अहीणं मइ रित्तं ।
मण वयण काय गुत्तो, तं जाणसु विणयओ सुद्धं ॥२४८॥

अणु भासइ गुरु वयणं, अक्खर पयवं जणेहिं परिसुद्धं।
पंजलिउडो (अ) भिमुहो तं जाणऽणु भासणा सुद्धं॥२४९॥

कंतारे दुब्भिक्खे, आयं के वा महासमुप्पन्ने ।
जं पालिअं न भग्गं, त जाणसु, पालणा सुद्धं ॥२५०॥

रागेण व दोसेण व परिमाणे व न इसिअं जं तु ।
तं खलु पच्चक्खाणं भाव विसुद्ध मुणेयव्वं ॥२५१॥

अर्थात्- उसमें जो पच्चक्खान जब, जिस तरह, जिस विषय में सर्वज्ञ परमात्मा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने करने को कहा है- उस पच्चक्खान को तब उसी तरह से श्रद्धापूर्वक जो मनुष्य करने योग्य मानता है उसे प्रथम शुद्ध श्रद्धावान समझना । (१) ॥ मूल अथवा उत्तर गुण में, जिस कल्प में जो पच्चक्खान करने योग्य हो, उसका जिसे ज्ञान हो उसका पच्चक्खान दूसरा शुद्ध ज्ञान जानना । (२) ॥ मन वचन और काय गुप्ति वाला आत्मा पच्चक्खान करते समय कृति कर्म अर्थात् गुरु वंदन की विधि में कम ज्यादा किए बिना सम्पूर्ण गुरु महाराज का वन्दन रूप विनय पूर्वक सावधानी रखता है, उसका पच्चक्खान तीसरा विनय शुद्ध होता है । (३) ॥ पच्चक्खान करते समय गुरु महाराज के सम्मुख दो हाथ जोड़कर खड़ा रहा आत्मा, गुरू महाराज जो पाठ उच्चारण करें उसके साथ में स्वयं भी, अक्षर, पद तथा व्यंजन धीरे-धीरे बोले उसका पच्चक्खान चौथा अनुभाषण शुद्ध है । (४) ॥ जंगल में अथवा दुष्काल का समय हो, किसी समय आहार आदि न मिला हो अथवा अचानक महा व्याधि उत्पन्न हो जाय या मरणान्त कष्ट के समय में भी जो पच्चक्खान का शुद्ध पालन करता है उसका पच्चक्खान पांचवां पालन शुद्ध समझना । (५) ॥ राग से अथवा द्वेष से परिमाण दूषित न करे, समय वस्तु आदि में कम ज्यादा न करे, उसे छठा भाव विशुद्ध समझना । (६)॥'' अथवा प्रवचन सारोद्धार में कहा है कि-

फासिअं पालिअं चेव सोहिअं तीरिअं तहा ।
किट्टिअ मारा हि अं, चेव एरि संमि जइ अव्वं ॥२१२॥

उचिए काले विहिणा, पत्तं जं फासिअं तयं भणिअं ।
तह पालिअं च असई, सम्मं उव ओग पडि अरिअं ॥२१३॥

गुरु दत्त सेस भोअण सेवणाए अ सोहिअं (जाण)।
पुण्णे वि थेव काला वत्थाणा तीरिअं होई ॥२१४॥

भोअण काले अमुगं, पच्चक्खाणं ति सरइ किट्टिअयं।
आराहिअं पयारेहिं, सम्ममेएहिं पडिअरि अ ॥२१५॥

अर्थात्- ''इसी के समर्थन में सभी प्रत्याख्यानों की सम्यक् शुद्धि के हेतु कहा है-(१) फासित, (२) पालित, (३) शोधित, (४) तीरित, (५) कीतित और (६) आराधित- इस तरह छः शुद्धि कही हैं, ऐसे शुद्ध पच्चक्खान के लिए उद्यम करना । उसमें (१) **फासिय** (स्पर्शित)- प्रत्याख्यान के समय विधिपूर्वक उसका स्पर्श प्राप्त होना (२) **पालिय** (पालित) - ग्रहण किए हुए पच्चक्खान का बार-बार उपयोग पूर्वक स्मरण रखकर उसे भली भांति सुरक्षित रखना-भंग होने से बचाना या पालन करना । (३) **सोहियं** (शोभित)- अपने लिए आए हुए आहार में से गुरु, तपस्वी, बाल ग्लान, वृद्ध आदि को पहले देकर बचे हुए आहार को स्वयं सेवन करना । (४) **तोरिय** (तीरित) -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पच्चक्खान की अवधि पूर्ण हो जाने के बाद थोड़े समय तक स्थिरता करके बाद में आहार करना। (५) **कोट्टियं** (कीर्तित) - प्रत्याख्यान के अनुरूप आहार करते समय यह याद करके कि मैंने आज अमुक पच्चक्खान अंगीकार किया है, फिर भोजन करे अथवा जो प्रत्याख्यान ग्रहण किया है उसकी महत्ता का बखान करना-कीर्तन करना भी कीर्तित कहलाता है और (६) **आराहिय** (आराधित)- इन सभी प्रकार की शुद्धि के साथ आगारों को भली भांति मद्दे नजर रखते हुए लिए हुए पच्चक्खान को अमल में लाना वास्तव में अराधना करना।" ये पच्चक्खान स्पर्शानादि गुण वाले होने से सुप्रत्याख्यान कहलाते हैं। पच्चक्खान की शुद्धि नामक यह छठा द्वार कहा। अब उसके फल द्वार कहते हैं।

(७) **पच्चक्खान का फल**- पच्चक्खान का अनंतर और परस्पर- दो प्रकार के फल बताते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

पच्चक्खाणं मि कए, आसव दाराइं हुंति पिहि आइं।
आसव दाराप्पिहणे, तण्हा वुच्छे अणं होई ॥१५६४॥

तण्हा वुच्छे एण य, अउलोव समो भवे मणुस्साणं।
अउलोव समेण पुणो, पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥१५६५॥

तत्तो चरित्त धम्मो, कम्म विवेगो अपुव्व करणं च।
तत्तो केवल नाणं, सासय सोक्खो तओ मोक्खो ॥१५६६॥

अर्थात्- "पच्चक्खान करने से आने वाले कर्मों के द्वार-आश्रव बन्द हो जाते हैं, इससे इच्छा-तृष्णा का उच्छेद होता है ।१॥ तृष्णा छेदन (शान्त) होने से मनुष्य को अनुपम उपशम भाव प्रगट होता है, इस कारण से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है ।२॥ शुद्ध पच्चक्खान से साधक निश्चय से चारित्र धर्म का यथार्थ स्वरूप प्राप्त करता है। इससे पूर्व कृत (पुराने) कर्मों की निर्जरा होती है। इससे अपूर्व करण आठवां गुण स्थानक रूप गुण प्रगट होता है, जिससे उत्तरोत्तर गुण स्थान की प्राप्ति करते करते साधक एक दिन केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है और केवल ज्ञान से शाश्वत सुख-स्थान रूप मोक्ष फल प्राप्त करता है अर्थात् आत्मा द्रव्य भाव कर्म रूप बेड़ियों में से मुक्त होता है। (३)॥ इस तरह पच्चक्खान परम्परा से मोक्ष फलदाता है।" यहां गुरु वंदन तथा पच्चक्खान की विधि समाप्त हुई।

पच्चक्खान के समान दूसरे छोटे नियम भी वंदन पूर्वक गुरु महाराज के पास में ही अंगीकार करने चाहिएं और ऐसे नियमों में भी अनाभोग-सहसात्कार आदि चार आगार तो रखने चाहिएं, जिससे विस्मृति आदि के योग से त्याग की वस्तु उपभोग हो जाय तो भी लिए हुए नियम-व्रत का भंग नहीं होता, अतिचार ही लगता है जो कि आलोचना लेने से शुद्ध हो जाता है। आगार रखने के बाद भी त्याग हुई वस्तु का अंश

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मात्र भी ख्याल पूर्वक भोगा जाय तो पच्चक्खान अवश्यमेव भंग होता है, फिर भी कभी दुष्ट कर्मोदय की आधीनता से जान बूझकर नियम भंग हो जाय तो भी धर्मार्थी आत्मा को उसका पालन आगे चालू रखना चाहिए, यही कल्याण का मार्ग है। एक बार नियम भंग हो जाय तो अब क्या करना ? ऐसा समझकर नियम छोड़ देने से आत्मा का अधः पतन होता है। इसलिए किसी समय नियम भंग जाय तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए, उसका पालन प्रारंभ रखना चाहिए और पंचमी, चतुर्दशी आदि तिथि की आराधना के लिए तप अंगीकार किया हो, गुरुदेव के पास तिथि उच्चारण किया हो या करते हों, उसमें भी तप करने के दिन अन्य तिथि का भ्रम आदि होने से यदि सचित्त पानी, ताम्बूल या कुछ भोजन भी खा गया हो, फिर भी 'तप का दिन है' ऐसी जानकारी होते ही तुरन्त मुखं में डाली वह वस्तु निगलना नहीं, मुख में से निकालकर अचित्त-शुद्ध पानी से शुद्ध करके शेष समय तप में व्यतीत करना- उसके बाद खना-पीना नहीं। यदि उस दिन पूर्ण रूप से भोजन करने के बाद फिर जानकारी में आए तो दूसरे ही दिन भूल के दंड रूप में वह तप कर लेना और वह पूर्ण करने के बाद भी दूसरा उतना तप अधिक करना। ऐसा करने से तप का भंग नहीं होता परन्तु अतिचार ही लगता है। 'आज तप करने की तिथि है' इस तरह जानने के बाद केवल एक दाना भी निगल जाय या खा जाय, तो उसका नियम अवश्य भंग होता है तथा दिन का अथवा कल्पनीय अकल्पनीय वस्तु की शंका होने पर भी कल्पनीय वस्तु का उपयोग करे तो भी तप का भंग ही होता है। क्योंकि जो शंका होने पर भी खा लेता है उसको व्रत भंग का भय नहीं होने से कल्पनीय खाय तो भी भंग ही माना जाता है। यदि विशेष बीमारी के कारण अथवा भूत आदि का उपद्रव या ऐसे अन्य दोष के कारण, जीव की पराधीनता से, बेहोश अवस्था में तथा सर्प डंक आदि आकस्मिक संकट के कारण या असमाधि आदि भयंकर कारणों से तप करने के दिन वह तप न कर सके तो भी "**सव्व समाधि वत्तियागरेण**" आगार से नियम भंग नहीं होता या तप चालू रहता है इत्यादि विवेक श्राद्ध विधि ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक कहा है उसके अनुसार समझ लेना चाहिए।

॥ इति पच्चक्खान अधिकार ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रावक का कर्त्तव्य

अब प्रत्याख्यान अधिकार कह कर श्रावक के कर्त्तव्य को मूल श्लोक द्वारा कहते हैं-

धर्मोपदेश श्रवण-मशनादि निमन्त्रणम् ।
गत्वा यथोचित्ते स्थाने, धर्म्यमर्थार्जनं तथा ।।६३।।

अर्थात्- "उसके बाद धर्म-उपदेश सुनना, गुरु महाराज को आहार पानी आदि बहोराने के लिए विनती करना और यथा योग्य स्थान पर जाकर धर्म का रक्षण हो- इस तरह धन उपार्जन करना ।"

व्याख्या- श्रुत धर्म का-चारित्र धर्म का श्रवण करना गृहस्थ को विशेष धर्म है, वैसे ही आहार पानी आदि के लिए निमंत्रण देना भी गृहस्थ का विशेष धर्म है इसे आगे कहा जायेगा । 'श्रावण करे उसे श्रवक कहते हैं' यह व्याख्या वस्तुत: धर्म श्रवण करने से ही सार्थक बनती है । इसलिए श्रावक को धर्म श्रवण करना चाहिए । इसकी विधि श्राद्ध दिन कृत्य के प्रस्ताव दो में इस तरह कही है-

नासन्ने नाइ दूरंमि, नेव उच्चासणे विऊ ।
समासणं च वज्जिज्जा, चिट्ठिज्जा धरणी अले ।।८६।।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरूं समासज्ज, चिट्ठिज्जा गुरुणं तिए ।।८७।।

नेव पल्हत्थिअं कुज्जा, पक्ख पिंडं च संजए ।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणं तिए ।।८८।।

निद्दा विगहा परिव ज्जि एहिं गुत्तेहिं पंजलिउडहिं ।
भत्ति बहुमाण पुव्वं, उव उत्तेहिं सुणेयव्वं ।।८९।।

अर्थात्- "श्वासोच्छ्वास आदि लगने से आशतना होती है, इसलिए गुरु महाराज के अति नजदीक न बैठे, दूर से सुनायी न दे इसलिए अति दूर भी न बैठे , विनय का जानकार श्रोता गुरु से ऊंचे आसन अथवा समान आसन पर भी नहीं बैठे, परन्तु नीचे के आसन पर बैठे । अविनय का कारण होने से नजदीक-पास में न बैठे या अन्य गुरु वंदनादि करने वालों को व्याघात हो इस तरह नजदीक सामने भी नहीं बैठना । गुरु को बारम्बार पीछे जाना पड़े, इसलिए पीछे भी न बैठे तथा उनकी आशातना-अविनय हो- इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उनकी सांथल के ऊपर अपना पैर रखकर उनके अति नजदीक में भी न बैठना और पालथी लगाकर न बैठे, दो भुजाओं से पैर बांधकर न बैठे या पैर लम्बे चौड़े करके भी न बैठना। इस तरह विधि पूर्वक बैठा हुआ श्रावक निद्रा-विकथाओं का त्याग करके दो हाथ से मस्तक पर अंजलि करके दो कान से गुरु के वचनामृत का पान करे । इस तरह से भक्ति बहुमानपूर्वक उपयोग से धर्म का श्रवण करना चाहिए ।''

इत्यादि आगम में कहे अनुसार विधि से गुरु महाराज की आशातना का त्याग करने के लिए तीन हाथ के अवग्रह के बाहर - दूर त्रस आदि जीवों से रहित निरवध स्थान पर बैठ कर धर्म - उपदेश सुनना चाहिए । धर्म का श्रवण करने से अज्ञान का नाश होता है, इससे तत्त्व का सम्यग् बोध होता है, इससे शंका का समाधान होता है, धर्म में सुदृढ़ता, जुआ आदि व्यसन रूपी अधर्म का त्याग होता है, धर्म रूपी सन्मार्ग की प्राप्ति, कषाय आदि दोषों का उपशम (शान्त) होता है, विनयादि गुणों की प्राप्ति के लिए उद्यम, कुसंग का त्याग, सुसंग की प्राप्ति, संसार के प्रति निर्वेद (अरुचि), श्रावक धर्म या साधु धर्म का सम्यक् स्वीकार तथा उस धर्म की सर्व प्रकार से 'एकाग्रता रुप आराधना ' इत्यादि अनेक प्रकार से प्रगट रूप में लाभ होता है । इस तरह महान् लाभ का कारण होने से धर्मोपदेश सुनना श्रावक का विशिष्ट कर्तव्य है ।

धर्म - उपदेश सुनने के बाद श्रावक का कर्त्तव्य कहते हैं कि - **'अशनादि नियन्त्रणम्'** अर्थात् प्रसंग के अनुसार गुरु महाराज के चरणों में पड़ कर नम्रता पूर्वक उनको दान देने की विनती करे - 'हे भगवन्त् ! आप श्री जी की इच्छानुसार मेरे ऊपर कृपा करके, निर्दोष और चारित्र में कल्पनीय आहार-पानी, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण तथा अन्य वस्तु अपनी आवश्यकता अनुसार ग्रहण करके वापिस देने योग्य प्रातिहारिक-पाट चौकी तख्ता, शय्या, संथार या औषध आदि अनेक जात की वस्तुएं इत्यादि ग्रहण करने की कृपा करो !' इस तरह सारी नाम पूर्वक विनती करना, गुरु को जो उपयोगी हो उसका भक्ति पूर्वक दान देना । उप लक्षण से उन्हें अन्य भी जो संयम के लिए करणीय हो, उसे भी याचना करके वह कार्य करना । श्राद्धदिन कृत्य में कहा है कि-

पच्चक्खाणं च काऊणं, पुच्छए सेस किच्चयं ।
कायव्वं च मणे काउं, तओ अण्णं करे इमं ।।२-८४।।

अर्थात् - ''गुरु महाराज की साक्षी से पच्चक्खाण करके, गुरु का अन्य शेष जो करने योग्य कार्य हो वह पूछे और गुरु महाराज जो काम कहें उसे मन में धारण करके

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ख्याल रखकर अच्छी तरह से पूर्ण करे । फिर अन्य भी साधु-साध्वी का यथा योग्य औचित्य करके 'श्रावकदि को भी नमस्कार करता हूँ' इस तरह कहे ।''

इस गाथा के अन्दर 'पूछे' शब्द आया है, इससे गुरु महाराज से पूछे कि - 'हे भगवन्त ! आप को चारित्र धर्म का पालन करते समय शरीर सुखशाता पूर्वक है ? संयम यात्रा सुख पूर्वक होती है ? रात्रि सुख पूर्वक पूर्ण हुई ? आप शरीर से निराबाध - सुखी हो ? कोई व्याधि तो नहीं है ? किसी औषध आदि की आवश्यकता तो नहीं है ? अगर किसी पथ्य आदि वस्तु की जरूरत हो तो कहिए ?' इत्यादि सारा पूछना चाहिए । इससे बहुत सारी कर्म निर्जरा होती है । उपदेश माला में कहा है कि -

अभिमगण वंदण नमं ससेण पडि पुच्छणेण साहूणं।
चिर संचिअंपि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवेइ ।।१६६।।

अर्थात् - ''साधु मुनिराजों के सम्मुख स्वागत के लिए जाने से, उनको वंदन नमस्कार करने से, और उन्हें सुखशाता पूंछने से, चिर संचित कर्म दल भी क्षणमात्र में क्षय हो जाते हैं । इसलिए सुसाधु को सद्भाव से नमस्कारादि करना चाहिए ।''

जो कि - गुरु वंदन के समय सामान्य रूप में '**इच्छाकार सुह राइ सुह तप शरीर निराबाध**' इत्यादि पाठ से सुखशातादि पूछा जाता है, फिर भी धर्मश्रवण के बाद गुरु की स्थिति जानने के लिए अथवा दिक्कत दूर करने लिए पुनः विशेष पूछना और निमंत्रण देना युक्ति संगत है । वर्तमान काल में श्रावक ऐसा निमंत्रण द्वादशावर्त्त वन्दन के बाद में करता है । जिन्होंने प्रतिक्रमण गुरु के साथ में किया है, वे सूर्योदय के बाद उपाश्रयादि से चले गये हों और जिन्होंने गुरु के पास प्रतिक्रमण या वृहद् वन्दन भी नहीं किया हो वे वंदन व्याख्यानादि के अवसर पर इस तरह सुखशाता आदि पृच्छा करते हैं । यह श्रावक की विधि ग्रन्थकार के समय प्रचलित थी, परन्तु आजकल इस तरह करने वाला श्रावक कोई विरला ही दिखता है । इसलिए आत्मार्थी श्रावक को ऐसी हितकारी विधि अवश्य करनी चाहिए । उसके बाद विधि पूर्वक साधु-साध्वी आदि श्री संघ का वंदन करे । इसके लिए श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

साहू साहूणी माईणं काउण च जहो चिअं ।
समणो वास गमाईणं वंदे वंदे त्ति जं पइ ।। २-८५ ।।

इसकी टीका में कहा है कि- ''जैसे साधु - साध्वी को वंदन करे वैसे ही आदि शब्द से ओसन्ना - शिथिल मुनि को भी यथोचित्त वंदन थोभ वंदन या नमस्कार आदि करके फिर श्रावक आदि को भी 'मैं वंदन करता हूँ-मैं वंदन करता हूँ' ऐसा कहकर वंदन करे।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन ओसन्न आदि को वंदन करने का प्रसंग इस तरह आता है कि - जो जिन मंदिर अमुक अमुक का परिग्रहीत होता है उस निश्राकृत चैत्य में भी ओसन्नओं की संभावना होने से उनको वंदन करने का प्रसंग आता है, इससे साधु-साध्वी आदि को 'यथोचित-(जिसको जो योग्य हो ऐसा, वृहद वंदन, थोभ वंदन या वचन से नमस्कार मात्र करके' ऐसा समझना । आसन्नओं को भी कारण से नमस्कार आदि करने का साधु के उदेश्य से सूत्र में पूर्व महर्षियों ने बताया है । यहाँ आवश्क निर्युक्ति में प्रश्न किया है कि-

जइ लिंगमप्प माणं, न नज्जई निच्छएण को भावो ।
दुट्ठूण समण लिंगं, किं कायव्वं तु समणेणं ? ।।११२४।।

अर्थात् - "जो द्रव्यलिंग (साधु वेश) को अप्रमाणिक अर्थात् वंदन में कारणभूत न माने तो छद्मस्थ जीव 'किसको साधुता का भाव है और किसको नहीं ?' वह यर्थाथ नहीं जान सकते, असंयमी भी लब्धि (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) आदि कारण से सुसंयमी के समान और कुवृष्टि न्याय से कारण पड़ने पर संयमी भी बाहर से असंयमी जैसा वर्ताव करता है, इस तरह बाह्य वेश प्रमाण भूत नहीं माना जाय और अन्दर के भावों को जानने की शक्ति न हो तब साधु को अन्य साधु वेश वालों को देखकर क्या करना चाहिए ?" इसका समाधान आवश्यक निर्युक्ति की आगे की गाथा में कहा है -

अपुंप्पं दट्ठणं, अब्भूट्ठाणं तु होइ कायव्वं ।
साहुंमि दिट्ठपुव्वे, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ।। ११२५ ।।

अर्थात् - "अपूर्व अर्थात् अजान साधु को देखकर 'अभ्युत्थान' यानी सम्मुख भाव से खड़े होना, हाथ में से दण्डा लेना इत्यादि उचित करना, क्योंकि - श्री कालिकाचार्य जी अपने प्रशिष्य के पास अनजाने बनकर आए थे, वैसे ही कोई विद्यादि के अतिशय वाला आचार्य आदि योग्यता जानकर विद्यादि देने आया हो, उसका विनय न करे तो अविनीत समझकर उसको विद्या आदि नहीं देता, इसलिए अजान का भी उचित विनय करना चाहिए । जानकार आए तो वे दो प्रकार के होते हैं- एक उद्धत विहारी अर्थात निर्दूषण चारित्रवंत और दूसरा शीतल विहारी-शिथिलाचारी । उसमें उद्धत विहारी पधारें तो उनके 'बहुश्रुतता' आदि जैसे गुण होते हैं वैसा उनका 'अभ्युत्थान-वंदन' आदि तथा योग्य करना और यदि पूर्व परिचित 'शिथिलाचारी' हो तो उसका उत्सर्ग से तो अभ्युत्थान वंदनादि कुछ करना नहीं, कारण से उनके विषय में जो विधि करने की हो वह कहते हैं, वृहत्कल्प भाष्य में कहा है कि :-

मुक्क धुरा संपाडग सेवी चरण करणपब्भट्ठे ।
लिंगावसेस मित्ते, जं कीरइ तत पुणो वोच्छं ।। ४५४४ ।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''संयम की कष्ट रूप गाड़ी का जुआ जिसने छोड़ दिया हो, शासन की अप भ्राजना का भय छोडकर प्रगट रूप में जो मूल गुण- उत्तर गुण रूप चारित्र में दूषण सेवन करता हो और इससे ही महाव्रत आदि मूल गुण या पिंड विशुद्धि आदि जिसमें रहे न हों, ऐसे केवल बाह्य वेशधारी के विषय में क्या करना चाहिए ?'' वह कहते हैं :-

ऊपर 'प्रगट पने' कहने रो यह नक्की हुआ कि कारण से भविष्य में विशेष लाभ के लिए वर्तमान दोष को सेवन करने वाला तो वन्दनीय है ही, वृहत्कल्प भाष्य में पासत्थाओं के वंदनीय अवंदनीय रूप के विचार प्रसंग पर कहा भी है कि -

सं किन्न वराह पदे, अणाणु तावी अ होइ अवरद्धे ।
उत्तर गुण पडिसेवी, आलंबण वज्जिओ वज्जो ।। ४५२४।।

अर्थात्- ''जो उत्तर गुणों में अति दूषण सेवन करने से संकीर्ण चरित्र वाले होते हैं अर्थात् जिसके उत्तर गुणों में बहुत दूषण लगे हों और जिसे उसका पश्चात्ताप न हो ऐसा निष्कारण उत्तर गुणों का विराधक- त्यागी जानना अर्थात् उसे वन्दन नहीं करना। ''

इससे यह निश्चय हुआ कि - मूल गुण से दुष्ट तो नियम से चारित्र रहित होने से स्पष्ट अवन्दनीय ही है, उसके विषय में तो वंदन का विचार भी नहीं करना । विचार उत्तर गुण से दूषित के लिए करना है अर्थात् उत्तर गुणों में दूषित हो और वह भी विशिष्ट कारण के बिना ही निष्कारण दोष सेवन करता हो- उसका तो त्याग करना, वंदन नहीं करना । यहां शंका होती है कि - इस तरह से तो अर्थापत्ति से यह सिद्ध हुआ कि - 'उत्तर गुण में सकारण दोष सेवन करने वाला वंदनीय ही है - यह बराबर है ?' इसका समाधान करते हैं - 'केवल सकारण उत्तर गुण दूषित ही नहीं परन्तु सकारण मूल गुण दूषित भी वन्दनीय है ।' वह किसलिए ? इस तरह पूछते हो तो सुनो :-

हिट्ठुट्ठणठिओ विहु, पावयणी गणट्ठया उ अधरे उ ।।
कड जोगि जं निसेवइ, आइनिअंट्ठुव्व सो पुज्जा ।।४५२५।।

अर्थात् - ''शास्त्र रहस्य के जानकार प्रावचनिक आचार्य और गच्छ का उपकार करने के लिए यदि गीतार्थ आवश्यक कारण से संयम के जघन्य स्थान में शैथिल्य को सेवन करता हो तो भी उस गीतार्थ को अधिक लाभ के लिए अपवाद सेवन करने वाला होने से प्रथम पंक्ति के साधु (पुलाक) के समान पूज्य समझना ।'' क्योंकि पुलाक के लिए कहा है कि -

कुणमाणो वि अ कडणं (अकज्जं) कय करणो णेव दोसमब्भइ।
अप्पेण बहुं इच्छइ विसुद्ध आलंवणो समणो ।।४५२६।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – "शासन हित आदि करण में चक्रवर्ती के सैन्य को चकनाचूर करने पर भी कृत-कर्तव्य पुलाक निर्ग्रन्थ मुनि को अल्पमात्र भी दोष नहीं लगता, क्योंकि ज्ञानादि गुणों की रक्षा के शुद्ध कारण से वह अल्प विराधना करके भी संयम का बहुत लाभ चाहता है ।" आगे उसका दृष्टान्त कहते हैं कि –

तुच्छम बलबमाणो, पडइ निरालंबणा अ दुग्गंमि ।
सालंब णिरालंबे, अह दिट्ठं तो णि सेवंते ।। ४५३१ ।।

अर्थात् – "कोई गड्ढा आदि को पार करते या लांघते समय मनुष्य यदि निर्बल आलम्बन को पकड़ता है, या बिल्कुल पकड़ता ही नहीं है तो वह गड्ढे कुएं आदि में गिरता है एवं मजबूत आलम्बन पकड़ने वाला नहीं गिरता । इस तरह यहाँ भी जो केवल मन: कल्पित सामान्य कारण से या बिना कारण से ही मूल गुण व्रतादि या उत्तर गुण – पिंड विशुद्ध आदि में दूषणों का सेवन करता है वह संसार रूपी गड्ढे में गिरता है । यदि तीर्थ रक्षा, ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति, अध्ययन आदि विशिष्ट कारण से अल्प दूषणों को सेवन करता है फिर भी वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता । इस कारण – निष्कारण दोष सेवन में यह दृष्टान्त समझना ।" इसीलिए कहा है कि

दंसण नाण चरित्तं तव विणयं जत्थ ज त्तिअं जाणे ।
जिण पन्नत्तं भत्तीइ, पूयए तं तहिं भावे (वं)।।४५५३।।

अर्थात् – "दर्शन (समकित), ज्ञान (आचारांगादि श्रुत ज्ञान), चारित्र (मूल-उत्तर गुण), तप (अनशनादि) और विनय (अभ्युथानादि) इत्यादि श्री जिनेश्वर देव के कहे भाव पार्श्वस्थ आदि साधुओं में भी– जिसमें जितने गुण जाने-देखे, उतने प्रमाण में उसे पूज्य मानना । अर्थात् उनके उन गुणों का वंदना आदि करना चाहिए ।"

इस तरह विवेक समझना । विशेष प्रश्नोत्तर से क्या लाभ ? पूर्व की मुक्कधुरा गाथा ४५४४ में कहा है कि परिचित पासत्था के बाह्य वेशधारी के विषय में क्या करना? वह अब कहते हैं । चरण – करण से साधु के मूल और उत्तर गुणों से भ्रष्ट जो केवल साधु वेश धारी भाव चारित्र से भ्रष्ट हो, उसके विषय में सत्कार करने योग्य कहेंगे – इस तरह कहा था । इससे कारण बिना अभ्युत्थानादि नहीं करना । यह सिद्ध हुआ । अब क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं –

वायाइ नमुक्कारो, हत्थुस्सेहो य सीस नमणं च ।
संपुच्छणाऽच्छणं छोभ वंदणं वा वि ।।४५४५।।

अर्थात् – "वह पार्श्वस्थादि साधु स्थंडिल भूमि आदि किसी स्थान पर मिले तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'आप कैसे हैं ?''वंदन करता हूँ।' इत्यादि वचन व्यवहार करना, वह उग्र स्वभाव वाला मानी हो तो दो हाथ भी जोड़ना, अधिक महिमा वाला या अधिक उग्र हो तो मस्तक भी नमाना, और इससे भी अधिक प्रतिष्ठावान हो तो प्रसंगानुसार बाह्य भक्ति भाव दिखाना, कुशल समाचार पूछना, अमुक समय बहुमान पूर्वक पास में खड़ा होना इत्यादि मार्ग में उचित करना । विशेष कारण से तो उनके स्थान (उपाश्रय) में भी जाना, तथा इससे अतिरिक्त उचित लगे तो थोम या आवश्यकता हो तो सम्पूर्ण वंदन भी करना ।'' कौन से कारणों से ऐसा करना ? वह कहते हैं कि :-

परिआय परिस पुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नच्चा ।
कारण जाए जाए जहा रिहं जस्स जं जोग्गं कायव्वं ।।४५५०।।

अर्थात् - ''पर्याय ब्रह्मचर्य चारित्र से दीर्घ कालिक हो अथवा शिष्य आदि परिवार बहुत हो, विनय वाला साधुओं का समूह जिसका आज्ञावान हो उनका व्यक्तित्व महत्त्व-शाली जानकर, अर्थात् कुल-गण संघ आदि के हितकारी कार्य उनके आधीन हों, क्षेत्र-साधु के विचरने वाले गांव नगर, उपाश्रय आदि उनका अधिक हो, उनमें दुष्कालादि विषम काल में निर्वाण करने का अन्य को सुनाने का गुण हो, सूत्र अर्थ और तदुभय रूप आगम रहस्य का वह ज्ञाता हो, अन्य के पास से वह ज्ञान प्राप्त होना दुःशक्य हो, इत्यादि कारण से अभ्युत्थानादि विनय-वंदन आदि जिसको जितने प्रमाण में जो करना आवश्यक हो उसको उतना वह करना चाहिए ।'' इन कारणों से भी शिथिलाचारी मानकर विनय आदि न करे तो उसकेविषय में कहते हैं कि :-

एआइं अकुव्वं तो, जहारिहं अरिह देसिए मग्गे ।
ण भवइ पवयणभत्ती,अभत्तिमंताइआ दोसा।।४५४६।।

अर्थात् - ''इस प्रकार अरिहंत के कहे अनुसार मार्ग पर चलते हुए कषाय के वश होकर शास्त्र वचन के मुताबिक यदि पासत्था आदि को यथा योग्य वंदनादि न करे, उसने शासन की भक्ति नहीं की परन्तु जिनाज्ञा विरुद्ध आचरण करने से अभक्ति की है, स्वार्थ हानि आदि दोष सेवन करता है ।'' तथा -

उप्पन्न कारणं मि, किइ कम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।
पासत्थाई आणं, उग्घाया तस्सचत्तारि।।४५४०।।

अर्थात् - ''पूर्व कहे अनुसार कारणों में भी जो पासत्था आदि का 'अभ्युत्थान और विनय रूप' दो प्रकार से विनय नहीं करता है उसे चतुर्लघु प्रायश्चित्त लगता है ।''

इस विषय में विशेष प्रश्नोत्तर करने से क्या लाभ ? अब चालू विषय में शेष रहा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'चतुर्विध श्री संघ को वन्दन की विधि' कहते हैं कि इस तरह साधु-साध्वी, अवसन्न आदि को वंदन करके 'श्रावक-श्राविकाओं को भी मैं वंदन करता हूँ, वंदन करता हूँ' ऐसा कहकर सर्व श्रावक-श्राविकाओं को भी वंदन करे । किसी कारण से वहां निश्राकृत मंदिर में गुरु महाराज न पधारे हों तो अपने शक्ति के अनुसार, अच्छे आडम्बर पूर्वक उनके उपाश्रय में जाकर वंदनादि सारी विधि करे । श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि -

अह धम्म देसणत्थं च, तत्थ सूरी न आगाओ ।
पुव्वु त्तेण विहाणेणं, वस हीए गच्छए तओ ।। २-१४६ ।।

अर्थात् - "यदि धर्म उपदेश देने के लिए आचार्य भगवन्त वहां उपदेश देने के स्थान (जिन मंदिर) पर न आए हों तो पूर्व कही विधि के अनुसार उनके स्थान-उपाश्रय में जाय।"

इसके बाद श्रावक को क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं - मूल गाथा ६३ का 'तथा' शब्द श्रावक को अन्य विशेषधर्मा बतलाता है, इसलिए उसके बाद श्रावक दुकान आदि यथा योग्य स्थान पर जाकर धर्म से अविरुद्ध अर्थात स्वयं स्वीकार किए व्रत-अभिग्रह आदि या न्याय नीति आदि व्यवहार शुद्धि को बाधा न पहुँचे- इस तरह धन उपार्जन करे, वह श्रावक का विशेष धर्म जानना । यहां 'यथा योग्य स्थान में' यानी राजा राज्य सभा में, मंत्री न्याय मंदिर (कचहरी) में और व्यापारी दुकान में इत्यादि अपने योग्य स्थान पर जाकर धन उपार्जन करे । ऐसा समझना । क्योंकि श्री जिन मंदिर में निष्कारण बहुत समय रहने से दोष लगता है, चैत्य में अधिक रुकने के लिए साधु के उद्देश्य से निषेध करते हुए व्यवहार भाष्य में कहा है कि -

जइ वि न आहा कम्मं, भत्ति कयं तह वि वज्जयं तेहिं ।
भत्ती खलु होइ कया, जिणाण लोए वि दिट्ठं जो ।। १ ।।

बंधित्ता कासव ओ, वयणं अट्ठपुड सुद्ध पोत्ती ए ।
पत्थिव मुवासए खलु, वि त्ति नि मित्तं भयाई वा ।। २ ।।

अर्थात् - "यद्यपि श्री जिन मंदिर आधा कर्मी अर्थात् साधु के लिए नहीं बनाया है, परन्तु भक्ति के लिए बनाया है फिर भी उसमें निवास करने का निश्चय से त्याग करना जिनेश्वर भगवान की भक्ति गिनी जाती है । १ ।। लोक में भी दृष्टांत है - नाई भी आजीविका के लिए या भय से राजा की सेवा मुंडन आदि करने के लिये आठ स्तर करके शुद्ध वस्त्र से मुख को बांध कर जाता है, वैसे ही यहां तीर्थं करों की प्रतिमाओं को राजा के समान जानना, उनकी भक्ति के लिए जिन मंदिर में जाना है, इसलिए साधुओं को वहां आशातना से बचने के लिए अधिक समय रुकना नहीं है ।। २ ।।" कारण भी वहीं आगे श्लोक में कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दुब्भिगन्ध परि (मल) स्सावी, तणु रेप्पे सण्हाणि आ।
दुहा वाउ वहो चेव, तेण ट्ठंति न चेइए ।।३।।

अर्थात् - "साधु का शरीर वस्त्रादि मल-मलिन होने से दुर्गन्ध उछलती हो, स्नान किया न हो, तथा श्वासोच्छ्वास और अपान वायु- इस तरह दो प्रकार से वायु संचार भी चालू हो, इससे साधुओं को चैत्य में अधिक नहीं रुकना चाहिए ।" तथा -

तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसि लोइआ ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेण वि ।।१।।

अर्थात् - "देव वंदन में तीन श्लोक रूप में जो तीन स्तुतियां कही जाती हैं, वह कहे, तब तक जिन मंदिर में रहने की अनुज्ञा-आज्ञा है, विशेष कारण से तो अतिरिक्त भी खुला है ।"

कौन सी तीन स्तुति ? **सिद्धाणं बुद्धाणं** की आदि तीन गाथा अर्थात् प्रथम **सिद्धाणं बुद्धाणं**, दूसरी '**जो देवाणं वि०**' और तीसरी '**इक्को वि नमुक्कारो**'- ये तीन मूल गाथाएं बोलनी- तब तक जिन मंदिर में रहने की आज्ञा है । उसको बाद चौथी, पांचवीं गाथाए और वैयावच्च आदि शासन देवता की स्तुति तक की विधि गीतार्थों का आचरण रूप होने से उसे भी मूल गणधर भगवंत के कथन के समान सर्व मोक्षार्थियों को अन्य स्थान पर भी आचरण करना चाहिए- ऐसा जिन विचन है ।

व्यवहार भाष्य की इन दो गाथाओं का तात्पर्य यह है कि [उपाख्यान साधु को जिन मंदिर में रहना बैठना नहीं चाहिए अथवा चैत्य या देव वंदन में आखिरी नमोत्थुणं आदि के बाद प्रार्थना रूप बोलने वाली तीन स्तुतियाँ, जो छह आवश्यक पूर्ण होने के बाद मंगल के लिए 'नमोस्तु वर्धमानाय' या 'विशाल लोचन' आदि तीन-तीन स्तुतियों के समान बोले, वह प्रार्थना रूप बोली जाती हैं । वह बोले तब तक जिन मंदिर में स्थिरता करने की आज्ञा है । यदि सिद्धाणं बुद्धाणं आदि तीन गाथा माने तो देव वंदन की क्रिया अधूरी रहती है । आगम में कहे '**वंदइ नमंसइ त्ति**' की टीका में कहा है कि - उन प्रतिमाओं का "चैत्यवन्दन आदि प्रसिद्ध विधि पूर्वक वन्दन करे, फिर प्रणिधान (प्रार्थना) आदि सूत्र द्वारा 'नमस्कार' करे" इस तरह प्रार्थना का विधान होने से तीन स्तुतियाँ यहाँ प्रार्थना रूप समझना। ये तीन स्तुतियाँ '**जय वीयराय**' की या '**सिद्धाण बुद्धाणं**' की ? इस विषय में दुराग्रह को छोड़कर, आगम-अर्थों का रहस्य पूर्वापर बाधक न हो- इस तरह विचार करना आदि चैत्यवंदन की 'संघाचार' नामक टीका में बतलाया है । तात्पर्य यह है कि 'जय वीयराय' आदि तीन स्तुतियाँ कहे तब तक साधु को जिन मंदिर में रहने की आज्ञा है और 'धर्मोपदेश सुनने आए भव्य जीवों का उपकार करना' इत्यादि कारण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से तो फिर अधिक भी रहने की आज्ञा है । इस तरह श्री तीर्थंकर, गणधर आदि ज्ञानी पुरुषों के अनुसार साधु को बिना कारण अधिक समय रुकने से आशातना आदि की संभावना हो सकती है । इसलिए जिन मंदिर में अधिक रुकने की आज्ञा नहीं है ।

इस तरह साधु को यदि जिनेश्वर की आशातना से बचने के लिए कहा है तो श्रावक को तो विशेष रूप से बचना चाहिए अर्थात् कारण बिना श्रावक को भी अधिक समय जिन मंदिर में नहीं रहना चाहिए । इसलिए 'जिन मंदिर से यथा योग्य स्थान पर जाकर' ऐसा पूर्व गाथा में कहा है, वह युक्ति संगत ही है ।] प्रसंगोपात इतना बतलाकर अब चालू अधिकार का वर्णन करते हैं –

'धर्म में बाधा न पहुँचे– इस तरह धन उपार्जन करना चाहिए ।' ऐसा पूर्व में कहा है, उसमें 'धन उपार्जन करना' यह वचन दोहराना रूप है, क्योंकि वह तो उपदेश के बिना भी सब कोई करता ही है, केवल 'धर्म को बाधा न आए– इस तरह' यह यहां कहने का भावार्थ है । क्योंकि धर्म की रक्षा जीव को स्वयं सिद्ध नहीं होती, वह प्रेरणा – उपदेश की अपेक्षा रखता है । जिसमें प्रेरणा की आवश्यकता हो उस विषय में ही उपदेश देना सार्थक है । 'गृहस्थ को धन प्राप्त करना चाहिए, भूखे को भोजन देना चाहिए' ऐसी प्रेरणा वस्तुतः निरर्थक है क्योंकि वह तो अनादिकाल से 'आहारादि' चार संज्ञा के योग से सर्व जीव को सदा स्वयं सिद्ध ही है, बच्चे को भी स्तन–पान सिखाया नहीं जाता, वह स्वयं सिद्ध है, इसलिए जीवात्मा को जिसका अभ्यास नहीं है, उस पारलौकिक हित के लिए ही मोह रूप अंधकार से जो अन्ध बन गया हो ऐसे जीव को एकदिव्य चक्षु रूप शास्त्र का उपदेश देना सार्थक है । इस तरह स्वयं समझना । और दूसरी बात यह है कि ज्ञानी उपदेशकों को वचन से भी पाप व्यापार की अनुमोदना करना योग्य नहीं है । कहा है कि –

सावज्जण वज्जाणं, वसणाणं जो ण जाणइ विसेसं ।
वुत्तुपि तस्स न खमं, किमंग पुण देसणं काउं ।।१।।

अर्थात् – "जो सावध – निरवध अर्थात् पापी अथवा पाप रहित वचन के भेद को नहीं जानता, उससे बोलना भी योग्य नहीं है, तो फिर उपदेश देने की बात ही कहाँ रही ?"

धर्म विरोध रहित कार्य करने में, यदि राजा हो तो उसे दरिद्री और धनवान में, लोक मान्य तथा सामान्य में एवं उत्तम या अधम मनुष्य में मध्यस्थ भाव – पक्षपात रहित न्याय करना, राजकर्मचारी को मंत्रीश्वर श्री अभय कुमार के समान राजा और प्रजा दोनों का हित हो– वैसा वर्तन करना और व्यापारी हो तो उसे व्यवहार शुद्धि रखना, देश विरुद्ध,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

राज विरुद्ध इत्यादि निषिद्ध कार्यों का त्याग करना और उचित कार्य करके आजीविका चलानी- यही धर्म से अविरुद्ध है । श्राद्ध विधि मूल में कहा है कि :-

ववहार सुद्धि देसाइ - विरुद्धच्चाय उचिअ करणे हिं।
ता कुणइ अत्थचिंतं, निव्वा हिं तो निअं धम्मं ।।७।।

अर्थात् - "व्यवहार शुद्धि संभालकर देश विरुद्ध आदि प्रवृत्ति का त्याग करके, उचित कार्य से अपने धर्म का पालन - रक्षा हो, इस तरह श्रावक अर्थ का चिन्तन करे ।"

आजीविका सात प्रकार से प्राप्त कर सकता है, १- व्यापार से, २- विद्या से, ३- खेती से, ४- शिल्पकला से, ५- पशु-पालन से, ६- नौकरी सेवा से और ७- भिक्षा से। अर्थात् व्यापारियों को व्यापार से, वैद्य विद्या-औषध करने से या विद्यावान विद्यार्थी को पढ़ाने से, किसान लोग खेती करने से, ग्वाले आदि पशुपालन करने से, नाना प्रकार के कलाकार शिल्पादि कलाओं से, सेवक वर्ग सेवा भक्ति करने से, भिक्षु भिक्षावृत्ति- याचना कर आजीविका प्राप्त कर सकता है । उसमें व्यापारियों की आजीविका का हितकारी उपाय व्यापार ही है । कहा है कि -

मुहमहणस्स य वच्छे, न चेव कमलायरे सिरी वसइ ।
किन्तु पुरिसाण ववसाय सायरे तीरे सुहडाणं ।।१।।

अर्थात् - "लक्ष्मी कहीं वासुदेव के वक्ष स्थल में नहीं रहती और न ही सरोवर में रहती है, वह तो उद्यमी पुरुष के व्यवहार रूपी समुद्र में रहती है - अर्थात् उनके व्यवहार से लक्ष्मी मिलती है एवं सुभटों के तो बाण के अग्रभाग में रहती है । अर्थात योद्धा युद्ध से लक्ष्मी प्राप्त करते हैं ।"

व्यापार में भी एक तो अपना सहायक अच्छा हो, दूसरा धन लगाने का बल हो और तीसरा अपने शुभ भाग्य का उदय काल आदि अनुरूप हो तभी लक्ष्मी मिलती है, अन्यथा तो अचानक नुकसान आदि भी हो सकता है । व्यापार की शुद्धि 'द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव' के भेद से चार प्रकार ही है । उसमें -

१. द्रव्य शुद्धि - पंद्रह कर्मादान आदि में बहुत बड़ा पापारंभ होता है, इन सभी वस्तुओं के व्यापार का त्याग करना । जिसमें पापारंभ स्वल्प हो ऐसी वस्तुओं का व्यापार करना, फिर भी दुष्काल आदि समय पर ऐसे अल्प आरंभ वाले व्यापार से जीवन निर्वाह न हो तो बहुत पाप वाले कठोर कर्म करने पड़े तो भी वह इच्छा बिना, पाप की निंदा पूर्वक, एवं डरता हुआ करे, निर्ध्वंस (कठोर) परिणाम से न करे । धर्म रत्न प्रकरण में भावश्रावक का लक्षण कहा है :-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विज्जइ तिव्वारंभं, कुणइ अकामो अनिव्व हंतो अ ।
थुणइ निरारंभजणे, दयालुओ सव्व जीवेसुं ।।६५।।

अर्थात् - "सर्व जीवों के प्रति दयालु श्रावक तीव्र (महा) आरंभ को न करे, निर्वाह न होता हो तो भी उपाय रहित, इच्छा बिना आत्म की निंदा करते हुए पाप कार्य में प्रवृत्ति करे, परन्तु आरंभ-समारंभ का त्याग करने वालों की स्तुति करे - गुण गाये" एवं विचार करे कि :-

धन्ना य महामुणिणो, मणसा वि करं ति जे न परपीडं ।
आरंभ पाव विरया, भुंजंति ति कोडियरि सुद्धं ।।१।।

अर्थात् - "उन महामुनियों को धन्य है कि जो अन्य जीवों को मन से भी पीड़ा नहीं देते, आरंभ वाले पाप कार्यों से विराम प्राप्त किया है वे आहार आदि संयम के लिए उपयोगी वस्तु भी तीन कोटि शुद्ध मिले वही उपयोग करते हैं ।"

इस तरह बहुत आरंभवाली वस्तुओं के व्यापार से आजीविका प्राप्त नहीं करना, तथा दृष्टि से देखे बिना, परीक्षा किए बिना खरीद न करे, बहुत मालिक हो या जिसके मालिक में शंका हो, ऐसी वस्तु की अकेला खरीद न करे- बहुत व्यापारियों के साथ में खरीद करे, क्योंकि बाद में कोई आपत्ति आए तो बहुत सारे सहयोगी होने से धर्म में बाधा नहीं होती अथवा चोरी-ठगाई आदि का आरोप नहीं लगता इत्यादि ।

२. क्षेत्र शुद्धि - व्यापार वहां करना चाहिए कि जहां स्व-पर राज्य का भय न हो, बीमारी का स्थान न हो, अन्य भी संकट आदि उपद्रव नहीं होता हो और जहां जिन मंदिर, गुरु महाराज का योग या उत्तम साधर्मिक बन्धु आदि धर्म सामग्री मिलती हो उसी क्षेत्र में व्यापार करे, परन्तु अन्य स्थान पर बहुत लाभ मिलता हो फिर भी वहां व्यापार नहीं करना क्योंकि धन लाभ वहां बहुत होने पर भी धर्म का नाश होने से सर्वनाश समझना।

३. काल शुद्धि - पर्यूषण चैत्र और आसोज महीने की तीन अढाईयां तथा पर्व तिथियों में व्यापार सर्वथा बंद रखना चाहिए तथा वर्षादि समय में जिसका व्यापार करने में विशेष जीव हिंसा आदि होती हो उस ऋतु में उन वस्तुओं का व्यापार नहीं करना चाहिए अर्थात् उस व्यापार का त्याग करे ।

४. भाव शुद्धि - इसके अनेक भेद हैं जैसे क्षत्रिय आदि जो घातक शस्त्रादि रखने वाले क्रूर होते है, उनके साथ में स्वल्प भी लेना देना हितकारी नहीं है । नट-विट-भांड आदि हलके मनुष्य के साथ उधार व्यापार नहीं करना, ब्याज पर पैसे देने हों तो अधिक मूल्य वाले आभूषण आदि रख कर फिर देना, नहीं तो पैसा लेने जाने के समय क्लेश, वैर, धर्म-हानि आदि अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं । आजीविका निर्वाह न होता हो और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उधार देना हो तो भी सत्यवादी को ही देना चाहिए । सूद भी देश काल का विचार कर 'एक, दो, तीन, चार, पांच' टका आदि उचित लेना जिससे कि अच्छे आदमियों में निन्दा न हो । अन्य के रुपये यदि ब्याज पर लिए हों तो मर्यादा पूर्ण होने के पहले दे देने चाहिएं । कभी कर्म योग से लाभ न हो और समय अनुसार देने की अनुकूलता न हो तो भी लेने वाले को संतोष हो वैसे धीरे-धीरे देने का प्रयत्न करना चाहिए । नहीं तो विश्वासघात होने से व्यवहार खतम हो जाता है । इसलिए देने वाले को विलम्ब नहीं करना चाहिए । कहा है कि -

धर्मारम्भे ऋणच्छेदे, कन्या दाने धनागमे ।
शत्रु घातेऽग्नि रोगे च, काल क्षेप न कारयेत् ।।१।।

अर्थात् - "धर्म करने में, कर्ज देने में, कन्या का विवाह करने में, आता हुआ धन लेने में, शत्रुघात करने में, दावानल में और रोगादि शान्त करने में जरा भी विलम्ब नहीं करना चाहिए ।"

यदि कर्जदार का कर्ज अधूरा रह जाय तो दूसरे जन्मों में उसके यहां नौकर, बैल, पाड़ा, गधा, ऊंट आदि का जन्म लेकर उसका हिसाब पूर्ण करना पड़ता है । शास्त्रों में कई उदाहरण मिलते हैं । इसलिए कर्ज चुकाते हुए भी निर्वाह नहीं होता हो तो भी जल्दी कर्जदार की नौकरी - सेवा आदि करके भी पूर्ण करना चाहिए ।

जैसे देने वाले का यह कर्तव्य है वैसे ही लेने वाले का भी कर्तव्य है कि देने वाला सर्वथा कर्ज देने में असमर्थ हो तो मांगना नहीं क्योंकि मांगने पर भी वह दे न सके इससे दोनों को आर्त्तध्यान, क्लेश और इससे पाप कर्म अधिक बढ़ते जाते हैं, इसलिए उसे आश्वासन देना कि - जब अनुकूलता हो तब देना, यदि नहीं दे सके तो मेरा लेना मैं धर्म स्थान करता हूँ - अर्थात् धर्म में खर्च किया- ऐसा कहकर छोड़ देना, परन्तु लेने वाले के रुप में ज्यादा समय सम्बन्ध नहीं रखना । क्योंकि अचानक आयुः क्षय होने पर जन्मातर में परस्पर दोनों का वैर वृद्धि आदि का प्रसंग नहीं आता और दिया हुआ धन यदि वापिस न आए तो धर्मी आत्मा को उसे धर्मव्यय रूप में छोड़ देना । इस कारण से जब तक शक्य हो तब तक साधर्मिक बन्धु के साथ में व्यापार करना, जिससे कि लेना रह जाए तो भी धर्म मार्ग में उपयोगी बनता है।

अन्य धनवान के प्रति मत्सर - ईर्षा नहीं करना चाहिए । सम्पत्ति कर्माधीन होती है तो फिर व्यर्थ दोनों जन्म में दुःखदायी मत्सर करने से क्या लाभ ? अनाज, औषध या वस्त्र आदि का व्यापार करने वालों में भी दुष्काल की इच्छा, रोग होने की कल्पना या वस्त्रादि वस्तुओं का अभाव हो जाय तो अच्छा है इत्यादि जगत् को दुःख दायी बनाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की इच्छा न करनी चाहिए । दैव योग से दुष्काल पड़ जाय, रोगों की वृद्धि हो जाय अथवा वस्त्र आदि वस्तुओं की कीमत बढ जाय, फिर भी उन वस्तुओं के व्यापार की इच्छा भी न करना । दैव योग से दुष्काल, रोग होना या वस्तु का अभाव हो जाय, उस समय भी 'अच्छा हुआ, अच्छा लाभ मिलेगा' इत्यादि अनुमोदना भी नहीं करना, क्योंकि इससे भी मन की मलिनता आदि दोष ही होते हैं । कहा है कि -

उचिअं मुत्तूण कलं, दव्वाइ कमा गयं च उक्करिसं ।
निवडि अमवि जाणं तो, परस्स संतं न गिण्हिज्जा ।। १ ।।

अर्थात् - ''उचित ब्याज लेना, अथवा 'ब्याजे स्याद् द्वि गुणं वित्तं' इस कथन से 'मूल से धन डबल होता है या अनाज तीन गुणा होता है' यह वचन किसी दुष्कालादि आपत्ति के समय होता है, ऐसा ब्याज नहीं लेना । तथा 'द्रव्यादि क्रमागत उत्कर्ष' अर्थात् गणित यानी जो गिनकर दिया जाय सुपारी-जायफलादि, धरिम - तोलकर दी जाय, मेय - माप कर दी जाय और पारिच्छेद्य - परीक्षा करके जो सोना, जवाहिरात, वस्त्रादि- ये चार प्रकार के तथा उसके अवान्तर भेद रूप अनेक प्रकार के द्रव्य-वस्तुओं के किसी काल में, किसी स्थल पर अथवा किसी प्रसंग में अभाव आदि के कारण से भाव बढ़ गये हों तो बढ़े भाव से अधिक मुनाफा नहीं लेना । वस्तु के अभाव आदि के कारण से भाव बढ़ जाने से सुपारी आदि वस्तुओं में दुगना नफा (लाभ) होता हो, तब भी वह शुद्ध आशय से लेना । कभी ऐसा विचार नहीं करना कि 'वस्तुओं का अभाव हुआ, यह बहुत अच्छा हुआ ।' किसी की वस्तु खो गयी है ऐसा जानते हुए भी लेनी नहीं चाहिए । 'ब्याजादि में या खरीद-बिक्री में देश काल के अनुसार उचित ही मुनाफा लेना । जो सज्जनों से निन्दनीय हो- ऐसा बहुत मुनाफा नहीं लेना ।' इत्यादि पंचाशक की टीका में कहा है, उसके अनुचार आचरण करना ।''

तोल-माप झूठे रखना नहीं या तोलने में कम ज्यादा नहीं करना, अच्छी खराब रस - घी तेल आदि या अन्य वस्तुओं में मिलावट नहीं करना । इसके अतिरिक्त 'अनुचित ब्याज लेना, रिश्वत लेना-देना, झूठी महसूल लेना, झूठे पैसे-नोट देना, खरीद बिक्री में झूठ सिद्ध करना, अन्य के ग्राहक को भरमाना, किसी को अच्छी वस्तु दिखाकर खराब वस्तु देना इत्यादि ठगना, धोखाबाजी करना इत्यादि कार्य सर्वथा नहीं करना' । कहा है कि -

विधाय मायां विविधैरूपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवाय वर्ग सुखान्य हो ! मोह विजृम्भितानि ।।

अर्थात् - ''जो विविध माया कपट करके अन्य को ठगने का कार्य करता है, वह वस्तुतः अपनी आत्मा को स्वर्ग या मोक्ष के सुख से ठगता है । अहो ! मोह का विलास कैसा है ?''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वामी, मित्र, विश्वासी, देव, गुरु, वृद्ध, बाल आदि के प्रति द्रोह करना या किसी ने ईमानदार मानकर अपनी अमानत - धरोहर रखी हो उससे मुकर जाना, आदि घोर पाप वाले कार्य तो हत्या करने के समान होने से उनका सर्वथा त्याग करना चाहिए । पाप दो प्रकार का है - एक गुप्त और दूसरा प्रगट । गुप्त भी दो प्रकार का होता है- एक छोटा और दूसरा बड़ा। झूठे माप-तोल आदि छोटा गुप्त पाप है, और विश्वासघात आदि बड़ा गुप्त पाप है । प्रगट पाप के भी दो भेद होते हैं - एक तो कुलाचार से करना और दूसरा निर्जज्जता से करना । उसमें गृहस्थ आरंभादि करे और म्लेच्छ हिंसा आदि करे तो वह कुलाचार से किया हुआ प्रकट पाप है और साधु वेश में हिंसा आदि करे वह निर्जज्जता से किया हुआ प्रगट पाप है । निर्लज्जता से किया हुआ प्रगट पाप शासन की अपभ्राजना, निंदा आदि में निमित्त रूप होने से उसका अनंत संसार भ्रमणादि होता है और कुलाचार रूप में किये हुए प्रगट पाप से कर्म बन्धन थोड़ा होता है । गुप्त पाप से कर्म बन्धन बहुत कठोर होता है क्योंकि वह असत्य रूप है और असत्य सबसे बड़ा पाप है । योग शास्त्र दूसरे प्रकाश श्लोक ६४ वें की टीका में कहा है कि :-

एकत्राऽसत्यजं पापं, पापं निःशेष मन्यतः ।
द्वयोस्तुल विधृतयो राद्यमेवातिरिच्यते ।।१।।

अर्थात् - "तराजू के एक पलड़े में असत्य कथन से उत्पन्न पाप को रखा जाय और दूसरे पलड़े में बाकी के सारे पाप रखे जायं और तौला जाय तो असत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा ।"

जिनके साथ में प्रेम - प्रीति हो उन स्वजनादि के साथ में तो लेने देने का व्यवहार कभी भी नहीं करना चाहिए । धरोहर तो साक्षी के बिना मित्र के घर भी नहीं रखनी चाहिए । मित्र आदि के जरिये अन्य का धन भेजना इत्यादि भी योग्य नहीं है, क्योंकि अविश्वास धन एकत्रित करने का मूल है और दूसरे पर विश्वास रखना धन गंवाने का मूल कारण होता है । जैसे तैसे सौगंध खाना आदि भी नहीं खाना, उसमें देव, गुरु महाराज, धर्म आदि की सौगंध तो सर्वथा त्याग करने योग्य हैं और अन्य भी लेने-देने में साक्षी बनाना, इससे संकट में भी कदापि नहीं पड़ता । सामुदायिक खरीद या बिक्री करते समय अथवा व्यापार में विघ्न टल जाय और इच्छित लाभ आदि इष्ट सिद्धि के लिए प्रारंभ में श्री नवकार महामंत्र का स्मरण करना, श्री गौतम स्वामी जी आदि का नाम जपना तथा उस व्यापार में जो मुनाफा हो उसमें से कुछ - अमुक लाभ या वस्तु देव, गुरु की सेवा में उपयोग करना इत्यादि करते रहना, क्योंकि - प्रत्येक कार्य की सिद्धि में धर्म का ही मुख्यता है । धन के लिए उद्यम करने वाला 'सात क्षेत्रों में उपयोग करेंगे' आदि धर्म के मनोरथ करना । धर्म के लिए धन कमाने का निषेध है, परन्तु धन मिलने पर धर्म की

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सहायता की इच्छा करना अनुचित नहीं है और जब धन मिले तब उसे यथाशक्य सफल भी करना चाहिए । कहा है कि -

ववसाय फलं विहवो, विहवस्स फलं सुपत्त विणिओगो ।
तय भावे वव साओ, विहवो व अ दुग्गइ निमित्तं ।।१।।

अर्थात् - "व्यापार का फल वैभव है और वैभव का फल सुपात्र को दान देना है, उस दान के बिना व्यापार और वैभव ये दोनों दुर्गति के कारण हैं ।"

इस तरह व्यवहार शुद्धि से प्राप्त हुई ऋद्धि धर्म कार्य में उपयोग से धर्म ऋद्धि बनती है, नहीं तो वह भोग ऋद्धि या पाप ऋद्धि बनती है । कहा है कि -

धम्मिद्धी भोगद्धी, पाविद्धी इअ तिहा भवे इद्धी ।
सा भणइ धम्मिड्ढी, आ णिज्जइ धम्म कज्जेसुं ।।१।।

सा भोगिड्ढी गिज्जइ, सरीर भोगंमि जीइ उपओगे ।
जा दाण भोग रहिआ, सा पाविड्ढि अणत्थ फला ।।२।।

अर्थात् - "धर्म ऋद्धि, भोग ऋद्धि और पाप ऋद्धि- इस तरह ऋद्धि के तीन भेद हैं । उसमें जो धर्म कार्य में उपयोग - खर्च हो उसे 'धर्म ऋद्धि' कहते हैं । जो शरीर और भोग-विलास में उपयोग किया जाय उसे 'भोग ऋद्धि' कहते हैं और जो दान में या भोग में- एक में भी न उपयोग हो उसे अनर्थ करने वाली 'पाप ऋद्धि' जानना ।"

इसलिए करने योग्य देव पूजा, दान आदि दैनिक कार्यों में या संघ पूजा, साधर्मिक भक्ति आदि वार्षिक कार्यों में खर्च कर लक्ष्मी को पुण्योपयोगी बनाना चाहिए। विशेष पुण्य का काम भी उस पुण्यवंत को शोभास्पद है जो कि प्रतिदिन साधारण पुण्य कार्य करता हो । कमाई की इच्छा भी भाग्यानुसार ही करना, नहीं तो आर्तध्यान बढ़ता है और निष्कारण कर्म बन्धन होता है । लाभ तो पुरुषार्थ के साथ में प्रारब्ध अनुसार ही होता है, परन्तु खर्च भी कमाई के अनुसार ही करना चाहिए । क्योंकि कहा है :-

पादमायान्निधिं कुर्यात्, पादं वित्ताय कल्पयेत् ।
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्त्तव्ययो षणे ।।१।।

अर्थात् - "कमाई का चौथा भाग संग्रह करना, दूसरा चौथा भाग व्यापार में लगाना, तीसरा चौथा भाग धर्म और भोग - उपभोग में खर्च करना और चौथा भाग अपने आश्रित जनों के लिए खर्च करना या देना ।" कोई इस तरह भी कहते हैं कि -

आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्म समधिकं ततः ।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतः तुच्छमैहिकम् ।।१।।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''कमाई का आधा अथवा इससे अधिक भाग धर्म में खर्च करना और शेष आधे धन से इस लोक के भोग आदि सारे तुच्छ कार्यों में जयणा पूर्वक - किफायत से खर्च करना ।'' यहाँ कई कहते हैं कि पूर्व कहे अनुसार चार विभाग सामान्य वैभव वाले को और दो विभाग कहा है वह श्रीमंत के विषय में समझना ।

यहां न्यायोपार्जित धन और सुपात्र में खर्च करना, इन दोनों के चार विभाग होते हैं । उसमें (१) न्यायोपार्जित धन को सुपात्र में व्यय करना- यह प्रथम भाग शाली भद्र सेठ के समान पुण्यानुबन्धी पुण्य का, (२) न्योयोपार्जित द्रव्य को जो उस पात्र में व्यय करे वह दूसरा भाग लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले ब्राह्मण के समान पापानुबन्धी पुण्य का कारण है । (३) अन्याय से प्राप्त करके धन को सुपात्र में खर्च करना यह तीसरा भाग, राजा आदि बड़ा आरंभ करने वाला होता है । (४) अन्यायोपार्जित धन का कुपात्र में व्यय यह चौथा भाग विवेकी को त्याग करने योग्य है । इसलिए धन न्याय से प्राप्त करना यह गृहस्थ का धर्म है । व्यवहार शुद्धि से ही धर्म के भी सारे कार्य सफल होते हैं । श्री श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि :-

ववहार सुद्धी धम्मस्स, मूलं सव्वन्नू भासए ।
ववहारेणं तु सुद्धेणं, अत्थ सुद्धी तओ भवे ।।१५९।।

सुद्धेणं चेव अत्थेणं, आहारो होइ सुद्धओ ।
आहारेणं तु सुद्धेणं, देह सुद्धी जओ भवे ।।१६०।।

सुद्धेणं चेव देहेणं, धम्म जुग्गो अ जायई ।
जं जं कुणइ किच्चं तु तं तं से सफलं भवे ।।१६१।।

अण्णहा अफलं होइ, जं जं किच्च तु सो करे ।
ववहार सुद्धि रहिओ, धम्मं खिसावए जओ ।।१६२।।

धम्म खिसं कुणं ताणं, अप्पणो य परस्य य ।
अबोही परमा होइ, इअ सुत्ते विभासिअं ।।१६३।।

तम्हा सव्व पयत्तेणं तं तं कुज्जा वियक् खणो ।
जेण धम्मस्स खिंसं तु, न करे अबुहो जणो ।।१६४।।

अर्थात् - ''सर्वज्ञ परमात्मा ने व्यवहार शुद्धि को धर्म का मूल कहा है - क्योंकि शुद्ध व्यवहार से धन की शुद्धि होती है, धन शुद्धि से आहार की शुद्धि होती है, आहार की शुद्धि से देह की शुद्धि होती है, देह की शुद्धि से जीव धर्म की योग्यता प्राप्त करता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और वह जो जो कार्य करता है वह सफल होता है और योग्यता के बिना जीव जो जो करता है वह असफल होता है । तथा व्यवहार शुद्धि के बिना जीव धर्म की निंदा करवाता है, और यह धर्म निंदा कराने वाले सुनने वाले प्रत्येक को समकित अति दुर्लभ होता है । ऐसा आगम वचन है, इसलिए विचक्षण पुरुष को सर्व प्रयत्न से ऐसा कार्य करना चाहिए कि जिससे अज्ञानी लोक धर्म की निंदा न करे परन्तु धर्म की प्राप्ति करे ।''

इसीलिए श्रावक को व्यवहार शुद्धि संपूर्ण रूप में सावधानी रखनी चाहिए । इस तरह व्यवहार शुद्धि का स्वरूप कहा । अब व्यापार में देश, काल, राज, लोक और धर्म के विरुद्ध आचरण नही करना चाहिए । हितोपदेश माला में कहा है कि -

देसस्स य कालस्स य, निवस्स लोगस्स तहय धम्मस्स।
वज्जं तो पडिकूलं, धम्मं सम्मं च लहइ नरो ।।१।।

अर्थात् - ''(१) देश, (२) काल, (३) राज, (४) लोक और (५) धर्म से प्रतिकूल कार्यों को त्याग करने वाला मनुष्य धर्म एवं सुख को प्राप्त करता है ।'' उसमें -

(१) देश विरुद्ध - जिस देश में जिस कार्य को शिष्ट मनुष्यों ने अकरणीय माना हो उस कार्य को उस देश की अपेक्षा से विरुद्ध गिना गया है । जैसे कि - सौवीर देश में खेती का व्यापार आदि, अथवा जाति - कुल आदि की अपेक्षा से जो जो कार्य अनुचित हो वह भी देश विरुद्ध माना गया है जैसे कि 'ब्राह्मण का सुरा पान करना' इत्यादि ।

(२) काल विरुद्ध - शीतल काल में हिमाचल पर्वत के पास जहां विशेष ठंडी पड़ती हो वहां जाना, गरमी की ऋतु में मारवाड़ - मरुभूमि में जाना या वर्षा ऋतु में पश्चिम या दक्षिण के आखिर प्रदेश में समुद्र के नजदीक के विभाग में जाना, अथवा सूर्यास्त के बाद रात्रि में महान जंगल की ओर जाना इत्यादि कार्य उस काल में हानिकारक होने से काल विरुद्ध जानना । फाल्गुन महीने के बाद तिल पेलना पिलाना, या उसका व्यापार करना, वर्षा ऋतु में पत्ते वाली साग सब्जी आदि ग्रहण करना इत्यादि भी काल विरुद्ध जानना ।

(३) राज विरुद्ध - राज मान्य पुरुषों का अनादर करना या मान नहीं देना, राज के अमान्य - द्रोही मनुष्य से मित्रता रखनी, लोभ के कारण शत्रु राजा के राज्य में जाना, वहां से आए मनुष्यों के साथ व्यापार आदि करना, कमाई होने के बाद उसमें से राजा को देने योग्य भाग नहीं देना या जकात आदि नहीं देना इत्यादि, जिससे राजा को असद्भाव उत्पन्न हो और उससे वह शिक्षा-दंड आदि करे वह सब राज विरुद्ध कहलाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) लोक विरुद्ध - किसी की भी निंदा करना लोक विरुद्ध है। उसमें ज्ञानादि गुणों से विभूषित धर्माचार्य आदि गुणवान की निंदा करना तो विशेष लोक विरुद्ध है और आत्म प्रशंसा भी लोक विरुद्ध है। प्रशम रति प्रकरण में कहा है कि :-

पर परिभव परिवादा दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेक भव कोटि दुर्मोचम् ॥१००॥

अर्थात् - "दूसरों का अपमान और उनकी निंदा करने से तथा अपनी प्रशंसा करने से 'नीच गोत्र' कर्म बन्धन होता है, जिसके योग से प्रत्येक जन्म में जीव को हल्की जाति कुल आदि में जन्म लेना पड़ता है और जो करोड़ों जन्मों तक छुटना कठिन हो जाता है।"

सरल-भोले जनों की हंसी मखौल करना, गुणवान के प्रति मत्सर-ईर्षा करना, उपकारी के उपकार को भूल जान कर उलटा अपकार करना, बहुत लोग जिसके विरुद्ध हों उसके साथ संग करना, लोगों में माननीय पूजनीय हो उसका अनादर या अपमान करना, धर्मी अथवा स्वजन सम्बन्धी को संकट आए तब प्रसन्न होना, उनके संकट को टालने की शक्ति होने पर भी सहायता नहीं करना, स्वयं जहां रहता हो उस देश, गांव या कुल आदि के आचारों का पालन नहीं करना, इससे विपरीत वर्तन करना, संपत्ति, उम्र अथवा अवस्था को शोभा न दे ऐसा अति उद्‌भट वेष पहनना, अशोभनीय आहार-निहार आदि करना अथवा कृपणता से अति मलिन वेश या हलके आहारादि करना इत्यादि लोक विरुद्ध कहलाता है। लोक विरुद्ध आचरण से इस जन्म में भी अपयश आदि होता है। वाचक मुख्य श्री उमास्वाति जी ने प्रशम रति में कहा है कि :-

लोकः खल्वाधारः सर्वेषा धर्म चारिणां यस्मात् ।
तस्याल्लोक विरुद्ध, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥१३१॥

अर्थात् - "सभी धर्मी या ब्रह्मचारी चारित्रवान पुरुषों के संयम निर्वाह के लिए शुद्ध लौकिक व्यवहार ही वास्तव में आधार भूत है, इसलिए लोक विरुद्ध और धर्म विरुद्ध कार्य को छोड़ देना चाहिए।"

क्योंकि - लोक विरुद्ध का त्याग करने वाले के प्रति मनुष्यों का अनुराग होता है और इससे वह अपने धर्म का निर्विघ्न पालन कर सकता है। इस तरह अनेक लाभ होते हैं। कहा भी है कि :-

ए आइँ परिहरं तो, सव्वस्स वल्लहो होइ ।
जण वल्लह चणं पुण, नरस्स सम्भत्त तरु बीअं ॥१॥

अर्थात् - "इन लोक विरुद्ध कार्यों का त्यागी मनुष्य सर्वजनों को प्रिय होता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और 'सर्वजन प्रियत्व' गुण मनुष्य को सम्यकत्व की प्राप्ति के लिए बीज रूप है ।''

(५) **धर्म विरुद्ध** - धर्म से विपरीत आचरण से मिथ्यात्व बढ़ता है जैसे कि - गाय, बैल, भैंस आदि मूक प्राणियों को निर्दयता से मारना, जकड़ कर बांधना इत्यादि क्रूर आचरण करना, जूं आदि जीवों को यतनापूर्वक न रखकर जहां तहां निराधार रख देना, खटमल आदि धूप में डालना, सूक्ष्म कंघी से सिर के बाल बनाना, उनमें से जीवों मारना, ऊष्ण काल में तीन बार और शेष काल में दो बार मोटे जोड़े कपड़े से छानना- उसका संखारा (पानी छानने में रहा शेष जल) के जीवों का रक्षण हो इस तरह पानी छानना। अनाज, ईंधन-उपले-कोयले आदि, शाक-पान-फल आदि में उत्पन्न हुए जीवों की जयणा करने में अनादर करना, अखंड सुपारी-छुहारे फली या फल आदि देखे बिना मुंह में डालना, जीव आदि न दिखे ऐसे प्याले से पानी पीना, धर्म विरुद्ध नाल से या धार से पानी आदि पीना, पकाने में, पीसने में, कूटने में, घिसना, चूर्ण आदि बनाना हो उसे प्रथम देखे बिना तथा मल मूत्र, श्लेष्म, उलटी आदि फेंकने में, पान- तंबोल के थूक डालने आदि सर्व कार्यों में सम्यग् जयणा नहीं करना, धर्म कार्यों में अनादर करना, देव, मंदिर, मूर्ति, देव द्रव्यादि, गुरु या साधर्मिक के प्रति द्वेष करना इत्यादि कार्य जीव हिंसादि पाप के कारण होने से धर्म विरुद्ध जानना। तदुपरांत देव द्रव्य, गुरु द्रव्य अथवा साधारण द्रव्य का उपभोग करना, धर्म रहित मनुष्य की सोहबत करना, धर्मवान मनुष्य का मजाक करना, तीव्र क्रोधादि कषाय करना, बहुत पाप हो ऐसी वस्तुयें लेना, बेचना, कर्मादान के समान बहुत पाप-आरंभ के कार्य करना तथा कोटवाल, पुलिस आदि क्रूरता वाली नौकरी करना वह सब धर्म विरुद्ध समझना। पूर्व कहे देश विरुद्धादि कार्य भी धार्मिक करे तो धर्म निंदा होती है इसलिए वह 'धर्म विरुद्ध' कहलाता है। इसलिए धर्मार्थी को इसका अवश्य त्याग करना चाहिए।

इस तरह देश विरुद्ध आदि पांच प्रकार के कार्यों का श्रावक को सर्वथा त्याग करना चाहिए। यह 'देशादि विरुद्ध का त्याग' रूप श्रावक का विशेष धर्म समझना। उचित आचरण - उचित प्रवृत्ति करना श्रावक का विशेष धर्म है। पिता का औचित्य, माता का औचित्य आदि औचित्य के नौ प्रकार कहे हैं, इन औचित्य - आचरण से भी स्नेह वृद्धि, यश: कीर्ति आदि बहुत लाभ होता है। हितोपदेश माला की गाथाओं में कहा है कि :-

सामान्ने मणु अत्ते, जं केई पाउणं ति इह कि चिं ।
तं सुणह विव्विअप्पं उचि आचरण रस माहप्पं ॥१॥

तं पुण पिइ माइ सहो अरेसु पणइणि अवच्च सयणेसुं ।
गुणजण-नायर पर तिथ्थि एसु पुरिसेण कायव्वं ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''मनुष्य जीवन में सर्व के अन्दर समानता होने पर भी जो मनुष्य इस जगत में कीर्ति को प्राप्त करता है, वह उसके औचित्य की महिमा है, इस तरह निश्चय से समझना। उत्तम पुरुष को वह औचित्य (१)पिता, (२) माता, (३) भाई, (४) पत्नी, (५) पुत्रादि, (६) स्वजन, (७) गुरुजन (बुजुर्ग), (८) नगर जन और (९) अन्य धर्मी जन का करना चाहिए।'' उसमें :-

(१) **पिता के प्रति औचित्य** - मन, वचन और काया से तीन प्रकार का होता है। वह अनुक्रम से कहते हैं :-

पिउणो तणु सुस्सूसं, विण एणं किकरूव्व कुणइ समं।
वयणं पि से पडिच्छइ, वयणाओ अपडिअं चेव ॥३॥

अर्थात् - ''पिता के शरीर की सेवा नौकर के समान विनय पूर्वक स्वयं करना और उनका वचन मुख में से निकलते ही स्वीकार करना।''

इसमें पिता के पैर धोना, शरीर दबाना, खड़े करना, नीचे बैठाना इत्यादि तथा उस देश काल में उनके शरीर - धातुओं के अनुकुल भोजन करवाना, अच्छी तरह स्नान करना, वस्त्र पहनाना, विलेपन आदि करना, अच्छी वस्तुओं से शरीर सेवा करना, वह भी अन्य मनुष्यों द्वारा नहीं परन्तु स्वयमेव, अनादर से नहीं परन्तु पूज्य भाव पूर्वक विनय से करना चाहिए और वह भी नौकर चाकर द्वारा नहीं करवाते, स्वयं करना क्योंकि कहा है कि -

पितुः पुरो निषण्णः यां शोभां लभते सुतः।
उच्चैः सिंहासनस्थस्य, शतांशेनापि सा कुतः ? ॥१॥

अर्थात् - ''अपने पिता आदि गुरुजनों के सामने विनय पूर्वक नीचे बैठा पुत्र जैसा शोभायमान होता है उसका सौवां हिस्सा भी ऊंचे सिंहासन पर बैठने से कहां हो सकता है अर्थात् वैसी शोभा नहीं होती।''

इसलिए पिता की सेवा स्वयं करनी चाहिए। यह काय औचित्य जानना। पिता के मुख में से निकलते वचन को उसी समय स्वीकार कर ले अर्थात् 'आप ने कहा है उसी तरह है' इस तरह कहकर आदर पूर्वक तुरन्त स्वीकार करे - शिरोमान्य करे। न सुने- ऐसा न करे, सिर हिलाना, अनादर करना, स्वीकार करने पर भी समय पर अमल नहीं करना। आधा किया-न किया इस तरह बीच में छोड़ना इत्यादि अनादर न करे, परन्तु प्रेम पूर्वक पूर्ण करे यह। वचन औचित्य जानना। तथा -

चित्तं पि हु अणुअत्तइ, सव्व पयत्तेण सव्व कज्जेसु।
उवजीवइ बुद्धि गुणे, निअसब्भावं पया सेइ ॥४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "प्रत्येक कार्य में मन से भी सर्वथा पिता की इच्छानुसार करना चाहिए, परन्तु उनके विचार से विपरीत न करे। बुद्धि के आठ गुणों का आश्रय लेकर और पिता के सम्मुख अपने हृदय के भाव निखालसता से प्रगट रूप कहे।"

मतलब यह है कि अमुक कार्य अमुक तरह से करना या नहीं करना ? कौन सा योग्य है ? इत्यादि अपनी बुद्धि से निश्चित रूप में समझाना, फिर भी वही करे कि जो पिता को संमत हो, सारे व्यवहारों में उनकी हित शिक्षा की इच्छा रखे, वे जो सलाह दें उसे अच्छी तरह सुने। इत्यादि 'सुश्रुषा-श्रवण' आदि बुद्धि के आठ गुणों का अभ्यास करे कि जिससे अतीव अनुभव वाले पिता आदि बुजुर्ग अति प्रसन्न होकर अपने अनुभव अनुसार उस कार्य के रहस्य को अवश्य कहें और उनको हृदय ही बात - विचार स्पष्ट बताए जैसे कि :-

आपुच्छिउं पयट्टइ, करणिज्जेसु निसे हि ओ ठाइ ।
खलिए स्वरं पि भणिओ, विणी अयं न हु विलंघेइ ॥५॥

सविसेसं परिपूरइ, धम्माणुगए मणो रहे तस्स ।
एमाइ उचिअ करणं, पिउणो जण जीइ वि तहेव ॥६॥

अर्थात् - "करने योग्य प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा प्राप्त करके करे। अमुक कार्य का वे निषेध करें तो वह न करे, भूल होने पर कठोर उलाहना भी दें तो भी विनय का उल्लंघन न करे, मन में गलत अर्थ न लगाय अपितु उपकार माने। (५)॥ पिता के मन में धार्मिक मनोरथ होते हों तो वह प्रयत्न पूर्वक सफल करे, इत्यादि पिता के विषय में उचित आचरण जानना। माता के प्रति भी उसी प्रकार जानना। (६)॥"

अभय कुमार ने पिता श्रेणिक और माता चेल्लणा के मनोरथ को जिस तरह पूर्ण किया था, वैसे ही उत्तम पुत्र को माता-पिता के इस लोक के अन्य मनोरथों को भी पूर्ण करना चाहिए और धर्म के मनोरथ भी पूर्ण करना चाहिए जैसे कि - सुदेव की पूजा, गुरु की सेवा, धर्म श्रवण, विरति व्रत आदि का स्वीकार, छह आवश्यक - प्रतिक्रमण करना, सात क्षेत्र में धन खर्च करना, तीर्थ यात्राएं करना, दीन अनाथ आदि का उद्धार करना इत्यादि उनके धर्म मनोरथों को तो बहुत ही आदर पूर्वक पूर्ण करना चाहिए। इस जन्म के समान माता-पिता के विषय में सुपुत्रों का यह कर्तव्य ही है। श्री अरिहंत देव के धर्म में जोड़ने के सिवाय महा उपकारी माता-पिता के उपकार का बदला उतारने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है। स्थानांग सूत्र में कहा है कि -

"तिण्हं दुप्पडी आरं समणाउसो। तंजहा अम्मा पीउणो भट्टीस्स, धम्मायरी अस्स, इच्चाइ॥" (अ०२, उ०१, सूत्र १३५) अर्थात् "हे श्रमण ! हे आयुष्मान् !

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीन के उपकार का बदला देना बहुत मुश्किल है– एक माता-पिता का, दूसरा स्वामी (आजीविका देने वाले) का और तीसरा धर्माचार्य का।'' उसमें १. प्रतिदिन प्रभात काल में जो पुरुष माता पिता को 'शतपाक या सहस्रपाक तेल मसल कर सुगंधी मय द्रव्यों से उनका उद्वर्तन करके सुगन्धी, उष्ण तथा ठंडे– इस तरह तीन प्रकार के पानी से स्नान करवाकर, सर्व अलंकार पहनाकर, मन पसंद पात्र में उत्तम भोजन सहित अठारह जाति के साग का भोजन कराए और जिन्दगी भर तक कंधे पर उठा कर घुमाये फिर भी माता-पिता के उपकार का बदला नहीं दे सकता, किन्तु उनको केवलि कथित वचनों को समझाकर, उनके भेद-प्रभेद का ज्ञान करवाकर उस धर्म में जोड़ता है तो ही पूर्ण बदला उतार सकता है। २. कोई धनवान किसी दरिद्री को सहायता करके धनवान बना दे, फिर वह धनवान बना दरिद्री, अपना वह उपकारी कभी दरिद्री बने या न बने, परन्तु उसे अपना सारा धन आदि समर्पण कर दे तो भी बदला नहीं दे सकता है। केवल उसे अरिहंत कथित धर्म समझाकर उसमें जोड़ दे तो ही बदला उतरता है। ३. तथविध किसी धर्माचार्य के पास में से एक भी उत्तम धार्मिक वचन प्राप्त कर कोई जीव आयुष्य पूर्ण होते देवत्व प्राप्त करे, फिर वह धर्माचार्य दुष्काल के दुःख से पीड़ित हो तो सुकाल वाले प्रदेश में पहुँचा दे या किसी भयंकर अटवी में भूले पड़े हों तो पार उतार दे अथवा उनको कोई महा दीर्घकालीन रोग हो-उसको दूर कर उनको निरोगी बना दे, फिर भी उनके उपकार का बदला नहीं दे सकता, परन्तु किसी दुष्कर्म के उदय से वे धर्म विमुख बने हों तब उन्हें श्री जिन कथित धर्म समझाकर धर्म मार्ग में लगा दे तभी उनके उपकार का बदला दे सकता है।

२. **माता का औचित्य** – माता का औचित्य भी पिता के विषय में जैसा कहा है वैसा ही सारा करना। इसके अतिरिक्त विशेष कहा है कि –

नवरं से सविसेसं, पयडइ भावाणु वित्ति मप्पडिमं।
इत्थी सहावसुलहं, पराभवं वहइ न हु जेण ॥७॥

अर्थात् – ''पिता से भी माता के प्रति अनुपम आदर भाव बताना चाहिए, क्योंकि स्त्री स्वभाव से ही वह पराभव सहन करने वाली नहीं होती। इसलिए उनका विशेष औचित्य करना चाहिए।'' पिता से माता विशेष पूज्य होने से उनका विशेष औचित्य करना युक्त ही है। मनुस्मृति २ – १४५ में कहा है कि :-

उपाध्यायाद्दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्र तु पितुर्माता, गौरवेणाति रिच्यते ॥१॥

अर्थात् – ''पढ़ाने वाले गुरु-उपाध्याय से आचार्य कलाचार्य दस गुणा होते हैं, आचार्य से पिता सौ गुणा होता है और पिता से माता हजार गुणा गौरव पात्र होती है।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३. भाई का औचित्य कहते हैं :-

उचिअं एअंपि सहो अरंमि जं निअइ अप्पसममे अं ।
जिट्ठं व कणिट्ठं पिहु, बहुमन्नइ सव्व कज्जेसुं ॥८॥

दंसइ न पुढोभावं, सब्भावं कहइ पुच्छइ अ तस्स ।
ववहारंमि पयट्टइ, न निगूहइ थेवमवि दविणं ॥९॥

अविणीअं अणुअत्तइ मित्तेहिंतो रहो उवाल भइ ।
सयण जणाओ सिक्खं, दावेइ अन्नावए सेणं ॥१०॥

हिअए ससिणेहो विहु, पयडइ कुवि व तस्स अप्पाणं ।
पडिवन्न विणय मग्गं, आलवइ अच्छम्म पिम्मपरो ॥११॥

तप्पणइणी पुत्ताइ सुं, समदिट्ठी होइ दाण सम्माणे ।
सावक्कं मि उ इत्तो, सविसेसं कुणइ सव्व पि ॥१२॥

अर्थात् - "छोटे अथवा बड़े भाइयों को अपने बराबर समझना । बड़े भाई को तो पिता के समान समझना । छोटे भाइयों का भी सर्व कार्य बहुमान पूर्वक करना । उनको अलग नहीं रखना, हृदय की बात स्पष्ट कह देना और उनके हृदय की बात पूछ लेना, उन्हें सद्व्यवहार में- व्यापार में जोड़ना, किसी भी कारण से उन्हें असद्व्यवहार में जुड़ने नहीं देना, द्रोह बुद्धि से थोड़ा भी धन आदि उनसे नहीं छिपाना चाहिए । संकट आने पर घर का निभाव - निर्वाह करने के लिए उनसे गुप्त संग्रह करना पड़े तो वह करे । भाई अविनीत हो तो उसे आइस्ते आइस्ते समझाना, सन्मार्ग में चढ़ना, आवश्यकता पड़े तो मित्र के द्वारा एकान्त में उलाहना दिलवाना, स्वजन द्वारा प्रगट रूप में उसको उपदेश नहीं परन्तु सहज से हित शिक्षा दिलवानी, हृदह में स्नेह रखना, फिर भी उसके हितार्थ बाहर से क्रोध करते रहना, इस तरह अनादर दिखाना और इस तरह करते यदि वह विनय मार्ग में आ जाय तो निश्छल प्रेम पूर्वक उसे बुलाना । सुनाना, ऐसा उपाय करने पर भी वह विनीत नहीं बने तो 'इसकी ऐसी प्रकृति है' ऐसा मानकर उपेक्षा करना परन्तु दबाव, दुराग्रह, द्वेष या दुर्ध्यान न करना । विनीत या अविनीत भाई की स्त्री-पुत्रादि के प्रति तो अपनी स्त्री, पुत्र आदि के समान वस्तु देने में अथवा सम्मान देने में समदृष्टि रखना । भेद नीति नहीं रखना और सौतेली माता के पुत्र का तो सगे भाई से भी विशेष रूप में सर्व औचित्य रखना । क्योंकि सौतेले भाई के साथ में थोड़ा भी अंतर रखने से वह जाहिर होते ही उसका चित्त टूट जाता है और लोगों में निन्दा भी होती है । इत्यादि भाई के विषय में औचित्य रखना चाहिए ।"

इसी तरह अन्य पिता समान, माता समान, अथवा भाई समान गिनना, स्त्री-पुरुष के प्रति भी यथा योग्य औचित्य आचरण करना । कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जनकपूचोपकर्ता च, यस्तु विद्या प्रयच्छकः ।
अन्नदः प्राणदपूचैव, पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥१॥

राज्ञः पत्नी गुरोः पत्नी, पत्नी माता तथैव च ।
स्व माता चोप माता च पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥२॥

सहोदरः सहाध्यायी, मित्रं वा रोग पालकः ।
मार्गे वाक्य सखा यस्तु, पञ्चैते भ्रातरः स्मृताः ॥३॥

अर्थात् - "(१) जन्मदाता पिता, (२) उपकारी, (३) विद्यादाता, (४) अन्न दाता और (५) प्राण दाता- ये पांच पिता कहे हैं अर्थात् इन सब का औचित्य पिता के समान करना। (१) राजा की पत्नी, (२) गुरु पत्नी, (३) सासु, (४) स्वयं को जन्म देने वाली और (५) सौतेली माता- ये पांचों माता के समान गिने। (१) एक ही माता का पुत्र भाई, (२) सहाध्यायी - साथ में पढ़ने वाला, (३) मित्र, (४) रोग में सहायता करने वाला तथा (५) मुसाफिरी (देशाटन) में साथ में बातें करने वाला सहायक- ये पांचों भाई कहलाते हैं अर्थात् इन सबको सगे भाई के समान मानकर भाई के समान औचित्य करना चाहिए।"

भाइयों का कर्त्तव्य है कि उसको धर्म कार्य में प्रमादी अन्य को तथा भाइयों को वह धर्म कार्य याद कराना चाहिए। अधर्ममय कार्य को रोकना, धर्म में प्रेरणा देना, बार बार धर्म में जोड़ना, इत्यादि अच्छी तरह से करना। अतः कहा है कि -

भवगिह मज्झंमि पमाय जलण जलि अ मि मोह निद्दाए।
उट्ठवइ जो सुअंतं, सो तस्स जणो परम बंधू ॥१॥

अर्थात् - "प्रमाद रूपी अग्नि से जलते संसार रूप घर में मोह नींद से सोये हुए आत्मा को जो मनुष्य जागृत करता है, वह उसका परम वास्तविक (सच्चा) बन्धु है।" मित्र के विषय में भी बन्धु के समान औचित्य करना चाहिए।

(४) **पत्नी के विषय** में कहते हैं :-

इअ भाइ गयं उचि अं, पणइणी विसयं पि किंपि जंपे मो।
सप्पणय वयण सम्माण - णेण तं अभिमुहं कुणइ ॥१३॥

सुस्सूसाइ पयट्टइ, वत्था भरणाई समुचिअं देइ ।
नाडय पिच्छण याइसु जणसंमद्देसु वारेइ ॥१४॥

रुंभइ रयणि पयारं, कुसील पासं डिसंग मवणेइ ।
गिह कज्जे सु निओअइ, न विओअइ अप्पणा सद्धिं ॥१५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "यह भाई के विषय में औचित्य कहा, अब पत्नी के विषय में भी कुछ कहते हैं। पति द्वारा पत्नी को प्रेम पूर्वक बुलाकर समय पर उचित सम्मान करना आदि, अपनी ओर उसका आदर भाव बढ़े इस तरह आचरण करना, उसे यथा योग्य बड़ों आदि की सेवा में जोड़ना, वस्त्र-आभूषण आदि जो जितना उचित हो वह उतना ही देना। जहां बहुत मनुष्य एकत्रित होते हों वहां नाटक-प्रेक्षण आदि स्थान पर जाने से रोकना, रात्रि में बाहर जाने से रोकना एवं कुशील अथवा पाखंडियों की सोहबत नहीं करने देना। घर के कार्यों में हमेशा लगा देना और अपने से अलग न करना।"

यहां रात्रि में राजमार्ग या किसी के घर जाने आदि से रोकने के लिये कहा है, उसमें विशेष यह है कि धर्म कार्य, प्रतिक्रमणादि आवश्यक कार्य के लिए तो मां बहन आदि सुशील स्त्रियों के साथ में भेजना और 'वियोग न होने देना' इसका कारण यह है कि - प्रेम प्रायः पस्पर मिलन से, दर्शन से टिकता है। कहा है कि -

अवलोअणेण आला वणेण गुण कित्तणेण दाणेणं।
छंदेण वट्टमाणस्स, निब्भरं जायए पिम्मं ॥१॥

अद्दंसणेण अइ दं सणेण दिट्ठं अणाल वंतेणं।
माणेणऽव माणेण य पंच विहं झिज्जए पेम्मं ॥२॥

अर्थात् - "देखने से, मिलने से, बोलने से, गुणों की प्रशंसा करने से, उचित वस्तु देने से और सामने वाले की इच्छा अनुसार करने से प्रेम निश्चल होता है। इससे उलटा- नहीं मिलने से, बारम्बार मिलने - अति परिचय से, मिलने पर भी नहीं बोलने से अपना बड़प्पन दिखाने से और अपमान करने से, ज्यादा परदेश आदि वियोग से, इस तरह पांच कारण से प्रेम टूट जाता है।" तथा-

अवमाणं न पया सइ, खलिए सिक्खेइ कुवि अमणुणेइ।
धण हाणि वुइ ढिघर मंत वइ अरं पयडइ न तीसे ॥१६॥

सुकुलुग्गया हिं परिणय वयाहिं निच्छम्म धम्म निरयाहिं।
सयण रमणीहिं पीइं पाउणइ समाण धम्माहिं ॥१७॥

रोगाइसु नो विक्खइ, सुसहाओ होइ धम्म कज्जेसुं।
एमाइ पणाइणी गयं, उचियं पाएण पुरिसस्स ॥१८॥

अर्थात् - "अपना अपमान हुआ हो वह स्त्री को निष्कारण नहीं बताना, यदि भूल करे तो उसको एकान्त में समझाना, शिक्षा देना एवं कोप करे तो मना लेना, उसके अतिरिक्त धन की व्यापार आदि से लाभ हानि हुई हो अथवा घर की गुप्त बात स्त्री को नहीं कहना। तात्पर्य यह है कि बिना कारण अपना अपमान उससे नहीं कहना। इससे पति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को नि:सत्व मानकर वह भी अपमान करना सीख जाती है, थोड़ी भी भूल होने पर उसे कठोर शिक्षा देनी चाहिए जिससे फिर से ऐसी भूल न करे और यदि नाराज हो जाय तो तुरन्त प्रसन्न कर लेना, नहीं तो स्त्री जाति साहसिक होने से अचानक कुएं में गिरना आदि अनर्थ करे, धन हानि की बात भी न करना क्योंकि तुच्छ स्वभाव वाली होने से लोक में वह जाहिर कर सकती है । धन लाभ की बात भी नहीं करना, इससे वह अमर्यादित खर्च कर सकती है । इस कारण से ही घर की सारी बात नहीं कहना । स्त्री को मुख्यता नहीं देना । अच्छे कुल परिणत, बड़ी उम्र वाली, प्रौढ़ निर्दभता से धर्म के आचारों में राग रखने वाली और समान धर्म वाली स्वजन - कुटुम्बियों की स्त्रियों के साथ में उसकी प्रीति करवा देना । रोग आदि आपत्ति के समय में उपेक्षा न करना । औषधादि करवाना । धर्म कार्यों में उसे अच्छी तरह से सहायता देना, इत्यादि पुरुष का अपनी स्त्री के प्रति प्राय: उचित वर्तन जानना ।''

५. पुत्र के विषय में औचित्य कहते हैं :-

पुत्तं पइ पुण उचि, पिउणो लालेइ बाल भावंमि ।
उम्मीलिअ बुद्धि गुणं कलासु कुसलं कुणइ कमसो ॥१६॥

गुरुदेव धम्मसुहिसयण परिचयं कारवेइ निच्चंपि ।
उत्तम लोए हिं समं, मित्ती भावं रयावेइ ॥२०॥

गिण्हावेइ अ पाणिं समाण कुल जम्म रूव कन्नाणं ।
गिह भारंमि निजुंजइ, पहुत्तणं विअरइ कमेणं ॥२१॥

पच्चक्खं न पसंसइ, वसणो वह याण कहइ दुर वत्थं ।
आयं वय मव सेसं च, सोहए सय मि माहितो ॥२२॥

अर्थात् - ''पुत्र के विषय में औचित्य-बचपन में पिता उसका लालन-पालन करे और सेवा आदि बुद्धि के गुण विकसित करे तब उसे प्रत्येक कलाओं का क्रमश: अभ्यास करवा कर कुशल बनाना । १६ ॥ देव, गुरु, धर्म, मित्र और स्वजनों का हमेशा परिचय करवाना तथा उत्तम शिष्ट पुरुषों के साथ में मैत्री करवाना । २० ॥ योग्य उम्र में उचित वय, समान कुल और समान रूप वाली - भिन्न गोत्र वाली कन्या के साथ में विवाह करवाए, अनुक्रम से घर का भार सौंप कर व्यवहार में जोड़ दे तथा उत्तरोत्तर घर का अधिकारी भी बना दे । २१ ॥ उसके गुण की उस की उपस्थिति में प्रशंसा न करे, क्यों कि पिता को पुत्र की प्रशंसा करना योग्य नहीं है । इस तरह निर्वाह आदि न हो, किसी संयोग में करनी पड़े तो भी उसके समक्ष न करे क्योंकि इससे उसके गुण बढ़ते हुए रुक जाते हैं और अभिमान, अविनय आदि दोष प्रगट होते हैं ॥ २२ ॥'' कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्र-बान्धवाः ।
कर्मान्ते दास भृत्याश्च, पुत्रा नैव मृताः स्त्रियः ॥१॥

अर्थात्- "गुरु जनों की स्तुति उनके समक्ष करना, मित्र और भाइयों तथा स्वजन की प्रशंसा परोक्ष में करना, नौकर-सेवक आदि की कार्य पूर्ण होने के बाद प्रशंसा करना । स्त्री की प्रशंसा उसके मरने के बाद करना और पुत्र की प्रशंसा कदापि नहीं करना ।"

पुत्र के आगे जुआ, चोरी आदि व्यवसन सेवन करने वाले मनुष्य की निर्धनता, तिरस्कार, राजदण्ड, तर्जना ताड़न आदि दुष्ट अवस्था होती है- उसका वर्णन करना कि जिससे वह व्यसनी न बने । उसके अतिरिक्त मुनाफा, खर्च तथा बचत का सारा हिसाब पुत्र के पास से मांगते रहना कि जिससे अपना प्रभुत्व कायम रहे और पुत्र स्वच्छंदी न बन जाय । तथा-

दंसेइ नरिंद सभं, देसंतर भाव पय उणं कुणइ ।
इच्चाइ अवच्च गयं, उचिअं पिउणो मुणे अव्वं ॥२३॥

अर्थात् - "राजसभा दिखानी, वहां जाने आने की समझदारी देना और अन्य देशों का स्वरूप, रिवाज आदि उसको बताना-समझाना । इत्यादि पुत्र के विषय में पिता का उचित कर्त्तव्य जानना ।" अब-

६. स्वजन सम्बन्धी औचित्य-

सयणे सु समुचिअ मिणं जंते निअगेह बुड़ ढिकज्जेसुं ।
सम्माणिज्ज सया वि हु, करिज्ज हाणी सु वि समीवे ॥२४॥

सयमवि तेसिं वसणू सवेसु हो अव्वमंति अंमि सया ।
खीण विह वाण रोगा-उराणा कायव्व मुद्धरणं ॥२५॥

खाइज्ज पिट्ठिमं सं न तेसिं कुज्जा न सुक्क कलहं च ।
तदमित्तेहिं मि तिं, न करिज्ज करिज्ज मित्तेहिं ॥२६॥

तयभावे तग्गेहे, न वइज्ज चइज्ज अत्थसंबंध ।
गुरु देव धम्मकज्जेसु, एग चित्तेहि होयव्वं ॥२७॥

अर्थात् - " पिता, माता या पत्नी के पक्ष वाले-रिश्तेदार मनुष्य स्वजन कहलाते हैं । उनका औचित्य करना, जब अपने घर वृद्धि कार्य अर्थात् पुत्र का जन्म, विवाह आदि का समय आए तब उनको निमन्त्रण देना, सत्कार-सम्मान करना तथा हानि के प्रसंग पर दरिद्रता आदि संकट में भी उनको हमेशा पास रखना-सहायक बनना । (२४) ॥ स्वयं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी उनके प्रत्येक संकट के समय या अच्छे समय पर उनके यहां जाना, सहायक बनना और दरिद्रता या रोगी अवस्था में पीड़ित हो तब अपनी शक्ति अनुसार उनका उद्धार करना। (२५) पीठ पीछे उनकी निंदा नहीं करना या उनके साथ हास्य विनोद के कारण भी झगड़ा नहीं करना। उनके विरोधियों को मित्र नहीं बनाना, यानी उनके मित्रों के साथ मैत्री करना। (२६) ॥ उनके गैर हाजिरी में उनके घर नहीं जाना, उनके साथ व्यापार लेना-देना का सम्बन्ध तो बांधना ही नहीं चाहिए और देव, गुरु या धर्म सम्बन्धी कार्य उनके साथ एक मत होकर करना चाहिए।(४)॥''इस तरह स्वजन के विषय में औचित्य कहा।

७. धर्माचार्य के विषय का औचित्य–

एमाई सयणो चिअ मह धम्माय रिअ समु चिअं भणियो।
भत्ति बहु माणं पुव्वं, तेसिं तिसं झंपि पाणं वाओ ॥२८॥

तद्दं सिअ नीईए, आवस्सपमुह किच्चकरणं च।
धम्मो वए ससवणं, तदंतिए सुद्ध सद्धाए ॥२९॥

आएसं बहुमन्नई, इमेसि मण सावि कुणइ नायन्नं।
रूंभइ अवन्न वायं, थुई वाय पयडर सया वि ॥३०॥

न हवइ छिद्दप्पेही, सुहिव्व अणु अत्तए सुहदुहेसुं।
पडिणीअ पच्च वायं, सव्व पय त्तेण वारेण ॥३१॥

खलिअंमि चोइओ गुरु जणेण मन्नइ तहत्ति सव्वं पि।
चोएइ गुरुजणं पिहु पमाय खलि एसु एगं ते ॥३२॥

कुणइ विण ओव यारं, भत्तीए समय समुचि अंसव्वं।
गाढं गुणाणुरायं निम्मायं वहइ हि अयंमि ॥३३॥

भावो वयारमे सिं, देसंतरिओ वि सुमरइ सयावि।
इअ एवमाइ गुरु जण-समुचिअमुचिअं मुणे अव्वं ॥३४॥

अर्थात् – ''इत्यादि स्वजन के प्रति औचित्य कहा। अब धर्माचार्य के सम्बन्ध में औचित्य कहते हैं। धर्माचार्य को तीन काल भक्ति बहुमान पूर्वक वंदन करना, उनकी बताई हुई नीति-विधि के अनुसार आवश्यक-प्रतिक्रमण आदि कर्त्तव्य (कर्म) करना चाहिए और शुद्ध श्रद्धापूर्वक उनके मुख से प्रतिदिन धर्म का श्रवण करना चाहिए। उनकी आज्ञा प्रेमपूर्वक मान करनी चाहिए, मन से भी अवज्ञा-अपमान नहीं करना चाहिए। उनके प्रति अवर्णवाद बोलने वाले को रोकना तथा उनकी हमेशा प्रगट रूप में प्रशंसा-स्तुति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करना, उनके छिद्र देखना नहीं, परन्तु सुख-दुःख में मित्र के समान वर्तन करना, उनके प्रति शत्रुओं के उपद्रव को रोकना, भूल हो तो सुधारें, उलाहना दें वह सब 'तहत्ति' रूप स्वीकार करना। गुरु महाराज से भी कोई प्रमाद अथवा भूल हो तो एकान्त में उनको- 'हे भगवन् ! सच्चारित्र पात्र पूज्य आप श्री जी को ऐसा करना क्या योग्य है ?' अथवा- हे भगवन्त ! आप श्री को ऐसा करना नहीं शोभता ।' इस तरह विनय पूर्वक प्रेरणा करना । धर्म गुरु आयें तब उनके सन्मुख जाना, अपने घर पधारें तब खड़े होना, आसन देना, पैर दबाना, इत्यादि विनय करना तथा शुद्ध निर्दोष वस्त्र, पात्र, आहार, पानी आदि संयम में उपयोगी सर्व साधन सामग्री उनको देनी । इत्यादि पूर्ण भक्ति से सर्व प्रकार का उस समय का उचित विनयोपचार करना । निष्कपट भाव से उनके गुणों के प्रति चित्त में अति गाढ़-अनुराग-प्रेम रखे, उन्होंने सम्यकत्व दान, व्रतोच्चारण आदि जो जो भाव उपकार किया हो उसका अन्य स्थान-देश में विचरते हों तो भी हमेशा स्मरण करना । यह सारा धर्म गुरु महाराज के आश्रित करना । वह धर्माचार्य के प्रति औचित्य कहलाता है ।''

८. नगरजनों के विषय में औचित्य-

जत्थ सयं निवसिज्जइ नयरे तत्थेव जे किर वसंति ।
ससमाण वित्तिणो ते, नायरया नाम बुच्चंति ॥३५॥

समुचिअ मिणओ तेसिं जमेग चि त्ते हिं समसुहदुहेहिं ।
वसणूसव तुल्ल गमा गमेहिं निच्चंपि हो अव्वं ॥३६॥

कायव्वं कज्जे विहु न इक्कमिक्केण दंसणं पहुणो ।
कज्जो न मंत भेओ, पेसुन्नं परिहरे अव्वं ॥३७॥

समुवट्ठिए विवाए, तुला समाणे हिं चेव होयव्व ।
कारण साविक्खेहिं, विहुणे अव्वो न नय मग्गो ॥३८॥

वलि एहिं दुब्बल जणो, सुंक कराई हिं नाभि भवि अव्वो ।
थेवा वराह दोसे वि, दंड भूमि न ने अव्वो ॥३९॥

कारणि एहिं च समं, कायव्वो ता न अत्थ संबंधो ।
किं पुण पहुणा सद्धिं अप्पहिअं अहिलसं ते हिं ॥४०॥

ए अं परुप्परं नाय राणा पाएण समुचि आचरणं ।
परतित्थि आणं समुचिअ मह किं पि भणामि लेसेणं ॥४१॥

अर्थात् - ''स्वंय जिस नगर में रहता हो उस नगर आदि में रहने वाले समान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्यापारादि से आजीविका चलाने वाले मनुष्य 'नागरिक' कहलाते हैं । (३५) ॥ उनका औचित्य परस्पर एक चित्त वाला रहना, सुख-दुःख में समान अर्थात् अन्य के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होना और एक दूसरे के संकट या उत्सव में हमेशा समान संकट या हर्ष वाला रहना । (३६)॥ कैसा भी कार्य आ जाय फिर भी अकेला राज्य दरबार में नहीं जाना । इससे दूसरे को अविश्वास होता है, विश्वास से किसी की कही हुई बात अन्य किसी को नहीं कहना, किसी की चुगली नहीं खाना या बोलना नहीं ।(३७)॥ किसी समय परस्पर विवाद हो तो भी तराजू के समान मध्यस्थ रहना, पक्षपात किसी का नहीं करना और स्वजन सम्बन्धी जाति जन आदि के सम्बन्ध से अथवा रिश्वत, उपकार या दाक्षिण्यता आदि से भी कभी भी न्याय मार्ग नहीं छोड़ना, अन्य को अन्याय करने नहीं देना । (३८)॥ अपना धन, सत्ता या पीठ बल आदि के बल से निर्बल मनुष्य को जकात, कर आदि से दुःखी हैरान परेशान नहीं करना और किसी का सामान्य-थोड़ा सा अपराध हो तो इतने मात्र से अदालत आदि में घसीटना नहीं, क्योंकि अधिक जकात, कर या राज दंड से पराभव हुआ मनुष्य विरुद्ध होकर संगठन तोड़ देता है और संगठन तोड़ना योग्य नहीं है । संगठन से ही एक दूसरे का भला होता है, इसलिए किसी का परभव हो- ऐसा नहीं करना चाहिए और एक दूसरे का संगठन नहीं तोड़ना चाहिए, सब नगरवासियों का संगठन से ही कल्याण है। (३९) ॥ अपना हित चाहने वाले को राज्य कर्मचारियों के साथ में भी धन का लेना देना करना हितकारी नहीं है तो फिर राजा के साथ में तो धन का लेना देना कैसे हो सकता है, अर्थात् उससे करना ही नहीं । (४०) ॥ इस तरह नगर जनों का प्रायः परस्पर औचित्य कहा । अब अन्य धर्मियों का औचित्य संक्षेप में कहते हैं। (४१) ॥''

६. अन्य धर्मियों का औचित्य

एए सिं तित्थि आणं, भिक्खट्ठ मुवट्ठि आण नियगेहे ।
कायव्व मुचिअ किच्चं, विसेसओ रायमहि आणं ॥४२॥

जइवि मणं मि न भत्ती न पक्खवाओ अ तग्गय गुणेसुं ।
उचिअं गिहा गए सुं, तहवि हु धम्मो गिहीण इमो ॥४३॥

गेहा गयाण मुचिअं, वसणा वडि आणं तह समुद्धरणं ।
दुहिआण दया ऐसो, सव्वेसिं सम्मओ धम्मो ॥४४॥

अर्थात् - '' अन्य धर्मियों के साधु गुरु आदि के भिक्षा के लिए घर आये तब उनको यथा योग्य दान देना इत्यादि उनका औचित्य करना, उसमें जो राजा आदि के पूज्य हों उनको तो विशेष औचित्य करना । (४२) ॥ जब कि समकितवंत के चित्त में उनकी ओर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्ति भाव या उनके गुणों का पक्षपात नहीं होता, फिर भी गृहस्थ का यह आचार है कि अपने घर आए हुए का औचित्य करना चाहिए। (४३) ॥ घर में आये का औचित्य करना, संकट में पड़े हुए की सहायता करना तथा दु:खी जन के प्रति दया करना, ये सब धर्म वालों को मान्य धर्म हैं। (४४) ॥'' इसलिए समझदार को घर आए को सम्मान पूर्वक वचन से बुलाना, बैठने के लिए कहना, जिसके लिए आए उस कार्य को पूछना, शक्य ही तो वह कार्य कर देना इत्यादि औचित्य करना।'' सुदंसणा चरित्र में कहा है कि-

सव्वत्थ उचिअ करणं, गुणाणुराओ रई अ जिण वयणे।
अगुणे सु अ मज्झत्थं, सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥१॥

अर्थात् - ''सर्व का औचित्य करना, गुणों में अनुराग करना, जिन वचन में प्रीति करना तथा अवगुणी के प्रति उपेक्षा करना- यह समकित दृष्टि का लक्षण कहलाता है।'' और भी कहा है कि-

मुंचति न मज्जायं, जल निहिणो ना ऽचला विहुचलंति।
न कयावि उत्तम नरा, उचि आ चरणं विलङ्घन्ति ॥४५॥

तेणं चिअ जग गुरुणो, तित्थयरा विहु गिहत्थ वासंमि।
अम्मा पिऊणं मुचिअं, अब्भुट्ठणाइं कुव्वंति ॥४६॥

अर्थात् - ''समुद्र कभी भी मर्यादा नहीं छोड़ता, पर्वत चलायमान नहीं होते, उसी तरह उत्तम पुरुष कभी भी उचित आचारों का उल्लंघन नहीं करते। (४५)॥ इस कारण से ही तीन जगत् के गुरु श्री तीर्थंकर परमात्मा भी गृहस्थ जीवन में माता-पिता आएं तब खड़े होना इत्यादि औचित्य करते हैं। (४६) ॥''

इस तरह व्यवहार शुद्धि के लिए गृहस्थ को आचरण करने योग्य नौ प्रकार का औचित्य कहा। इसी प्रकार से धन प्राप्ति में व्यवहार शुद्धि औचित्य आदि रखना गृहस्थ का विशेष धर्म है। व्यवहार शुद्धि का वर्णन करके उसके बाद अन्य [उपाख्यान 'मध्याह्न आदि समय में करने योग्य'] कर्त्तव्य रूप गृहस्थ के विशेष धर्म का वर्णन करते हैं। मूल गाथा-

मध्याह्नेऽर्चा च सत्पात्र दान पूर्वं तु भोजनम्।
संवरण कृतिस्तद्विज्ञैः सार्द्धं शास्त्रार्थ चिन्तनम् ॥६४॥

मूलार्थ - ''मध्याह्न काल में जिन पूजा करके सुपात्र को दान देकर फिर भोजन करे और पुन: भोजन के बाद का पच्चक्खान करके शास्त्र के ज्ञाताओं के साथ में शास्त्रार्थों का विचार करे।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याख्या - "पहले कही जिन पूजा विधि के अनुसार मध्याह्न काल में उत्तम चावल आदि से बना भोजन-नैवेद्य भेंट करना, इत्यादि विशेषतापूर्वक श्रावक दूसरी बार जिन पूजा करे ॥" यह गृहस्थ का विशेष धर्म है, यह कहा है तथा आगे भी कहेंगे। तथा साधु मुनिराज आदि सुपात्र को दान देकर बाद में ही भोजन करे । सारांश यह है कि- गृहस्थ का भोजन सुपात्र को दान पूर्वक ही होता है इसलिए दान पहले देकर फिर भोजन करे ।

मध्य कालीन प्रभु पूजा करके फिर भोजन करे, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। जब तीव्र भूख लगी हो उसी समय को भोजन काल कहा है । इस तरह लोक रूढ़ि होने से मध्याह्न काल के पहले भी पच्चक्खान पार कर देव पूजा करके भोजन कर ले तो दोष नहीं है । उसकी विधि इस प्रकार है-

सुपात्र दान की विधि - भोजन का समय होते ही साधु मुनिराज को निमंत्रण देकर उनको साथ में लेकर घर आना, स्वयं घर के पास आए मुनिराज को देखकर उनके सन्मुख जाना इत्यादि विनय करना क्योंकि दान देते समय 'गुरु प्रतिपत्ति' = सेवा रूप विनयोपचार करना वह श्रावकों का आचार है । वह प्रतिपत्ति विनय के योग शास्त्र तृतीय प्रकाश में दो श्लोक से कहते हैं-

अभ्युत्थानं तदा लोकेऽभियानं च तदागमे ।
शिरस्यञ्जलिसं श्लेषः स्वयमासन ढौकनम् ॥१२५॥

आसना भिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम् ।
तद्यानेऽनुगमेश्चेति, प्रति पत्ति रियं गुरोः ॥१२६॥

अर्थात् - "गुरु महाराज को देखते ही आसन छोड़कर आदर पूर्वक खड़े हो जाना, उनके सामने जाना, वे आ गये हों तो मस्तक पर अंजलि करके हाथ जोड़कर 'नमो खमासमणाणं' वचन बोलना। यह कार्य स्वयं करना, दूसरे से नहीं कराना और स्वयं आसन प्रदान करना, गुरु महाराज के आसन पर बैठ जाने के बाद स्वयं दूसरे आसन पर बैठना या वे खड़े हों तो स्वयं खड़े रहना । बाद में भक्तिपूर्वक पच्चीस आवश्यक की विशुद्धिपूर्वक वंदना करना। गुरुदेव को कहीं जाना न हो और किसी कार्य में रुके न हों तो पर्यु पासना = सेवा करना, उनके जाने पर कुछ दूर तक अनुगमन करना, इस प्रकार गुरु की प्रतिपत्ति (धर्माचार्य का उपचार विनय) जानना।" श्राद्ध दिन कृत्य के प्रस्ताव तीन में कहा है कि-

आसणेण निमंतेत्ता, तओ परिअण संजुओ ।
वंदए मुणिणो ताहे, खंताइ गुण संजुए ॥१७३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''गुरु महाराज को आसन स्वीकार करने की विनती करना, फिर अपने परिवार के साथ में क्षमादि गुण युक्त उन मुनिराज को वंदन करना।''

इस तरह प्रतिपत्ति-विनय करके दान देते समय श्रावक विचार करे कि-यह क्षेत्र गांव संवेगी साधुओं से अथवा असंवेगी से परिचित है ? अर्थात् यहां लोग साधुओं को दान देने की भावना वाले हैं या नहीं हैं ? अब सुकाल है या दुष्काल ? अर्थात् लोगों के भाव होने पर भी आहार दान देने की सामग्री लभ्य है या नहीं है ? तथा साधु को उपकारक अमुक अमुक वस्तु सुलभ है या दुर्लभ ? अर्थात् अन्य घरों से अमुक आवश्यक वस्तुएं उनको मिलती हैं या नहीं मिलती ? इत्यादि विचार कर उनकी आवश्यकता के अनुसार जो वस्तु अपने यहां हो वह देने के लिए प्रथम विनती करना। उसमें भी आचार्य, उपाध्याय, गीतार्थ, ज्ञानी, तपस्वी, बाल साधु, वृद्ध साधु, बीमार या क्षुधादि उपसर्ग सहन करने में अशक्त-सशक्त आदि सर्व का ख्याल करके देना। कहने का तात्पर्य यह है कि-उन मुनियों की आवश्यकतानुसार उस प्रकार की वस्तु उस काल में बहोराने का प्रयत्न करना चाहिए। उत्तम सर्व मुनियों को सर्व वस्तुओं का दान देने की भावना रखे तथा आचार्य महाराज आदि के योग्य आवश्यक सविशेष पूर्ण करने की भावना न रखे एवं दान देने में जो दूषण है उसका सेवन न करे।

दान देने में दूषण - अन्य दाता की स्पर्धा करना, बड़प्पन प्राप्ति के हेतु से दान देना, मत्सर से, स्नेह राग से, लोक लज्जा से, राजादि के भय से, अन्य की दाक्षिण्यता से, अन्य के अनुकरण से, बदला लेने की इच्छा से, कपट से, दान देने के समय में विलम्ब करने से, अनादर पूर्वक देने से, कठोर अपमान जनक शब्द कहते हुए, दान देने के बाद पश्चात्ताप करने से और दीनता पूर्वक देने से, इत्यादि दोषों से दान देना दूषित बनता है इससे उसका शुद्ध फल न मिल कर पापानुबन्धी पुण्य बंधन होता है और इससे संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए वह दूषण टालकर एकान्त से अपनी आत्मा का उद्धार करने की शुद्ध बुद्धिपूर्वक दान देना चाहिए। वह भी मुनि के विषय में बयालीस दोष रहित निर्दोष और जो अपने लिए तैयार किया हो वह अन्न, पान, वस्त्र, पात्र आदि अनुक्रम से अपने हाथ से देना चाहिए अर्थात् जो आवश्यक हो वह तथा निर्दोष देने से आत्मा को सविशेष लाभ होता है। अथवा स्वयं पास में खड़े रहकर घर की स्त्री, पुत्रादि के हाथ से दिलवाना चाहिए। श्राद्धदिन कृत्य में कहा है कि-

देसं खित्तं तु जाणित्ता, अवत्थं पुरिसं तहा ।
विज्जाव्व रोगि अस्सेव, तओ किरिअं पउंजए ॥३-१७४॥

अर्थात् - ''साधु के विहार के लिए मगध या मालवा आदि देश योग्य है अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अयोग्य है- इसका विचार करे। इस क्षेत्र में लोक संवेगी साधुओं से परिचित हैं अथवा उनके आचार को जानते हैं या नहीं जानते ? यह विचार करे। अमुक वस्तु यहां सुलभ है या दुर्लभ है। यह विचार करे। सुकाल या दुष्काल का विचार करे और पुरुष अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, बाल, वृद्ध, बीमार, सहनशील या कोमल शरीर वाला, श्रीमंत या राजपुत्रादि या असहनशील आदि सर्व का विचार करे। इस तरह सर्व विचार कर वैद्य जैसे रोगी को देश काल आदि का विचार करके, रोग नाश हो और रोगी स्वीकार कर सके, ऐसी औषध देता है, वैसे ही जिससे मुनि के शरीर को संयम का निर्वाह हो और ज्ञानादि गुणों की वृद्धि हो उसका ख्याल करके उसे आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि का दान दे।''

उसमें भी जो वस्तुएं साधु को देने योग्य हों, वह सब वस्तुएं नाम पूर्वक बताकर विनती करे, नहीं तो पहले उपाश्रय में जाकर जो निमंत्रण किया वह असत्य सिद्ध होता है और वस्तुएं नाम पूर्वक कहने पर भी साधु नहीं ले तो भी विनती करने का अपना फल मिलता ही है। इसके विपरीर नाम पूर्वक विनती नहीं करने से आहार आदि लेने की भावना हो और साधु को उस वस्तु की आवश्यकता भी हो फिर भी बहोर नहीं सकते। इससे दान देने का मिला हुआ सुअवसर निष्फल होने रूप नुकसान होता है। इस तरह गुरु महाराज को दान देकर वंदना करके द्वार तक अथवा आगे जहाँ तक अपनी अनुकूलता भावना हो वहां तक साथ में जाकर वापिस आये। यदि गांव में मुनिराज का योग न हो, तब भी भोजन के समय इर्द-गिर्द के मार्ग में राह देखे और भावनाओं का चिन्तन करे कि- 'बादल बिना की बरसात के समान अचानक भी मुनि भगवन्त पधारें तो मैं कृतार्थ बनूं।' इत्यादि विचार करे। कहा है कि-

जं साहूण न दिण्णं, कहिं पि तं सावया न भुंजंति ।
पत्ते भोअण समए, बारस्साऽऽलोअणं कुज्जा ॥१॥

अर्थात् - ''उत्तम श्रावक जो वस्तु मुनि महाराज को न दी हो उस वस्तु को किसी तरह नहीं खाता, इसलिए ही भोजन के समय दरवाजे पर मुनि श्री के आने की राह देखते रहना चाहिए।'' दान करने में उत्सर्ग-उपवाद श्राद्ध दिन कृत्य में इस तरह कहा है-

संथरणं मि अशुद्धं, दुण्हं वि गणिहंत दिंत याणऽहिअं ।
आउरदिट्ठं तेणं, त चेव हि अं असंथरणे ॥१७५॥

अर्थात् - ''साधु को दोष रहित वस्तु से निर्वाह होता हो, उस समय दूषित बहोराने से लेने-देने वाले दोनों का अहित होता है और जरूरत हो- उसके बिना न चले तब वह दूषित भी लेने-देने से दोनों का हित होता है। इस विषय पर वैद्य और रोगी का दृष्टांत समझना।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् निर्दोष-अचित्त कल्पनीय मिलने वाला हो और इससे निभाव हो सकता हो, फिर भी साधु बयालीस दोष में किसी प्रकार भी दोष वाला आहारादि लेता है, उपयोग करता है तो जैसे 'अपथ्य खाने वाले रोगी का रोग बढ़ता है वैसे ही साधु का संसार बढ़ता है और जैसे अपथ्य देने वाले वैद्य की आजीविका टूट जाती है वैसे ही निष्कारण दूषित देने वाले के आगामी जन्म का आयुष्य लम्बी स्थिति को बदलकर अल्प स्थिति वाला बन्धन होता है। इस तरह वैद्य और रोगी दोनों का जैसे कुपथ्य से अहित होता है वैसे ही यहां भी दोनों का अहित होता है। ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

जो जह व तह लद्धं गिण्हइ आहारमुव हिमाई अं ।
समण गुण मुक्क जोगी, संसार पवड्ढओ भणिओ ॥४४६॥

अर्थात्-"साधुता से रहित, लोलुपता से साधु आहार-पानी-उपधि आदि सदोष-निर्दोष जैसा मिलता है, वैसा ग्रहण करता है- वह ज्ञानी होने पर भी संसार की वृद्धि करने वाला कहा है। फिर भी अज्ञानी के लिए क्या कहना ?" दायक के विषय में भी श्री भगवती सूत्र २०३ में कहा है कि-

"कहंण्णं भंते ! जीवा अप्पाउत्ताए कम्मं पकरिं ती ? गोयमा ! पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहा रूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणे सणिज्जेणं असणणाण खाइमसा इमेणं पडीला भित्ता भवइ एवं खलु जीवा अप्पाउत्ताए कम्मं पकरिं ती ॥"

अर्थात् - "श्री गौतम स्वामी ने पूछा- 'हे भगवंत ! जीव किस कारण से अल्प आयुष्य वाला कर्म बन्धन करता है ?' भगवंत ने कहा- 'हे गौतम ! जीव हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला और इसी प्रकार के श्रमण को अथवा माहण को सचित्त तथा अनेषणीय बयालीस दोष वाला आहार, पानी, खादिम या स्वादिम बहोराने वाला जीव निश्चय से आयुष्य कर्म अल्प स्थिति वाला बन्धन करना है।"

इस तरह उत्सर्ग से तो दोनों की हानि करने वाला दान अहितकर है, परन्तु रोगी की कभी ऐसी भी अवस्था होती है कि पथ्य भी कुपथ्य होता है और किसी को ऐसा रोग भी होता है कि जिसमें कुपथ्य वस्तु भी पथ्य रूप होती है। वैसे ही दान लेने-देने वाले में भी अपवाद से दुष्काल, बीमारी आदि विशेष कारण से तो दूषित भी आहारादि लेने देने वाले दोनों को किसी अवस्था के योग से उपकार- हितकर भी होता है। तात्पर्य यह है कि 'पुष्ट कारण के बिना दोषित आहारादि लेने-देने से वह कर्म बंधन का कारण है।' तथापि ओघ निर्युक्ति में कहा है कि-

सव्वत्थ संजमं संयमा ओ, अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चइ अइ वायाओ, पुणो वि सोही न याविरई ॥४४७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''सर्व प्रवृत्ति में संयम की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु यदि संयम की रक्षा करते प्राणों का (शरीर का) नाश होता है तो संयम को गौण करके भी शरीर का रक्षण करना। क्योंकि अपवाद सेवन करके संकट में से मुक्त होने के बाद पुनः विशोधन (प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि) हो सकती है और आशय शुद्ध-संयम रक्षा का भाव होने से अविरति जन्य कर्म का बन्धन नहीं होता है।''

इस प्रकार आगम के रहस्य को जानने वाला गीतार्थी, आवश्यक होने पर ज्ञानादि गुण रूप अधिक लाभ के उद्देश्य से दूषित भी आहारादि ले अथवा दाता दे फिर, भी वह अहित कर नहीं है। व्यवहार भाष्य में कहा है कि-

अप्पेण बहुमेसेज्जा, ए अं पंडिय लक्खणं ।
सव्वासु पडि सेवासु, ए अं अट्ठा पयं विऊ ॥१॥

अर्थात् - ''थोड़ी हानि का नुकसान करके भी अधिक लाभ की इच्छा करना पंडित का लक्षण है। विद्वानों ने सर्व के प्रति सेवा में यह व्यवहारी संकेत किया है।''

कहने का तात्पर्य है कि-जिन प्रवृत्तियों में हानि करने से लाभ विशेष होता हो तो थोड़ा नुकसान खाकर कर भी विशेष लाभ प्राप्त करना चाहिए, यह योग्य मार्ग है। व्यवहार पीठिका में कहा है कि-

काहं अछितिं अदुवा अहीहं, तवो व हाणेसु अ उज्ज मिस्सं ।
गणं च नीईइ व सार विस्सं, सालं व सेवी समुवेइ मुक्खं ॥१॥

अर्थात् - ''साधु मुनिराज ऐसा आशय रखते हैं कि-'अपवाद सेवन कर मैं मोक्ष मार्ग को अखण्ड रखूँगा अथवा ज्ञानादि अभ्यास करूँगा अथवा तप उपधान में विशेष उद्यम करूंगा अथवा न्याय से जिनाज्ञा अनुसार साधु समुदाय को सुनाऊँगा' इत्यादि शुद्ध आलम्बन से अपवाद को सेवन करने वाला भी मोक्ष को प्राप्त करता है।'' यह दूषित लेने वाले के विषय में कहते हैं कि-दातार को भी (पुष्ट) कारण से दूषित भी देने से गुणकारी होता है। श्री भगवती सूत्र २६३ में कहा है कि-

''समणो वास यस्स णं भंते ! तहा रूवं समणं वा माहणं वा अफा सु एणं अणे सणि ज्जेणं असण, पाण, खाइम, साइमेणं पडिलाभे माणस्स किं कज्जइ ? गोयमा! बहुतरिआ से णिज्जरा कज्जइ, अप्प तरए से पाव कम्मे कज्जइ त्ति ॥''

अर्थात्-श्री गौतम स्वामी जी ने प्रश्न किया-'हे भगवन्त ! श्रावक द्वारा इसी प्रकार के श्रमण को अथवा माहण को संकट के समय में सचित्त या अकल्पनीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम बहोराने से उसे क्या फल मिलता है ?' भगवन्त ने कहा कि-'हे गौतम!

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसे बहुत से कर्मों की निर्जरा और अल्प मात्र पाप कर्म का बन्धन होता है । श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

पहसंत गिलाणेसु, आगमगाहीसु तहय कय लोए ।
उत्तर पारण गाम्मि अ, दिण्णं सुब टु फलं होइ ॥२७२॥

अर्थात् - ''पंथ-विहार से थके हुए को, बीमार को, न्याय तर्क, कठिन शास्त्र-आगम पढ़ने वाले को, लोच करने वाले को अथवा तप के उत्तर पारने के तपस्वी को दिया हुआ दान महान फल को देने वाला होता है ।''

इस विषय में समझना कि ऊपर कहे सब दान की विधि धनिक श्रावक के विषय में है, क्योंकि वही एक दूसरे पक्ष आदि का भेद रखे बिना सर्व साधुओं को समान रूप में आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि सब कुछ दे सकता है । दरिद्र श्रावक तो उस तरह से सर्व को देने में अशक्त होने से स्वयं साधुओं को 'दान की श्रद्धा वाले अन्य श्रावकों के घर' बताता है अर्थात् अन्य के घर में ले जाता है अथवा तुच्छ-सामान्य स्थिति वाला स्वयं सर्व को समान रूप से देने में असमर्थ होने पर जिसका बदला न दे सके ऐसे अपने नजदीक के उपकारी धर्म गुरु महाराज विशेष पूजनीय होने से उनके परिवार के साधुओं की स्वयं अपने आप भक्ति करता, और अन्य साधुओं को धनिक श्रावक के घर बताता है । इस कारण से कहा है कि-

सड्ढेणं सइ विहवे, साहूणं वत्थ माइ दायव्वं ।
पुणवंताणऽविसेसो, दिसाइ तत्थवि न जेसत्थि ॥१॥

अर्थात् - ''श्रावक स्वयं वैभवशाली हो तो प्रत्येक साधु-साध्वी को वस्त्रादि सर्व समान देना, गुणवंत में भेद नहीं रखना, सामान्य वैभव वाला दिशा पूर्वक पूर्वक नीचे कहे अनुसार देना ।'' प्रत्याख्यान पंचाशक में कहा है-

संते अरलद्धि जुए अराइ भावेसु होइ तुल्लेसुं ।
दाणं दिसाइ भेए, तीएऽदिंत्तस्य आणाई ॥५-४३॥

अर्थात् - ''वस्तुतः श्रावक को किसी प्रकार के भेद बिना समान रूप से सर्व साधुओं को दान देना चाहिए, परन्तु जो अल्प संपत्ति वाले इस तरह न दे सकें, उनकी विधि प्रश्नोत्तर से समझाते हैं ।''

इस गाथा की व्याख्या में शंका समाधान इस तरह कहते हैं कि-प्रश्न- ''लेने वाले साधु वस्त्रादि अपेक्षा से समान हों और सर्व को समान रूप में देने की शक्ति न हो तब क्या करना ?'' उसका उत्तर देते हैं- ''साधुओं में कई वस्त्रादि से युक्त और कई वस्त्रादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपकरण रहित– आवश्यकता वाले हों, आवश्यकता वालों में कई लब्धिवंत = वस्त्रादि प्राप्त कर सकता हो– ऐसी पुण्य शक्ति वाले, और कई उस शक्ति से रहित सामान्य होते हैं, उन शक्ति–लब्धि रहित साधुओं में भी कई सपक्ष अर्थात् वस्त्र आदि देने वाले अन्य साधु की सहायता वाले हों और किसी को ऐसी सहायता भी न हो। अन्य रूप में दान लेने वाले साधु उस अवस्था में समान हों जैसे कि–प्रत्येक वस्त्रादि वाले हों या उसकी आवश्यकता वाले हों, आवश्यकता वाले होने पर भी सर्व वस्त्रादि प्राप्ति की लब्धि वाले हों, अथवा ऐसी लब्धि से रहित के हों या वे अन्य सहाकारी साधुओं की सहायता से प्राप्त कर सकते हों अथवा अन्य की सहायता बिना हों, इस तरह जो तुल्य हों, तो अल्प संपत्ति वाले श्रावक को तुल्य साधुओं में दिग् बंधन से जो नजदीक हो उनको दान देना। दिग् बन्धन जैन पारिभाषिक शब्द है। इसका भावार्थ यह है कि दान देने वाले गृहस्थ के ऊपर जिस साधु धर्मोपदेशक का विशेष उपकार हो, उस साधु का उस गृहस्थ के साथ विशेष सम्बन्ध गिना जाता है। वह साधु उस गृहस्थ को दिशा से नजदीक गिना जाता है। उसे दान दे। अर्थात् वस्त्र वाले दो में, वस्त्र बिना के दो में, लब्धि वाले दो में, लब्धि बिना के दो में, सहकारी साधु की सहायता वाले दो में, और सहकारी साधु की सहायता बिना के दो से भी जो साधु दिशा के सम्बन्ध में नजदीक के हों उनको दान देना।"

फिर प्रश्न करते हैं कि– "समान अवस्था वाले को भी जो दिशा का उल्लंघन करके दान दे उसे क्या होता है ?" उत्तर– "दिशा से नजदीक हो उसे मर्यादा अनुसार नहीं देने से १. जिनेश्वर देव की आज्ञा का भंग होता है, २. अनवस्था (अनिष्ट परम्परा), ३. मिथ्यात्व और ४. विराधना से दोष लगता है। श्रीमंत सेठ श्रावक को दिशा की मर्यादा नहीं है आगम में 'आभवत् व्यवहार' की अपेक्षा से अर्थात् गृहस्थ जिस साधु मुनिराज के उपदेश आदि से भावित बना हो उस साधु का उसके ऊपर अधिकार–हक गिना जाता है। उससे पूछे बिना अन्य उसे दीक्षा या व्रत आदि नहीं दे सकता है। ऐसे अधिकार की व्यवस्था 'आभवत् व्यवहार' कहलाती है। ऐसा दिशा का सम्बन्ध जो दीक्षा की इच्छा वाला हो अथवा जिसने दीक्षा लेकर छोड़ दी हो, ऐसे गृहस्थ के लिए ही देखा जाता है, सबके विषय में नहीं है क्योंकि 'कल्प व्यवहार में दिशानी' व्यवस्था इस तरह कही है– 'दीक्षा लेने की इच्छा वाले श्रावक ने सामायिकादि शास्त्राभ्यास करते जिसके पास से धर्म का प्रतिबोध–ज्ञान प्राप्त किया हो, वह तीन वर्ष तक उसी आचार्य का ही गिना जाता है।' कहा है कि–

सामाइ आइए खलु, धम्मायरि अस्स तिण्णि जा वासा।
नियमेण होइ से हो, उज्जमओ तदुवरिं भयणा ॥१॥

अर्थात् – "सामायिकादि सूत्र के अभ्यास आदि में उद्यम करता हुआ दीक्षार्थी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रावक जब तक तीन वर्ष पूर्ण न हों तब तक नियम से जिसके पास में वह सामायिक आदि पढ़ा हो उसी धर्माचार्य (प्रतिबोधकाचार्य) का शिष्य जानना। उसके बाद का नियम नहीं है।''

यदि निन्हवादि मिथ्यात्व अवस्था, पतन होकर पुनः दीक्षा स्वीकार करे, उसके लिए अपनी इच्छानुसार दिशा समझना। क्योंकि मिथ्यात्वी बनने से पूर्व गुरु के साथ में सम्बन्ध का नियम नहीं है। परन्तु दीक्षा छोड़ने पर भी सम्यकत्व छोड़ा न हो, वह श्रावक यदि फिर से दीक्षा लेने की इच्छा करें तो वह दीक्षा छोड़ने से तीन वर्ष तक पूर्व गुरु का ही गिना जाता है, अन्य के पास में दीक्षा आदि नहीं ले सकता है। और कहा है कि-

परलिंगि निन्हवे वा, सम्मद्दंसण जढे उ उवसंते।
तद्दिव समेव इच्छा, सम्मत्त जुए समा तिण्णि ॥१॥

अर्थात् - ''जो दीक्षा छोड़कर अन्य धर्म का साधु बन जाय अथवा निन्हव हो जाय या दीक्षा और सम्यकत्व दोनों से भ्रष्ट हो जाय, इस तरह समकित से भी पतित बनने के बाद यदि पुनः उसका मिथ्यात्व उपशान्त हो जाय अतः जैन दीक्षा या धर्म को स्वीकार करे तो उस दिन से ही इच्छा अनुसार वह किसी को भी गुरु बना सकता है। परन्तु जिसने चारित्र छोड़ने पर भी सम्यकत्व नहीं छोड़ा, उसको तो जब से चारित्र छोड़ा तब से तीन वर्ष तक पूर्व गुरु का ही जानना।''

उसमें सम्यकत्व होने पर भी यदि छोड़ देता है तो उसके विषय में इतना विशेष है कि उनके दो प्रकार होते हैं, एक 'सारूपी' अर्थात् रजोहरण के अतिरिक्त अन्य साधु वेश धारण कर रखने वाला, और दूसरा 'गृहस्थ' अर्थात् सारे साधु वेश को छोड़ने वाला। उसमें 'सारूपी' तो जावज्जीव तक पूर्वाचार्य (पूर्व गुरु) का ही गिना जाता है और उसके द्वारा मूंडे हुए शिष्य भी सारूपी के पूर्व गुरु के ही गिने जाते हैं। परन्तु यदि उसने मूंडे न हों, किन्तु केवल प्रतिबोध किया हो- धर्म प्राप्त करवाया हो उनको तो अपनी इच्छानुसार जिस गुरु को चाहे उस गुरु को सारूपी सौंप सकता है और जिसको सौंपता है उस आचार्य के वह गिने जाते हैं। परन्तु उस सारूपी के प्रति सारूपी बनेने से पहले या बाद में मूंडे शिष्यों के लिए विधि है कि वे भी उस सारूपी के पूर्व गुरु के ही गिने जाते हैं। कहा है कि-

सारूपी जा जीवं, पुव्वा यरि अस्स जे अ पव्वावे।
अप्पा विए संछदो, इच्छाए जस्स सो देइ ॥१॥

अर्थात् - ''सारूपी बना हो, फिर भी जावज्जीव पूर्वाचार्य का ही गिना जाता है और सारूपी बनने के बाद भी उसके मूंडे शिष्य उस सारूपी के पूर्वाचार्य के ही गिने जाते हैं। परन्तु सारूपी बनने के बाद प्रतिबोध किया हो अथवा पढ़ाये हों परन्तु मूंडे न हों, तो उनकी इच्छानुसार गुरु को स्वीकार कर सकते हैं। जिसको उनकी इच्छा हो उस गुरु को सारूपी सौंप सकता है।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यह एक मर्यादा सारूपी के विषय में कही है। अब जो साधु का सारा वेश छोड़कर गृहस्थ बना हो, उसके भी दो भेद हैं- एक मस्तक मुंडित और दूसरा शिखा-चोटी रखने वाला। इन दोनों प्रकार के गृहस्थ बने हुए के पूर्वाचार्य (पूर्व गुरु) ही माने जाते हैं। इतना ही नहीं, दीक्षा छोड़ने के बाद तीन वर्ष तक जिनको बोध-ज्ञान दिया हो, मूंडे हों वे भी उसके पूर्वाचार्य के ही गिने जाते हैं और कहा है कि-

जो पुण गिहत्थ मुंडो, अहवाऽमुंडो उ तिण्ह वरिसाणं।
आरेणं पव्वावे, सयंपुव्वायरिय सव्वो ॥१॥

अर्थात् - "जो दीक्षा में से गृहस्थ बना हो, 'मूंडा' अथवा 'अमूंडा' हो तथा उसके बाद तीन वर्ष के अन्दर उसने यदि अन्य को मूंडा हो, वह सब उसके पूर्वाचार्य के ही जानना।"

यह संक्षेप में 'दिशा का' किसके ऊपर कितना अधिकार होता है उसका स्वरूप कहा। इसलिए दान दातार समान्य स्थिति को श्रावक ने अपने ऊपर किये उपकार की अपेक्षा से गुरु महाराज के अधिकार का विचार करके, जब दोनों समान अवस्था वाले साधुओं को दान देने का अवसर आए तब, पूर्व कहे अनुसार दिशा से जो नजदीक हो उसको दान देना चाहिए। यह दान की विधि में उत्सर्ग-अपवाद का रहस्य जानना।

यह संक्षेप में 'दिशा का' किसके ऊपर कितना अधिकार होता है, उसका स्वरूप कहा। इसलिये दान दातार सामान्य स्थिति के श्रावक ने अपने ऊपर किये उपकार की अपेक्षा से गुरु महाराज के अधिकार का विचार करके जब दोनों समान अवस्था वाले साधुओं को दान देने का अवसर आये तब पूर्व कहे अनुसार दिशा से जो नजदीक हो उसको दान देना। इस दान की विधि में उत्सर्ग-अपवाद का रहस्य जानना।

साधु को निमन्त्रण देना, भिक्षा देना इत्यादि दान देने में उपयोगी विशेष स्वरूप तो अतिथि संविभाग व्रत के अधिकार में विस्तार पूर्वक कहा ही है। वहां से जान लेना। यह सुपात्र-दान देने वाले को दिव्य-देव लोक और औदारिक-उत्तम मनुष्यादि जन्म के इष्ट सुख-समृद्धि-साम्राज्य आदि देकर मोक्ष सुख को भी शीघ्रमेव देता है। कहा है कि-

अभयं सुपत्त दाणं, अणुकंपा उचिअ कित्ति दाणां च।
दो हि वि मुक्खो भणिओ, तिण्णि विभोगा इअं दिंति ॥१॥

अर्थात् - "अभय दान, सुपात्र दान, अनुकंपा दान, उचित दान और कीर्ति दान- इस तरह दान पांच प्रकार का है। असमें पहले दो दान से मोक्ष प्राप्ति होती है और अन्तिम तीन दान उत्तम भोग आदि को देते है।" दान देने की पात्रता के विषय में कहते हैं कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्तम पत्तं साहू, मज्झिम पत्तं च सावया भणिआ ।
अविरय सम्म दिट्ठी, जहन्न पत्तं मुणे अव्वं ॥१॥

अर्थात् - "साधु उत्तम पात्र है, व्रतधारी श्रावकों को मध्यम पात्र कहा है और अविरति-व्रत पच्चक्खान रहित समकित दृष्टि आत्मा जघन्य पात्र है, इस तरह जानना।" और भी कहा है कि-

मिथ्यादृष्टि सहस्त्रेसु, वरमेको ह्यणुव्रती ।
अणुव्रति सहस्त्रेषु, वरमेको महाव्रती ॥१॥

महाव्रति सहस्त्रेषु, वरमेको हि तात्त्विकः ।
तात्त्विकस्य समं पात्रं, न भूतं न भविष्यति ॥२॥

अर्थात् - "हजारों मिथ्यादृष्टि से एक अणुव्रत धारी श्रावक श्रेष्ठ है, हजारों अणुव्रत वालों से एक महाव्रतधारी साधु उत्तम है और हजारों महाव्रतधारिओं में एक तात्त्विक (आत्मादि तत्त्वों का जानकार- ज्ञान दशा वाला) श्रेष्ठ है, क्योंकि तत्व ज्ञानी के समान पात्र न होगा, नहीं है और न होने वाला है। ऐसा पात्र किसी स्थान पर, किसी काल में, किसी को ही मिलता है।"

इस तरह से साधु-साध्वी आदि का योग हो तब विवेकी पुरुष को अवश्यमेव सुपात्र-दान देना चाहिए, इसके अतिरिक्त उत्तम श्रावक को भोजनादि के समय में घर आए साधर्मिकों को भी अपनी शक्ति अनुसार अपने साथ में भोजन करवाना चाहिए, कारण कि उनमें भी सुपात्रत्व होता है। साधर्मिक का वात्सल्य भी महाफल को देने वाला होता है। श्राद्धदिन कृत्य में कहा है कि-

साहम्मिआण वच्छल्लं, कायव्वं भत्ति निब्भरं ।
दे सिअं सव्वदंसीहिं, सासणस्स पभावणं ॥१॥

अर्थात् - "शासन की प्रभावना करने वाला साधर्मिकों का वात्सल्य पूर्ण रूप से भक्ति पूर्वक करना चाहिए, इस तरह श्री सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा है।" इसकी विधि आगे वार्षिक कर्त्तव्यों में बतायेंगे।

भिखारी आदि को औचित्य दान देना चाहिए। वापिस भेजना नहीं चाहिए, इससे उसको श्री जिन धर्म के प्रति अप्रीति जागृत होती है और मिथ्यात्वादि कर्म का बन्धन होता है, इसलिए उसका कर्म बन्धन नहीं होता तथा दुःखी को देखकर अपने पास सुख-सामग्री होने पर भी उसका उद्धार नहीं करने से हृदय कठोर बनता है तथा भोजन के समय द्वार बन्द रखना- यह उत्तम अथवा दयालु आत्माओं के लक्षण नहीं है। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नेव दारं पिहावेइ, भुंजयाणो सुसावओ ।
अणुकंपा जिणिं देहिं, सड्ढाणं न निवारिआ ॥२२०॥

अर्थात् - "भोजन के समय उत्तम श्रावक द्वार बन्द न करे, कराये भी नहीं, क्योंकि श्री जिनेश्वर भगवान ने श्रावकों को अनुकम्पा दान देने का निषेध नहीं किया है।" तथा धर्म संग्रहणी में कहा है कि-

दट्ठुण पणि निवहं, भीमे भव सायरंमि दुक्खत्तं ।
अविसेस ओऽणुकंपं, दुहावि सामत्थ ओ कुणइ ॥८११॥

अर्थात् - "भयंकर संसार समुद्र में जीवों को दुःख से पीड़ित होते देखकर श्रावक भेद-भाव बिना सामर्थ्य अनुसार आहार-वस्त्रादि देकर 'द्रव्य दया' और उससे धर्म में जोड़ कर 'भाव दया'- इस तरह दोनों प्रकार की दया करे।"

श्री भगवती सूत्र आदि में भी श्रावकों के वर्णन के समय श्रावकों को **'अवगुय दुवारा'** अर्थात् अभंग = खुले द्वार वाला कहा है। श्री जिनेश्वर भगवान ने भी वार्षिक दान देकर लोगों का उद्धार किया ही है। अर्थात् किसी ने अनुकंपा दान का निषेध नहीं किया है। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

सव्वेहि पि जिणेहि, दुज्जय जिय राग दोस मोहे हिं ।
अणुकंपा दाणं सड्ढ याणं, न कहिं पि पडिसिद्धं ॥२२१॥

अर्थात् - "राग, द्वेष और मोह रूप दुर्जन शत्रुओं को विजय करने वाले भी सर्व श्री जिनेश्वरों ने श्रावकों को किसी भी स्थान पर अनुकंपा दान का निषेध नहीं किया है।" रायपसेणी उपांग सूत्र में श्री केशी गणधर ने प्रदेशी राजा को उपदेश देते हुए कहा है कि-

"मा णं तुमं पएसी ! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जामि" इत्यादि, अर्थात् "हे प्रदेशी राजा ! तुम पहले सर्व को दान देने से प्रशंसा पात्र बने हो, अब जैन धर्मी के अनुयायी बनकर अनुकंपादि छोड़कर निन्दा पात्र मत बनना।" इत्यादि।

माता-पिता-भाई-बहन आदि की, पुत्र-पुत्री आदि संतानों की, पुत्र वधू आदि की, बीमार की तथा में घर बांध कर रखे गये गाय-भैंस आदि पशु इत्यादि प्रत्येक की- भोजन, औषध, घास, पानी आदि से करने योग्य उचित सार-संभाल करके फिर श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार महामंत्र के स्मरण पूर्वक जो पच्चक्खान या त्याग आदि का नियम हो, उसे सारा याद करके शरीर के लिये हितकर पथ्य भोजन करे, कुपथ्य का त्याग करे। कहा है-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पितुर्मातुः शिशूनां च, गर्भिणी वृद्ध रोगिणाम् ।
प्रथमं भोजनं दत्वा, स्वयं भोक्तव्यमुत्तमैः ॥१॥

चतुष्पादानां सर्वेषां, धृतानां च तथा नृणाम् ।
चिंतां विधाय धर्मज्ञः, स्वयंभुञ्जीत नान्यथा ॥२॥

अर्थात् - "उत्तम पुरुषों को पहले पिता-माता को, बालक को, गर्भवती स्त्री को, वृद्धों को, और रोगी को प्रथम भोजन करवाकर फिर भोजन करना चाहिए । (१) ॥ तथा धर्म के जानकार श्रावक सर्व को पशुओं की और किसी कारण से काबू रखे हों उन मनुष्यों की भी सार संभाल करके बाद में भोजन करना चाहिए । उसके बिना न करें । (२)॥ "

'साम्य' अर्थात् शरीर को अनुकूल रहे- इस तरह पथ्य रूप भोजन करना चाहिए । इसका स्वरूप पूर्व में गृहस्थ के सामान्य धर्म के वर्णन में पैंतीस गुणों के अधिकार में कहा है । इस तरह लोलुपता को छोड़कर एवं अभक्ष्य-अनंतकाय आदि बहुत पाप कर्म वाली वस्तुओं को छोड़कर, पाचन हो सके इतना भोजन करना चाहिए । नीति शास्त्र में तो इस विषय में कहा है कि-

अधौत मुख हस्ताङ्घिर्नग्नश्च मलिनांशुकः ।
सव्वेन हस्तेनाऽनात्त स्थालो वा भुञ्जीत न क्वचित् ॥१॥

एक वस्त्रान्वितश्चार्द्ध वासा वेष्टित मस्तकः ।
अपवित्रोऽतिगर्ह्यश्च, न भुञ्जीत विचक्षणः ॥२॥

उपानत्सहितो व्यग्र चित्तः केवल भू स्थितः ।
पर्यङ्कस्थो विदिग्याम्याननो नाद्यात्कृशाननः ॥३॥

आसनस्थपदो नाद्यात्, श्व चण्डा लैर्निरीक्षितः ।
पतितैश्च तथा भिन्ने, भाजने मलिने मलिनेऽपि च ॥४॥

अमेध्यसम्भवं नाद्यादृष्टं भ्रूणादि घातकैः ।
रजस्वला परिस्पृष्टमा ध्रातं गोश्व पक्षिभिः ॥५॥

अज्ञातागमभज्ञातं, पुनरूष्णीकृतं तथा ।
युक्तं चवचवा शब्दैर्नाद्याद्वक्रविकारवान् ॥६॥

आह्वानोत्पादित प्रीतिः, कृत देवाभि धास्मृति ।
समेपृथा वनत्युच्चै र्निविष्टो विष्टरे स्थिरे ॥७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मातृष्वस्त्रम्बिका जामि भार्याद्यैः पक्वमादरात् ।
शुचिभिर्युक्तिमदिभश्च, दत्तं चाद्याज्जनेऽसति ॥८॥

कृत मौनमव काङ्गं वहद्दक्षिणासिकम् ।
प्रतिभक्ष्यं समाघ्राण हृतदुष्टदोषविक्रियम् ॥९॥

नातिक्षारं नचात्यम्लं, नात्युष्णं नाति शीतलम् ।
नीति गौल्यं नाति शाकं, मुख रोचकमुच्चकैः ॥१०॥

अङ्ग मर्दन नीहार भारोत्क्षेपोपवेशनम् ।
स्नानाद्यं च कियत्कालं, भुक्त्वा कुर्यान्न बुद्धिमान् ॥११॥

भुक्त्वोपविशतस्तुन्दं बलमुत्ता नशायिनः ।
आयुर्वामकटि स्थस्य, मृत्युर्धावति धावतः ॥१२॥

भोजनानन्तरं वाम कटिस्थो घटिका द्वयं ।
शयीत निद्रया हीनं, यद्वा पद शतं व्रजेत् ॥१३॥

अर्थात् - "गृहस्थ मुख, हाथ तथा पैर धोये बिना, नग्न होकर या मैले वस्त्र पहन कर, बायें हाथ से थाल या बर्तन पकड़े बिना कभी भी भोजन न करे। (१) ॥ एवं बुद्धिमान गृहस्थ एक ही वस्त्र लपेटकर या पहनकर, आधे वस्त्र से मस्तक लपेटकर, अपवित्र शरीर से और अति निन्दा हो इस तरह से भोजन करे नहीं। (२)॥ जूते चप्पल पहनकर, व्यग्र चित्त से, केवल जमीन पर बैठकर, आसन बिना अथवा पलंग पर बैठकर, विदिशा या दक्षिण दिशा के सम्मुख बैठकर तथा संकुचित (छोटे से मुंह वाले) बर्तन में भोजन न करे। (३) ॥ आसन पर पैर रखकर, खड़े पैर से बैठकर या कुत्ते, चंडाल तथा पतित-हलके लोगों के देखते और टूटे-फूटे या मलिन बर्तन में भोजन न करे। (४) ॥ अशुचि में पकाया हुआ, बाल हत्या आदि करने वाले पापी की दृष्टि जिसमें पड़ती हो, रजस्वला स्त्री ने स्पर्श किया हो, कुत्ते आदि पशु या पक्षियों ने सूंघा हो - ऐसा भोजन नहीं खाए। (५) ॥ अज्ञात देश या अज्ञात स्थान से आया हुआ, जिसका नाम- स्वरूप या गुण-दोष न जाने हों- ऐसा अज्ञात तथा पुनः गरम किया हुआ भोजन न करे तथा भोजन करते समय 'चब-चब' शब्द नहीं करना और मुंह बहुत चौड़ा करना इत्यादि मुंह की चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए। (६) ॥

इस तरह अविधि कहकर अब भोजन की विधि कहते हैं- अन्य ने आमंत्रण देकर प्रीति उत्पन्न की हो अर्थात् प्रेम पूर्वक आमंत्रण मिला हो, तब वहां अपने इष्ट देव के नाम का स्मरण करके स्थिर, चौड़ा हो, बहुच ऊंचा न हो, समान आसन पर बैठकर भोजन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करे। (७) ॥ वह भी स्नानादि से पवित्र होकर, माता, मौसी, बहन या स्त्री आदि ने आदर पूर्वक पकाया हो और परोसने का क्रम आदि भोजन करने की युक्ति की जानकार माता आदि परोसती हो, ऐसा भोजन याचक आदि न देखे ऐसे स्थान पर बैठकर भोजन। (८) ॥ वह भी मौनपूर्वक, शरीर को टेढ़ा किया बिना, दाहिनी नासिका में वायु बहता हो तब, हलके लोगों के दृष्टि दोष (नजर) के विकार को रोकने के लिए प्रत्येक सूंघ कर भोजन करे। (९) ॥ वह भी अति खारा, अति खट्टा, अति गरम, अति ठंडा, अति मीठा या अति साग वाला, तीखा, चरपरा नहीं खाना, परन्तु जैसा मुख को रुचिकर हो वैसा भोजन करे। (१०) ॥ इस तरह भोजन करके बुद्धिमान पुरुष को तुरन्त ही अंग मर्दन, मल मूत्र, भार उठाना, बैठे रहना और स्नान करना इत्यादि कार्य कुछ काल तक नहीं करना चाहिए। (११) ॥ क्योंकि भोजन करके बैठे रहने वाले का पेट बढ़ता है, उत्तान- सीधा सोते रहने से बल बढ़ता है, बायीं करवट सोने से आयुष्य बढ़ता है और दौड़ने वाले की मुत्य दूर दौड़ती है (१२) ॥ इसलिए भोजन करने के बाद दो घड़ी बायें करवट से जागते-सोते रहना अथवा सौ कदम चलना चाहिए ॥ (१३) ॥''

अब चालू गाथा के उत्तरार्द्ध में कहा है '**संवरण कृतिस्त द्धिसै, सार्धं शास्त्रार्थ चिन्तनम्।**' उसमें '**सवंरण**' = भोजन करने के बाद 'दिवस चरिम' या 'ग्रन्थि सहितं' आदि पच्चक्खान करना चाहिए। वहां देव, गुरु का योग हो तो वन्दन करके पच्चक्खान करना- ऐसा यहां समझना। क्योंकि श्राद्ध दिन कृत्य के अन्दर गाथा २२४ में कहा है कि''**देवं गुरुं च वंदित्ता, काउं संवरणं तदा**'' अर्थात् ''भोजन करने के बाद देव और गुरु को वंदन करके संवर करना।''

इस तरह पच्चक्खान करने के बाद गीतार्थ साधुओं या सिद्धान्त के जानकार श्रावकों को स्वअधिकार अनुसार अवश्य सिद्धान्त रहस्य-भावों का चिन्तन-स्मरण-विचार करना चाहिए। जैसे कि- यह इस तरह होगा या कैसे होगा ? इसी तरह ही है, इस तरह नहीं है, इत्यादि उन अर्थों का निश्चय करना, गुरु महाराज के मुख से शास्त्र सुनना, उसके बाद भी उसके अर्थों के रहस्यों का बारम्बार परिशीलन न हो तो चित्त में वह अत्यन्त दृढ़ रूप में स्थिर नहीं होता। इसलिए प्रवचन कुशल श्रावक पुनः ज्ञानी-गीतार्थ पुरुष से शास्त्रार्थ जानकर चिन्तन-स्मरण करे। यहां तक ६४ गाथा की टीका का अर्थ पूर्ण हुआ। अब संध्या काल का कर्त्तव्य कहते हैं-

सायं पुनर्जिनाभ्यर्चा, प्रतिक्रमण करति ।
गुरोर्विश्रमणा चैव, स्वाध्याय करणं तथा ॥६५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''उसके बाद शाम के समय फिर जिन पूजा करना, प्रतिक्रमण करना, गुरु महाराज की विश्रामणा करना और स्वाध्याय करना। यह गृहस्थ का विशेष धर्म है।''

व्याख्या- ''शाम-संध्या समय-सूर्यास्त से अंतर्मुहूर्त्त के पहले, पुनः तीसरी बार अग्र पूजा रूप देव पूजन करना, वह गृहस्थ का विशेष धर्म है। इस तरह वाक्य सम्बन्ध जोड़ना तथा प्रतिक्रमण, गुरु विश्रामणा-सेवा और उत्तम स्वाध्याय आदि के विषय में जो बताया जायेगा यह भी प्रत्येक गृहस्थ का विशेष धर्म है। ऐसा समझना। इसमें यह विशेष है कि-मुख्य मार्ग में श्रावक को एक बार भोजन करना चाहिए। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

उस्सग्गेणं तु सड्ढो उ, सचित्ताहार वज्जओ ।
इक्कासणाग भोई अ, बंभयारी तहेव य ॥२२५॥

अर्थात्- ''उत्सर्ग मार्ग में तो श्रावक भी सचित आहार का त्यागी एकासना करने वाला और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है।''

यदि एकासन न कर सके तो भी आखिर की चार घड़ी-दिन का आठवां भाग शेष रह जाय, तब भोजन करना चाहिए। रात्रि के नजदीक में भोजन करने से भी रात्रि भोजन रूप महादोष का प्रसंग आता है, इसलिए दो अंतर्मुहूर्त्त-चार घड़ी के पहले ही भोजन कर लेना चाहिए, और दो घड़ी दिन रहे- उसके पहले ही समाप्त कर लेना चाहिए। इसके लिए भी श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

अहं न सक्केइ काउं जो, एगभत्तं ज ओ गिही ।
दिवसस्सट्ठमे भागे तओ भुंजे सुसावओ ॥२२६॥

अर्थात् - ''जो गृहस्थ-श्रावक एक भक्त (एकासन) करने में अशक्त हो तो उसे दिन के आठवें भाग में, चार घड़ी शेष रहे तब शाम का भोजन कर लेना चाहिए।''

भोजन करने के बाद अपनी शक्ति के अनुसार दूसरे सूर्योदय तक का दिवस चरिम (चउ विहार) आदि पच्चक्खान करे। वह भी मुख्यतया तो सूर्यास्त के पहले ही कर लेना चाहिए, ऐसा न बने तो अपवाद में रात्रि के समय भी कर ही लेना चाहिए। पच्चक्खान करके, सूर्य आधा दिखता हो, उस समय सूर्यास्त से पहले ही तीसरी बार श्री जिन पूजा करे [उपाख्यान यह पूजा दीप पूजा-धूप पूजा जानना।]

उसके बाद सामायिक-चतुर्विंशति स्तव, वदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और पच्चक्खान- यह अवश्य करने योग्य छहः आवश्यक की क्रिया रूप प्रतिक्रमण करे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तात्पर्य यह है कि- शाम को जिन पूजा करने के बाद श्रावक साधु के पास अथवा पौषधशाला में जाकर प्रतिक्रमण करे, जो कि प्रतिक्रमण छह: में एक चौथा आवश्यक है, तो भी यहां सामान्यतया रूढ़ अर्थ से छह: आवश्यक को प्रतिक्रमण कहते हैं। यद्यपि तत्त्व से प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ उस नाम का अध्ययन है, फिर भी नो आगम से भाव निक्षेपण की अपेक्षा से यहां उसके 'छह: आवश्यक का ज्ञान और क्रिया का समुदाय' इस तरह अर्थ करने में बाधक नहीं है। क्योंकि नो आगम शब्द में 'नो' एक अंश में निषेध बताने वाला है। यहां क्रिया रूप अंश में आगम का अभाव होने से उसमें नो अगमत्व घटित होता है। कहा भी है कि- '**किरिआऽऽ गमो ण होइ, तस्स णिसेधांमि नो सद्दो त्ति।**' अर्थात् 'क्रिया आगम रूप नहीं है, इस तरह अवगत कराने के लिए, उसके निषेध के लिए 'नो' शब्द का उपयोग किया है। इन छह आवश्यकों में-

(१) **सामायिक** = आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान का त्याग करके, धर्म ध्यान का आलम्बन लेकर शत्रु और मित्र, तृण और स्वर्ण आदि में समान भाव रखना- इसका स्वरूप पहले कह चुके हैं। (२) **चतुर्विंशति स्तव** = अर्थात् चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के नमोल्लेख पूर्वक गुणों का कीर्तिन करना फिर कायोत्सर्ग में मन द्वारा अनुध्यान (चिन्तन) करना और कायोत्सर्ग पूर्ण कर प्रगट रूप में स्पष्ट अक्षरों में उस पाठ को बोलना। इसके सम्बन्ध में भी पहले कह आये हैं। (३) **वंदन** = उसके बाद वंदनीय धर्माचार्य को पच्चीस आवश्यक से विशुद्ध और बत्तीस दोष रहित नमस्कार रूप वंदन करना। यह भी गुरुवंदन अधिकार में पहले कहा दिया है।

(४) अब **प्रतिक्रमण** के विषय में कहते हैं। इसमें '**प्रति**' उपसर्ग है, जिसका अर्थ है- विपरीत अथवा प्रतिकूल है, और '**क्रम**' धातु है, इसका अर्थ है- 'पाद विक्षेप'- पैर स्थापन करना। प्रति उपसर्ग पूर्वक क्रम धातु के साथ भाव अर्थ में अनट् प्रत्यय लगने से '**प्रतिक्रमण**' शब्द बना है। प्रतिक्रमण का भावार्थ है-शुभ भोग से अशुभ योग में गये हुए आत्मा का फिर से शुभ योग में वापिस लौट आना, वह प्रतिक्रमण है। कहा भी है -

स्वस्थान द्यत्पर स्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१॥

अर्थात् - ''प्रमाद वश हुआ आत्मा अपने स्थान से परस्थान में अर्थात् स्वभाव से विभाव दशा में गया हो, उसका फिर लौटकर स्वस्थान में आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रति का विपरीत अर्थ करते हुए व्याख्या करते हैं। दूसरी तरह से 'प्रति' = प्रतिफल 'क्रमण' गमन करना वह प्रतिक्रमण है। कहा भी है कि-

क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिक वशं गतः ।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूल गमाः स्मृता ॥१॥

अर्थात् - "क्षायोपशमिक भाव में से औदायिक भाव के वश हुआ आत्मा फिर प्रतिकूल गमन करे क्षयोपशमिक भाव में वापिस लौट आए तो उसे भी प्रतिक्रमण कहते हैं।" यह तो पहले के समान ही अर्थ हुआ। एक अर्थ यह भी होता है- "प्रति प्रति क्रमण = प्रतिक्रमण् = यानी मोक्ष फलदायक शुभ योग के प्रति (शुभ योग की ओर) क्रमण = गमन करना प्रतिक्रमण है। कहा है कि-

प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्धा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥१॥

अर्थात्- "माया, शल्य आदि सर्वशल्यों से रहित साधु को मोक्ष फल देने वाला और शुभ योग की ओर ले जाने (व्यवहार कराने) वाला अथवा पास पास में होना- नजदीक आना वह प्रतिक्रमण कहलाता है।" इस तरह 'प्रतिक्रमण' शब्द की व्याख्या कही।

यह प्रतिक्रमण भूत, भविष्य और वर्तमान- इन तीनों कालों के पाप कर्मों के सम्बन्ध में होता है। यहां शिष्य प्रश्न करता है कि- 'प्रतिक्रमण तो भूतकाल विषयक ही होता है, क्योंकि कहा है कि-'**अईअं पडिक्कमामि, पडुप्पन्नं संवरेमि, अणागयं पच्चक्खामि।**' अर्थात् 'भूतकाल के किए हुए पापों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, वर्तमान काल के पापों का संवर करता (रोकता) हूँ और भविष्य काल के पापों का पच्चक्खान करता हूँ।' इसमें भूतकाल का प्रतिक्रमण ही कहा है तो फिर तीनों कालों का प्रतिक्रमण कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हैं- 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ अशुभ योग से निवृत्त हो (रुक) जाना, इतना ही समझना चाहिए। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है-

मिच्छत्त पडिक्कमणं तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं ।
कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाण ॥१२५०॥

अर्थात्- "जैसे मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है, वैसे ही असंयम का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, और अप्रशस्त (खराब) योग का प्रतिक्रमण भी है। निष्कर्ष यह है कि इन पांचों से रुकना प्रतिक्रमण कहलाता है।"

इसमें निंदा द्वारा अशुभ योग से निवृत्ति रूप भूत काल सम्बन्धी प्रतिक्रमण, संवर द्वारा वर्तमान अशुभ योग से निवृत्ति रूप वर्तमान काल का प्रतिक्रमण और पच्चक्खान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से भविष्य काल सम्बन्धी अशुभ योग से निवृत्ति रूप प्रतिक्रमण है। इस तरह तीनों काल सम्बन्धी अशुभ योग से निवृत्ति रूप त्रिकाल-प्रतिक्रमण होने में कोई आपत्ति नहीं है। 'प्रतिक्रमण' शब्द का त्रिकाल विषयक वापिस गमन करना (पीछे हटना) आदि यहां जानना। यह अर्थ केवल व्युत्पत्ति रूप जानना। रूढ़ि से तो पहले कह दिया है, उसके अनुसार किसी स्थान पर प्रतिक्रमण नामक चौथा आवश्यक है और कई स्थान में छः आवश्यक रूप क्रिया है, ऐसा अर्थ किया है। यहां ऊपर कहे छह आवश्यक की क्रिया रूप प्रतिक्रमण की ही विधि कही जायेगी।

इस प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक, चातुर्भासिक और सांवत्सरिक (वार्षिक)- इस तरह पांच प्रकार हैं। उसमें जो दिन के अन्त में किया जाए वह पहला दैवसिक प्रतिक्रमण कहलाता है, उसका समय उत्सर्ग मार्ग से श्री सूरिकृत दिनचर्या में इस तरह कहा है-

अद्धनिवुड्डे बिंबे, सुत्तं कड्ढंति गीअत्था ।
इअ वयण पमाणेणं, देवसि आवस्सए कालो ॥३२४॥

अर्थात्- "अस्त हुआ सूर्य जब आधा डूबा हो और आधा दिखता हो- वह अस्त समय कहलाता है, उस मसय गीतार्थ प्रतिक्रमण सूत्र को बोलते हैं, इस वचन के अनुसार दैवसिक प्रतिक्रमण का काल समझ लेना।" अर्थात् सूर्य अस्त के समय में प्रतिक्रमण सूत्र बोल सके इस तरह प्रतिक्रमण प्रारंभ करना चाहिए। जो रात्रि के अन्त में किया जाय वह दूसरा रात्रिक प्रतिक्रमण है। उसका समय भी कहते हैं कि-

आवस्सयस्स समए, निद्दामुद्दं चयति आयरिआ ।
तह तं कुणंति दस पडिलेहणाणतरं सूरो ॥१३॥

अर्थात्- "प्रतिक्रमण के समय में आचार्य भगवन्त जागते हैं और प्रतिक्रमण उस समय में प्रारम्भ करते हैं कि उसके बाद दस वस्तुओं की पडिलेहण पूर्ण करते ही सूर्योदय हो। इसके अनुसार करे।"

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण का यह समय उत्सर्ग मार्ग से समझना। अपवाद से-विशेष कारण से तो योगशास्त्र की टीका में कहा है कि- "मध्याह्नादारभ्यार्द्ध रात्रं" अर्थात् दैवसिक मध्याह्न से लेकर अर्ध रात्रि तक और रात्रिक प्रतिक्रमण भी अपवाद से पिछली अर्ध रात्रि से दूसरे दिन के मध्याह्न तक कर सकता है। और भी कहा है कि-

उग्घाड पोरिसिं जा, राइ अमावस यस्य चूलाए ।
ववहाराभिप्पाया, तेण परं जाव पुरिमड्ढं ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''आवश्यक सूत्र की चूलिका में राई प्रतिक्रमण उद्घाट पोरिसी अर्थात् सूर्योदय बाद पौन प्रहर तक हो सकता है- इस तरह कहा है और व्यवहार सूत्र के अभिप्राय से तो उसके बाद पुरिमार्द्ध (मध्याह्न) तक भी प्रतिक्रमण कर सकता है ।''

पाक्षिक आदि तीन प्रतिक्रमण तो जो पक्ष के अन्त में किया जाय वह पाक्षिक, जो चार मास के अन्त में किया जाय वह चातुर्मासिक और संवत्सर (वर्ष) के अन्त में किया जाय वह सावंत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है । उसमें भी पाक्षिक प्रतिक्रमण तो चतुर्दशी के दिन ही करने का होता है । यदि वह पूर्णिमा (पूनम) के दिन करने का माने, तो शास्त्र में चतुर्दशी और पाक्षिक इस तरह दो उपवास करने का विधान होने से पाक्षिक प्रतिक्रमण में भी छट्ठ-दो उपवास का प्रसंग आता है । इससे- **''अट्ठम छट्ठ चउत्थ, संवच्छर चाउमास पक्खीसु''** अर्थात् 'सांवत्सरिक का अट्ठम, चातुर्मासिक का छट्ठ और पाक्षिक प्रतिक्रमण का चतुर्थ भक्त (उपवास) करना चाहिए ।' इस आगम पाठ के साथ विरोध आयेगा तथा आगम में जहां चर्तुदशी पाठ है, वहां 'पाक्षिक' ऐसा अलग पाठ नहीं है। यदि चतुर्दशी और पाक्षिक दो पर्व अलग अलग होते तो किसी अमुक सूत्र में भी एक वाक्य में दो शब्द अलग अलग मिल जाते, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आया । आगम पाठ में तो इस तरह देखने को मिलता है **'अट्ठमि चउदसीसु उपवास करण'** इस तरह पाक्षिक चूर्णि में है ।

[उपाख्यान तथा ''सागर चंरो कमला मेला वि सामि पासे धम्मं सो ऊण गहि **आणुव्वयाणि, सावगाणि संवुत्ताणि, तओ सागर चंदो अट्ठमि चउदसी सुं सुण्ण धरेसु मसाणे सुं एगराइअं पडिमं ठाइ**'' इति अर्थात् सागर चन्द्र और कमला मेला भी स्वामी के पास में धर्म सुनकर व्रत धारी श्रावक श्राविका बने । उसके बाद सागर चन्द्र अष्टमी-चतुर्दशी के दिन शून्य घरों में तथा श्मशानों में एक रात्रि की प्रतिमा-अभिग्रह धारण कर रहे थे ।'' तथा **''सो अट्ठमी चउद्दसी सु उववासं करेइ इति ।''** अर्थात् 'उस अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास करते हैं' तथा **''अट्ठमी चउद्दसी सु अरहंता साहुणो अवंदे अव्वा''** अर्थात् 'अष्टमी-चतुर्दशी में सर्व अरिहंतों (जिन प्रतिमाओं) को तथा साधु को वंदन करना ।' ये तीन पाठ आवश्यक चूर्णि में हैं । तथा **''संते बल वीरि अपुरि सक्कार परक्केमे अट्ठमि चउद्दसी णाण पंचमी पज्जो सवणा चाउम्मासिए चउत्थ छट्ठट्ठ मे न करिज्जा पच्छित्तं।''** अर्थात् 'बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम होने पर भी अष्टमी चतुर्दशी-ज्ञान पंचमी-पर्यूषणा और चौमासी में करने वाले उपवास, छट्ठ तथा अट्ठम को न करे तो उसे प्रायश्चित्त आता है ।' इस तरह महानिशीथ सूत्र के पहले अध्ययन में कहा है । यह पाक्षिक कृत्य के लिए पहले 'चतुर्दशी' शब्द को बताने वाले आगम का पाठ है ।]

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा **'चउत्थ छट्ठट्ठम करणे अट्ठमि पक्ख चउमास वरि सेसु इति** अर्थात्- अष्टमी पक्ष, चार मास और वर्ष में उपवास, छट्ठ और अष्ठम करना चाहिए तथा व्यवहार भाष्य के छठे उद्देश्य में कहा है **''पक्खस्स अट्ठमी खलु मासस्स य पक्खियं मुणेयव्वं ।''** आदि व्याख्या में तथा टीका में और चूर्णि इत्यादि में पाक्षिक शब्द का अर्थ ही चतुर्दशी कहा है । इत्यादि शास्त्र पाठ से चतुर्दशी और पाक्षिक दोनों का एक ही अर्थ निश्चय होता है अन्यथा किसी एक पाठ में भी 'चतुर्दशी-पाक्षिक' ऐसा अलग भी नहीं कहा । इससे निश्चित हुआ कि पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी के दिन करना योग्य ही है । पूर्व काल में चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण पूनम और पंचमी के दिन करते थे परन्तु परम पूज्य श्री कालिकाचार्य जी के आचरण से वह चतुर्दशी और चौथ में किया जाता है और यह सर्व संघ सम्मत होने से प्रमाण भूत है । वृहत् कल्प भाष्य में कहा है कि-

असढेण समाइण्णं जं कत्थइ केणई असावज्जं ।
न निवारि अमन्नेहिं, बहुजन मयमेयमायारिअं ॥४४६६॥

अर्थात्- ''असठ-गीतार्थ गुरु ने किसी कारण से जो असावध-आत्म का हितकारी तथा सूत्र में जिसका निषेध न हो ऐसा आचरण किया हो, दूसरे ने उसका निषेध न किया हो और जिसमें बहुत सहमत हो वह आचरित कहलाता है ।'' यह आचरित कार्य श्री गणधर भगवन्त के वचन तुल्य करणीय होता है, अत: चातुर्मासिक चतुर्दशी एवं सांवत्सरिक चौथ को करना चाहिए ।

पुन: यह प्रतिक्रमण दो प्रकार का है, ध्रुव और अध्रुव । उसमें भरत और ऐरावत क्षेत्रों के अन्दर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में ध्रुव रूप है । नित्य-अपराध हुए हों, चाहे न हुए हों फिर भी सुबह-शाम उभय काल प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है, और इस क्षेत्र के बीच के बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ (शासन काल) में एवं महाविदेह क्षेत्र में कारण वश अर्थात् दोष लगे हों तभी प्रतिक्रमण किया जाता है अन्यथा नहीं किया जाता, अत: वह अध्रुव कहा है । कल्प पंचाशक में कहा है कि-

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिम गाण जिणाणं, कारण जाए पडिक्कमणं ॥३२॥

अर्थात्- ''प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर भगवान का धर्म प्रतिक्रमण युक्त अर्थात् उनके शासन में साधु साध्वियों के लिए दोनों समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक है और बीच के बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ में कारणवश दोष लगे तभी प्रतिक्रमण करना होता है अन्यथा नहीं होता ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस प्रतिक्रमण की विधि 'प्रतिक्रमण' हेतुगर्म' आदि ग्रन्थों में कही है कि-साधु और श्रावक को भी प्रतिक्रमण में रजोहरण, मुंहपत्ति आदि रखना चाहिए। क्योंकि अनुयोग द्वार सूत्र के **'तदप्पि अकरणे'** के वाक्य में 'तद + अर्पित + करणानि' इस तरह तीन अंश में है। उसमें करणाणि अर्थात् देह-रजोहरण (चखला)-मुख वस्त्रिका आदि प्रतिक्रमण के साधन, 'तद्' उसमें और 'अर्पित' अर्थात् यथा योग्य उपयोग रूप में अर्पण किया है वह आत्म-'तदर्पित करण' कहलाता है अर्थात्-'प्रतिक्रमण करते हुए अच्छी तरह से यथा स्थान पर धारण किया है शरीर-रजोहरणादि उपकरण जिसने, इस तरह अर्थ सामान्यतया प्रतिक्रमण करने वाले प्रत्येक के विषय में यह पाठ टीका में किया है। इससे श्रावक भी मुंहपत्ति चखला आदि रखना चाहिए। यह निश्चय होता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार सूत्र में कहा है **"जो मुहपोत्तियं अपडिलेहित्ता वंदणं देइ तो गरुअ तस्स पायच्छित्त"** अर्थात् जो मुख वस्त्रिका की पडिलेहन बिना वंदन देता है उसे गुरु प्रायश्चित् लगता है। (यहां 'गुरु' यह प्रायश्चित्त वाचक पारिभाषिक शब्द है।) व्यवहार चूलिका में भी कहा है **"पोसहसाला ए ठवित्तुं ठवणा मरियं मुहपोत्तिअं पमज्ज तो सी हो गिणहइ पोसहं।"** अर्थात् पौषध शाला में-स्थापनाचार्य स्थापन कर मुहपत्ति पडिलेहन कर सिंह नामक श्रावक ने पोषध को ग्रहण किया।' इस तरह कहा है। व्यवहार चूर्णि में कहा है कि-

पावरणं मोत्तूणं, गिण्हित्ता मुहपोत्तिअं ।
वन्थकाय विसुद्धीए, करेइ पोसहाइअं ॥१॥

अर्थात्-'प्रावरण (उत्तरीय) वस्त्र उतारकर, मुख वस्त्रिका लेकर, वस्त्र और काया की शुद्धिपूर्वक पोषध आदि करे।'

इत्यादि आगम ग्रन्थों का प्रमाण भूत होने से श्रावक को भी सुबह-शाम मुख-वस्त्रिका, चखला, आदि उपकरण लेकर, विधि पूर्वक प्रमार्जन आदि किए हुए स्थान पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। ऐसी जगह के अभाव में तो अन्य स्थान पर भी कर सकता है। साक्षी पूर्वक किया हुआ अनुष्ठान अत्यंत दृढ़ होता है, इसलिए प्रतिक्रमण गुरु की साक्षी में करना चाहिए। गुरु का योग न हो, तो नवकार मंत्र गिन कर स्थापना स्थापन कर भी पंचाचार की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए।

यहां प्रश्न करते हैं कि-'श्री जिनेश्वर भगवन्त के विरह (अभाव) में जैसे जिन बिम्ब की सेवा प्रार्थना आदि सफल होती है, वैसे गुरु महाराज के विरह-अभाव में गुरु का उपदेश (आदेश) बताने के लिए गुरु स्थापना करना वह सफल है। इत्यादि स्थापना का विधान आवश्यक में है तो खरा, परन्तु वह साधु के सामयिक सूत्र में कहा हुआ 'भंते'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(भदन्त) शब्द की व्याख्या में कहा होने से वह साधु के लिए युक्त है, न कि श्रावक के लिए है। इससे श्रावक को स्थापना का अधिकार कैसे माना जाय ?' इसका उत्तर देते हैं- 'यह प्रश्न ही प्रथम तो अनुचित है, क्योंकि श्रावक को भी सामायिक सूत्र में 'भंते' ही बोला जाता है। सामने साक्षात् गुरु या उसकी स्थापना भी न हो तो श्रावक यह किसके सामने बोलेगा ? इसलिए श्रावकों को भी स्थापना स्थापन करना युक्त ही है। स्थापना बिना 'भंते !' बोलना व्यर्थ है। और स्थापना स्थापन बिना ही यदि वंदन आदि अनुष्ठान किया जाता है तो आवश्यक में गुरु वन्दन की निर्युक्ति में जो "**आथप्पमाण मित्तो, चउ दिसिं होइ उग्ग हो गुरुणो।**" अर्थात्-गुरु महाराज के आसन से चारों दिशा में गुरु के शरीर प्रमाण साढ़े तीन हाथ गुरुदेव का अवग्रह होता है। चारों तरफ की साढ़ तीन हाथ भूमि गुरु की कहलाती है। इस तरह गुरु अवग्रह का बताया है, वह कैसे घट सकता है ? जैसे गांव बिना गांव की सीमा की मर्यादा नहीं होती, वैसे गुरु बिना गुरु का अवग्रह का ऐसा नियमन भी नहीं घटता। दूसरी निर्युक्ति में भी कहा है- "**चउसिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एग निक्खमणं**" अर्थात्-गुरु वंदन के पच्चीस आवश्यकों में 'चार शीर्ष, तीन गुप्त, दो प्रवेश, एक निष्क्रमण, आदि कहा है, वह भी गुरु के अभाव में नहीं घट सकता है क्योंकि चार शीर्ष तो वंदन करने वाले शिष्य और वन्दन कराने वाले गुरु दोनों के मिलकर कहा है। इसलिए दोनों हों तभी वह घट सकता है। यदि साक्षात् गुरु न हों और स्थापना को भी स्वीकार करने में न आए, तो 'चार शीर्ष' नहीं धर सकता। इस तरह दो प्रवेश और एक निष्क्रमण भी अवग्रह के मूल रूप गुरु या स्थापना को यदि मानने में नहीं आए तो निरर्थक ही बनता है। यहां कोई ऐसा कहता है कि- गुरु स्थापना रूप में नहीं, परन्तु हृदय में है, तो वह भी अयोग्य है क्योंकि- गुरु को हृदय में मानने से प्रवेश और निर्गम आदि क्या हृदय में हो सकेगा ? अर्थात् हृदय में प्रवेश निर्गमादि नहीं हो सकता है, इसलिए ऐसी कुकल्पनाओं से क्या प्रयोजन ? वस्तुतः गुरु या उसके अभाव में स्थापना करना आवश्यक है। इसलिए गुरु वंदन भाष्य में कहा है-

अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे अ चित्त कम्मे अ।
सब्भाव मसब्भावं, गुरु ठवणा इत्तराव कहं ॥२६॥

अर्थात्- "गुरु की स्थापना, अक्ष-वराटक-कष्ट-पुस्तक या चित्र में 'सद्भाव' अर्थात् यथार्थ आकार वाली, अथवा 'असद्भाव' अर्थात् गुरु के आकार बिना की भी हो सकती है। वह भी 'यावत्कथित' अर्थात् द्रव्य विद्यमान रहे वहां तक स्थापना रूप में ही रहे, और 'इत्वरिक' अर्थात् अमुक काल के लिए ही स्थापन, इसमें किसी भी प्रकार की गुरु स्थापना हो सकती है।"

इन शास्त्र वचनों से स्थापना स्थापन साधु-श्रावक दोनों के लिए समान है, यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निश्चय हुआ। प्रतिक्रमण पंचाचार की विशुद्धि के लिए करने को कहा है। वह पंचाचार 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य' के आचार रूप जानना। उसमें १-सामायिक आवश्यक से चारित्राचार की, २-चतुर्विंशति स्तव से दर्शनाचार की, ३-वंदन से ज्ञानादि आचार की, ४-प्रतिक्रमण आवश्यक से उस आचार में लगे अतिचारों को रोकने से आचार की, ५-काउस्सग्ग से प्रतिक्रमण करने पर भी दूर नहीं होते- उन आचारों के अतिचारों की, ६-पच्चक्खान से तपाचार की और छह: आवश्यकों से वीर्याचार की विशुद्धि होती है। उसका कारण चउसरण पयन्ना की गाथा ४ में कहा है- **''चारित्तस्स विसोही, कीरइ सामाइएण इह किरयं (किल इहयं)''** अर्थात्- 'प्रतिक्रमण में चारित्र की शुद्धि निश्चय सामायिक सूत्र से की जाती है। इत्यादि गाथा प्रसिद्ध है।

दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि- आगम वचन के आधार पर प्रतिक्रमण के प्रारंभ में इरियावही से प्रतिक्रमण करना चाहिए। चैत्य वंदन वृहद्भाष्य में कहा है कि-

जइ गमना गमणाई, आलोइअ निंदऊण गरहित्ता।
हा! दुट्ठऽ हेहि कयं मिच्छादुक्कड मिअ भणित्ता ॥१॥

तह काउस्सग्गेणं, तयणु रूव पच्छित्तमणु चरित्ता।
जं आयाहिअं चिइवं दणाइणुट्ठिज्ज उव उत्तो ॥२॥

दव्वच्चणे पवित्तिं, करेइ जइ काउं वज्झतणु सुद्धिं।
भावच्चणं तु कुज्जा, तह इरि आए विमल चित्तो ॥३॥

अर्थात्- ''गमन आगमनादि जो किया हो उसकी इरियावही द्वारा आलोचना करके, 'हा ! प्रभु ! मेरे से गलत हो गया है' इस तरह निन्दा और गर्हा करके और 'वह मेरा पाप मिथ्या हो' ऐसा कहकर। (१) ॥ तथा 'तस्स उतरी०' आदि पाठ बोलकर काउस्सग्ग से उस पाप के अनुरूप 'काउस्सग' नाम का प्रायश्चित्त करके, (शुद्ध बना आत्मा) उपयोग पूर्वक आत्मा के हितकर चैत्यवंदन आदि अनुष्ठानों को करे। (२) ॥ जैसे द्रव्य पूजा में स्नानादि से शरीरादि की बाह्य शुद्धि करके प्रवृत्ति होती है, वैसे ही इरिया पथिक प्रति क्रमण से अभ्यंतर शुद्धि करके निर्मल चित्त वाला होकर चैत्य वंदनादि भाव अनुष्ठान करना चाहिए। (३)॥''

इत्यादि आगम वचन से प्रतिक्रमण में भी पहले इरिया पथिक से प्रतिक्रमण करे इरियावहि प्रतिक्रमण करते मन से उसमें उपयोग रखकर एकाग्र होकर खड़े रहने की भूमि का तीन बार प्रमार्जन करे। इस प्रकार इरियापथिकी प्रतिक्रमण करके साधु अथवा सामयिक करने वाला श्रावक प्रारंभ में देव वन्दन करे। देव वन्दन के करने का कारण यह है कि- प्रत्येक अनुष्ठान में परमात्मा, गुरु महाराज को वंदन रूप विनय-बहुमान आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्ति पूर्वक करने से वह सफल होता है । प्रतिक्रमण गर्भहेतु में कहा है कि-

विनयाहीआ विज्जा, दिंति फलं इह परे अ लोगंमि ।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोय हीणा णि ॥१०॥

भत्तीइ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसं चि आ कम्मा ।
आयारिअ नमुक्करेण, विज्जा मंता य सिज्झंति ॥११॥

अर्थात्-"जैसे पानी के बिना अनाज उत्पन्न नहीं होता, वैसे विनय बिना मिली विद्या भी फलदायक नहीं होती । विनयपूर्वक प्राप्त हुई विद्या ही इस लोक और पर लोक में फल देती है । (१) ॥ उसमें श्री जिनेश्वरों की भक्ति से पूर्व संचित किए कर्म खतम होते हैं और आचार्य-गुरु महाराज को नमस्कार करने से विद्या तथा मंत्र की सिद्ध होती है । (२)॥" इसलिए प्रथम देव-गुरु को वंदन करना चाहिए । देव वंदन के बारह अधिकार इस प्रकार से हैं । चैत्यवंदन भाष्य में कहा है कि-

पढमहिगारे वंदे, भाव जिणे वी अए उ दव्व जिणे ।
इग चेइ अठवण जिणे, तइए चउत्थं मि नाम जिणे ॥४२॥

तिहु अणठ वण जिणे पुण, पंचमए विहरमाण जिण छट्ठे ।
सत्तमए सुअ नाणं अट्ठमए सव्व सिद्ध थुई ॥४३॥

तित्थाहि वीर थुई, नवमे दसमे अ उज्जयंत थुई ।
अट्ठावयाइ एग दसि, सुदिट्ठिसुर समरणा चरिमे ॥४४॥

नमु जेअ अई अ अरिहं लोग सव्व पुक्ख तम सिद्ध जो देवा ।
उज्जिं चत्ता वेयावच्च, अहिगार पढमपया ॥४५॥

अर्थात्- "पहले अधिकार में 'नमोत्थुणं' पद से लेकर 'जिय भयाण' तक भाव जिन को । दूसरे में 'जे अ अइया सिद्धा' पद से लेकर 'तिविहेण वंदामि' तक में द्रव्य जिन का, तीसरे में 'अरिहंत चेइयाण' से प्रथम स्तुति तक एक-विवक्षित चैत्य के स्थापना जिन को । चौथे में 'लोगस्स' आदि से लेकर 'मम दिसंतु' तक में नाम जिन को । पांचवें में 'सव्व लोए' पद से दूसरी स्तुति तक तीनों लोक के स्थापना जिन को, छट्ठे में 'पुक्खरवरदी' आदि पहली गाथा से विरहमान जिन को, सातवें में 'तम तिमिर पडल' गाथा से तीसरी स्तुति तक में श्रुत ज्ञान को, आठवें में 'सिद्धाणं बुद्धाणं, आदि पहली गाथा से सर्व सिद्धों को, नौवे में 'जो देवाण वि देवो" तथा 'इक्को विनमुक्कारो' दो गाथाओं से वर्तमान तीर्थ के नायक श्री वीर भगवन्त को, दसवें में 'उज्जित सेल सिहरे, गाथा से उज्जयंत (गिरनार) पर्वत ऊपर के श्री नेमनाथ स्वामी को, ग्यारहवें में 'चतारि अट्ठ' गाथा से श्री अष्टापद आदि के जिन को वंदना होती है, तथा बारहवें में' वेचावच्य गराणं, से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चौथी स्तुति तक में समकित दृष्टि देवों का स्मरण होता है । इन बारह अधिकारों का प्रारंभ क्रमशः १-नमोत्थुण०, २-जे अ अइआ०, ३-अरिहंत चेइ०, ४-लोगस्स, ५-सव्व लोए० ६-पुक्खरवर, ७-तम तिमिर०, ८- सिद्धाणं, ९-जो देवाणं०, १०-उज्जित सेल०, ११-चतारिअट्ठ और १२-वेयावच्च गराणं०- इन पदों से होता है । ये अधिकार के प्रारंभिक पद हैं । ''

इस तरह चैत्य वंदन भाष्य में बारह अधिकार द्वारा पूर्व में कहा है । इस तरह विधि अनुसार देव वंदन करके, खमासमण देकर 'भगवान हं आदि पाठ से गुरु वन्दन करना । लौकिक कार्यों में राजा और प्रधान आदि का बहुमान आदि करने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है, वैसे ही यहां पर भी श्री जिनेश्वर देव को राजा और श्री आचार्य भगवन्त आदि को प्रधान जानना । इसलिए प्रतिक्रमण रूप कार्य की सिद्धि के लिए साधु और श्रावक को प्रारंभ में देव और गुरु महाराज को वंदन करना चाहिए । श्रावक को तो उसके बाद 'समस्त श्रावकों को वंदन करता हूँ' इस तरह भी कहना चाहिए ।

इसके बाद 'चारित्राचार' आदि की शुद्धि की इच्छा करता हो और उस कार्य में सिद्धि की अभिलाषा रखता प्रतिक्रमण करने वाला पूर्व कहे अनुसार चारित्राचार आदि पंचाचार के आराधक श्री आचार्य देव आदि को सम्यक नमस्कार करके, मानो अतिचार सेवन के भार से स्वयं दब गया हो, इस तरह शरीर को पूर्ण नमाकर और मस्तक को नीचे जमीन पर लगाकर, सर्व अतिचारों के बीज रूप **'सव्वस्स वि देव सिअ'** इत्यादि बोलकर मन, वचन, काया से सेवि, सर्व अतिचारों को संक्षेप से मिथ्या दुष्कृत दे । यह **'सव्वस्स वि०'** सूत्र समग्र प्रतिक्रमण के बीज रूप जानना कारण कि ग्रन्थों की रचना आदि अन्य प्रसंग पर भी प्रारंभ में बीज भूत पाठ देखने में मिलता है ।

उसके बाद खड़े होकर ज्ञानादि पांच आचारों में चारित्राचार की महत्ता होने से प्रथम उसकी शुद्धि करते हैं, क्योंकि चारित्र मुक्ति का अनंतर कारण है, और ज्ञान आदि परस्पर कारण हैं, जैसे कि-शैलशी अवस्था-चौदहवें गुण स्थानक में सम्पूर्ण चारित्र प्रगट होता है, उसके बाद तुरन्त ही मोक्ष होता है । ज्ञान तो क्षीण मोह-बारहवें गुण स्थानक के बाद तेरहवें आदि में सम्पूर्ण प्रगट होता है, फिर भी मुक्ति नहीं होती । किन्तु उसके बाद तेरहवें और चौदहवें गुण स्थानक के जघन्य से भी एक अंतर्मुहूर्त्त जाने के बाद ही मुक्ति होती है । दूसरा भी कारण आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

जमहा दंसण नाणा, संपुण्ण फलं न दिंति पत्तेअं ।
चारित्त जुआ दिति अ, विसिस्सए तेण चारित्तं ॥११७६॥

सम्मत्तं आचरित्तस्स, हुज्ज भयणाइ निअम सो एत्थि ।
जो पुण चरित्त जुत्तो, तस्स उ नियमेव सम्मत्तं ॥११७४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्-''दर्शन और ज्ञान दोनों सम्पूर्ण होने पर भी यदि वह अकेला चारित्र संपूर्ण रूप में प्रगट न हो तो सम्पूर्ण फल मोक्ष नहीं देता, उसमें चौदहवें गुण स्थानक का सम्पूर्ण शैलेशी चारित्र चाहे तब ही फल को देता है। इसलिए चारित्र की ज्ञान दर्शन से विशिष्टता ही है। और चारित्र न हो, उसे सम्यकत्व की प्राप्ति व्यवहार नय से हो अथवा न भी हो यानी निश्चय नय से नहीं होता, परन्तु चारित्र गुण वाला हो उसे तो नियम से सम्यकत्व होता ही है। इस तरह चारित्र का महत्व है।'' और भी कहा है कि-

गोत्र वृद्धैर्नरो, नैव, सद् गुणोऽपि प्रणम्यते ।
अलङ्कृत नृप श्रीस्तु, वन्द्यते नत मौलि भिः ॥१॥

एवं न केवल ज्ञानी, गृहस्थो नम्यते जनैः ।
गृहित चारू चारित्रः शक्रैरपि स पूज्यते ॥२॥

अतो दिशन्ति चारित्रं, केवल ज्ञानतोऽधिकम ।
तस्मिन लब्धेऽपि तल्लब्धुं, तेन धावन्ति धीधनाः ॥३॥

अर्थात्- ''उम्र में छोटे के सद्गुंणी होने पर भी गोत्र के वृद्ध उसे नमते नहीं हैं परन्तु यदि वह राजलक्ष्मी से अलंकृत राजा हो, तब वृद्ध भी उसे मस्तक नमा कर वंदन करते हैं। (१)॥ वैसे ही केवल ज्ञानी होने पर भी गृहस्थ वेष में हो तो मनुष्य उसे नमस्कार नहीं करते। जब वे सुन्दर चारित्र वेष ग्रहण करते हैं तब उनकी इन्द्र भी पूजा करता है। (२)॥ इस कारण से केवल ज्ञान से भी चारित्र को अधिक कहा है। इससे ही बुद्धिमान केवल ज्ञान प्रगट होने के बाद में भी चारित्र वेश को स्वीकार करते हैं। (३)॥''

इत्यादि कारणों से प्रथम चारित्राचार की विशुद्धि के लिए 'करेमि भंते। सामाइअं०' आदि तीन सूत्र कहकर, द्रव्य से शरीर से खड़े होकर और मन से शुद्ध परिणाम द्वारा ऊँचे होकर - अध्यवसाय की विशुद्धि करके अब वह काउस्सग्ग करे। काउस्सग्ग में साधु सुबह के पडिलेहन की क्रिया से आरंभ कर इस काउस्सग्ग तक के सेवित अतिचार का चिन्तन करे। श्री देवसूरी कृत यति दिन चर्या में कहा है कि -

पाभाइअ पडिक्कमणा णंतर मुंहपत्तिपमुह कज्जे सु ।
जाव इमो उस्सग्गो, अइआरे ताव चिंतेज्जा ॥३३०॥

अर्थात् - ''सुबह के प्रतिक्रमण के बाद से जब तक यह काउस्सग्ग करे तब तक के मुख वस्त्रिकादि - पडिलेहणादि सारे कार्यों में जो अतिचार सेवन किया है, उसका चिन्तन करे।''

काउस्सग्ग के अन्दर साधु '**सयणा सणन्न०**' गाथा के आधार पर उन अतिचारों को याद करके तथा श्रावक '**नाणंमि दंसणंमि**' आदि आठ गाथाओं के आधार पर चिन्तन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करके जो अतिचार लगे हों उन्हें याद करके मन में धारण करे। ये गाथाएं इस तरह हैं। *ये गाथाएं दश वैकालिक निर्युक्ति अध्ययन तीन में आती हैं –

नाणंमि दंसणं मिय, चरणंमि तवंमि तहय विरियंमि ।
आयरणं आयारो, इय ऐसो पंचहा भणिओ ॥१८१॥

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिह्न वणे ।
वंजण अत्थ तदुभए, अट्ठ विहो नाण मायारो ॥१८४॥

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वि ति गिच्छा अमूढ दिट्ठो य ।
उववूह चिरी करणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥१८२॥

पणि हाण जोग जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्ता यारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥१८५॥

बारस विहंमि वि तवे, सब्भिंतर बाहिरे कुसल दिट्ठे ।
अगिलाई अणा जीवी, नायव्वो सो तवा यरो ॥१८६॥

अण सण मूणो अरिया, वित्ति संखे वणं रसच्चाओ ।
काय किलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ॥१४७॥

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥१४८॥

अणिगूहि अबल वीरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ अ जहा थामं, नायव्वो वीरिया यारो ॥१८७॥

अर्थात् – ''ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वीर्य, इन पांच के विषय में जो योग्य आचरण करना चाहिए, उसे 'ज्ञानासार' आदि पांच प्रकार के आचार कहा है। यह नन्दिसूत्र में २६ वीं गाथा है। (१) ॥ उसमें १. काल, २. विनय, ३. बहुमान, ४. उपधान, ५. अनिह्न वण, ६. व्यंजन, ७. अर्थ और ८. तदुभय– ये आठ प्रकार से ज्ञाना चार हैं। (२)॥ १. नि:शंकिता, २. निर्कांक्षिता, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूठ दृष्टि, ५. उपबृहण, ६. स्थिरी करण, ७. वात्सल्य और ८. प्रभावना– ये आठ प्रकार के दर्शनाचार हैं। (३)॥ मुक्ति के ध्येय पूर्वक संयम योग से युक्त आत्मा का जो 'पांच समिति और तीन गुप्ति'– ये आठ प्रवचन माता का पालन, वह आठ प्रकार का चारित्रा चार जानना। (४)॥ श्री वीत राग कथित छ: अभ्यंतर और छ: बाह्य मिलकर बारह प्रकार का तप किसी आशंसा और मन की ग्लानि बिना करना, वह बारह प्रकार का तप आचार जानना। (५)॥ उसमें १. अनशन, २. उणोदरिका, ३. वृत्ति संक्षेप, ४. रस त्याग, ५. काया कलेश और ६. संलिनता– ये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छः प्रकार के कायिक बाह्य हैं । (६) ॥ तथा १. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावच्च, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. उत्सर्ग– ये छः प्रकार के आत्मिक अभ्यंतर तप हैं (७)॥ इसमें ३, ६ और ७ गाथा उत्तराध्ययन सूत्र में भी दिखती हैं । अपना बल – वीर्य को छुपाए बिना यथा योग्य उन अनुष्ठानों में जो पराक्रम फोड़ना – प्रगट करना – और मन, वचन, काया रूप तीन योगों को शक्ति अनुसार उन अनुष्ठानों में जोड़ना– वह तीन प्रकार का वीर्याचार जानना । (८)॥''

लगे हुए उन अतिचारों को इन गाथाओं के आधार पर याद करके गुरु महाराज के समक्ष आलोचना करना – निवेदन करना । जो मन में छुपाता है उसकी तो आलोचना बराबर नहीं हो सकती । संसार में भी राजा आदि किसी से कोई विनती करने के पहले मन में विचार कर कागज आदि पर लिखकर लिखित विनती करने में आती है, इसी तरह यहां भी पहले मन में विचार करके फिर सुनाना योग्य ही है । इसलिए काउस्सग्ग में अतिचारों का चिन्तन करके वह पूर्ण होने से **'नमो अरिहंताणं'** बोल कर काउस्सग्ग पूर्ण करके पुनः प्रगट 'लोगस्स' बोले । उसके बाद दोनों घुटनों के पीछे का भाग आदि (संडासा) प्रमार्जन कर नीचे बैठकर गुरु देव को वंदन के लिए गुरुवंदन अधिकार में जो पहले बताया है उसके अनुसार मुंहपत्ति और शरीर को पच्चीस पच्चीस बोल से पडिलेहन कर गुरु वंदन अधिकार में कही विधि अनुसार दो बार गुरु को 'वंदना' देना, यह दो वंदन । काउस्सग्ग में याद करके मन में संकलित किए अतिचारों की आलोचना करना, सुनाने के लिए विनय रूप में दिये जाते हैं और इस वंदन के लिए ही प्रथम मुंहपत्ति भी पडिलेहन करते हैं । उसके बाद पूर्व के मन में धारण किए दिन के अतिचारों का निवेदन करने के लिए कमर के ऊपर का आधा शरीर अच्छी तरह नमाकर **'इच्छा कारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअं आलोएमि?'** ऐसा कहकर गुरु महाराज की अनुमति प्राप्त कर फिर **'इच्छं आलोएमि'** कहकर **'जो ये देवसिओ'** आदि सूत्रपाठ या जो चारित्र शुद्धि में हेतु है वह बोलकर गुरु के समक्ष इन अतिचारों की आलोचना करे । आज वर्तमान काल में जो 'सात लाख और अठारह पाप स्थान' बोलने में आते हैं वह इन अतिचारों की आलोचना (निवेदन) रूप हैं । इस तरह दैवसिक आलोचना करके मन, वचन और काया से सेवन किए सारे अतिचारों का जिसमें संग्रह है वह **'सव्वस्सवि देवसिअ०'** आदि पाठ **'दुच्चियाट्ठअं'** पद तक बोले, फिर आलोचना कहकर– सुनाकर अतिचारों के प्रायश्चित्त की याचना के लिए **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् !'** अर्थात् हे भगवन् ! आप की इच्छानुसार प्रायश्चित्त फरमाइये । इस तरह बोलकर प्रायश्चित्त की याचना करे । तब गुरु भी कहे 'पडिक्कमह !' अर्थात् 'प्रतिक्रमण करो ।' शास्त्रोक्त दस प्रायश्चित्त में दूसरा 'प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त ' करने का आदेश करते है । यह प्रायश्चित्त 'मिच्छामि दुक्कडं' रुप जानना । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पडिक्कमणं पडिअरणा, पडिहरणा, वारणा निअ त्ती अ ।
निंदा गरिहा सोही, पडिक्कमणं अट्ठहा होइ ॥१२३३॥

अर्थात् - ''१. प्रतिक्रमण, २. प्रतिचरण, ३. प्रतिहरण, ४. वारण, ५. निवृत्ति, ६. निन्दा, ७. गर्हा और ८. शोधि, इस तरह प्रतिक्रमण शब्द के आठ पर्याय वाचक नाम होते हैं ।''

इन आठ में यहां 'प्रायश्चित्त रूप प्रतिक्रमण' करना होता है, शास्त्र में प्रायश्चित्त के दस भेद कहे हैं । उनमें प्रथम 'आलोचना' प्रायश्चित्त यहां **'देवसिअं आलोउं ?'** तथा **'सव्वस्सवि'** सूत्रों के द्वारा होता है । इस तरह अतिचारों का निवेदन रूप एक 'आलोचना' करने के बाद जब गुरु महाराज के सामने अतिचारों की विशेष शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त मांगा जाता है तब गुरुदेव 'पडिक्कमह' इस आदेश से 'प्रतिक्रमण' नाम का 'मिच्छामि दुक्कडं' देना चाहिए । अब दूसरा प्रायश्चित्त बताते हैं - ऐसा समझना । श्री देव सूरि कृत यति दिनचर्या में कहा है कि-

गंभीरिम गुण निहिणो, मण वय काएहिं विहिअ समभावा ।
पडिक्कमह त्ति न जंपइ, भणंति तं पइ गुरु रूट्ठा ॥२०॥

अर्थात् - ''गंभीरता के भंडार समान और मन, वचन, काया से सम भाव को स्वीकार किए, राग द्वेष से रहित गुरु महाराज **'पडिक्कमह'** इस तरह स्पष्ट रूप से नहीं कहते परन्तु अतिचार लगाने वाले शिष्य के प्रति जैसे रोषाय मान हों, इस तरह उसे संज्ञा से कहते हैं अर्थात् - हृदय में रोष नहीं होने पर भी, फिर वैसा दोष न करे इसलिए, मानो रूठे हों- वैसा दिखावा करते हैं और इस कारण से प्रगट आदेश नहीं देते संज्ञा से कहते हैं ।''

उसके बाद संडासा - प्रमार्जन कर आदि विधि पूर्वक नीचे बैठकर प्रतिक्रमण (वंदित्तु) सूत्र कहने वाला श्रावक समता भाव में स्थिर हो और जो पाठ - गाथा बोले उसमें मन का सतत उपयोग रखे, 'यदि मेरे से थोड़ी भी अविधि होगी तो अन्य भी वह सीखेंगे और मेरे से यह भूल की परम्परा चलेगी ।' ऐसा भय रखे । प्रत्येक पद में संवेग (आत्मोल्लास) की वृद्धि होती जाय- इस तरह से डांस-मच्छर आदि की डंक मारने की भी उपेक्षा करके बोले, ऐसी उत्तम दशा को धारण करके 'प्रत्येक कार्य में नवकार मंत्र गिनकर करना चाहिए ।' इस न्याय से वंदित्तु सूत्र बोलने से पहले नवकार मंत्र बोले, फिर प्रतिक्रमण समता भाव से करना चाहिए । इसलिए सामायिक सूत्र (करेमि सूत्र) कहे और दैवसिक आदि जिसका प्रतिक्रमण करना हो तो उसके अतिचारों की सामान्य - संक्षेप में आलोचना के लिए **'इच्छामि पडिक्कमिउं, जो मे देवसिओ अइआरो कओ०'**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि आदि सूत्र का पाठ सम्पूर्ण बोलना। उसके बाद '**वंदित्तु**' सूत्र से प्रारंभ कर '**तस्स धम्मस्स केवली पन्नत्तस्स**' पाठ तक उत्कटिक आसन पर बैठ कर बोले। साधु तो '**नवकार**' और करेमि भन्ते !' सूत्र से कहने के बाद मंगल के लिए '**चत्तारि मंगल**' आदि बोले, फिर ओघ से आलोचना के लिए '**इच्छामि पडिक्कमिउं जो में**' आदि कहकर विभाग से आलोचना के लिए इरिया '**वहि०**' सूत्र बोले । फिर सर्व अतिचारों की आलोचना के लिए मूल साधु प्रतिक्रमण सूत्र - '**पगाम सिज्झाय०**' बोले। श्रावक को और साधु को इस विधि का भेद परम्परादि कारण से ही जानना।

प्रतिक्रमण के सूत्र इस तरह बोलने चाहिएं कि बोलने वाले को और सुनने वाले को भी संवेग की वृद्धि होते शरीर में रोम-रोम प्रफुल्लित होता जाय। श्री देव सूरि कृत यति दिनचर्या में कहा है कि -

पभणंति तहा, सुत्तं, न केवलं तेसि तहेव अन्नेसिं ।
जह नयण जल लवेणं, पए पए हुति रोमंचो (चा) ३३३॥

अर्थात् - ''इस तरह से प्रतिक्रमण सूत्र बोलने चाहिएं कि केवल स्वयं को ही नहीं, अपने समान अन्य सुनने वालों को भी नेत्र में हर्ष के आंसू आते हों और साथ में पद पद पर रोम राजी विकस्वर होती जाय।''

इस तरह '**तस्स धम्मस्स केवली पन्नचस्स**' तक बैठे बैठे बोलकर सारे अतिचारों की निवृत्ति से भार उतर गया हो और इससे आत्मा हलका हो गया हो, इस तरह द्रव्य से शरीर द्वारा और भाव से आत्मिक आनंद की वृद्धि द्वारा तुरन्त खड़े होकर '**अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए०**' आदि अधूरा सूत्र सम्पूर्ण बोले। इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद गुरुदेव के प्रति सम्पूर्ण दिन में माने हुए अपने अपराधों की क्षमा याचना के लिए गुरु को दो वांदना दे। प्रतिक्रमण में सामान्य रूप से दो-दो वांदना रूप चार वंदन किया जाता है। उसमें पहले तीसरे आवश्यक की मुंहपत्ति के बाद के अतिचार की आलोचना के लिए, दूसरा वंदत्तु कहने के बाद का गुरु महाराज से अपराध की क्षमा याचना के लिए, तीसरा अब्भुट्ठिओ के बाद आचार्य आदि सर्व संघ को खमाने के लिए उनका आश्रय - शरण को स्वीकार करने के लिए और चौथा छठे आवश्यक की मुंहपत्ति के बाद पच्चक्खान के लिए समझना।

उसके बाद '**अब्भुट्ठिओ०**' सूत्र कहकर गुरु महाराज को खमाये। उस में पांच साधु का मंडल हो तो एक ही ज्येष्ठ साधु को अब्भुट्ठिओ से खमाये- एसी वृद्धों की आचरण- परम्परा है। वास्तविक रूप तो गुरु से लेकर बडों के अनुक्रम से प्रत्येक को खमाना चाहिए परन्तु आचारण परम्परा ऐसी है- पांच आदि साधुओं का मंडल हो तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीन बड़ों को खमाते हैं । वर्तमान काल में ऐसी ही परम्परा मिलती है । इस वन्दन को 'अल्लिआवण वंदण यं' कहते हैं । अर्थात् आचार्य आदि संघ का आश्रय लेने के लिए यह वंदन है, इस तरह प्रवचन सारोद्धार की गाथा १०६ की वृत्ति में कहा है ।

क्षमा याचना के बाद 'प्रतिक्रमण - स्वाध्याय - काउस्सग्ग - आपराध खामणा - प्राधूर्णक इत्यादि गुरु वंदन के आठ कारण कहे हैं, उसमें काउस्सग्ग नामक पांचवां आवश्यक रूप प्रतिक्रमण के लिए दो वांदना दे, फिर '**आयरिअ उवज्झाए०**' सूत्र में '**जे मे केइ कस्साया०**' पाठ से सूचित चार कषायों से वापिस मुड़ने का अनुकरण करता हो- इस तरह पीछे की भूमि को प्रमार्जन कर पीछे पैर से गुरु के अवग्रह में से बाहर निकल कर '**आयरिअ उवज्झाय**' आदि सूत्र पाठ बोलना चाहिए । इसका अर्थ वंदित्तु सूत्र के अर्थ के बाद कहा जायेगा । उसके बाद के काउस्सग्ग में प्रथम काउस्सग्ग चारित्र की शुद्धि के लिए है । चारित्र शुद्धि कषाय के त्याग से होती है, क्योंकि - कषाय के त्याग बिना का चारित्र असार गिना जाता है । दश वैकालिक निर्युक्ति में कहा है कि -

सामन्नमणु चरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा हंति ।
मन्नामि उच्छु पुप्फं व, निष्फलं तस्स सामण्णं ॥३०५॥

अर्थात् - "श्रमण जीवन पालन करता हुए भी जिस आत्मा को कषाय उत्कट-बलवान हो, उसका श्रमण जीवन गन्ने के पुष्प के समान निष्फल है ।"

इसलिए चारित्र की वृद्धि - शुद्धि और कषाय के उपशम के लिए '**आयरिअ उवज्झाय**' आदि तीन गाथा के द्वारा आचार्यादि समुदाय को, सर्व श्रमण संघ को तथा सकल जीव राशि को खमाकर कषायों का त्याग करे। उसके बाद '**पडिक्कमणा सुद्धाणं**' वचन के अनुसार 'प्रतिक्रमण करने पर भी शुद्ध नहीं बने' चारित्र के अतिचारों की शुद्धि के लिए काउस्सग्ग की इच्छा वाले '**करेमि भंते**' आदि तीन सूत्र बोलकर काउस्सग्ग करे । यहां सामायिक सूत्र कहने का यह हेतु है कि सर्व धर्मानुष्ठान समता भाव पूर्वक सफल हों, इसलिए प्रतिक्रमण के आदि में, मध्य में और अन्त में- तीन बार पुनः पुनः समता की स्मृति के लिए 'करेमि' सूत्र बोलने से अवश्य समता गुण की वृद्धि का कारण बनता है । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

आइम काउस्सग्गे, पडिक्कमणे ताव काउं सामइअं ।
तो किं करेइ बीअं, तइअं च पुणो वि उस्सग्गे ? ॥१६६५॥
समभावंमि ठिआप्पा, उसग्गं करिअ तो अ पडिक्कमइ ।
एमेव य समभावे, ठिअस्स तइअं पि उस्सग्गे ॥१६६६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सज्झाय झाण तव ओ सहेसु, उवएस थुइ पयाणे सुं ।
संत गुण कित्तणेसु न, हुति पुणरूत्त दोसा उ ॥१६६७॥

अर्थात् - ''प्रश्न- 'प्रतिक्रमण में पहले काउस्सग्ग में 'करेमि भंते ! ' सूत्र से सामायिक का स्मरण करने पर भी दूसरे बार किस लिए ? और पुनः काउस्सग्ग के समय तीसरी बार भी किसलिए बोला जाता है ? बारम्बार बोलने से पुनरुक्ति दोष नहीं लगता ? उत्तर - 'जिस तरह सामायिक सूत्र बोल कर सम भाव में रहा आत्मा काउस्सग्ग करता है, उस तरह ही सामायिक सूत्र द्वारा सम भाव में स्थिर होकर प्रतिक्रमण भी करे (वंदित्तु सूत्र बोले) और उसी तरह समभाव में स्थिरता के लिए काउस्सग्ग के पहले फिर तीसरी बार भी बोले।'' क्योंकि - स्वाध्याय, ध्यान, तप तथा औषध करने में, उपदेश देने में, स्तुति करने में एवं संतों के गुणों के गाने में- एक ही क्रिया पुनः पुनः करने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं गिना जाता है, उलटा विशेष लाभदायक होता है ।'

चारित्राचार की विशुद्धि के लिए काउस्सग्ग में 'चंदेसु निम्म लयरा०' तक दो लोगस्स का चिन्तन कर पारकर फिर प्रगट रूप लोगस्स बोले । यहां प्रगट 'लोगस्स' दर्शनाचार की शुद्धि के लिए जानना । सम्यग् दर्शन के योग से ही जीव का ज्ञान सम्यग् ज्ञान बनता है, नहीं तो वह अज्ञान रूप माना है, अर्थात् दर्शन ज्ञान को सम्यग् बनाने वाला होने से, अपेक्षा से दर्शन की महत्ता अधिक है । इसलिए उसकी शुद्धि के लिए, पहले इस भरत में ही हुए आसन (नजदीक के) उपकारी वर्तमान चौबीसी के ऋषभ देव आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति रूप प्रगट लोगस्स कहना, फिर **'सव्व लोए अरिहंत चेइआणं'** आदि कहकर उस दर्शनाचार की ही विशुद्धि के लिए काउस्सग्ग में **'चंदेसु निम्मलयराः'** तक एक लोगस्स का चिन्तन करना । फिर पूर्व के समान पारकर श्री सामायिक सूत्र से लेकर चौदह पूर्व तक के श्रुत ज्ञान रूप ज्ञानाचार की विशुद्धि के लिए **'पुक्खरवर दी वड्ढे०'** सूत्र कहकर **'सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्ग'** से **'अन्नत्थ०'** तक कहकर **'चंदेसु निम्मलयरा०'** तक एक लोगस्स का चिन्तन रूप कायोत्सर्ग करे । उसके बाद पारकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार के निरतिचार पालन के फलस्वरूप सिद्धों की स्तुति **'सिद्धाणं बुद्धाणं'** गाथा से करे ।

इस काउस्सग्ग में दो लोगस्स का चिन्तन रूप चारित्राचार की शुद्धि के लिए यह दूसरा काउस्सग्ग समझना । क्योंकि चारित्राचार की शुद्धि के लिए पूर्व दैवसिक अतिचार का चिन्तन रूप एक किया है, कहा है कि **''दुन्नि अहुंति चरित्ते दंसण नाणे अ इक्किक्को''** अर्थात् 'चारित्र के विषय में दो और दर्शन तथा ज्ञान के विषय में एक एक काउस्सग्ग किया जाता है, ऐसा शास्त्र वचन है ।' यहां दर्शन - ज्ञान विषय में एक एक का और चारित्र के विषय में दो लोगस्स का काउस्सग्ग कहा है, उसमें भी पूर्व में कहे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुसार दर्शन - ज्ञान से चारित्र का महत्व विषेष है इत्यादि कारण संभव हैं। दर्शनाचार और ज्ञानाचार की शुद्धि के लिए तीसरी और चौथी काउस्सग्ग में ऐसे कारण नहीं हैं। इस तरह समझना।

इस तरह '**सिद्धाणं बुद्धाणं**' की पहली गाथा के बाद वर्तमान तीर्थ के अधिपति नजदीक के उपकारी श्री वीर परमात्मा को '**जो देवाण वि देवो**' आदि दो गाथा से वंदन करे, फिर 'उज्जयंत = श्री गिरनार पर्वत' महातीर्थ है आदि हेतु से '**उज्जिंत सेल सिहरे०**' गाथा से उस तीर्थ के अलंकार समान श्री नेमिनाथ भगवान को वन्दन करे, और फिर श्री अष्टापद, श्री नंदीश्वर आदि अनेक तीर्थों की स्तुति रूप '**चत्तारि अट्ठ दस दोय०**' आदि गाथा बोले। लोगस्स आदि सब सूत्रों के अर्थ आदि वृहद् देव वंदन में कहे गये हैं।

इस प्रकार चारित्रा चार आदि की शुद्धि करने के 'सर्व धर्मानुष्ठान में हेतु श्रुत ज्ञान है' इसलिए उसकी समृद्धि-वृद्धि के लिए '**सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०**' आदि कह करके 'श्रुत की अधिष्ठात्री देवी का स्मरण करने से, स्मरण रूप में बहुमान करने वाले को श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, इसलिए' श्रुत देवी का काउस्सग्ग करके 'एक नवकार मन्त्र का' चिन्तन करे। यहां केवल आठ श्वासोच्छ्वास जितना ही अल्प काउस्सग्ग कहा है, उसमें देव देवियों आदि की आराधना अल्प प्रयत्न से हो सकती है, इत्यादि हेतु संभव हैं। काउस्सग्ग पारकर श्रुत देवी की '**सुअदेवया भगवई०**' स्तुति बोले, बहुत हो तो एक बजुर्ग बोले अन्य काउस्सग्ग मुद्रा में सुनें। इस तरह ही क्षेत्र की अधिष्ठात्री का भी उचित होने से क्षेत्र देवता का काउस्सग्ग '**रिवत देवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०**' आदि बोलकर करे और पारकर क्षेत्र देवता का ही 'जी से खित्ते साहू०' स्तुति कहे। प्रतिक्रमण में हमेशा क्षेत्र देवता का स्मरण 'तीसरे अदत्ता दान विरमण व्रत की पांच भावना में बारम्बार अवग्रह (क्षेत्र) की याचना करने रूप दूसरी भावना की सिद्धि के लिए संभावित है।'

उसके बाद पंच परमेष्ठि-नमस्कार रूप श्री नवकार मन्त्र बोलकर पैर आदि संडासा का प्रमार्जन करके, नीचे बैठकर, मुख वस्त्रिका तथा काया का पडिलेहण करे। बाद में गुरु को दो वांदना देकर '**इच्छामो अणुसट्ठि**' कहकर घुटने से बैठकर दो हाथ से अंजलि करके 'नमोऽर्हत सिद्धाचार्या' इत्यादि बोलकर '**नमोऽस्तु वर्द्धमानायः०**' आदि तीन स्तुति बोले।

यहां गुरु वंदन कहा है। वह गुरु महाराज की आज्ञा से आवश्यक प्रतिक्रमण करने वाले शिष्य द्वारा "मैंने आप श्री की आज्ञा से इस तरह प्रतिक्रमण किया" इस तरह गुरु को विनती (कृतज्ञता) के लिए की जाती है। संसार में राजा आदि की आज्ञा के अनुसार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कार्य करके पुनः प्रणाम (नमस्कार) पूर्वक 'आपके कहने अनुसार मैंने किया' इस तरह कहा जाता है, वैसे ही यहां भी समझना। अर्थात् यह **'इच्छामो अणुसट्ठिं'** का पाठ विनती रूप है, इसका अर्थ **'अनुशास्ति'** अर्थात् पडिक्कमह = प्रतिक्रमण करो।' ऐसी आप श्री ने आज्ञा दी थी वह राजा की आफत आदि के समान नहीं, परन्तु **इच्छामो** = मेरी इच्छा से मैंने पूर्ण किया है। यहां इस अर्थ की संभावना हमने ऐसी की है कि- शिष्य नमस्कार करके **'इच्छामो अणुसट्ठि'** कहते हैं तब गुरु महाराज भी उसे आदेश-आशीर्वाद देते सुने जाते हैं। यहां (मूल) प्रतिक्रमण पूर्ण हुआ। प्रतिक्रमण विघ्न रहित संपूर्ण होने से अत्यन्त प्रसन्न बना शिष्य प्रतिक्रमण करने वाला उसके वृद्धि होते हर्ष के साथ में ऊंचे स्वर में 'नमोऽस्तु वर्द्धमानाय०' आदि तीन स्तुतियां उत्तरोत्तर बढ़ते अक्षर वाली अक्षरों से वर्तमान तीर्थ के नायक श्री वीर परमात्मा की 'नमोऽस्तु वर्द्धमानाय०' आदि तीन स्तुति कहे। इसमें ऐसी विधि है कि- 'देवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण में बड़े गुरु पहले स्तुति कहें, फिर अन्य प्रत्येक साधु और श्रावक तीन स्तुतियां साथ में बोले और पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में तो गुरु का और पर्व दिन का विशेष बहुमान करने के लिए गुरु तीनों स्तुतियां पूर्ण बोले, फिर अन्य सब तीन स्तुति साथ में बोलें। तथा-

बाल स्त्री मन्द मूर्खाणां, नृणा चारित्र काङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥१॥

अर्थात्- "बालक, स्त्री, मन्द बुद्धि वाले, जड़ बुद्धि वाले और चारित्र की इच्छा वाले मनुष्यों के उपकार के लिए श्री सर्वज्ञ परमात्मा ने सिद्धान्त की प्राकृत भाषा में रचना की है।"

इस कथन से स्त्रियों को संस्कृत में अनधिकारीत्व का सूचन होने से साध्वी और श्राविकाओं को 'नमोऽर्हत् सिद्धाचार्यो०' आदि तीन सूत्र बोलने का नहीं है। 'नमोऽस्तु वर्द्धमानाय०' आदि के स्थान पर भी उन्हें **'संसार दावानल०'** आदि तीन स्तुति बोलनी चाहिएं। पुरुष रात्रि के प्रतिक्रमण में **'विशाल लोचन०'** आदि बोलते हैं, उस स्थान पर भी स्त्रियों को **'संसार दावानल०'** आदि बोलना है। कितने मानते हैं कि **'नमोस्तु वर्द्धमानाय०'** आदि स्तुतियां पूर्वों के अन्तर्गत-पूर्व में से निकाला हुआ होने से, और स्त्रियों को पूर्व के अध्ययन का अधिकार नहीं होने से उनको **'नमोऽस्तु वर्धमानाय'** आदि नहीं बोला जाता और गुरु के इस कथन के समय जब गुरु वह स्तुति बोले तब प्रत्येक स्तुति को अन्त में सब साधु-और श्रावक **'नमो खमासमणाणं'** अर्थात् 'क्षमा श्रमण श्री गुरुदेव को नमस्कार हो।' इस तरह बोलते हैं। वह भी राजा आदि बड़े पुरुष कुछ बोलें तब उनके प्रत्येक शब्दों के अन्त में बहुत जावियों आदि बोलकर उनके वचन को स्वीकार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप वचन बहुमान किया जाता है, वैसे ही गुरु महाराज के वचन को स्वीकार करने रूप 'नमो खमासमणाणं' बोला जाता है। वर्तमान काल में 'सामायिक चउवीसत्थो आदि किया है जी' कहकर "**इच्छामो अणुसट्ठिं नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत् सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यः।**" इस तरह सब साथ में बोलते हैं परन्तु पूर्व कहे अनुसार अलग अलग हेतु से बताया है, वह युक्त है।

'**नमोऽस्तु**' स्तुति कहने के बाद '**नमोत्थुणं**' सूत्र बोले। फिर एक व्यक्ति बड़े मधुर ऊंचे स्वर से श्री जिनेश्वर देव का स्तवन बोले और दूसरे सर्व सावधान होकर दो हाथ जोड़कर वह सुने। स्तवन के पीछे सभी एक सौ सत्तर जिनेश्वर भगवन्तों की स्तुति रूप '**वर कनक शंख विद्रय०**' आदि बोलकर पूर्व के समान चार खमासमण देकर, प्रति खमासमण में '**भगवान हूं**' आदि एक एक पद बोलकर गुरु महाराज आदि को वन्दन करे। यहां '**नमोऽर्हत सिद्धाचार्योपाध्याय०**' से यह चार खमासमण पूर्वक गुर्वादिक वंदन करे, वहां तक विधि देव गुरु का वंदन रूप जानना। श्रावक को तो उसके बाद '**अड्ठाइज्जेसु०**' तक देव गुरु का वंदन समझना। इस तरह प्रतिक्रमण के प्रारंभ और अन्त में देव-गुरु का वंदन करने से "**आद्यन्त ग्रहणे मध्य स्यापि ग्रहणं**" अर्थात् आदि और अन्त का ग्रहण करने से मध्य का भी ग्रहण होता है, इस न्याय से प्रतिक्रमण में सर्वत्र देव तथा गुरु को वन्दन बतलाया है। 'जैसे नमोत्थुणं' सूत्र के आदि में और अन्त में बोलते 'नमो' शब्द समग्र नमोत्थणं में व्यापक है, वैसे ही प्रतिक्रमण में भी देव गुरु का वंदन सर्वत्र व्यापक समझना।

उसके बाद '**द्विबद्धं सुबद्धं भवति**' = अर्थात् एक स्थान पर दो गांठ आदि से बांधना मजबूत बनता है। इसी न्याय से यहां पर चारित्राचार की विशुद्धि के लिए पहले दो काउस्सग्ग करने पर भी 'प्राणातिपात विरमणादि' व्रतों में लगे अतिचार रूप दैवंसिक प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिए पुनः 'चंदेसु निम्मलयरा' तक चार लोगस्स का ध्यान-चिन्तन कर काउस्सग्ग पारना। यह काउस्सग्ग भिन्न समाचारी के अनुरूप कई प्रतिक्रमण के आदि में तो कई अन्त करते हैं। फिर अन्तिम मंगल के लिए प्रगट रूप ऊपर लोगस्स बोलकर, मंडली में बैठकर, सावधान मन से दो खमासमण देकर पोरिसी तक मूल विधि के अनुसार स्वाध्याय करते हैं। वर्तमान समय में स्वाध्याय के स्थान पर पूर्वाचार्य कृत सज्झाय बोला जाता है और उसके बाद खमासमण पूर्वक दुःख क्षय करने के लिए काउस्सग्ग किया जाता है। उसमें सम्पूर्ण चार लोगस्स का ध्यान कर एक व्यक्ति काउस्सग्ग पार कर शान्ति के लिए श्रीमान् देव सूरि जी कृत 'लघु शान्ति स्तोत्र' बोलते हैं और अन्य काउस्सग्ग मुद्रा में ही सुनते हैं। उसके बाद काउस्सग्ग पारकर, ऊपर प्रगट लोगस्स बोलकर प्रतिक्रमण समाप्त किया जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यहां प्रश्न करते हैं कि- 'पहले कहा प्रतिक्रमण पंचाचार की विशुद्धि के लिए है, परन्तु उसके हेतुओं में तो उस स्थान पर ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार की ही शुद्धि बतलायी है, तपाचार और वीर्याचार की शुद्धि के लिए कोई अधिकार नहीं बतलाया। उसका क्या कारण है ?' इसका उत्तर देते हैं- 'तुम्हारा कथन बराबर नहीं हैं, क्योंकि तपाचार-वीर्याचार की शुद्धि ज्ञानाचारादि की शुद्धि से भिन्न नहीं है। ज्ञानाचारादि की शुद्धि के साथ में साथ में ही उसकी भी शुद्धि होती है। जैसे-शाम को साधु-मुनि राज चौविहार और श्रावक भी चौविहार आदि का कोई पच्चक्खान करता है, तथा सुबह भी उत्कृष्ट छः मासी तप से लेकर जघन्य यावत् नमुक्कारसहि तक का कुछ पच्चक्खान करता है। इससे तपाचार की शुद्धि तो स्पष्ट है ही तथा विधि पूर्वक अपनी शक्ति-बल वीर्य को छुपाये बिना प्रतिक्रमण की क्रिया करने वाले को वीर्याचार की शुद्धि भी होती ही है। इसलिए प्रतिक्रमण से पंचाचार की शुद्धि होती है, यह युक्त ही कहा है।'

प्रतिक्रमण अविधि से करने से व्यवहार सूत्र में प्रायश्चित्त कहा हैकि-प्रतिक्रमण शास्त्रोक्त समय में नहीं करने से 'चतुर्लघु', साधु मंडल के साथ नहीं करते अकेले करने से या कुशील साधुओं के साथ में करने से 'चतुर्लघु' का प्रायश्चित्त आता है। निद्रा-प्रमाद आदि के कारण से प्रतिक्रमण में साथ में न रहे, पीछे रह जाय तो एक काउस्सग्ग में वैसा होने से 'भिन्न मास', दो काउस्सग्ग रहने से 'लघु मास' और तीन में रहने से 'गुरु मास', तथा गुरु के या बड़ों के पारे बिना पहले ही शिष्य द्वारा एक काउस्सग्ग पारने से 'गुरु मास' और सर्व काउस्सग्ग पहले पारने से 'चतुर्लघु' प्रायश्चित्त बताया है। इसी तरह से गुरु वंदन में साथ में न रहे तो भी इसी तरह से प्रायश्चित्त लगता है। यह चतुर्लघु, भिन्न मास, लघु मास, गुरु मास आदि प्रायश्चित्त के सांकेतिक शब्द हैं। साधु को प्रतिक्रमण पूर्ण होने के बाद भी वहीं मंडली रूप में अतंर्मुहूर्त्त 'अमुक समय' तक बैठे रहना चाहिए। उठकर अपने आसन पर नहीं जाना चाहिए। क्योंकि 'प्रतिक्रमण के बाद कभी आचार्य भगवन्त ने जो पहले नहीं बताया, साधु द्वारा आचरण किया या नहीं सुना हुआ, अपूर्व शास्त्रों के अर्थों का स्वरूप कहें तो उसके श्रवण से वंचित रह जाय।' इस तरह ओघ निर्युक्ति की टीका में बतलाया है। इस प्रकार यहां तक दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि उसके हेतुओं सहित बतलायी है।

रात्रि (राइ) प्रतिक्रमण की विधि:- श्रावक रात्रि के अन्तिम पहर में पौषधशाला में जाकर अथवा अपने रहने के स्थान योग्य जगह में गुरु की स्थापना स्थापन करके ईर्यावहि पडिक्कमण पूर्वक सामायिक लेकर, खमासमण देकर '**कुसुमिण दुस्सुमिण उहडावणिअं, राइय पायच्छित्त वि सोहणत्थं काउस्सग्गं करेमि।**' आदि कहकर चार लोगस्स का ध्यान रूप काउस्सग्ग करे। उसमें निद्राधीन अवस्था में 'स्वयं स्त्री सेवन किया' आदि कुस्वप्न आया हो तो एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास का, '**सागर वर गंभीरा**' पद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तक चार लोगस्स का, और उसके सिवाय अन्य कोई स्वप्न आया हो तो एक सौ श्वासोच्छवास प्रमाण **'चंदेसु निम्मलयरा'** पद तक चार लोगस्स का ध्यान करे । यहां रागादि स्वरूप हो उसे कुस्वप्न और द्वेषादि स्वरूप हो उसे दु:स्वप्न कहाहै । इसकी विधि 'नवकार मंत्र के जापपूर्वक उठना ।' इत्यादि दिन कृत्य के पहले अधिकार में ही कही है । सर्व कार्यों की सफलता देव गुरु को वंदन करने से होती है । इसलिए काउस्सग्ग पारने के बाद में प्रगट लोगस्स कहकर जगचिंतामणी का चैत्य वंदन 'जय वीयराय' तक करे । उसके बाद दो खमासमण पूर्वक सज्झाय संदि साहू ? और **'सज्झाय करूँ ?'** इस तरह आदेश मांगकर राइ प्रतिक्रमण का समय हो, तब तक स्वाध्याय करना चाहिए ।

वर्तमान काल में चैत्य वंदन करने के बाद एक एक खमासमण पूर्वक **'भगवान् हं'** आदि चार पदों से वंदन करके, फिर दो खमासमण से दो आदेश मांगकर स्वाध्याय के स्थान पर **'भरहेसर बाहुबली'** आदि संत पुरुष तथा सतियों के स्मरण रूप मंगल स्वाध्याय करने में आता है, और प्रतिक्रमण का समय हो **'तब इच्छाकार'** सुहराई आदि से गुरु महाराज की सुखशाता पूछकर साथ ही **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्त राईय पडिक्कमणे ठाऊँ ?'** ऐसा आदेश मांगकर प्रतिक्रमण प्रारंभ होता है । तब इस ग्रन्थानुसार प्रतिक्रमण के समय में पहले इरियावहि करके प्रत्येक खमासमण देकर **'भगवानहं'** आदि चार पद से गुरु आदि को वंदन करके खमासमण देकर-**'इच्छा० संदि० भग० राईअ पडिक्कमणे ठाउं ?'** यह आदेश मांगकर, मस्तक को जमीन तक नमाकर रात्रि, के समग्र अतिचारों का बीज रूप **'सव्वस्स वि राइअ०'** आदि सूत्र बोलकर **'नमोत्थुणं०'** कहे । पहले किया हुआ जग चिंतामणी आदि देव वंदन और फिर स्वाध्याय आदि प्राभातिक धर्म कृत्य के उद्देश्य मंगल स्वरूप हैं । प्रतिक्रमण के साथ में उसका सम्बन्ध नहीं है, इससे ही प्रतिक्रमण की शुरुरात में मंगल आदि के लिए पुन: यह **'नमोत्थुणं'** रूप संक्षिप्त देव वंदन किया जाता है ।

फिर द्रव्य से खड़े होकर और भाव से उत्साही बनकर, इस तरह दोनों प्रकार से खड़े होकर **'करेमि भंते ! सामाइय०'** आदि सूत्र बोलकर अनुक्रम से चारित्र, दर्शन और ज्ञान के अतिचारों की विशुद्धि के लिए तीन कायोत्सर्ग करे । उसमें पहले और दूसरे काउस्सग्ग में एक एक लोगस्स **'चंदेसु निम्मलयरा'** तक चिन्तन करे । उसके लिए आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि- **''सायं सयं गोसद्धं''** अर्थात् शाम को एक सौ का और सुबह आधा सौ (पचास) श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करे ।' तीसरे काउस्सग्ग में तो शाम के दैवसिक प्रतिक्रमण में छ: आवश्यक के अन्त में कही जाती **'नमोऽस्तु वर्द्धमानाय'** आदि तीन स्तुति कहने के बाद समग्र प्रतिक्रमण के और इस काउस्सग्ग तक लगे सारे रात्रि के अतिचारों का चिंतन करे । देव सूरि कृत यति दिनचर्या में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिवसावस्सय अंते, जं थूइतिअगं तयाइ वावारे ।
जा पच्छिमुस्सग्गं, चिंतिज्जसु ताव अइआरे ॥६६॥

अर्थात्- ''दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्त में जो तीन स्तुतियां कही जाती हैं वहां से लेकर राई प्रतिक्रमण के अन्तिम तीसरे काउस्सग्ग तक की प्रवृत्ति में जो जो अतिचार लगे हों वे सारे तीसरे काउस्सग्ग में चिन्तन करना ।''

यहां दैवसिक प्रतिक्रमण विधि में कथनानुसार ज्ञानाचार आदि से चारित्राचार की महत्ता विशेष होने पर भी उसका काउस्सग्ग एक लोगस्स का ही करने के लिये कहा है । उसमें रात्रि में प्रायः प्रवृत्ति थोड़ी होने से चारित्र के अतिचार अल्प होते हैं, इत्यादि हेतु होते हैं । तीसरा काउस्सग्ग पारकर '**सिद्धाणं बुद्धाणं**' सूत्र बोलकर, संडासा प्रमार्जन से नीचे बैठे । यहां चारित्राचार की विशुद्धि के लिए पहले काउस्सग्ग में दैवसिक प्रतिक्रमण के समान रात्रि के अतिचार का चिन्तन करने के बदले एक लोगस्स का ध्यान करने के लिये का कहा है । उसमें भी कभी निद्रा के योग से स्पष्ट चैतन्य के अभाव में प्रारंभ में अतिचार का अच्छी तरह स्मरण न हो सके- इस कारण से तीसरे काउस्सग्ग के समय तो अच्छी तरह सावधान होने से बराबर रात्रि के व्यापार का स्मरण हो सकता है, इसलिए उसमें अतिचारों का स्मरण करने के लिए कहा है । ऐसा समझना । शास्त्र के जानकार गीतार्थ ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है-

निद्दामत्तो न सरइ, अइआरं माय घट्टणंऽणोन्नं ।
किइ अकरण दोसा वा, गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥१५२५॥

अर्थात्- ''निद्रा के योग से प्रमादी जीव अतिचारों का स्मरण न कर सकें, अंधेरे में वंदन से अन्योन्य साधु को संघट्ट- टकराव हो जाय अथवा मंद श्रद्धावाला कोई साधु अंधेरे का लाभ लेकर वंदन न भी करे इत्यादि दोषों का कारण होने से सुबह के प्रतिक्रमण में पहले तीन काउस्सग्ग किया जाता है । अधिक काउस्सग्ग से निद्रा का नाश होते सावधान हो सके- यह स्वाभाविक है ।

उसके बाद दैवसिक प्रतिक्रमण के समान मुखवस्त्रिका का पडिलेहण करके गुरु वंदन आदि करके 'वंदित्तु सूत्र' और उसके बाद 'तप चिंतावती' काउस्सग्ग तक की सारी विधि हेतु सहित दैवसिक प्रतिक्रमण के समान जानना । चारित्रा चारादि प्रत्येक आचारों की शुद्धि के लिए काउस्सग्ग वंदित्तु सूत्र के पहले ही करने पर भी यहां तप चिन्तन रूप काउस्सग्ग कहा है । वह प्रतिक्रमण करते हुए रह गया जो ज्ञानादि सर्व के अतिचार की शुद्धि के लिए होता है ।

इस काउस्सग्ग में श्री वीर परमात्मा ने छः मासी तप किया था । उसका चिन्तन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इस तरह से करना कि- 'हे जीव ! श्री वीर भगवन्त ने उत्कृष्ट छः मासी तप किया था, उस तप की तेरे में शक्ति है या नहीं ?' इत्यादि आत्म को पूछे और शक्ति न हो तो मन से जवाब दे कि- 'मैं वैसा शक्तिमान नहीं हूँ।' इस तरह से एक दो तीन चार पांच दिन कम करते छः मास करने की शक्ति है ? जवाब में नहीं। फिर छः सात, आठ नौ, दस दिन कम करते छः मासी तप करने की शक्ति है ? उत्तर में नहीं है। फिर ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, पंद्रह दिन कम करते छः मासी तप करने की शक्ति है ? जवाब में नहीं है। इस तरह एक एक दिन कम करते करते पांच महीने का चिन्तन करे। इतना सामर्थ्य न हो तो पांच पांच दिन कम करते चार महीने में, फिर पांच पांच दिन कम करते तीन महीने, दो महीने और कम करते आखिर एक महीने के तप का चिन्तन करे, उसकी शक्ति है ? उत्तर में नहीं। उसके बाद एक एक दिन कम करते तेरह दिन कम होने पर शक्ति न हो तब चौंतीस भक्त (सोलह उपवास) रूप तप का चिन्तन करे। वैसी शक्ति न हो तो फिर बत्तीस भक्त-पंद्रह उपवास करने की शक्ति है ? उत्तर में नहीं। इस तरह दो दो भक्त (एक उपवास) कम करते आखिर चतुर्थ भक्त (एक उपवास) तक का चिन्तन करना। उसमें स्वयं पहले उत्कृष्ट जो तप किया हो वह या उससे कम पुनः उस दिन से जो तप करने के परिणाम हो वहां तक शक्ति है और करूंगा-इस तरह निर्णय करे। परन्तु यदि परिणाम न हो तो शक्ति है परन्तु आज वह करने के मेरे परिणाम नहीं हैं। ऐसा विचार कर घटाते जायं। आगे भी क्रमशः आयंबिल, नीवी, एकासना आदि जो तप करने के परिणाम हों वह करूंगा, ऐसा निर्णय करके काउस्सग्ग पार ले। (प्रवचन सारोद्धार आदि में अन्य विधि है) फिर प्रगट लोगस्स बोलकर मुंहपत्ति एवं शरीर पडिलेहन पूर्वक दो वंदन देकर मन में चिन्तन किये तप का पच्चक्खान करे। श्री भावदेव सूरि कृत यति दिनचर्या में कहा है कि-

सामाइअ छम्मासा, तवुस्सग्ग उज्जोय पुत्ति वंदणगं।
उस्सग्ग चिंतिय तवो विहाणमह पच्चक्खाणेण ॥१३॥

इग पंचाइदि णूणं, पणमास चइत्तु तेर दिण उड्ढं।
चउत्तीसाउदि णूणं, चिंते नवकार सहियं जा ॥१४॥

अर्थात्- "करेमि भंते ! आदि सूत्र कहकर छः मासी तप का काउस्सग्ग करे, पारकर उद्योत कर-प्रगट लोगस्स कहकर मुंहपत्ति पडिलेहन पूर्वक दो वंदना दे। फिर पच्चक्खान द्वारा काउस्सग्ग में चिन्तन किए तप को करे यानी उसका पच्चक्खान करे। (१)॥ इस काउस्सग्ग में एक से पाँच आदि दिन कम करते करते पाँच महीने तक और उसमें से भी कम करते हुए केवल तेरह दिन कम एक महीने तक नीचे उतरना, फिर चौंतीस भक्त में भी घटानते हुए यावत् चौथ भक्त (एक उपवास) और उसमें भी कम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करते हुए यावत् नमुक्कार सहि तक में जो तप करना हो वहां तक का चिन्तन करे ।(२)॥'' इस तरह मन में निश्चित किए तप का पच्चक्खान करे ।

उसके बाद '**इच्छामो अणुसट्ठिं**' कहकर 'नमो खमासमणाणं' बोल कर नीचे बैठ कर '**नमोऽर्हत०**' कहकर '**विशाल लोचनदलं**' आदि तीन स्तुति कहे । उसमें हेतु दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि में जो कहा है वह समझ लेना । फिर '**नमोत्थुणं, अरिहंत चेई आणं०**' आदि सूत्र कहकर चार स्तुति से देव वंदन करे । स्तुतियां '**कल्याण कंदं**' आदि बोले । रात्रि का प्रतिक्रमण बड़ी आवाज से नहीं परन्तु मन्द स्वर से कहना चाहिए । क्योंकि बड़ी आवाज सुनकर पाप करने वाले तिर्यंच या मनुष्य जागते हैं और अपने पापारंभ की प्रवृत्ति प्रारंभ करते हैं । उसमें प्रतिक्रमण करने वाला निमित्त बनने से उसे पाप कर्म का बन्धन होता है ।

तदनन्तर साधु और जिसने पौषध किया हो वह श्रावक भी दो खमासमण देकर '**इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! बहुवेल संदिसाहू**' और '**इ.सं.भ. बहुवेल करशु ?**' इस तरह दो आदेश से बहुवेल की आज्ञा मांगे । यहां श्वासोच्छ्वास आदि जो बारम्बार होता है, जिसे रोक नहीं सकते और बारम्बार आज्ञा नहीं ले सकते, उस क्रिया के लिए 'बहुवेल' कहलाता है । उसके बाद एक एक खमासमणपूर्वक '**भगवान् हं**' आदि बोलकर चार खमासमण से गुरु आदि को वंदन करे श्रावक तो उसके अतिरिक्त '**अड्ढाइज्जेसु०**' आदि भी बोले । इसका हेतु दैवसिक प्रतिक्रमण के समान समझना । यह राइ प्रतिक्रमण की विधि समाप्त हुई । वर्तमान काल में बीच में सकल तीर्थ और अन्त में विहर मान जिन तथा तीर्थाधिपति श्री शत्रुंजय गिरराज का चैत्यवंदन किया जाता है । वह प्राभातिक मंगल रूप है ।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण की विधि- यद्यपि हमेशा के दैवसिक और राइ प्रतिक्रमणों से पंचाचार की शुद्धि की जाती है, तथापि छोटे बड़े अतिचारों को सविशेष दूर करने के लिए पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण भी अवश्य करने योग्य हैं ही । कहा भी है कि-

जेह गेहं पइ दिवसं पि सोहिअं तहवि पक्खसंधिसुं ।
सोहिज्जइ सविसेसं, एवं इ हयं पि नायव्वं ॥१॥

अर्थात्- ''जैसे घर को प्रतिदिन साफ करने पर भी पाक्षिक आदि पर्व में विशेष रूप से शुद्ध किया जाता है, वैसे ही यहां पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणों को विशेष आत्म शुद्धि के लिए समझना ।''

पाक्षिक प्रतिक्रमण के प्रारंभ में '**वंदित्तु सूत्र**' तक दैवसिक प्रतिक्रमण करना, फिर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खमासमण देकर **'देवसिअं आलोइअ पडिक्कंता इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पक्खी मुंहपत्ति पडिलेहू ?'** कह कर मुंहपत्ति को शरीर का पच्चीस पच्चीस बोल से पडिलेहन कर दो वंदना देकर सम्यग्ज्ञान के भंडार समान गुरु महाराज आदि को क्षमा याचना करना और 'सर्व अनुष्ठान क्षमा से सफल होता है' इस तरह बताने के लिए **''इच्छा कारेण संदिसह भगवन् ! अब्भूट्ठिओमि संबुद्धा खामणेणं, अब्भिंतर पक्खिअं खामेउं ?'** इस तरह गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर **'इच्छं, खामेमि पक्खिअं, पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि, अपत्तिअं परपत्तिअं०''** आदि बोलकर प्रथम गुरु महाराज– स्थापनाचार्य जी के सम्मुख क्षमापना करे, फिर अन्य साधु तथा श्रावक, जो मंडल में शेष दो शेष रहें उतने साधु हों तो गुरु आदि तीन या पांच को क्षमापना करे, फिर खड़े होकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पक्खिअं आलोउं ?'** यह अनुमति मांगकर **'इच्छं आलोएमि, जो मे पक्खिओ अइआरो०** आदि सूत्र बोलकर संक्षेप से अथवा विस्तार पूर्वक पक्खी अतिचारों की आलोचना करे अर्थात् पक्खी अतिचार बोले। फिर **'सव्वस्स वि पक्खिअं दुच्चित्तिअं०'** आदि कहे उसमें शिष्य **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्'** कहकर प्रायश्चित्त मांगे तब गुरु **'पडिक्कमहं'** कहे और शिष्य **'इच्छं** (तस्समिच्छामि दुक्कडं)' कहकर स्वीकार करते मिच्छामि दुक्कडं दे फिर गुरु **'चउत्थेणं एक उपवास'** आदि कहकर उपवास आदि पाक्षिक का जो प्रायश्चित्त है वह दे, इसमें शक्य हो तो वह **'तहत्ति'** कहकर स्वीकार करे।

यदि पहले यह तप कर लिया हो तो **'पइट्ठिओ'** कहे, और करने की भावना हो तो **'तहत्ति'** कहे और न हो सके तो मौन धारण करे। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण का उपवास आयंबिल आदि प्रायश्चित्त करना दु:शक्य होता हो तो एकासना–बीयासना और आखिर स्वाध्याय आदि करके भी भगवान की आज्ञा का पालन करना चाहिए। अन्यथा जिनाज्ञा का भंग होता है।

उसके बाद दो वंदना देकर प्रत्येक को खामणा करना चाहिए। प्रथम गुरु महाराज या मंडली के नायक, अन्य बुजुर्ग खड़े होकर खड़े खड़े ही बोलें कि- **'देवसिअं आलोइअ पडिक्कंता, इच्छाकारेण संदिसह भगवन ! अब्भुट्ठिओऽहं, अभ्भितर पक्खिअं खामेउं ? इच्छं'** कहकर मौन रहे तब गुरु इच्छाकारी हे अमुक तपोधन ! मुनि ! इस तरह कहकर अन्य को या जो अपने से लघु और अन्य साधुओं से बड़े हों उनको बुलाये, तब उनके उत्तर में वह अन्य मुनि खमासमणपूर्वक **'मत्थएण वंदामि'** कहे, फिर गुरु कहे **'अब्भुट्ठिओमि पत्तेअ खामणेणं अब्भितर पक्खिअं खामेउ ?'** तब वह मुनि भी खड़े खड़े ही **'अहमवि खामेमि तुब्भे'** इस तरह कहकर नीचे नमकर मस्तक को जमीन के साथ में लगाकर **'इच्छ खामेमि पक्खिअं, पन्नरसण्हं दिवसाणं**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पन्नरसण्हं राईणं जं किं चि अपत्तिअं परिपत्तिअं०' आदि पाठ बोले। गुरु भी उनको खमावे **'पन्नरसण्हं दिवसाणं'** आदि अब्भुट्ठिओ का सारा पाठ बोले, परन्तु **'उच्चासणे-समासणे'** यह दो पद न बोले। इस तरह सर्व साधु परस्पर क्षमा याचना करें। लघु (छोटे) वाचनाचार्य के पर्याय से छोटे के साथ प्रतिक्रमण करने का हो तब तो प्रथम जो पर्याय से बड़ा हो वह स्थापनाचार्य को खामणा सूत्र बोले, उसके बाद शेष सब साधु अनुक्रम से रत्नाधिक पर्याय से खमायें। प्रतिक्रमण में जब गुरु साथ में न हो तब सामान्य साधु भी प्रथम स्थापनाचार्य को खमाये और फिर पर्याय के क्रम से वहां तक खमाये कि अखिर में दो साधु शेष रहें। इसी तरह श्रावक को भी खमाना चाहिए। परन्तु साधु के अभाव में श्रावकों में जो बड़ा हो वह अन्य सर्व को उद्देश्य कर 'अमुक आदि समस्त श्रावकों को वंदन करता-वंदन करता हूं' ऐसा कहकर जब **'अब्भुट्ठिओमि प्रत्येक खामणेणं अब्भिंतर-पक्खिअं खमेउं'** कहे, तब अन्य श्रावक भी **'अहमवि खामेमि'** कहें। फिर बड़ों के सहित सर्व **'पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं भण्यां भारणं मिच्छामि दुक्कड़ं'** कहे। वर्तमान काल **में 'सकल संघ को मिच्छामि दुक्कडं'** इस तरह बोला जाता है।

इस तरह प्रत्येक खामणा करके दो वंदन देकर **'देवसिअं आलोइअ पडिवकंता, इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पक्खिअं पडिक्कमावेह!'** इस तरह अनुमति मांगे। तब गुरु कहे **'सम्म पडिक्कमह!'** फिर **'इच्छं'** कहकर सामायिक सूत्र **'इच्छा कारेण संदिसह भगवन! पक्खिअं सूत्तं कड्ढेमि?'** इस तरह अनुमति मांगकर गुरु स्वयं या वे जिसको आज्ञा करें वह, अन्य साधु मन से एकाग्र बनकर तीन नवकार कहकर, स्पष्ट उच्चारपूर्वक श्री पाक्षिक सूत्र कहे। गुरु के अभाव में श्रावक खड़े खड़े पक्खी सूत्र के स्थान पर 'तीन नवकार' गिनकर 'वंदित्तु सूत्र' कहे और ऊपर **'सुअदेवआ भगवइ०'** स्तुति बोले। साधु महाराज हों तो श्रावक को भी सावधान पूर्वक पक्खीसूत्र सुनना चाहिए। अन्य सर्व को खमासमणा देकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खि सुत्तं संभलेमि'**- कहकर शक्ति अनुसार काउस्सग्ग मुद्रा में रहकर सुने। पूर्ण होने के बाद 'सुअदेववया भगवइ०' आदि श्रुत देवता की स्तुति सब साथ में बोलें और दैवसिक की विधि अनुसार नीचे बैठकर पाक्षिक प्रतिक्रमण का वंदित्तु सूत्र बोलें अर्थात् वंदित्तु सूत्र जहां जहां देवसिक पाठ आए वहां वहां पाक्षिक आदि शब्द बोलना चाहिए। **उसमें 'अब्भुट्ठिओमि आराहणाय'** बोलते हुए खड़े होकर शेष खड़े खड़े पूर्ण करे।

उसके बाद **'करेमि भंते! सामाइअ० इच्छामि ठामि काउस्सग्ग'** आदि सूत्र कहकर प्रतिक्रमण करने पर भी नहीं रुकने वाले अतिचारों को हटाने के लिए-आचारों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

की विशुद्धि के लिए बारह लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा तक ध्यान स्वरूप तीन सौ श्वासोच्छ् का काउस्सग्ग कर, उसे पूर्णकर प्रगट लोगस्स कहकर मुंहपत्ति का पडिलेहन करके दो वंदन देकर खमासमणपूर्वक (हाल में खमासमण नहीं देते और वंदन देने के बाद उसकी आवश्यकता भी नहीं होती) '**इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओमि समत्त खामणेणं अब्भितर पक्खिअं खामेउं ?**' आदि कहकर क्षमापन करे। इस खामणा का हेतु यह है कि पहले-पहले सम्बुद्धा खामणा से सामान्य रूप में और फिर प्रत्येक खामणा से विशेष रूप में पाक्षिक अपराध क्षमा याचना करते हुए भी पीछे से बारह लोगस्स का काउस्सग्ग में शुभ एकाग्र भाव से आत्मा के कुछ अपराध का विशेष स्मरण हो जाय, उसे भी इस क्षमापना से शुद्ध करे। फिर खड़े होकर (वर्तमान में खमासमण पूर्वक बोला जाता है) **इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! पक्खी खामणा खामुं ? इच्छं**' कहकर खमासमण पूर्वक गुरु का बहुमान और उपकार की कृतज्ञता आदि चार खामणा करे।

जैसे विरुदावली बोलने वाला पुरुष, राजा का कुछ मांगलिक कार्य पूर्ण होने के बाद 'अखण्ड बल वाला आपका अभी तक का समय सुन्दर रूप में पसार हुआ है और इसके बाद का भी इसी तरह से प्राप्त हो ! सुन्दर रूप से पसार हो' इस तरह बोलकर राजा का बहुमान करता है वैसे ही यहां भी गुरु का पाक्षिक विनय करने रूप '**इच्छामि खमासमणो पिअं च मे !** आदि प्रथम खामणा का सूत्रपाठ बोलते साधु तथा प्रकार से द्रव्य-भाव से नम्र बनकर आचार्य को खामणा करे, उनका बहुमान करे। दूसरे खामणा में '**इच्छामि खमासमणो पुव्वि चेइआइ०**' आदि पाठ बोलकर चैत्य वंदन का तथा साधु वंदन का निवेदन करे अर्थात् देव दर्शन तथा अन्य छोटे बड़े साधु साध्वी या श्रावक श्राविकाओं द्वारा की हुई वंदना-सुखशाता पृच्छादि बतलाये और अपनी भी वंदन बतलाये। तीसरे खामणा में '**इच्छामि खमासमणो अब्भुट्ठिओहं तुब्भणहं संतिअं०**' आदि सूत्र पाठ बोलकर गुरु के अपने लिए किए उपकारों का निवेदन-कृतज्ञता प्रगट करे। और चौथे खामणा में '**इच्छामि खमासमणो उहमवि (अ) पुव्वाइ०**' आदि सूत्र पाठ बोलकर स्वयं अविनीत होने पर गुरु ने जो हित शिक्षा दी हो इत्यादि जो उपकार किया हो, उसका कृतज्ञ भाव में बहुमान करे। ये चारों पाक्षिक (चौमासी-सांवत्सरिक) खामणा के अन्त में गुरु महाराज जब अनुक्रम से '(१) **तुब्भेहिसम,** (२) **अहमवि वंदामि चेइआइं,** (३) **आयरिअ संतिअ** एवं (४) **नित्थार पारगा होह।**' बोले तब शिष्य (साधु) '**इच्छं**' कहे। गुरु महाराज के अभाव में श्रावक इस खामणा के बदले एक एक नवकार कहे फिर '**इच्छामो अणुसट्ठिं**' कहकर शेष रहे दो वंदन, दैवसिक प्रतिक्रमण पूर्ण करे। उसमें पाक्षिक सूत्र के अन्त में '**सुअदेवया भगवइ०**' स्तुति से श्रुत देवी का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्मप्रतिक्रमण की इस विधि को बताने वाली पूर्वाचार्य कृत गाथाएं ग्रंथों में इस तरह मि हैं । ये गाथाएं श्रीमद् हेमाचार्य रचित योगशास्त्र प्रकाश ३ गाथा १३० की टीका में दी हैं । वह इस प्रकार हैं-

पंच विहायार विशुद्ध हेउमिह साहू सावगो वा वि ।
पडिक्कमणं सह गुरुणा, गुरु विरहे कुणइ इक्को वि ॥१॥

वंदित्तु चेइआइं, दाउं चउराहए खमासमणे ।
भूनिहिश्च त्तिरो सयलाइ आरमिच्छा कडं देइं ॥२॥

सामाइअ पुव्व मिच्छामि ठाउं काउस्सग्ग मिच्चाइं ।
सुत्तं भणिअ पलं विअ भुअ कुप्पर धरि अपहिरणओ ॥३॥

घोडगमाइ अदोसे हिं विरहअं तो करेइ उस्सग्गं ।
नाहि अहो जाणुद्धं चउरंगुलट्ठ वि अक डिपट्टो ॥४॥

तत्थ य धरेइ हिअए, जहक्कमे दिण कए अ अइआरे ।
पारेत्तु णमोक्कारेण, पढइ चउ वीस थयदंडं ॥५॥

संडासगे पमज्जिअ, उव विसिअ अलग्ग विअय बाहु जुओ ।
मुहणं तगं च कायं पेहए पचं वीसाइह (हिं) ॥६॥

उठिओ ट्ठिओ सविणयं विहिणा गुरुणो करेइ किइ कम्मं ।
बत्तीस दो सर हिअं पण वीसा वस्सग विसुद्धधद्ध ॥७॥

अहं सम्मम वणयंगो, कर जुग विहि धरिअ पुत्ति रयहरणे ।
परि चिंत अइ आरे, जहक्कमे गुरु पुरो विअडे ॥८॥

अह उव विसित्तु सुत्तं, सामाइअ माइअं पढिअ पयओ ।
अब्भुट्ठि ओम्हिं इच्चाइ, पढइ दुह ओ ठिओ विहिणा ॥९॥

दाऊण वंदणं तो पण गाइ सु जइ सु खामए तिन्नि ।
किइ कम्मं करिआ यरिअ माइ गाहा तिगं पढइ ॥१०॥

इअ सामाइअ उस्सग्ग-सत्तुमुच्चरिअ काउस्सग्ग ठिओ ।
चिंतइ उज्जोअ दुगं चरित्त (अइआरा) सद्धि कए ॥११॥

विहिणा पारिअ सम्मत्त सुद्धि हेउं च पढइ उज्जोअं ।
तह सव्वलोअ अरिहंत आराहणुस्सग्ग ॥१२॥

काउं उज्जा अगरं, चिंत्तिअं पारेइ सुद्ध सम्मतो ।
पुक्खर वरदी वट्टं कड्ढइ सुअ सोहण निमित्तं ॥१३॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पुण पण वीसुस्सासं, उस्सग्गं कुणइ पाराए विहिणा ।
तो सयल कुसुल किरिआ फलाणं सिद्धाण पढई थयं ॥१४॥
अहं सुअसमि द्धि हेउं सुअ देवीए करेइ उस्सग्ग ।
चिंतेइ नमोक्कारं सुणइ व देई व तीइ थुइं ॥१५॥
एवं खित्त सुरीए उस्सग्गं कुणइ सुणइ देइ थुइ ।
पढि ऊण पंच मंगल मुव विसइ पमज्ज संडासे ॥१६॥
पुव्व विहिणेव पोहिअ, पुत्तिं दाऊण वंदणं गुरुणो ।
इच्छामों अणुसट्ठिन्ति, भणिउं जाणुहिं तो ठाई ॥१७॥
गुरू थुइ गहणे थुइ तिण्णि, वद्धमाणक्खरस्सरो पढई ।
सक्कथ यथवं पढिअ, कुणई पच्छित्त उस्सग्गं ॥१८॥

अर्थात- ''यहाँ पांच प्रकार के आचार की विशुद्धि के लिए साधु और श्रावक भी गुरु महाराज के साथ में प्रतिक्रमण करें और गुरु महाराज के अभाव में श्रावक अकेला भी करे ।(१)॥ उसमें सर्व प्रथम देव वंदन करके प्रारंभ में चार खमासभणा देकर '**भगवान ह०** ' आदि कहकर भूमि तल पर मस्तक लगाकर '**सव्वस्व वि**' बोले । उसके बाद सारे अतिचारों का '**मिच्छामि दुक्कडं**' दे ।(२)॥ उसके बाद सामायिक सूत्र युक्त '**इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**' आदि सूत्र बोलकर दोनों हाथ नीचे लटका कर कोहनी से चोल पट्टे को कमर के ऊपर दबाकर रखे । (३)॥ और घोटक आदि १६ दोषों से रहित काउस्सग्ग करे, उसमें चोलपट्टा नाभि के चार अंगुल नीचे और घुटने से चार अंगुल ऊपर रखे (श्रावक की इसी तरह धोती रखे)। (४)॥ काउस्सग्ग में दिन में लगे हुए अतिचारों को क्रमशः हृदय में धारण-स्मरण करे और '**नमो अरिहंताणं**' बोलकर काउस्सग्ग पूर्ण करे, फिर प्रगट रूप में पूरा लोगस्स कहे ।(५)॥ तदनन्तर संडासा प्रमार्जन कर नीचे बैठकर, दोनों हाथों का स्पर्श न हो इस तरह लम्बे करके, पच्चीस बोल से मुंहपत्ती और पच्चीस बोल से शरीर का प्रतिलेखन करे ।(६)॥ उसके बाद खड़े होकर विनय सहित विधि पूर्वक बत्तीस दोषों से रहित पच्चीस आवश्यक विशुद्ध गुरु वंदन करे । (७)॥ तदनन्तर कमर के ऊपर के भाग को उच्छी तरह नमाकर दोनों हाथों में मुंहपत्ती और रजोहरण पकड़कर काउस्सग्ग में विचार किए हुए अतिचारों को ज्ञानादि क्रमानुसार गुरू के सामने प्रगट में निवेदन करे । (८)॥ उसके बाद जयणा और विधिपूर्वक बैठकर यातना से अप्रमत्त बनकर '**करेमि भंते**' आदि कहकर वंदित्तु बोले। उसमें '**अब्भुट्ठिओमि आराहणाएं**' आदि शेष बोलते समय विधि पूर्वक द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से खड़ा हो जाय । (९)॥ तत्पश्चात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दो बार वंदन देकर मंडली में पांच अथवा इससे अधिक साधु हों तो '**अब्भुट्ठिओमि**' बोलकर तीन से क्षमा याचना करे और बाद में दो वंदना देकर '**आयारिय उवज्झाय**' आदि तीन गाथा बोले । (१०)॥ उसके बाद 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि' इत्यादि काउस्सग्ग के सूत्र कहकर काउस्सग्ग ध्यान में स्थित होकर चारित्र के अतिचारों की शुद्धि के लिए दो लोगस्स का चिन्तन करे ।(११)॥ उसके बाद विधिपूर्वक काउस्सग्ग पूर्णकर सम्यकत्व की शुद्धि के लिए प्रगट रूप में लोगस्स बोले तथा उसी की शुद्धि के लिए 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं' कहकर चैत्यों की आराधना के लिए काउस्सग्ग करे ।(१२)॥ उसमें एक लोगस्स का ध्यान करे, दर्शन शुद्धि वाले उस काउस्सग्ग को पारकर फिर श्रुत ज्ञान की शुद्धि के लिए-'पुक्खर दी वड्ढे' सूत्र बोले ।(१३)॥ फिर 'चंदेसु निम्मलयरा' तक पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण वाला लोगस्स का काउस्सग्ग करे और विधि पूर्वक पूर्ण करे । उसके बाद शुभ अनुष्ठान के फलस्वरूप 'सिद्धाणं बुद्धाणं' का सिद्धस्तव बोले ।(१४)॥ तदनन्तर श्रुत-स्मृति के कारणभूत श्रुत देवता का काउस्सग्ग करे, उसमें नवकार-मन्त्र ध्यान पूर्ण करके श्रुत देवता की स्तुति बोले अथवा सुने ।(१५)॥ इसी प्रकार क्षेत्र देवता का भी काउस्सग्ग करे, उसकी स्तुति बोले अथवा सुने । बाद में प्रगट में नवकार मन्त्र बोले । फिर संडासा प्रमार्जन कर नीचे बैठे ।(१६)॥ उसके बाद पूर्वोक्त विधि के अनुसार मुंहपत्ती-प्रतिलेखन करके दो वन्दना देकर 'इच्छामो अणुसट्ठि' कहकर घुटने के सहारे नीचे बैठे । १७॥ फिर गुरु महाराज 'नमोऽस्तु' की एक स्तुति कहें, उसके बाद बढ़ते अक्षर और बढ़ते स्वर से तीन स्तुति पूर्ण कहे । तदनन्तर शक्रस्तव-नमोत्थुणं और स्तवन बोलकर दैवसिक प्रायश्चित्त का काउस्सग्ग करे ।(१८)॥''

एव ता देवसिअं राइअमवि एवमेव नवरि तहिं ।
पढमं दाउं मिच्छामि दुक्कडं पढइ सक्क थयं ॥१९॥

उट्ठिअ करेइ विहिणा, उस्सग्गं चिंतए अ उज्जोअं ।
बीअं दंसण सुद्धीए, चिंतए तत्थ इममेव ॥२०॥

तइए निसाइ आरं जहक्कमं चिंतिऊण पारेइ ।
सिद्धत्थयं पठित्ता, पमज्ज संडास मुव विसइ ॥२१॥

पुव्वं व पुत्ति पेहण वंदण मालो असुत्त पढणं च ।
वंदण खामण वंदण-गाहा तिग पढण मुस्सगो ॥२२॥

तत्थं य चिंतइ संजम जोगाण न होइ जेण मे हाणी ।
तं पडिवज्जामि तवं, छम्मासं ता न काउ मलं ॥२३॥

एगार गुण तीसूण यं पि, न सही न पंच मासमवि ।
एवं चउति दुमासं, न समत्थो एग मासं पि ॥२४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जा तंपि तेर सूणं, चउ तीस इमाइअं दूहाणीए ।
जा चउत्थं तो आयंबिलाइ जा पोरिसि नमो वा ॥२५॥

जं सक्कं तं हिअए, धरेत्तु पारेइ पेहए पुत्ति ।
दाउं वंदण मसठो तं चिअ पच्चक्खए विहिणा ॥२६॥

इच्छामो अणुसट्ठिन्ति, भणिअ उवसिअ पठइ तिण्णि थई ।
मिउसद्देणं सक्कत्थ याइ तो चेइए वंदे ॥२७॥

अर्थात्- "इस तरह दैवसिक प्रतिक्रमण का क्रम पूर्ण हुआ । अब रात्रि प्रतिक्रमण की विधि भी इस प्रकार है-इसमें पहले '**सवस्स वि**' कहकर '**मिच्छामि दुक्कडं**' से प्रतिक्रमण की स्थापना कर '**नमोत्थुणं**' कहे ।(१६)॥ उसके बाद खड़े होकर विधि पूर्वक चारित्राचार की शुद्धि के लिए प्रथम काउस्सग्ग करे, उसमें एक लोगस्स का चिन्तन करे । फिर दूसरा काउस्सग्ग दर्शन शुद्धि के लिए करे, उसमें भी एक लोगस्स का ही ध्यान करे ।(२०)॥ और तीसरे काउस्सग्ग में क्रमशः रात में लगे हुए अतिचारों का चिन्तन करके काउस्सग्ग पूर्ण करे और '**सिद्धाणं बुद्धाणं**' बोलकर संडासा प्रमार्जन करके नीचे बैठे ।(२१)॥ पहले कहे अनुसार मुहपत्ती पडिलेहन कर वंदना देकर रात्रि अतिचार की आलोचना करके '**प्रतिक्रमण सूत्र**' (वंदित्तु सूत्र) बोलकर दो वांदना देकर अब्भुट्ठिओ-खामणा कर पुनः दो वांदना दे और आयरिअ उवज्झाय की तीन गाथा आदि सूत्र कहकर तप चिन्तन का काउस्सग्ग करे ।(२२)॥ उस काउस्सग्ग में मन में निश्चय करे कि-अपनी संयम यात्रा में हानि न पहुंचे इस तरह से मैं छः महीने का तप करूं । उत्कृष्ट छह महीने तप करने की स्वयं की शक्ति न हो ।(२३)॥ तो एक दिन, दो दिन, तीन दिन- इस प्रकार एक एक दिन कम करते करते पांच महीने के तप का चिन्तन करे । इतना सामर्थ्य न हो तो उसमें भी एक एक दिन कम करते चार महीने, फिर तीन महीने, दो महीने तक का सोचे । उसकी भी सामर्थ्य न हो तो कम करते एक महीने के तप का चिन्तन करे ।(२४)॥ इतनी भी सामर्थ्य न हो तो उसमें भी तेरह दिन कम करते हुए चौंतीस भक्त (सोलह उपवास रूप) तप का चिन्तन करना, वैसी भी शक्ति न हो तो दो दो भक्त कम करते आखिर चतुर्थ भक्त (एक उपवास) तक के तप का चिन्तन करना । उस शक्ति के अभाव में आयंबिल आदि से लेकर पोरसी नमुक्कारसी तक चिन्तन करे । (२५)॥ इस तरह चिन्तन करते हुए जिस तप को कर सकता है, उस तप को हृदय में निश्चय करके काउस्सग्ग पूर्ण करना । फिर प्रगट में लोगस्स कहे । तदनन्तर मुँहपत्ती-पडिलेहण करे । दो वन्दना देकर निष्कपट भाव से जिसे मन में धारण किया हो उस तप का गुरु से पच्चक्खान ग्रहण करे । (२६)॥ बाद में '**इच्छामो अणुसट्ठि**' बोलकर नीचे बैठकर विशाल लोचन दल की स्तुति मंद स्वर से बोले बाद में शक्रस्तव-नमुत्थणं आदि से देव वंदन करे (२७)॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अहं पक्खिअं चउद्दसि दिणमि पुव्वं व तत्थ देवसिअं ।
सुत्तं तं पडिक्कमिअं, तो सम्ममि कमं कुण ॥२८॥

मंहुपत्ती वंदणय, संबद्धा खामणं तहाऽऽलोए ।
वंदण पत्ते अखामणं च वंदणायमह सुत्तं ॥२९॥

सुत्तं अब्भुट्ठाणं, उस्सग्गो पुत्तिवदनं तहय ।
पंज्जति अखामणयं, तह चउरो छोभ वंदण या ॥३०॥

पुव्व विहिणेव सव्वं, देवसिअं वंदणाइ तो कुणइ ।
सेज्जसूरी उस्सग्गो, भेओ संति थय पठणे अ ॥३१॥

एवं चिअ चउमासे, वरिसे अ जहक्कमं विही णे ओ ।
पक्ख चउमास वरिसेसुं नवरि नमांमि णाणत्तं ॥३२॥

तह उस्सग्गुज्जोआ, बारस वीसा समंगल ग च त्ता ।
संबुद्ध खामणं तिपण सत्ता साहूण जह संखं ॥३३॥

अर्थात् - ''अब पक्खी प्रतिक्रमण की विधि कहते हैं - पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी के दिन करना चाहिए, उसमें पूर्ववत् वंदित्तु सूत्र तक दैवसिक प्रतिक्रमण करे। उसके बाद सम्यग् रुप से पाक्षिक प्रतिक्रमण इस क्रम से करे ।(२८)॥ प्रथम पक्खी मुंहपत्ती पडिलेहन कर दो वंदना दे, बाद में **'संबुद्धा'** क्षामणा कर पाक्षिक अतिचार की आलोचना को । फिर वन्दना देकर प्रत्येक खामणा कर क्षमा याचना करना, बाद में वन्दना देकर पाक्षिक सूत्र बोले ।(२९)॥ उसके बाद वंदित्तु सूत्र बोले, उसमें **'अब्भुट्ठिओमि आराहाणाए'** पद बोलते हुए खड़े होकर वंदित्तु सूत्र पूर्ण करके बाद में काउस्सग्ग करे, उसके बाद मुंहपत्ती पडिलेहन कर वंदना देकर 'समत्त' समाप्त खामणा और चार थोम वंदना करे ।(३०)॥ उसके बाद पूर्व विधि के अनुसार शेष रहा दैवसिक प्रतिक्रमण पूर्ण करे । परन्तु श्रुत देवता के स्थान पर भुवन देवता का काउस्सग्ग करे और स्तवन के स्थान पर अजित शान्ति स्तव कहे, इतना सा अन्तर समझ लेना चाहिए ।(३१)॥ इस तरह पाक्षिक प्रतिक्रमण की विधि के अनुसार ही क्रमशः चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि जानना । केवल उसमें जिस जिस प्रकार का प्रतिक्रमण हो उसका नाम कहना ।(३२)॥ तथा उनके काउस्सग्ग में अनुक्रम से बारह, बीस और नवकार मन्त्र-सहित चालीस लोगस्स का ध्यान करना और संबुद्धामणा आदि में तीन, पांच और सात साधुओं को यथा क्रम से 'अब्भुट्ठिओमि' का खामणा करना ।(३३)॥

इस तरह छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण में 'प्रतिक्रमण' नामक यह चौथा आवश्यक कहा है । उसमें जो जो सूत्र बोलने के लिए बतलाया है उस में शेष रहे प्रतिक्रमण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(वंदित्तु) सूत्र आदि का विवरण इस चालू अधिकार के अन्त में कहा जायेगा। अब पाचवां आवश्यक कहते हैं :-

५. काउस्सग्ग- अर्थात् काया का - शरीर का उत्सर्ग - त्याग करना, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। उसका प्राकृत रूप 'काउस्सग्ग' बनता है। उसका विधान यह है कि शरीर से जिन मुद्रा में स्थिर खड़े होना अथवा अपवाद रूप वृद्धता, ग्यानत्व कारण वश आदि एकाग्रता पूर्वक स्थिर होकर बैठना। शब्द से मौन धारण करना और मन में शुभ ध्यान करना। और 'अन्नत्थं' सूत्र में कहे अनुसार श्वासोच्छ्वासादि अनिवार्य शरीरिक चेष्टाओं के सिवाय मन, वचन, काया की समग्र प्रवृत्तियों का त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। वह काउस्सग्ग जितने श्वासोच्छ्वास का करना हो, उतने प्रमाण में नवकार या लोगस्स का चिन्तन-ध्यान। करे उसके पूर्ण होने पर **'नमो अरिहंताणं'** का उच्चारण करना। वहां तक ऊपर कहे अनुसार कायोत्सर्ग करे। यह कायोत्सर्ग दो प्रकार का है - एक चेष्टा (प्रवृत्ति) वाला और दूसरा उपसर्ग (पराभव) के समय में जाने आने की प्रवृत्ति के लिए। इरियावहि आदि का प्रतिक्रमण करते समय जो काउस्सग्ग किया जाता है वह चेष्टा (प्रवृत्ति) के लिए जानना। और जो उपसर्ग विजय के लिए किया जाता है, वह पराभव के लिए काउस्सग्ग जानना। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

सो उस्सगो दुविहो, चिट्ठाए अभिभवे अ नायव्वो ।
भिख्खायरि आइ पढमो, उवसग्ग भिउंजणे विइओ ॥१४५२॥

अर्थात् - "चेष्टा और पराभव की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं। उसमें भिक्षा के लिए जो घूमना आदि प्रवृत्तियां की जाती हैं वे चेष्टा कायोत्सर्ग के अन्तर्गत आती हैं, एवं उपसर्ग के लिए जो किया जाय वह पराभव के अन्तर्गत आता है।"

चेष्टा कायोत्सर्ग जघन्य आठ से लेकर पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पांच सौ और ज्यादा से ज्यादा एक हजार आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण वाला होता है। उपसर्ग आदि पराभव के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह एक मुहूर्त्त से लेकर बाहुबलि के समान एक वर्ष तक का भी होता है। वह नियत - अनियत दो प्रकार होता है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

देसिअराइ अपक्खिअ, चउमासे य तहेव वरिसे उ ।
एएसु हुंति नियया, उस्सग्गा अणिअया सेसा ॥१५२६॥

अर्थात् - "दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण का कायोत्सर्ग नियत होता है और उसके सिवाय गमन आगमन आदि का अनियत होता है।" उसमें नियत कायोत्सर्ग का श्वासोच्छ्वास प्रमाण सामान्यतया इस तरह आवश्यक निर्युक्ति में कहा है -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सायसयं गोसद्धं, तिण्णेव सया हवंति पक्खं मि ।
पंच य चाउम्मासे, अट्ठ सहस्सं च वारिसए ॥१५३०॥

अर्थात् - "शाम के प्रतिक्रमण में एक सौ, प्रातः काल के प्रतिक्रमण में उससे आधा-पचास, पाक्षिक में तीन सौ, चातुर्मासिक में पांच सौ और वार्षिक प्रतिक्रमण में एक हजार आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण वाला कायोत्सर्ग करे ।"

उसमें शाम के प्रतिक्रमण में तीन काउस्सग्ग में २+१+१ = ४ चार लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा तक चिन्तन करते एक सौ श्वासोच्छ्वास होता है । वह पहले कहा गया है, सुबह के प्रतिक्रमण में दो काउस्सग्ग में दो लोगस्स चिन्तन करते पचास श्वासोच्छ्वास होता है । इत्यादि प्रत्येक प्रतिक्रमण में प्रमाण स्पष्ट है । यह श्वासोच्छ्वास अर्थात् 'पाय समा उसासा' (आवश्यक निर्युक्ति) अर्थात् 'जितने पद चिन्तन करना उतना श्वासोच्छ्वास जानना' इत्यादि आगे कहा जायेगा । दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में पूर्व में कहे श्वासोच्छ्वास के अनुसार कितना लोगस्स चिन्तन करना चाहिए ? उसके लिए आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्ता य हुंति उज्जोया ।
देसिअ राइअ पक्खिअ चाउम्मा से अ वरिसे अ ॥१५३१॥

अर्थात् - "दैवसिक में चार, राई में दो, पक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और वार्षिक में चालीस लोगस्स का काउस्सग्ग होता है ।" उसका श्लोक प्रमाण इस तरह होता है -

पण वीस मद्ध तेरस, सिलोग पण्णत्तरिं च बोधव्वा ।
सममेगं पण वीसं, बेबा वण्णा य वारिसए ॥१५३२॥

अर्थात् - "दैवसिक में पच्चीस, रात्रि में साढ़े बारह, पाक्षिक में पचहत्तर, चातुर्मासिक में एक सौ पच्चीस और वार्षिक प्रतिक्रमण में दो सौ बावन श्लोक प्रमाण जानना ।"

यहां चार श्वासोच्छ्वास का एक श्लोक होता है, इस तरह एक लोगस्स में **चंदेसु निम्मलयरा** तक पच्चीस गिने जाते हैं- सवा छः श्लोक में, उसे चार लोगस्स में गिनते पच्चीस श्लोक प्रमाण दैवसिक काउस्सग्ग होते हैं । इसी तरह अन्य रात्रि प्रतिक्रमण में भी गिन लेना । वार्षिक प्रतिक्रमण में चालीस लोगस्स के अढाई सौ श्लोक के ऊपर एक नवकार की आठ संपदा रूप आठ श्वासोच्छ्वास के दो श्लोक गिनते कुल दो सौ बावन श्लोक होते हैं । इस तरह 'नियत' कायोत्सर्ग का प्रमाण कहा । अब अनियत का प्रमाण कहते हैं :-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गमणागमण विहारे, सुत्तंमि अ सुमिण दंसणे राओ ।
नावाण इसंतरणे, इरिआवहि आ पडिक्कमणं ॥१५३३॥

अर्थात् - "इस गाथा का विवरण इस प्रकार से है - (१) गमन, (२) आगमन, (३) विहार, (४) सूत्र, (५) रात्रि में स्वप्न दर्शन और (६) नाव से नदी पार उतरना इत्यादि में इरिया पथिकी प्रतिक्रमण करना।" यह द्वार गाथा है ।

उसमें भिक्षा आदि के लिए उपाश्रय से जाना वह गमन है और अन्य गाँव आदि से आना वह आगमन है । इन गमन और आगमन करने के बाद इरियावहि पडिक्कमण करते समय पचीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग किया जाता है । आवश्यक भाष्य में कहा है कि -

भते पाणे सयणासणे अ, अरहंत समण सेज्जासु ।
उच्चारे पासवणे, पण वीसं होंति ऊसासा ॥२३४॥

अर्थात्- "आहार, पानी, शयन, आसन, जिन मंदिर, साधु की वसति तथा स्थंडिल-मात्रु (मल मूत्र) के लिए जाने आने में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करना चाहिए।"

इसमें आहार, पानी के कारणों से गांव या परगांव आदि अन्य स्थान पर गमन करने के बाद जल्दी वापिस न आ सके, तो वहां और वहां से आगमन = आने के बाद भी इरियावहि प्रतिक्रमण करना । इसी तरह शयन = निद्रा करने से अथवा वसति = मकान के कारण, आसन अर्थात् पाट-चौकी आदि निमित्त, चैत्यधर = जिन मंदिर दर्शन के कारण और श्रमणगृह = साधु वसति-उपाश्रय में जाने आने के कारण इरिया वहि प्रतिक्रमण करते समय पच्चीस श्वासोच्छ्वास वाला क्राउस्सग्ग करते हैं, मल-मूत्र आदि यदि स्वयं परठते हों तो एक हाथ मात्र जाते आते हों फिर भी इरियावहि पडिक्कमण करे- उतना ही काउस्सग्ग करे । परन्तु स्वयं प्याला कुंडी आदि में किया हो उसे अन्य साधु परठे तो परठने वाल साधु इरियावहि कर काउस्सग्ग करे, परन्तु स्वयं न करे । इस तरह व्यवहार सूत्र में भी कहा है । हां ! स्वयं वसति से एक सौ कदम से अतिरिक्त दूर जाय और दूसरा परठने जाय फिर भी स्वयं और परठने वाला दोनों इरियावहि कर पच्चीस श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करें । इस प्रसंग में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग जानना । यह मूल गाथा में गमन और आगमन का काउस्सग्ग प्रमाण कहा । अब तीसरा 'विहार' अर्थात् सूत्र पोरसी (सूत्र पढ़ने) के लिए उपाश्रय से अन्यत्र जाना, उसके विषय में आवश्यक भाष्य में कहा है -

निय आल याओ गमणं, अण्णत्थ उ सुत्तपोरिसि निमित्तं ।
होइ विहारो इत्थवि पण वीसं हुंति उसासा ॥ प्रक्षिक गाथा २३४ ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''अपने स्थान से सूत्र पोरिसी पढ़ाने के लिए अन्य स्थान पर जाना, वह 'विहार' कहलाता है, उसमें भी पच्चीस श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग होता है ।''

द्वार गाथा में चौथा 'सूत्र' पद कहा है, उससे सूत्रादि के उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा जानना । उसमें सत्ताईस श्वासोच्छ्वास का **सागरवर गंभीरा** तक काउस्सग्ग होता है । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि –

उद्देस समुद्देसे, सत्तावीस अणुण्ण वण याए ।
अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवण पडिक्कमण माई ॥१५३४॥

अर्थात् – ''उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा में सताईस श्वासोच्छ्वास का और प्रस्थापन तथा प्रतिक्रमण आदि में आठ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग होता है ।''

उसमें प्रस्थापन अर्थात् किसी कार्य के लिए किसी साधु को अन्यत्र भेजना हो, उसमें जाते हुए स्खलना – विघ्न हो तो आठ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करे, दूसरी बार स्खलना हो तो सोलह श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करके जाय और तीसरी बार स्खलना हो तो वह न जाय– अन्य साधु को भेजे, कार्यवशात् उसे ही भेजना आवश्यक हो तो देव वंदन करके, अन्य साधु को आगे करके उसकी निश्रा में जाय । यह प्रस्थापन के विषय में जानना । **'प्रतिक्रमण'** अर्थात् यहाँ साधु को बड़े योग की क्रिया में काल का प्रतिक्रमण समझना । उसमें भी आठ श्वासोच्छ्वास का और 'आदि' शब्द से 'काल ग्रहण करने में, काल परठने में, गोचरी के लिए होने वाली उपयोग की क्रिया में तथा श्रुत स्कंध के परावर्तन करने में' इत्यादि प्रसंग पर भी आठ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग जानना । कितने श्रुतादि के परावर्तन में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का भी काउस्सग्ग करते हैं । यह चौथा 'सूत्र' के विषय में काउस्सग्ग कहा । अब पांचवें रात्रि के विषय में कहते हैं – यदि जीव हिंसा, असत्य बोलना आदि पाप स्वप्न आया हो तो एक सो श्वासोच्छ्वास का और स्वयं मैथुन सेवन का आया हो तो एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास का काउस्सग्ग करना इत्यादि पूर्व में कहा है । छठे द्वार– नाव आदि से नदी उतरे तो पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण का काउस्सग्ग करना । आवश्यक निर्युक्ति प्रक्षिप्त गाथा में कहा है कि –

नावाए उत्तरिउं, वहमाई तह नइं च एमेव ।
संतारेण चलेण व गंतुं पणवीस ऊसासा ॥१५३८॥

अर्थात् – ''नाव के द्वारा पानी का प्रवाह आदि अथवा नदी उतर करके 'पच्चीस श्वासोच्छ्वास' का काउस्सग्ग करे, इस तरह से तैरने से अथवा पैर से चलकर भी नदी या पानी का कोई प्रवाह उतरे – पार होवे तो उतना ही काउस्सग्ग करना ।'' इस तरह अनियत कायोत्सर्ग का प्रमाण द्वार गाथा का विवेचन पूर्ण हुआ । अब काउस्सग्ग में श्वासोच्छ्वास का प्रमाण आगे की गाथा से कहते हैं –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पाया समा ऊसासा, काल पमाणेण हुंति णायव्वा ।
एवं काल पमाणं, उस्सग्गे होइ णा यव्वं ॥१५३६॥

अर्थात् - "काउस्सग्ग में जितने पदों का चिन्तन करना उतने श्वासोच्छ्वास समझना । इस तरह काउस्सग्ग में काल का प्रमाण समझना । अर्थात् काल का प्रमाण काउस्सग्ग के पद के प्रमाण से जानना ।" काउस्सग्ग की विधि इस तरह से है :-

पुव्वं ठंति अ गुरुणो, गुरुणा उस्सारि अंमि पारिंति ।
ठायंति उ सविसेसं तरुणा अण्णोण्ण चरिआ उ ॥१५४४॥

चउरंगुल मुहंपोत्ती, उज्जूएऽब्बहत्थ रय हरणं ।
वोसट्ठचत्त देहो, काउस्सग्गं करेज्जा हि ॥१५४५॥

अर्थात् - "पहले गुरु काउस्सग्ग करे बाद में अन्य करें और गुरु महाराज के पारने के बाद अन्य पारें । उसमें भी विभिन्न कार्यों के लिए जाने आने से तरुण-सशक्त साधुओं को, विशेष प्रवृत्ति के विषय में चिन्तन अधिक होने से, वे अधिक समय काउस्सग्ग में रहें ।(१)॥ काउस्सग्ग करते समय दोनों पैर में दोनों अंगूठों के बीच चार अंगुल का अंतर रखकर, मुंहपत्ति दाहिने हाथ में तथा रजोहरण बायें हाथ में पकड़कर खड़े पैर से रहना । इस तरह हाथ पैर आदि अंगों की जिन मुद्रा करके परिश्रम, डांस-मच्छर आदि उपद्रव अथवा ठंडी गरमी आदि के परिषहों की उपेक्षा रूप कायोत्सर्ग करना चाहिए ।(२)॥"

यह कायोत्सर्ग (१) उच्छित, (२) निषण्ण और (३) शयित - इस तरह तीन प्रकार से होता है । और इन तीनों के प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं (१) **'उच्छ्रितोच्छ्रित'** है अर्थात् द्रव्य और भाव से- दोनों प्रकार से खड़े होना अर्थात् द्रव्य से शरीर से खड़े होना और भाव से धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान में खड़े (स्थिर) होना । (२) **'उच्छ्रितानुच्छ्रित'** = द्रव्य से खड़े रहने के लिए उच्छ्रित और भाव से - कृष्णादि अशुभ लेश्या - परिणाम के होने से अनुच्छ्रित । (३) **'अनुच्छितोच्छ्रित'** = अर्थात् द्रव्य से नीचे बैठकर और भाव से धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान में रहकर । (४) **'अनुच्छ्रितानुच्छ्रित'** = अर्थात् द्रव्य से- शरीर से नीचे बैठकर और भाव से भी कृष्ण आदि लेश्या के उतरते अशुभ परिणामों के परिणामों से नीचे बैठना । इस प्रकार बैठते, उठते और सोते हुए के चार चार भेद जानना । काउस्सग्ग सूत्र (अन्नत्थ) के अर्थ तथा उन्नीस दोष पहले कहे गये हैं । उन दोषों से बचकर करना चाहिए । इस काउस्सग्ग का फल भी कर्मों की निर्जरा रूप ही है । आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि -

काउस्सग्गे जह सुट्ठिअस्स, भज्जंति अंगमंगाइं ।
इय भिदंति सु विहिआ, अट्ठ विहं कम्म संघायं ॥१५५१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "कायोत्सर्ग में विधि पूर्वक खड़े रहने से शरीर के अंगोपांग ज्यों-ज्यों टूटते-दुखते हैं, त्यों त्यों सुविहित आत्मा के चित्त का निरोध करने से आठ प्रकार के कर्म समूह टूटते जाते हैं।" इस तरह पांचवें 'काउस्सग्ग' नामक आवश्यक का वर्णन किया। अब -

(६) **पच्चक्खान** = यह शब्द प्राकृत या चालू में है - इसे 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। प्रति + आ + ख्यान- इन तीन शब्दों से प्रत्याख्यान शब्द बना है। प्रति का अर्थ है - प्रतिकूल प्रवृत्ति, 'आ' अर्थात् मर्यादा पूर्वक और 'ख्यान' अर्थात् कथन करना। अर्थात् अनादि काल से विभाव दशा में रहे हुए आत्मा के द्वारा वर्तमान स्वभाव से प्रतिकूल मर्यादाओं का त्याग करके अनुकूल मर्यादाओं को स्वीकार करना, वह प्रत्याख्यान अथवा पच्चक्खान कहलाता है। इसका स्वरुप भी पच्चक्खान अधिकार में कहा गया है। इस तरह से 'छह आवश्यक प्रतिक्रमण' विधि कही।

व्रतधारी श्रावक को प्रतिक्रमण हमेशा दिन और रात के अन्त में उभयकाल करना चाहिए, और प्रथम गुण स्थानक में रहते धर्म रुचि वाले '**यथाभद्रिक**' आत्मा ने व्रतादि उच्चारण न किए हों तो भी उसका अभ्यास आदि करने के उद्देश्य से भी करना चाहिए। यहां कोई ऐसा समझे कि 'जिसने कोई एक भी व्रत अंगीकार नहीं किया हो, ऐसे यथाभद्रिक के व्रतों के अभाव में उसको अतिचार नहीं होता, इससे अतिचारों की शुद्धि के लिए होने वाला प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण के सूत्र-पाठ बोलना आदि उसे अघटित है। यदि ऐसा न माने तो उन महाव्रतों के पाठ उच्चार करे तो भी विरोध नहीं होगा ?' इसका समाधान करते हैं कि - "जैसे यथाभद्रिक को भी विरति मार्ग में चढ़ाने के लिए दीक्षा देने का विधान है, वैसे प्रतिक्रमण करने का विधान भी योग्य ही है। यद्यपि उसने कोई भी एक व्रत स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन व्रतों के अतिचार के उच्चारण द्वारा 'अश्रद्धा' आदि दोष को रोकने के लिए भी प्रतिक्रमण करने के लिए शास्त्र में कहा है।" वंदित्तु सूत्र में भी कहा है -

पडिसिद्धाणे करणे, किच्चाणम करणे (अ) पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरिअ परुवणाए अ ॥४८॥

अर्थात् - "निषेध किए हुए कार्यों के करने से, करने योग्य कार्यों को नहीं करने से, विधि निषेधादि रूप जिन वचनों में अश्रद्धा-अविश्वास करने से शास्त्र से विपरीत-उत्सूत्र प्ररूपणा करने। इन चार हेतु से प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है।"

इसी हेतु से ही प्रतिक्रमण करते हैं। श्रावक तथा साधु की पडिमा- अभिग्रह विशेष आदि स्वीकार नहीं किया हो फिर भी उसका "**इगार सहिं उवा सग पडिमाहिं, बार**

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सहिं भिक्खु पडिमाहिं'' इत्यादि बोल कर प्रतिक्रमण करते हैं । यहां शंका करते हैं कि - 'इस तरह यदि उस व्रतादि को स्वीकार किए बिना भी उसके सूत्र का पाठ बोल सकता है, उसका प्रतिक्रमण हो सकता है, ऐसा आप कहते हो तो श्रावक भी साधु के प्रतिक्रमण **'पगाम सिज्जाए०'** से ही प्रतिक्रमण कर सकता है, उसमें क्या हरज है ?' इसका समाधान करते हैं - ''चाहे करे ! इसमें किसको किसका विरोध करे ? अर्थात् किसी का किसी को विरोध नहीं है । केवल श्रावक का प्रतिक्रमण, वंदित्तु सूत्र में अणुव्रतादि विषय में निषिद्ध आचरणों (नहीं करने योग्य प्रवृत्तियों) का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, इससे विशेष उपयोगी होने से श्रावक वह बोलते हैं । इन प्रश्नोत्तरों को प्रथम पंचाशक गाथा ४४ वीं की टीका में कहा गया है ।

श्रावक के लिए केवल चैत्य वंदन आदि ही अवश्य करणीय है । उसे इन षट् आवश्यकों को करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कदापि प्रतिपादन नहीं करना चाहिए । क्योंकि आगम में श्रावक को भी 'प्रतिक्रमण रूप' आवश्यक करने का स्पष्ट विधान है । अनुयोग द्वार गाथा तीन तथा आवश्यक मूल गाथा तीन में कहा है कि -

समणेण सावगेण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा ।
अंतो अहो निसिस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम ॥३॥

अर्थात्- ''साधु और श्रावक के लिए दिन या रात के अन्त में ये छः अवश्य करने योग्य हैं । इसलिए इनका नाम आवश्यक (प्रतिक्रमण) कहा है । अर्थात् श्रावक को भी दोनों समय प्रतिक्रमण करना चाहिए ।''

इस तरह आगम में भी श्रावक को प्रतिक्रमणादि अवश्य करने के लिए कहा है । यहां चैत्य वंदन आदि के समान आवश्यक को बताना उचित नहीं है । क्योंकि- **'अज्झयण छक्कवग्गो'** अर्थात् छः अध्ययन का समूह- वह प्रतिक्रमण आदि 'आवश्यक' शब्द जो पर्याय शब्द शास्त्रों में कहा है- इससे भी 'आवश्यक' छः प्रकार का है, यह निश्चित है । और **'अंतो अहो निसिस्स य'** अर्थात् हमेशा सुबह शाम में- उभय काल करने का विधान है, वह भी प्रतिक्रमण रूप आवश्यक के विषय में ही उचित है, जबकि चैत्य वंदन का विधान त्रिकाल है, अतः चैत्य वन्दनादि अवश्य करने योग्य होने पर भी 'आवश्यक' नाम प्रसिद्ध नहीं है, आवश्यक तो प्रतिक्रमण रूप करते सामायिकादि छः आवश्यक जानना । अनुपयोग द्वार सूत्र में भी लोकोत्तर आवश्यक का लक्षण बताते हुए उसके महत्व के सम्बन्ध में कहा है-

''जन्नं समणे वा समणी वा सावए वा, साविआ वा, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तदट्ठो वउत्ते तदप्पि अकरणे तब्भावण भाविए उभयो कालं आवस्सयं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

करेइ, सेतं लोउत्तरिअं भावावस्सयं ।'' अर्थात्- ''जो साधु अथवा साध्वी या श्रावक अथवा श्राविका आवश्यक सूत्र और उसके अर्थ में एकाग्रचित्त रहते हैं, उसमें तन्मय हो जाते हैं, उसी लेश्या में तल्लीन व उसी के अर्थ में उपयोग वाले होकर उसी में ही तीनों करणों को अर्पित कर देते हैं, एवं केवल उसी की भावना में ओत-प्रोत होकर दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमणादि) करते हैं, इस आवश्यक को लोकोत्तर भाव आवश्यक समझना ।'' इस तरह आगम वचन के अनुसार श्रावकों के लिए भी आवश्यक करने का विधान योग्य ही है ।

तथा यदि ऐसा कहने का हो कि-''ये छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण अतिचारों की शुद्धि = प्रायश्चित्त रूप हैं और शास्त्र में जो आलोचना, प्रतिक्रमण आदि दस प्रायश्चित्त कहे हैं वे साधु के ही उद्देश्य से कहे हैं । इसमें से कोई एक भी प्रायश्चित्त श्रावक के उद्देश्य से कहा हो, ऐसा कल्प आदि ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता, तो श्रावक को प्रायश्चित्त के लिए प्रतिक्रमण कैसे घट सकता है ? और श्रावकों को अतिचार भी नहीं घटते, क्योंकि अतिचार तो 'संज्वलन' कषाय के उदय से होता है ऐसा कहा है । श्रावक को तो अन्य कषायों का भी उदय होने से अनाचार अर्थात् व्रत भंग होता है, इससे भी श्रावकों को अतिचार या उसका प्रायश्चित्त रूप प्रतिक्रमण भी घटित नहीं है ।'' उसका उत्तर देते हैं कि-'' श्रावकों के विषय में 'प्रकल्प' आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित किया है- ऐसा देखने को नहीं मिलता, फिर भी 'श्राद्ध जित कल्प आदि ग्रन्थों में वह प्रायश्चित्त श्रावकों के विषय में भी कहा है' वह इस तरह अवश्य स्वीकार करना चाहिए । यदि इस तरह न स्वीकार करें तो 'उपासक दशा' अंग में गणधर भगवन्त श्री गौतम स्वामी जी ने आनंद श्रावक से कहा है कि-'हे आनंद ! तुमने इस अर्थ को मिथ्या बोला- उसकी आलोचना करो, प्रतिक्रमण करो, निन्दा करो, गर्हा करो, और यथायोग्य तप कर्म रूप प्रायश्चित्त अंगीकार करो ।' यह वचन कैसे हो सकते हैं ? इसलिए उपर्युक्त पाठ से 'श्रावक को भी प्रायश्चित्त अंगीकार करें ।' यह सिद्ध हुआ तथा संज्वलन के साथ में अन्य कषायों का उदय होने पर भी श्रावक को अतिचार कैसे घट सकता है, वह भी पहले कहा गया है । इसलिए श्रावक को भी अतिचार, उसकी शुद्धि और उसके लिए प्रायश्चित्त रूप प्रतिक्रमण भी सिद्ध ही है ।

अब श्रावक को यह आवश्यक किस तरह उपयुक्त है ? उसे समझाने के लिए आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

सव्वंति भाणि ऊणं, विरई खलु जस्स सव्विआ नत्थि ।
सो सव्व विरइ वाई, चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥८००॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "**सव्वं सावज्जं जोग पच्चक्खामि**" अर्थात् 'सर्व पापकारी व्यापार का त्याग करता हूँ- इस तरह प्रतिज्ञा करके भी जिस साधु को सर्व पाप विषयक विरति नहीं है-सर्व पाप को नहीं छोड़ता, वह सर्व विरति वादी साधु देश-विरति और सर्व-विरति दोनों से चुकता (भ्रष्ट होता) है।"

उपर्युक्त वचन से अर्थापत्ति से श्रावक 'सर्व' शब्द रहित सामायिक सूत्र (करेमि भंते सूत्र) कहा है, वह श्रावक को पहला आवश्यक है। दूसरा 'चतुर्विंशति स्तव (चउवीसत्थो)' सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए है और श्रावक को भी करने योग्य ही है और यह सूत्र अमुक कहना और अमुक नहीं कहना- ऐसा भेद शास्त्र में नहीं इसलिए भी श्रावक बोल सकते हैं। एवं भगवती सूत्र में शंख श्रावक के अधिकार में 'पुष्कली श्रावक ने गमनागमन प्रतिक्रमण किया।' इस तरह कथन होने से और वहां भगवती सूत्र में शंख श्रावक आदि की कथाओं में तथा ओघ निर्युक्ति की चूर्णि में भी गमनागमन शब्द को इरियावहि का पर्याय शब्द कहा है, इससे दोनों का अर्थ एक ही है। इस तरह इरियावहि पडिक्कमण का सिद्ध है, तो उसका काउस्सग्ग में प्रायः 'चतुर्विंशति स्तव' का चिन्तन-ध्यान होने से भी वह श्रावक को करणीय है। तीसरा 'वंदन आवश्यक' है। इसमें गुणवान को विनय करने का होता है, गुणवंत का विनय करना श्रावक को भी योग्य है। श्री कृष्ण जी आदि ने वह वंदन किया था। इसलिए तीसरा वंदन आवश्यक भी श्रावक को करने योग्य है। यहां शिष्य 'श्रावक को गुरु वंदन करने के लिए नहीं कहा।' ऐसा समझकर पूछता है कि-

पंच महव्वय जुतो, अनल समाण परिवज्जि अमई अ।
संविग्ग निज्जरट्ठी, किइ कम्म करो हवइ साहू ॥११६७॥

अर्थात्- "पंच महाव्रत वाला, अप्रमादी, जिसकी बुद्धि में से मान-अभिमान का त्याग हुआ हो, जो मोक्ष अभिलाषा वाला संवेगी हो और निर्जरा का अर्थी हो ऐसे साधु को गुरु वंदन का अधिकारी कहा है।"

इस तरह आवश्यक निर्युक्ति की इस गाथा में कहा है। इस प्रकार के 'साधु' शब्द श्रावक निषेधक होने से श्रावक को गुरुवंदन करना क्या योग्य है।' इस प्रश्न का समाधान गुरु महाराज करते हैं कि-"यह समझ बराबर नहीं है। गाथा में 'साधु' शब्द कहा है इससे अन्य का निषेध नहीं है, परन्तु उपलक्षण से 'साधु और अन्य भी वंदन करना' इस तरह कहा है। यदि अन्य का निषेध होता तो साधु के सिवाय साध्वी का भी निषेध किया होता, वह निषेध तो नहीं घटता, क्योंकि-शास्त्र में तो 'माता' आदि 'अमुक' साध्वी के कारण ही 'पुत्र' आदि 'अमुक' को ही वंदन करने का निषेध है, अन्य साध्वी ने तो गुरु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वंदन करना स्पष्ट ही है । दूसरी बात यह है कि 'पंच महाव्रत वाला' कहा हुआ होने से, अणु व्रत वाले का निषेध मानोगे तो इसी न्याय 'पांच' शब्द से 'चार महाव्रत वाले बाईस तीर्थंकर के साधुओं' के लिए भी निषेध हो जायेगा, जो कि-किसी भी रूप में इष्ट नहीं है । इसलिए साधु के उपलक्षण से श्रावक भी साधु के समान गुरुवंदन कर सकते हैं, यह अर्थ उचित ही है ।''

चौथा 'प्रतिक्रमण आवश्यक सामान्यतया पूर्व कहे अनुसार केवल इरियावहि प्रतिक्रमण के विधान से ही सिद्ध होता है । यहां अलग अलग अभिग्रह- नियम वाले सर्व श्रावकों को सर्व सामान्य एक ही वंदित्तु सूत्र से प्रतिक्रमण क्यों नहीं हो सकता है ?' यह शंका भी अघटित है, क्योंकि जिसने व्रत अंगीकार किया हो, उसमें उसे जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण करना योग्य है और अन्य को 'अश्रद्धान, उत्सूत्र आदि का प्रतिक्रमण करणीय है, इसका समाधान पूर्व में कह गये हैं', इस तरह प्रतिक्रमण आवश्यक श्रावक के लिए करने का सिद्ध होने पर शिष्य फिर प्रश्न करते हैं कि-''चाहे श्रावक को प्रतिक्रमण करना योग्य हो परन्तु साधु के प्रतिक्रमण (पगाम सज्झाय) सूत्र से ही उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए । क्योंकि 'श्रावक प्रतिक्रमण- वंदित्तु सूत्र ऊपर निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि आदि पूर्वाचार्य की रचना नहीं होने से वह पूवाचार्यों को मान्य नहीं है ।'' इसका भी उत्तर कहते हैं कि-

''यदि निर्युक्ति आदि नहीं होने से वंदित्तु सूत्र को प्रमाण भूत नहीं मानते तो 'आवश्यक' आदि दस शास्त्रों के सिवाय अन्य शास्त्र के ऊपर भी निर्युक्ति की रचना नहीं है और 'औपपातिक' आदि उपांग सूत्रों के ऊपर तो चूर्णि की रचना भी नहीं है, इसलिए तुम्हारे मतानुसार निर्युक्ति या चूर्णि बिना के ये प्रत्येक शास्त्र भी पूर्वाचार्यें को अमान्य सिद्ध होंगे । वह किसी तरह इष्ट नहीं है । इसलिए श्रावक को 'वंदित्तु सूत्र' से प्रतिक्रमण करना उचित ही है ।' इस तरह श्रावक का चौथा आवश्यक भी सिद्ध ही है ।

पांचवा 'कायोत्सर्ग आवश्यक' है एक तो श्रावक को इरियावहि पडिक्कमण का अधिकार होने से, दूसरा उसे पांचवीं काउस्सग्ग-पडिमा करने की होने से, तीसरा सुभद्रा श्राविका के काउस्सग्ग करने का दृष्टान्त होने से श्रावक को 'काउस्सग्ग' करने योग्य ही है । साधु काउस्सग्ग के भंग होने के भय से आगार (छूट) रखते हैं, अतः गृहस्थ को तो अवश्य आगार रखना ही चाहिए । क्योंकि साधु की अपेक्षा से श्रावक निष्ठा रहित कम स्थिरता वाला होता है । इस तरह श्रावक को पांचवां आवश्यक भी करने योग्य है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छठा 'पच्चक्खान आवश्यक' है, परन्तु श्रावक को करणीय है। यहां प्रश्नकार पच्चक्खान के आगार के विषय में प्रश्न करते हैं कि- **'पारिष्ठापनिका'** आदि आगार तो साधुओं के लिए आहार आदि परठने का न होने में उनको ही उचित है, श्रावकों को वह आगार रखना योग्य नहीं है। उसका समाधान गुरु महाराज करते हैं कि- ''परठने योग्य आहार गुरु आदि बड़ों को उपयोग करने का अधिकार नहीं है, फिर भी वे 'पारिट्ठावणिआ' का आगार रखते हैं। भगवती सूत्र के योग वहन करने वाले साधु को 'गिहत्थ संसट्ठेण' आगार की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी वह आगार रखते हैं। उसमें जैसे सूत्र पाठ अखंड रखने का उद्देश्य है, वैसे गृहस्थ को भी 'पारिट्ठावणिआ' आदि आवश्यक नहीं है फिर भी सूत्र पाठ अखंड रखने के लिए वह आगार रखते हैं। अतः गृहस्थ को वह आगार पूर्वक पच्चक्खान करने में दोष नहीं है।''

इस तरह श्रावक के लिए छः आवश्यक करना युक्त है। इसलिए साधु के समान श्रावक को भी श्री सुधर्मा स्वामी आदि पूर्व पुरुषों की परम्परा से चली आती विधि के अनुसार प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। यहां छः आवश्यक का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब पहले कहा है कि 'प्रतिक्रमण का विवेचन छः आवश्यक के अन्त में कहेंगे' वह कहते हैं। उसमें साधु के प्रतिक्रमण सूत्र का विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे विभाग में देने वाले हैं। इसलिए यहां केवल श्रावक के प्रतिक्रमण सूत्र का ही विवेचन कहते हैं। श्रावक को प्रथम सामायिक पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रतिक्रमण सूत्र सर्व अतिचारों की शुद्धि करने वाला होने से विशिष्ट कल्याण स्वरूप है, इसलिए प्रारंभ में मंगल आदि करते हैं। वंदित्तु सूत्र प्रथम गाथा-

वंदित्तु सव्व सिद्धे, धम्मायरिए अ सव्व साहू अ।
इच्छामि पडिक्कमिउं सावग धम्माइ आरस्स ॥१॥

अर्थात्- ''सर्व सिद्ध भगवन्तों, सर्व धर्माचार्यों और सर्व साधुओं को वंदन करके श्रावक धर्म में लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ।''

भावार्थ- ''**वंदित्तु**' अर्थात् वंदन करके, वह किसको ? सर्व सिद्धों को, धर्माचार्यों को, '**च**' शब्द से उपाध्याय तथा सर्व साधुओं को। उसमें १- '**सव्व**' = सर्व वस्तु के जानकार अथवा सर्व का हित करने वाले या सर्व तीर्थंकर परमात्मा का अर्थ ग्रहण करना। २- '**सिद्धे**' अर्थात् सर्व कर्म क्षय होने से जिनका सर्व प्रयोजन सिद्ध हुआ है ऐसे सिद्ध परमात्मा जानना। ३- श्रुत धर्म और चारित्र धर्म इन दोनों धर्म के आचरण करने वाले अथवा इन दो धर्म का दान देने वाले धर्माचार्य जानना। गाथा में **च** शब्द है, इससे ४- श्रुत ज्ञान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को पढ़ाने वाले उपाध्याय महाराज और ५- **'सव्व साहू'** अर्थात् स्थविर कल्पिक, जिन कल्पिक आदि सर्व प्रकार के मोक्ष की साधना करने वाले साधु मुनिराज समझना। इन पांच को वंदन करके- इस तरह गाथा के पूर्वार्द्ध से सर्व विघ्नों की शान्ति के लिए पंचपरमेष्ठि को नमस्कार किया है और उत्तरार्द्ध गाथा द्वारा वंदित्तु सूत्र को कहने की इच्छा से विषय बताया है। **'इच्छामि'** = मैं इच्छा करता हूँ। क्या इच्छा करता हूँ ? **'पडिक्कमिउं'** = प्रतिक्रमण करने का अर्थात् जो कोई अतिचार लगा हो उससे पीछे हटने अथवा निर्वृत्त होने की अभिलाषा करता हूँ। किस से निर्वृत्त होना चाहते हो ? **'सावग धम्माइ आरस्स'** अर्थात् श्रावक धर्म में लगे अतिचार से। यहां 'अतिचार' शब्द जाति अर्थ में एक वचनान्त है, इसलिए 'सर्व जाति के सर्व अतिचार से' और छठी विभक्ति पंचमी के अर्थ में है, इससे यह अर्थ हुआ। श्रावक के ज्ञानाचारादि, पंचाचार आदि के कुल १२४ अतिचारों से निर्वृत्त होना चाहता हूँ।" अब सामान्य रूप में सर्व अतिचारों का साथ में प्रतिक्रमण करते हुए कहते हैं कि-

जो मे वयाइ यारो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
सुहुमो य वायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२॥

अर्थात्- "मुझे व्रतों के विषय में तथा ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना के विषय में छोटा अथवा बड़ा, जो अतिचार लगा हो उसकी मैं आत्म साक्षी निंदा करता हूँ और गुरु साक्षी गर्हा-स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ- **"जो"** = सामान्य-जो कोई, **'मे'** = मुझे, **'वयाइ आरो'** = पांच अणु व्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रतों की मलिनता रूप पिचहत्तर ७५ अतिचार अर्थात् उसमें श्रावक के ग्यारह व्रतों के पांच पांच अतिचार और सातवें व्रत के बीस अतिचार- इस प्रकार बारह व्रत के ७५ अतिचार तथा **'नाणे'** = ज्ञान के काले, विनय आदि आठ आचारों में दोष सेवन किया हो, **'दंसणे'** = सम्यकत्व में 'शंकादि पांच दोष सेवन रूप' तथा 'नि:शंकता आदि आठ दर्शनाचार का नहीं पालन करने रूप, **'चारित्ते'** चारित्र के पांच समिति, तीन गुप्ति रूप आठ आचार में अनुपयोगता रूप में वर्तन करना और आगे शब्द **'अ' 'च'** है इससे तपाचार, वीर्याचार तथा संलेखना के अतिचार, जैसे बाह्य और अभ्यंतर बारह प्रकार का तप, तथा मन, वचन काया के तीन प्रकार का बल-वीर्य, उसमें तप करने की तथा बल प्रगट करने की, स्वशक्ति होने पर भी धर्म में उसे छुपाने से वह अतिचार लगता है, तथा संलेखना के इस लोक में सुख सौभाग्यादि की परलोक में देव देवेन्द्र आदि की, सुख में जीने की इच्छा, दु:ख में मरने की इच्छा, और काम भोग प्राप्ति की इच्छा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

रूप पांच अतिचार हैं। इस तरह कुल ७५ + ८ + १३ + ८ + १२ + ३ + ५ = मिलाकर १२४ अतिचार लगते हैं। उसमें **'सुहुमो व वायरो वा'** अर्थात् अज्ञानता के कारण जो ख्याल में नहीं आया वह सूक्ष्म अथवा बादर, जानते हुए प्रकट रूप अतिचार लगा हो और **'तं'** उन सबको **'निंदे'** = मन के पश्चात्ताप रूप आत्म साक्षी से निंदा करता हूँ और **'तं च गरिहामि'** अर्थात् उसी तरह गुरु महाराज के साक्षी में स्वीकार करता हूँ।

प्रायः अन्य व्रतों का भी अतिचार परिग्रह से होता है। अतिचारों का मूल परिग्रह है। इसलिए अब सामान्य से परिग्रह का प्रतिक्रमण करने के लिये कहते हैं-

दुविहे परिग्गहंमी, सावज्जे बहुविहे य आरंभे ।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥३॥

अर्थात्- "बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह के कारण, पापमय अनेक प्रकार के आरम्भ दूसरे से करवाते हुए और स्वयं करते हुए, दिन-सम्बन्धी छोटे बड़े जो अतिचार लगे हों उन सबसे मैं (निवृत्त) प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ- **"दुविहे परिगहे"** = परिग्रह दो प्रकार का है- सचित्त और अचित्त। पुत्र, पत्नी, दास, दासी, बैल, हाथी, घोड़े आदि सचित्त परिग्रह हैं, और सोना, चांदी, दुकान घर, मकान आदि अचित्त परिग्रह हैं, अथवा बाह्य और अभ्यंतर दो परिग्रह हैं, धन, धान्य, माल, खजाना आदि बाह्य परिग्रह हैं और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा मन, वचन व काया के अशुभ योग आदि अभ्यंतर परिग्रह हैं। **'सावज्जे बहु विहे य आरम्भे'** = पाप स्वरूप अनेक प्रकार हिंसादि आरंभों को **'कारावणे'** = अन्य के द्वारा करवाने से, **'करणे'** = स्वयं आरंभ किया हो और **'अ'** = उसमें से किसी पाप की अनुमोदना करने से भी मुझे जो कोई अतिचार लगा हो। **'पडिक्कमे देसिअं सव्वं'** = दिन सम्बन्धी उन सब अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। अर्थात् उन अशुभ भावों से मैं वापिस हटता हूँ, निर्वृत्त होता हूँ। यहा **'देसियं'** पद आर्ष प्रयोग से बना है, उसका संस्कृत **'दैवसिक'** होता है और उसका दिन सम्बन्धी अर्थ होता है। इसी तरह राई, पक्खी आदि प्रतिक्रमण में राइअं, पक्खिअ आदि बोलना और उसका अर्थ भी उसके अनुसार समझना।" यहां जो **'प्रतिक्रमण'** शब्द है वह 'वापिस मुड़ना' अर्थ में बतलाया है। उसके लिए कहा है-

स्व स्थानाद्यत् पर स्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमण मुच्यते ॥१॥

अर्थात्- "प्रमादवश हुआ आत्मा, अपना स्थान छोड़कर पर स्थान में पहुँचा हुआ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जीवात्मा, अर्थात् दर्शन, चारित्र आदि स्थान छोड़कर राग, द्वेष या हिंसा, मृषावाद आदि अठारह पाप स्थान में चला गया- हो उस जीव का स्व स्थान में-स्वभाव में वापिस लौटना- उसे प्रतिक्रमण कहते हैं ।''

यह तीसरी गाथा का वर्णन किया । अब ज्ञान के अतिचारों की निंदा करने के लिए कहते हैं-

जं बद्धमिंदिए हिं, चउ हिं कसाए हिं अप्प सत्थे हिं ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे त च गरिहामि ॥४॥

अर्थात्- ''अप्रशस्त इन्द्रिय, चार कषाय (तीन योग) तथा राग और द्वेष से जो अशुभ कार्य का बन्धन किया हो उस कर्म की मैं निंदा करता हूँ, उसकी मैं गर्हा करता हूँ ।''

भावार्थ- 'जं बद्ध' जो अशुभ कर्म बन्धन किया हो । यहां ज्ञान में अतिचार रूप अशुभ कर्म जानना, क्योंकि, प्रसंग के अनुसार विरति में विघ्नभूत अप्रशस्त इन्द्रिय और कषाय के अधीन बना जीव जो कर्म बन्धन करता है उसका मूल कारण अज्ञान है । वह कर्म ज्ञान अतिचार रूप है ।' कहा है कि-

तद ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभति राग गणः ।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम ॥१॥

अर्थात्- ''वह ज्ञान ज्ञान नहीं है जिसके उदय होने पर राग द्वेषादि समूह टिक सके ? क्या अंधकार में शक्ति है कि महा पराक्रमी सूर्य की किरणों के सामने रुक सके ? वैसे ही रागादि भी ज्ञान की उपस्थिति में नहीं रह सकते हैं । फिर भी रह जाय तो ज्ञान रूपी सूर्य का अभाव समझना ।''

इसलिए जो इन्द्रिय या कषायों में रागादि का बन्धन होता है वह अप्रशस्त कहलाता है और अप्रशस्तता अज्ञान मूलक है। इससे कर्मबन्धन भी ज्ञानातिचार रूप गिना जाता है। ये कर्म किन साधनों से बंधन होते हैं ? वह कहते हैं- **''इंदिए हिं कसाए हिं अप्पसत्थे हिं''** = अप्रशस्त स्पर्शनेन्द्रिय या पांच इन्द्रियों के द्वारा, क्रोधादि चार कषायों के द्वारा, उपलक्षण से मन, वचन और काया रूपी योग से और राग, द्वेष द्वारा कर्म बन्धन होता है । स्पर्श, रस आदि पांच इन्द्रियों से अनुक्रम से १-संभूत साधु, २-सोदास राजा, ३-गंध प्रिय कुमार, ४-मथुरा का वणिक और ५-सुभद्रा सेठानी के समान कर्म बन्धन होता है । तथा तीव्र औदयिक भाव को प्राप्त किए क्रोध, मान, माया, धन श्री और ४-मम्मण सेठ के समान कर्म बन्धन किया था और **'रागेण व दोसेण व'**- अर्थात् दृष्टि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

राग, काम राग आदि दुष्ट राग से गोविंदवाचक तथा उत्तरा के समान कर्मबन्धन होता है तथा गोष्टा माहिल आदि ने जैसे द्वेष-अप्रीति से कर्म बन्धन किया था, यहां **'वा'** शब्द 'अथवा' अर्थ में है। इस प्रकार का जो भी अतिचार रूप कर्म बन्धन किया हो, उन सब पाप कर्म को मैं अपनी आत्म साक्षी निंदा करता हूँ और गुरु के साक्षी उस पाप को स्वीकार कर प्रतिक्रमण करता हूँ। इत्यादि दूसरी गाथा के समान समझना।

अब सम्यग्दर्शन एवं चक्षुदर्शन का प्रतिक्रमण कहते हैं-

आगमणे निग्गमणे, ठाने चंकमणे अणा भोगे ।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥५॥

अर्थात्- "आने जाने में, एक स्थान पर खड़े रहने से, इधर उधर फिरने में, उपयोग न होने से, दबाव के कारण और नौकरी आदि के कारण दिन सम्बन्धी जो अशुभ कर्म बन्धन किया हो, उन सब पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ- इसमें मिथ्या दृष्टियों के रथ यात्रादि महोत्सव देखने के लिए कुतूहल से दौड़कर जाने में अथवा ऐसे महोत्सव आदि अपने घर दुकान से निकलते देखना, तथा अन्य दर्शनियों के देव स्थानों में जाना आना, वहां ठहरना, उनके निरीक्षण करने जाने से, आवश्यक प्रयोजन में भी उपयोग बिना अज्ञानता से गमन-आगमन करने, राजादि के परवशता या लोक समूह आदि के दबाव-आग्रह आदि राजभयादि कारण से, नगर सेठ, मन्त्री आदि अधिकारी पद का फर्ज-अदा करने के लिए इत्यादि कारणों से जो पाप कर्म का बन्धन हुआ हो, वह दिन सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ। इत्यादि तीसरी गाथा के समान।" अब सम्यकत्व के अतिचारों का प्रतिक्रमण होता है। वह इस प्रकार है-

संका कंख विगिच्छा पसंस तह संथवो कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्स इयारे, पडिक्कमे देसिअं सव्व ॥६॥

अर्थात्- "सम्यकत्व के पालन करने में शंका, कंखा, विचिकित्सा, कुलिंगी-प्रशंसा तथा कुलिंगी संस्तव द्वारा दिन सम्बन्धी जो अतिचार लगे हों, उन सब का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ- "यहां दर्शन अर्थात् मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से प्रकट हुई 'जिन कथित जीव अजीव आदि नौ तत्वों पर सम्यक् श्रद्धा होती है, उस समय आत्मा में शुभ परिणाम होते हैं, उसका नाम सम्यकत्व है, उस सम्यकत्व में शंका आदि पांच अतिचार श्रावक को जानने चाहिएं, परन्तु आचरण नहीं करना चाहिए। उसमें (१) **'शंका'** = जिनेश्वर द्वारा कहे जीवाजीव आदि तत्त्व में संदेह करना-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'यह इस तरह होगा या नहीं होगा ?' इस तरह संशय करना। (२) **'कंखा'** = अन्य धर्मियों में क्षमा-अहिंसा आदि गुण आडम्बर अल्पमात्र देखकर उनके धर्म को स्वीकार करने की अभिलाषा करना। (३) **'विगिच्छा'** = तपस्या आदि धर्म क्रिया करते हुए भी 'इसका फल मिलेगा या नहीं मिलेगा ?' इत्यादि फल का संदेह करना। किसी स्थान पर **'वउंच्छा'** पाठ है, इसका अर्थ है- साधु साध्वी के मलिन अंग, शरीर, वस्त्र आदि देखकर उनकी दुर्गच्छा करना, निंदा रूप जुगुत्सा करना। (४) **'पसंस'** -अन्य धर्मी बौद्ध आदि साधु की- 'अहो ! यह साधु महा तपस्वी है' इत्यादि वर्णन करना, उसकी प्रशंसा करना। (५) **'तह संथवो कुलिंगीसु'** = तथा अन्य धर्म के साधुओं आदि के साथ गाढ़ परिचय करना, एक स्थान में रहना, परस्पर वार्तालाप करना। इस तरह **'सम्यत्तस्स इयारे'** = सम्यकत्व के पांच अतिचारों का दिन विषयक प्रतिक्रमण करता हूँ। इन अतिचारों में अनुक्रम से (१) खीर का पान करने वाले दो बच्चे, (२) राजा और मंत्री, (३) जिन दत्त का मित्र दुर्गन्ध, (४) शकडाल मन्त्री और (५) सुराष्ट्र श्रावक-ये पांच दृष्टान्त अन्य ग्रन्थों से जान लेना।'' अब चारित्राचार के प्रतिक्रमण के लिए प्रथम सामान्य रूप से आरंभ सामूहिक निंदा के लिए यह सातवीं गाथा कहते हैं:-

छक्काय समारभे, पयणे य, पयावणे य जे दोसा ।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥७॥

अर्थात्- ''अपने लिए अथवा दूसरों के लिए, साथ ही दोनों के लिए पकाने पकवाने में छहकाय के जीवों की विराधना होने से जो भी पाप दोष लगा हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ।''

भावार्थ- **''छक्काय समारंभे'** = पृथ्वी काय, अप काय, तेउ काय, वनस्पतिकाय- ये पांच स्थावर तथा त्रस काय (द्वींद्रिय, त्रीन्द्रिय तथा संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय)- यह छः जीवकाय कहलाते हैं। इन जीवों को पीड़ा आदि दी हो- वह छः काय समारंभ कहलाता है। शास्त्र में संरंभ, समारंभ और आरंभ- ये तीन प्रकार के शब्द हैं। इस गाथा में 'समारंभ' का ही शब्द का उपयोग किया है। इससे जैसे तराजू की दण्डी का मध्य भाग ग्रहण करने से आदि और अन्त का भी ग्रहण होता है वैसे ही तराजू दण्ड न्याय से उन तीनों शब्दों का मध्य समारंभ शब्द ग्रहण करने से आदि का संरंभ शब्द और अन्तिम का आरंभ शब्द भी ग्रहण होता है। जीवों को तर्जना करने का संकल्प करना वह संरंभ कहलाता है, जीवों को पीड़ा परिताप करना वह समारंभ कहलाता है और जीवों को उपद्रव करने से उसके प्राणों का नाश करना वह आरंभ कहलाता है अर्थात् इन

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पृथ्वीकाय आदि छः प्रकार के जीवों का संरंभ, सामारंभ और आरंभ करने से जो पाप दोष सेवन किया हो, यहां 'दोष' कहने का कारण यह है कि- अतिचार व्रतधारी के व्रत की मलिनता रूप होता है और अहिंसा रूप व्रत स्वीकार न किया हो उसे यह मलिनता नहीं घटती, इसलिए दोष-अतिचार नहीं परन्तु यहां पाप समझना । यह पाप किस कारण ? **'पयणे य पय वणे य'** अर्थात् स्वयं भोजन पकाने में और दूसरे द्वारा भोजन पकवाने में और **'य'** (च) शब्द से भोजन पकाने की अनुमोदन करने में पाप लगता है, वह भी किसके लिए ? **'अत्तट्ठाय परट्ठा उभयट्ठा चेव'** अर्थात् आत्मार्थ-अपने लिए, परार्थ- मेहमान आदि दूसरों के लिए, उभयार्थ = स्व पर दोनों के लिए तथा **'च'** = निष्कारण द्वेष आदि से, यहां **'एवं'** शब्द से पहले कहे अनुसार ही कारण से समझना, अथवा 'मुग्ध बुद्धि मैं साधु मुनिराज को आहार दान के लिए पकाऊँगा तो उसमें तो उसमें मुझे पुण्य होगा ।' ऐसा सोचकर अपने पुण्य के लिए अथवा माता-पिता आदि दूसरे के लिए या दोनों के पुण्य के लिए भोजन पकाने, पकवाने से और अनुमोदना से छःकाय जीवों का संरंभ जो पाप हुए हों अथवा छःकाय का समारंभ हुआ, तथा अयतना से अर्थात् पानी छाने बिना आदि कार्यों में यतना नहीं रखने से जो दोष का सेवन किया है उसकी मैं निंदा करता हूँ ।'' पुनः अतिचारों का सामान्य रूप से प्रतिक्रमण करने के लिए कहते हैं कि-

पंचण्हमणुवयाणं गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे ।
सिक्खाणं च चउण्हं पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥८॥

अर्थात्- ''पांच अुण व्रत, तीन गुण व्रत, चार शिक्षा व्रत- इस प्रकार कुल बारह व्रतों में दिन सम्बन्धी जो भी अतिचार लगे हों उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ ।''

भावार्थ- ''साधु केपांच महा व्रत की अपेक्षा से ये व्रत छोटे होने से इनको अणु व्रत कहा है । पांच अणु व्रत श्रावक के लिए मूल गुण रूप हैं । इन व्रतों के बाद दिक् परिमाण आदि तीन गुण व्रत हैं । पांच मूल व्रतों को विशेष गुणकारी होने से इन्हें गुणव्रत कहा है । जैसे विद्यार्थी विद्या के लिए पुनः पुनः अभ्यास करता है वैसे ही वीतराग चारित्र की प्राप्ति के लिए बारम्बार अभ्यास करने योग्य सामायिक आदि चार शिक्षा रूप व्रत हैं । इन बारह व्रतों में से पांच अणु व्रत और तीन गुण यावत्कथिक हैं अर्थात् जितने काल के लिए ये व्रत लिए हों उतने काल तक इनका पालन निरन्तर किया जाता है । चार शिक्षा व्रत इत्वर कालिक-अल्प कालिक हैं अर्थात् जितने काल के लिए व्रत लिए हों, उतने काल तक उनका पालन निरन्तर होता है। सामायिक और देशावकालिक ये दो तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रतिदिन किये जाते हैं और पौषध तथा अतिथि संविभाग पूर्व आदि विशेष दिनों में लिए जाते हैं ।'' अब चारित्र के अतिचारों को अलग अलग रूप से कहते हैं । उसमें नौवीं गाथा में प्रथम व्रत में लगने वाले अतिचार कहते हैं-

पढमे अणुव्वयंमी थुलग पाणाइवाय विरईओ ।
आयारिय मप्प० सत्थे इत्थप्पमायप्प संगेणं ॥६॥

अर्थात्- ''प्रथम अणु व्रत के विषय में स्थूल प्राणतिपात विरमण व्रत में त्रस जीवों की हिंसा की विरति में प्रमाद के योग से क्रोधादि अप्रशस्त भाव से कोई विपरीत आचरण किया हो ।''

भावार्थ- प्रथम अणु व्रत में अर्थात् सर्व व्रतों का सार और सर्व व्रतों का साध्य अहिंसा व्रत है, इसलिए सर्व में प्रथम और ऊपर की गाथा में कहा वैसे- **अणु** = अनु प्रथम व्रत में **'थूलग पाणाइवाय'** अर्थात् बड़े जीवों की हिंसा, उसमें चक्षु आदि से देख सकें ऐसे बड़े जीव अथवा गमन-आगमन आदि देख सके ऐसे बड़े द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि त्रस जीव, इस तरह **'स्थूग'** बड़े जीव को **'पाण'** इन्द्रिय-बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य रूप बाह्य प्राण का नाश किया हो, **'विरईआ'** विरति-प्रतिज्ञा से, **'आयरिय'** विपरीत किया हो- प्रतिज्ञा पालन न किया हो । प्रश्न- 'देश विरति में से आगे सर्व विरति में जाने वाले साधु को भी इस प्रतिज्ञा का उल्लंघन तो होता है और उसका प्रतिक्रमण तो उसे उचित नहीं है, उसका क्या होगा ?' उत्तर- **'अपसत्थे'** = क्रोधादि के उदय होने से अशुभ परिणाम के कारण, **'इत्थं'** = यह प्राणतिपात में **'पमायप्प संगेण'** = प्रमाद में आसक्त होने से अर्थात् सुरापान, विषय, कषाय आदि पांच प्रमाद में अत्यन्त मग्न होने से किया हो, यहां 'एक नाम से उसके सजातीय भी कहलाते हैं', इस न्याय से 'प्रमाद' कहने से 'आकुट्टी' (वेदरकारी) अहंकार इत्यादि भी कारण समझना अर्थात् जान बूझकर अथवा अहंकार आदि के कारण इस व्रत में जो अतिक्रमण किया हो अथवा प्राणातिपात की विरति के आश्रित अब आगे की गाथा में कहा जायेगा वह वध बन्धन आदि अनुचित आचरण किया हो 'उसका प्रतिक्रमण करता हूँ' आदि आगे की गाथा में कहा जायेगा, उसके साथ में सम्बन्ध जोड़ना ।'' अब वही वध-बन्धन आदि कहते हैं-

'वह बंध छविच्छेए, अइ भारे भत्तपाण वीच्छेए ।
पढम वयस्स इयारे पडिक्कमे देसिअं सव्व ॥१०॥

अर्थात्- ''(१) वध-मारने से, (२) बन्धन से, (३) अंग छेदने से, (४) बहुत बोझ लादने से और (५) खाने पीने में रुकावट करने से पहले व्रत में दिन सम्बन्धी अतिचार लगा हो उन सबका मैं पडिक्कमण करता हूँ ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावार्थ- "**(१) वह**' = पशु अथवा दास दासी आदि को निर्दयता पूर्वक मारना, लकड़ी या रस्सी से प्रहार करना। (२) **बंध**' = रस्सी, जंजीर आदि से जीवों को जकड़कर बांधना। (३) **छविच्छेए** = उनके शरीर के कान, नाक, चमड़ी, गलकंबल, पूंछ आदि का छेदन करना, काटना। (४) '**अइभारे**' = जीव की शक्ति का ध्यान रखे बिना उस पर बहुत अधिक भार लादना और (५) '**भत्तपाण वीच्छेए**' = भोजन पानी का विच्छेद करने से भूखा प्यासा रखना, क्रोधादि के वश होकर निर्दयतापूर्वक उपरोक्त पांच प्रकार का आचरण करने से '**पढम वयस्स इयारे**' = प्रथम व्रत के अन्दर पांच अतिचार लगते हैं। इसके अतिचार का वर्णन कहा है, उसके अनुसार अथवा अनजाने से किंवा अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि से सर्व व्रतों में वह अतिचार जानना। इन अतिचारों द्वारा जो कोई कर्म बन्धन हुआ हो इत्यादि सम्बन्ध नौवीं गाथा में जोड़ना, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।" अब दूसरे अणु व्रत का स्वरूप कहते हैं-

वीए अणुव्वयंमी, परि थूलग अलिय वयण विरई ओ।
आयरियमप्प सत्थे, इत्थ पमायप्प संगेण ॥११॥

अर्थात् - "दूसरे अणु व्रत में स्थूल मृषावाद बोलने की विरति से, प्रमाद प्रसंग को प्राप्त कर या क्रोधादि अप्रशस्त भाव का उदय होने से, जो कोई विरुद्ध आचरण किया हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ - '**वीए अणुव्वयंमी**' = दूसरे अणु व्रत में, '**परि**' = अतिशय से, '**थूलग**' = जिससे लोक में अपकीर्ति, राजदण्ड आदि बड़ा नुकसान होता है ऐसा, '**अलियवयण**' = कन्या अलिक आदि पांच प्रकार के बड़े झूठ-असत्य वचन बोलना। उसमें (१) **कन्या सम्बन्धी**-इसके प्रति द्वेष आदि होने से विषकन्या न हो फिर भी उसके विवाहादि में विघ्न करने के लिए 'यह विषकन्या है, दुराचारिणी है' इत्यादि कन्या विषयक झूठ बोलना वह कन्या अलिक है। (२) द्वेषादि कारण से, बहुत दूध देने वाली गाय हो फिर भी, 'यह गाय थोड़ा दूध देने वाली है' इत्यादि गाय पशु सम्बन्धी असत्य वह 'ग्वालिक' है। (३) पराई जमीन-घर क्षेत्र आदि को अपनी अथवा अपनी को पराई कहना, बंजर को उपजाऊ, उपजाऊ को बंजर आदि कहना भूमि सम्बन्धी असत्य वह भूम्यलिक है। यहां कन्या के उपलक्षण से मनुष्य आदि सभी दो पैर वाले के विषय में 'गाय' से पशु आदि किसी भी चार पैर वाले के विषय में तथा 'भूमि' शब्द से किसी अपद वस्तु-भूमि पर पैदा होने वाले पदार्थ या रुपया, धन, जायदाद, मकानात आदि सभी के विषय में असत्य बोलना। (४) धन धान्य आदि किसी को प्रामाणिक या ईमानदार मानकर, सुरक्षा के लिए या संकट काल के लिए अमानत के तौर पर किसी के पास रखना, उसे धरोहर न्यास कहते हैं। ऐसे न्यास के विषय में झूठ बोलना, कमी बेशी बताना, माल सामान हड़प करना चोरी है, परन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

झूठ बोलने की मुख्यता होने से असत्य है। (५) लेने देने के विषय में प्रामाणिक मानकर दूसरे को साक्षी देना, उसमें रिश्वत-घूस लेना, झूठी गवाही देना आदि सब कूट साक्षी हैं। यह चौथा, पांचवां दोनों अलिक तथा द्विपद आदि तीन असत्य में समावेश हो सकते हैं परन्तु उन दो की अत्यन्त दुष्टता बताने के लिए ये दो भेद अलग कहे हैं। इस तरह पांच प्रकार का असत्य बोलने से जो अतिचार लगा हो इत्यादि अर्थ गाथा नौ अनुसार समझना।

सहसा रहस्स दारे, मोसुवए से य कुड लेहे य।
बीअ वयस्स इयारे, पडिक्कमे देसिअं सव्व ॥१२॥

अर्थात् - "बिना विचारे किसी को दूषित कहने से - किसी पर दोषारोपण करने से, कोई मनुष्य गुप्त बाते करते हों- उन्हें देखकर मनमाना अनुमान लगाने से, अपनी स्त्री की गुप्त बात बाहर प्रकाशित करने से, मिथ्या उपदेश अथवा झूठी सलाह देने से तथा झूठी बात लिखने से, दूसरे व्रत के विषय में दिन सम्बन्धी जो अतिचार लगे हों, उन सब का प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ - "यहां सूचना-सूत्र केवल सूचना रूप ही होता है, इस न्याय से 'सहसा'-विचार किए बिना दूसरे को कलंक देना 'यह मनुष्य चोर है' इत्यादि असत्य दोष बोलना वह १ - **सहसाभ्यासख्यान** है। रहस्स अर्थात् एकान्त में किसी मनुष्य की गुप्त मंत्रणा देखकर 'ये लोग अमुक अमुक राज्य के विरुद्धादि मंत्रणा करते हैं, इत्यादि झूठी निन्दा, चुगली करना वह २ - **'रहस अभ्याख्यान'** है, अपनी स्त्री आदि ने अपने पर विश्वास रखकर गुप्त मर्म की बात कही हो, जो कहने योग्य न हो, वह गुप्त बात जहां तहां प्रकट कर देना। इसी तरह पुरुष मित्रादि की गुप्त बात प्रकट करना। वह ३ - **'स्वदारा मंत्र भेद'** है। स्वयं को किसी विषय का ज्ञान न होने पर भी अन्य के मन्त्र, औषधि आदि का उपदेश देना, उसके उपाय बताना आदि ४ - **'मृषा उपदेश'** है और झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज बनाना, दूसरे के हस्ताक्षर जैसे अक्षर बनाकर लिखना, नकली हस्ताक्षर करना, बिन्दु आदि बढ़ाकर भावार्थ बदल देना इत्यादि ५ - **'कूटलेख'** है। ये मृषावाद के पांच अतिचार हैं। इनके द्वारा जो कर्म बन्धन हुआ इत्यादि पूर्व गाथा के अनुसार समझना।" अब तीसरे व्रत का स्वरूप कहते हैं -

तइए अणुव्वयंमी, थूलग परदव्य हरण विरई ओ।
आयरियमप्प सत्थे, इत्थ पमायप्प संगेण ॥१३॥

अर्थात् - "तीसरे अणु व्रत के विषय में जिससे राज दंड-कैद आदि मिलता हो, ऐसा स्थूल परद्रव्य-धन की चोरी किसी की विरति-चोरी न करने की प्रतिज्ञा से विरुद्ध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रमाद के कारण अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भाव का उदय होने से जो कोई विपरीत आचरण किया हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।" अब उसके अतिचार कहते हैं -

तेनाहड प्पओगे, तप्पडि रूवे विरुद्ध गमणे य ।
कुडतुल कुडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१४॥

अर्थात्- "चोरी का माल लेना, चोरी करने की प्रेरणा देना, माल में मिलावट करना, राज्य के विरुद्ध आचरण करना और झूठे माप तौल रखना- ये पांच अतिचारादि दिन सम्बन्धी लगे हों, उन सब का प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ -'स्तेन' अर्थात् चोर **'आहड'** = अन्य देश- प्रदेश से चोरी की हुई केसर, कस्तूरी आदि कीमती द्रव्य हो, उसे 'कम दाम की है' ऐसी लोभ बुद्धि से लेना वह प्रथम स्तेनाह नामक अतिचार लगता है। **'प्पओगे'** शब्द से सूत्र केवल सूचना मात्र कहने वाला होता है, इस वचन से **'पओग'** से तरस्कर प्रयोग शब्द समझना अर्थात् उस चोर का प्रयोग इस प्रकार करना कि - 'आज कल काम बिना क्यों बैठा है ? चोरी का माल लाया हो, उसे कोई बेचने वाला नहीं हो तो मैं बेच देता हूँ।' इस तरह प्रेरणा देना अथवा उसे औजार, हथियार देना। वह दूसरा 'तरस्कर प्रयोग' है। **'तप्पडि रूवे'** अर्थात् अच्छी वस्तु में खराब मिलाकर देना, बढ़िया वस्तु दिखाकर दूसरी घटिया वस्तु देना जैसे घी में चरबी, दूध में पानी, केसर में बनावटी केसर, मोती में इमिटेशन मोती आदि बनावटी मिलाकर अच्छी वस्तु के भाव में बेचना वह तीसरा अतिचार है। **'विरुद्ध गमणे'** अर्थात् राज विरुद्ध कार्य करना, यहां राजा की आज्ञा के बिना व्यापार के लिए जाना, जासूसी आदि कार्य करना- वह चौथा विरुद्ध गमन अतिचार है और **'कुडतुल गुडमाणे'** झूठे तोल माप रखना, माल लेते समय बड़े तोल माप रखना और ग्राहक को देते समय कम तोल माप रखना। यह पांचवा कुडतुल कुडमाण अतिचार समझना। संबोध प्रकरण में कहा है कि-

उचियं मोत्तूण कलं, दव्वाइ कमागयं च उक्करिसं ।
निवडिय मवि जायंतो, परस्स संतं न गिण्हिज्जा ॥१॥

अर्थात्- "जहां जिस काल में जितना उचित गिना जाय उससे अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिए, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आश्रित जिस वस्तु का जितना भाव बैठता हो उससे अधिक भाव-कीमत नहीं लेना तथा 'वस्तु गिरी पड़ी है' ऐसा कहने पर भी पर की वस्तु लेना नहीं।" इस तरह इन अतिचारों का सेवन करने से जो कर्म बन्धन होता है, उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ। इत्यादि पूर्व के समान है।" अब चौथे व्रत का स्वरूप कहते हैं -

चउत्थे अणुव्वयंमी, निच्चं परदार गमण मविरई ओ ।
आयरियमप्प सत्थे, इत्थ पमायप्प संगेण ॥१५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "चौथे अणुव्रत में नित्य अन्य पुरुष की विवाहित या रखैल-रखी हुई स्त्री के साथ में गमन = मैथुन सेवन, उसकी विरति से अर्थात् पर स्त्री सेवन के त्याग रूप नियम के विरुद्ध प्रमाद के कारण या क्रोधादि अप्रशस्त भाव के उदय से जो कोई विपरीत आचरण किया हो उसका मैं निंदापूर्वक प्रतिक्रमण करता हूँ।" अब उसके अतिचार कहते हैं -

अपरिग्ग हिआ इतर अणंग वीवाह तिव्व अणुरागे ।
चउत्थ वयस्स इआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१६॥

अर्थात्- "अपरिगृहीता गमन, इत्वर गृहीता गमन, अंग क्रीड़ा, पर विवाह करण और तीव्र अनुराग के कारण चौथे व्रत के विषयक दिन सम्बन्धी पांच अतिचार लगे हों, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ - "**अपरिग्गहिआ**' अर्थात् जिसका पति न हो ऐसी कुंवारी कन्या, विधवा आदि 'किसी की स्त्री नहीं है' ऐसा मानकर उससे गमन करना वह **(१) अपरिगृहीता गमन** अतिचार है। '**इत्वरगृहीता**' अर्थात् थोड़े समय के लिये रखी हुई स्त्री, अनेक पुरुषों के पास जाने वाली कुलटा या वेश्या होती है या रखैल होती है जो वेतन या किराये-भाड़े पर रखी जाती है, उससे गमन करना वह **(२) इत्वरातागम** अतिचार है। '**अणंग**' = अर्थात् काम मुख्यता वाली क्रीड़ा-विषय वासना, उसके योग से परस्त्री के साथ ओष्ट, गाल चुम्बन, आलिंगन आदि क्रीड़ा करना अथवा वात्स्यायन के कामशास्त्र में कहे अनुसार चौरासी आसनों का सेवन करना **(३) अनंग क्रीड़ा** नामक अतिचार है। '**विवाह**' -अपने पुत्र पुत्री आदि के सिवाय स्नेह आदि सम्बन्ध से अन्य की संतानों का विवाह करने से **(४) पर विवाह** नामक अतिचार लगता है। श्रावक को अपने पुत्र पुत्रियों के विवाह के विषय में यदि अन्य कोई चिन्ता करने वाला हो तो किसी का भी विवाह नहीं करना चाहिए। ऐसा सुना जाता है कि श्रीकृष्ण और चेतक महाराज का इस विषय में नियम था। '**तिव्व अणुरागे**' = शब्द, रूप ये दो काम हैं और रस-गंध-स्पर्श ये तीन भोग कहे हैं। इन काम भोग में **(५) अतिशय अनुराग** अतिचार है। इस व्रत में 'परस्त्री गमन विरमण' व्रत वाले को यह पांच अतिचार हैं। स्वदारा संतोष व्रत वाले श्रावक को और स्त्री को तो पहले दो से व्रत भंग होते हैं और आखिरी तीन ही से अतिचार लगते हैं। इस तरह विवेक समझना। अथवा अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि के योग से जो कर्म बन्धन हुआ हो वह सब शेष अर्थ पूर्व के समान जानना।" पांचवें अणु व्रत का स्वरूप कहते हैं-

इत्तो अणुव्वए पंचमंमि, आयारिय मप्पसत्थं मि ।
परिमाण परिच्छेए, इत्थ पमायप्प संगेण ॥१७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "**इत्तो**' = चौथे व्रत के बाद पांचवें अणुव्रत में स्थूल परिग्रह की विरति से धन, धान्य आदि नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह का नियम करने से तथा राग द्वेष आदि अभ्यन्तर परिग्रह- दुष्परिणाम से आचरण किया हो अर्थात् परिग्रह परिमाण व्रत में उल्लंघन करने में जो अनिष्ट आचरण किया हो, उसकी निंदा करता हूँ। इत्यादि पूर्व गाथा के समान।" अब उसके प्रतिक्रमण के लिए कहते हैं -

धण धन्न खित्त वत्थुं, रूप्प सुवण्णे य कुविय परिमाणे।
दुपए चउप्पयंमी, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१८॥

अर्थात्- "(१) धन धान्य (२) क्षेत्र वस्तु, (३) सोना चांदी, (४) अन्य धातुओं तथा (५) द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम उल्लंघन करने से दिन सम्बन्धी जो अतिचार लगे हों उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ- "धन के गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य प्रकार से संग्रह होता है। **गणिम** गिनकर लेने योग्य वस्तुएँ जैसे रोकड़े रुपये, नोट, सुपारी, श्रीफल आदि। **धरिम** अर्थात् तौलकर ली जाय ऐसी वस्तुएँ गुड़, शक्कर आदि। **मेय** अर्थात् मापकर लेने योग्य वस्तुएँ जैसे कि घी, तेल, कपड़ा आदि, **परिच्छेद्य** अर्थात् घिसकर अथवा काटकर ली जायें ऐसी वस्तुएं जैसे सुवर्णरत्न आदि होते हैं। धान्य जौ, गेहूँ चावल आदि चौबीस प्रकार के होते हैं। इसका वर्णन पहले आया है। इस तरह धन धान्य स्वयं किए नियम से अधिक रखना या दूसरे के यहां रखना, इससे वह अतिचार लगता है। जिस तरह मर्यादा स्वीकार की हो, इससे भी अधिक धन-धान्य कालान्तर में ब्याज आदि बढ़ जाने से वह परिग्रह बढ़ गया देखकर लेनदार के यहां से आने वाले हों तो प्रथम का धान्यादि जब तक बिक्री न हो जाय तब तक लेनदार के घर रखना और नियम पूर्ण होने के बाद घर ले जाऊंगा इस तरह कहकर स्थापन रखना। अथवा मेरा नियम अमुक महीने तक है, उसके बाद इसे स्वीकार करूंगा। अभी घर के एक कोने में या किसी अन्य व्यक्ति के यहां सुरक्षित रखना या देने वाले के नाम से अमानत के तौर पर रख ले, फिर नियम की अवधि पूरी हो जाने पर लेने का निश्चय करना। इस प्रकार निश्चय परिणाम से अधिक धन धान्य घर आदि में रख ले तो '**अतिक्रम**' नाम का प्रथम अतिचार लगता है। '**खित्त**' = धान्य को उत्पन्न करने वाली भूमि को क्षेत्र कहते हैं। वह खेत (क्षेत्र) तीन प्रकार का है- (१) सेतु, (२) केतु और (३) उभय क्षेत्र। जो खेत-जमीन, कुंआ, बावड़ी, जलाशय आदि द्वारा पानी खींचकर सींचा जाय और अनाज हो वह सेतु खेत कहलाता है। जिस खेत की भूमि से केवल बरसात के पानी में सिंचाई से अनाज पैदा हो वह केतु क्षेत्र कहलाता है, और जिस कृषि भूमि में पूर्वोक्त दोनों प्रकार से सिंचाई करके अन्न उत्पादन किया

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जाय वह उभय (सेतु केतु) क्षेत्र कहलाता है । '**वत्थु**' = वास्तु (घर) तीन प्रकार होता है- (१) खात, (२) उच्छित् और (३) खातोच्छित्। जमीन के अन्दर (भूगर्भ में) जो मकान हो वह तलघर खात कहलाता है तथा जमीन के ऊपर घर, दुकान हवेली आदि हो वह उच्छित कहलाता है । तलघर सहित ऊपर मकान बना हो उसे खातोच्छित कहते हैं । उपलक्षण से बाग, बगीचा, नौहरा, अतिथिगृह, कार्यालय आदि, राजा आदि के गांव या नगर- ये सब वस्तु अन्तर्गत हैं । जब परिग्रह नियम अनुसार पूर्ण हो गया हो और अधिक अभिलाषा से पड़ोसी के मकान या खेत को खरीद कर मकान खेत की निश्चित संख्या बढ़ न जाय, इस अपेक्षा से दो या कई मकानों और खेतों को आपस में मिला देना, बीच में सीमा सूचक दीवार, बाड़ या खंभे तुड़वाकर दोनों को संयुक्त करके मकान या खेत बना देना । यह दूसरा '**क्षेत्र वस्तु अतिक्रम**' नाम का अतिचार है ।

'**रूप्पं**' = रजत (चांदी) और '**सुवण्णे**' सोना का परिग्रह में जो परिमाण किया हो उससे अधिक बढ़ जाय । उपने पास रखूंगा तो नियम भंग हो जायेगा । इससे अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के नाम कर देना, तीसरा अतिचार लगता है । '**कुविअ**' = इसका अर्थ है- सोना चांदी के सिवाय हल्की किस्म की धातुएं-कांसा, तांबा, पीतल आदि धातुओं के बर्तन, पलंग, अलमारी, मोटरगाड़ी, हल, ट्रैक्टर आदि खेत के साधन और गृहोपयोगी सामान का जो नियम लिया हो और संख्या में वृद्धि हो गई हो और अपना नियम भंग हो जाने के भय से उसकी आकृति तोड़ फोड़कर निश्चित संख्या की पूर्ति के लिए दो दो को मिलाकर एक बड़ी वस्तु बनाना, या डिजाइन बदलकर उनकी संख्या कम कर देना। वस्तुतः उसके मूल्य में वृद्धि होने से चौथा अतिचार है । '**दुपए**' = दो पैर वाले दास, दासी, नौकर तथा पक्षी हंस मयूर मैना तोता आदि दो पैर वाले तथा '**चउप्पय**' = गाय, भैंस, भेड़, बकरी, हाथी, घोड़े आदि चार पैर वाले पालतू जानवर हैं । इनकी संख्या निश्चय की हो, किन्तु नियम के बाद गाय भैंस आदि के प्रसव हो जाने से उसकी संख्या बढ़ जाय अथवा उसकी गिनती न गिने या संख्या से अधिक रखे तो पाचवां अतिचार लगता है। इन पांच अतिचार में जो जो अतिचार लगा हो उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ इत्यादि पूर्व के समान ।''

पांच अणु व्रत का प्रतिक्रमण कहा । अब तीन गुणव्रत में से प्रथम गुण व्रत का प्रतिक्रमण कहते हैं -

गमणस्स य परिमाणे दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च ।
वुड्ढि सइ अंतरद्धा, पढमंमि गुणव्वए निंदे ॥१६॥

अर्थात् - ''इसमें ऊर्ध्व दिशा में, अधो दिशा में, और तिर्यक दिशा में जाने का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रमाण लांघन करने से, क्षेत्र का प्रमाण बढ़ जाने से अथवा क्षेत्र का प्रमाण भूल जाने से पहले गुण व्रत में जो अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।''

भावार्थ - ''**गमणस्स य परिमाणे**' = जाने आने के परिमाण के विषय में '**य**' (च) = अतिक्रमण किया हो, कहां आने जाने में ? '**दिसा सु**' दिशाओं में, वह कौन सी दिशाओं में ? वह कहते हैं '**उड्ढं अहे अ तिरिअं च**' अर्थात् = ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में, यानी ऊंचे जाने का जो प्रमाण रखा हो उसे भूल आदि के कारण अधिक ऊंचाई तक जाने से, नियम के उल्लंघन से (१) '**ऊर्ध्व दिशा अतिक्रम है**'। नीचे भी खान, भौंरे, गुफा, सुरंग आदि में नियमित प्रमाण से अधिक नीचे उतरना वह (२) '**अधोदिशातिक्रम**' है और तिर्यक्-पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा तथा उपलक्षण से आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्व और ईशान- ये विदशा, स्वीकार किए प्रमाण से अधिक दूर जाना (३) **तिर्यग् दिशातिक्रम** है। तथा '**वुड्ढि**' = इन दिशाओं में यदि अमुक अमुक योजनादि प्रमाण निश्चय किया हो और बाद में कार्य प्रसंग अथवा लोभ वृत्ति से एक दिशा की सीमा कम करके दूसरी दिशा में सीमा बढ़ा देना। उन दोनों दिशा में योजन मिलाने से योजन संख्या भंग नहीं होती है, इस वृद्धि से व्रत की अपेक्षा रहने से प्रमाण का अतिक्रम नहीं हुआ, और अधिक जाता है तो भंगाभंग स्वरूप वाला (४) '**क्षेत्र वृद्धि**, अतिचार लगता है। और '**सइ अंतरद्धा**' = स्मृति का अंतर्धान-अर्थात् स्मरण भूल जाने से जैसे पूर्व दिशा में सौ योजन का प्रमाण रखा हो परन्तु उस दिशा में जाते समय व्याकुलता से अथवा प्रमाद से अथवा मति विभ्रम आदि से विस्मरण हो जाय कि मैंने सौ योजन का प्रमाण रखा है या पचास का रखा है ? इस तरह शंका होने पर स्पष्ट स्मरण नहीं होने पर भी पचास से आगे जाय तो (५) '**अंतरद्ध** अतिचार लगता है और सौ योजन से आगे जाए तो व्रत भंग होता है। यह '**पढमंमि**' = पहला '**गुणव्वए**' = चौदह राजलोक में रहे जीव समूह के पीड़ाओं से रक्षण रूप में गुण करने वाला होने से गुण व्रत कहा जाता है। इसमें पूर्व कहे हुए में से कोई अतिचार लगा हो, उसकी मैं निंदा करता हूँ इत्यादि पूर्व के समान जानना।''

अब दूसरे गुणव्रत के दो भेद हैं, एक भोग और दूसरा कर्म। उसमें भोग भी दो प्रकार का है, एक उपभोग और दूसरा परिभोग। उसमें '**उप**' = एक ही बार, '**भोग**' = भोगा जाय वह आहार, पानी, फूल, फल आदि का भोग करना वह उपभोग कहलाता है और '**परि**' = अनेक बार भोगा जाय जैसे मकान, आभूषण, स्त्री आदि का सेवन किया जाय वह 'परिभोग' कहलाता है। इसका प्रतिक्रमण करने के लिए गाथा कहते हैं -

मज्जंमि य मंसंमि य, पुप्फे य फले य गंध मल्ले य।
उवभोगे परिभोगे, बीयंमि गुणव्वए निंदे ॥२०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- "मद्य, मांस में तथा फूल, फल, सुगन्धित पदार्थों एवं पुष्प माला आदि के उपभोग-परिभोग करने में दूसरे गुण व्रत में जो कोई अतिचार लगा हो, उसकी मैं निंदा करता हूँ।"

भावार्थ - "श्रावक को मुख्य रूप में तो निर्जीव और निर्दोष रूप में आहार-पानी से निर्वाह करना चाहिए। वह शक्य न हो तो सचित्त का त्याग करना, वह भी दु:शक्य हो तो पाप वाला सुरापान, अभक्ष्य, अनन्त काय आदि का सम्पूर्ण का त्याग करके, प्रत्येक वनस्पति या मिश्र कुछ सचित्त कुछ अचित्त आदि का भी प्रमाण करना चाहिए। इसके विषय में कहा है कि - '**मज्जंमि**' = मद्य-मदिरा '**मंसंमि**' = मांस में '**य**' (च) शब्द से शेष सर्व बाईस अभक्ष्य, बत्तीस अनन्तकाय वस्तुएं जिनका वर्णन पहले कह गये हैं। उसमें '**पुप्फे**' = महुआ आदि फूल '**य**' = त्रस जीव हों- ऐसे पत्ते साग आदि में '**फले**' = जामुन आदि फल में, यह मद्य-मांस आदि वस्तुओं की राजकार्य आदि कारण से कोई खरीद आदि करता हो उसमें इन नामों से (खान-पान रूप) अन्त भोग कहा है। अब 'बाह्य भोग' कहते हैं (जो शरीर पर उपयोग होता है)- '**गंध मल्ले य**' = गंध- केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ और माल्यं = फूलों की माला पहनने = श्रृंगार आदि में और उपलक्षण से अन्य भी भोग्य वस्तुओं में यहां उपभोग-परिभोग = भीम शब्द से भीम सेन जानना उसी तरह 'उपभोग-परिभोग' का प्रमाण समझना। इस तरह '**बीयंमि गुणव्वए**' = दूसरे गुण व्रत में अनुपयोग आदि से जो अतिक्रमण किया हो, नियम से अतिरिक्त भोग किया हो, उसकी निंदा करता हूँ इत्यादि पूर्व कहे अनुसार जानना।" अब अतिचार के लिए कहते हैं -

सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल दुप्पोलिए य आहारे।
तुच्छो सहि भक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२१॥

अर्थात् - "(१) सचित्त आहार, (२) सचित्त प्रतिबद्ध आहर, (३) अपक्व आहार, (४) दुष्पक्व आहार और (५) तुच्छोवधि भक्षण- इन पांच अतिचार में से जो कोई दिन सम्बन्धी लगा हो उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ - "**सच्चित्ते**' = अर्थात् सजीव-चैतन्य वाले का सर्वथा त्याग करने पर भी अनजाने आदि कारण से उपभोग करने से या अमुक प्रमाण में नियम किया हो उसे भूल जाना अथवा अधिक सचित्त का उपभोग किया हो वह १ - सचित्ताहार नामक अतिचार है। इसी तरह '**पडिबद्धे**' = सचित्त प्रतिबद्ध आहार के भक्षण में अर्थात् जो वस्तु सामान्यतया निर्जीव हो चुकी हो, किन्तु उसका कोई भाग सचित्त के साथ जुड़ा हुआ हो वह सचित्त-प्रतिबद्ध कहलाता है जैसे-वृक्ष का गोंद, बीज सहित पका हुआ फल,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

खिरनी, खजूर आदि फलों के बीज सहित मुख में डाल लेने फिर बीज निकालने से सचित्त त्यागी को २ - **सचित प्रतिबद्धहार** नामक अतिचार लगता है । '**अप्पोल**' = अपक्व, अग्नि आदि से करने पर भी पूर्ण रूप में अचित नहीं हुआ आटा आदि वस्तुओं का भक्षण करने से, ३ - **अपक्वोषधि** भक्षण नाम का अतिचार लगता है । '**दुप्पोलिअं**' = कुछ पका हुआ और कुछ नहीं पका हुआ खाद्य पदार्थ, अच्छी तरह अचित्त नहीं बना पोंक, चने, चावल आदि भक्षण करने से ४ - **दुष्पक्वौषधि भक्षण** नामक अतिचार लगता है, और '**तुच्छो सहि भक्खणया**' = जिसके खाने से तृप्ति न हो वह तुच्छ-असार मूंग, चोले आदि की कोमल फली अथवा जिसमें खाने का भाग बहुत कम हो और फेंक देने का भाग ज्यादा हो वह तुच्छ फल आदि जैसे बेर, सीताफल, गन्ने आदि । इसमें हिंसा बहुत होती है । ऐसी वस्तु भक्षण करने से ५ - '**तुच्छौषधि भक्षण** नामक अतिचार लगता है । इस तरह पांच अतिचार के द्वारा जो कर्म बन्धन हुआ हो उन सबका प्रतिक्रमण पूर्व गाथा के अनुसार ।''

अब भोगोपभोग का वस्तुओं को उपार्जन करने के लिए अंगार कर्म आदि पंद्रह बहुत सावध (पापकारी) कर्मादान हैं, वह तीव्र कर्म बन्धन का कारण भूत होने से 'कर्मादान' कहलाता है, वह श्रावक को जानने योग्य है परन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। फिर भी अनाभोग आदि से जो कोई प्रवृत्ति हो गयी हो उसके प्रतिक्रमण रूप दो गाथा कहते हैं-

इंगाली वण साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव दंत लक्ख रस केस विस विसयं ॥२२॥

एवं खुजंत पीलणं निल्लंछणं च दव दाणं ।
सर दह तलाय सोसं, असई पोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥

अर्थात् - ''(१) अंगार कर्म, (२) वन कर्म, (३) शकट कर्म, (४) भारक कर्म और (५) स्फोटक कर्म- ये पाँच कर्म तथा (६) दंत वाणिज्य, (७) लाख वाणिज्य, (८) रस वाणिज्य, (९) केश वाणिज्य, (१०) विष वाणिज्य- ये पांच विषय के व्यापार तथा (११) यंत्र-पीलन कर्म, (१२) निर्लांच्छन कर्म, (१३) दवदाव कर्म, (१४) जल शोषण कर्म और (१५) असती-पोषण कर्म- ये पांच सामान्य कर्म, इन सबको मिलाकर पंद्रह कर्मादान का त्याग करना चाहिए ।''

भावार्थ - ''इस गाथा के पूर्वार्द्ध में 'कम्म' शब्द है । इससे प्रथम पांच के साथ में कर्म शब्द जोड़ना, उसमें (१) **अंगार कर्म** - जिसमें अग्नि का अधिक काम पड़ता हो- लकड़ी को जलाकर कोयले बनाना, भट्ठी बनाना, ईंट या मिट्टी के बर्तन पकाना,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उपलक्षण से लोहार, कुम्भकार, भड़भूजा, सुनार, ठठेरे आदि का व्यापार करके आजीविका प्राप्त करने वाले अग्नि के ऊपर निर्भर हैं– इसलिए ये सभी अंगार कर्म कहलाते हैं। इस तरह (२) **वन कर्म** – जंगल में कटे हुए या नहीं कटे हुए वृक्ष के पत्ते, फूल, फल, कन्द, मूल, घास, लकड़ी या बाग बगीचे रूप वन कर्म है। (३) **शकट कर्म** – गाड़ी बनाने का कर्म और उसके विविध अंग पहिए आदि स्वयं बनाना, दूसरे से बनवाकर बेचना या बिकवाना इत्यादि व्यवसाय शकटिक काय कहलाता है। (४) **भाटक कर्म** – गाड़ी, बैल, ऊंट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि पर भार लादकर किराया लेना अथवा उन्हें किराये पर देना वह भाड़ा कर्म कहलाता है और (५) **स्फोटक कर्म** = पृथ्वी तथा पत्थर फोड़ने का कार्य करना, सरोवर, कुएं, वावड़ी आदि के लिए जमीन खोदना, खेत वगैरह की भूमि को उखाड़ना, खान खोदकर पत्थर निकालना, उन्हें घड़ना, तोड़ना आदि स्फोट कर्म कहलाता है। ऐसे कर्म करके आजीविका प्राप्त करना वह अनुक्रम से १– अंगार कर्म जीविका, २ – वन कर्म जीविका, ३ – शकट कर्म जीविका, ४ – भाटक कर्म जीविका और ५– स्फोटक कर्म जीविका जानना। अब उत्तरार्द्ध गाथा से महा आरंभ रूप पांच प्रकार के व्यापार कहते हैं–

'वाणिज्ज' = व्यापार **'चेव'** = इसी प्रकार और **'दंत लक्खरस केस विस विसय'** इसमें 'विषय' शब्द सर्वत्र जोड़ना जैसे दंत विषयक, लाख विषयक, केश विषयक और विष विषयक समझना अर्थात् हाथी दांत, उल्लू आदि के नाखून, मोरपंख का व्यापार करके आजीविका प्राप्त करना, उसमें लोग जहां हाथियों को मारकर उसके दांत की हड्डी आदि निकालते हैं वह लेने के लिए उस स्थान पर जाकर दांत आदि खरीदना बेचना वह **(६) दंत वाणिज्य** है। इसी तरह लाख, मनसिल, नील आदि का व्यापार करना **(७) लाख वाणिज्य** है। मद्य, मदिरा, मांस, चर्बी, मक्खन, दूध, दही, घी, तेल आदि का व्यापार करना **(८) रस वाणिज्य है**। दास, दासी आदि मनुष्य तथा गाय, घोड़ा आदि पशुओं का व्यापार करना **(९) केश वाणिज्य** है। सोमल, अफीम आदि विष तथा तलवार, कुल्हाड़ी, अंकुश आदि शस्त्र-अस्त्र का व्यापार वह **(१०) विष वाणिज्य** है। इस प्रकार के व्यापार और कर्म द्वारा सुश्रावक को आजीविका का त्याग करना चाहिए। इस तरह बाईसवीं गाथा का अर्थ जानना। अब तेइसवीं गाथा का अर्थ कहते हैं –

'जंत पीलन' = यंत्र द्वारा पीलना अर्थात् शिला, ऊखल, मूसल, रहेट, चक्की, घाणी, अनाज पीसना-दलना, तेल निकालना, कोल्हू में पीलकर इक्षुरस निकालना इत्यादि **'कम्म'** = कर्म करके आजीविका चलानी **(११) यंत्र पीड़न कर्म है**। **'निल्लंछणं'**= जीवों के अंग या अवयवों का छेदन करने का व्यापार करना जैसे गाय-भैंस का नाक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बींधना, घोड़े को निशान लगाना, अण्डकोष काटना इत्यादि (१२) **निलांछन** कर्म है। **'दवदाणं'** = वन-पर्वत आदि जलाकर आजीविका प्रप्त करना जैसे अच्छा अनाज के लिए खेत में आग लगाना, कुतूहल के लिए वन जलाना (१३) **दवदाव कर्म** है। **'सर दह तलाय सोसं'** = सरोवर, द्रह, नदी, तालाब सुखाना अर्थात् जमीन पर अनाज की बहुत उत्पत्ति के लिए जलाशय से क्यारी या नहर खोदकर पानी खेत में ले जाना, उस सरोवर को सुखा देना, उससे आजीविका चलाना (१४) **शोषण कर्म** है **'च'** और **'असई पोस'** दास-दासी आदि दुराचारियों का पोषण करके उनके दुराचार से कमाई करना, वह (१५) **असती पोषण कर्म** कहलाता है। इस गाथा में **'एवं खु'** इन दो शब्द का सम्बन्ध गाथा के अन्त से है - अर्थात् पूर्वोक्त पंद्रह कर्मादान के सिवाय और भी निर्दयता सूचक पापकारी कर्म-कोतवाल, जेलर, उद्यान पालक आदि अनेक खर कर्म हैं उनकी गिनती नहीं हो सकती है। उनका श्रावक को **'खु'** निश्चयपूर्वक **'वज्जिज्जा'** त्याग करना चाहिए। इन सब पाप कार्यों में अनजाने आदि रूप में जो कर्म बन्धन किया हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। इस तरह दूसरे गुणव्रत में यह भोगोपभोग के साधन रूप पंद्रह पापकर्मों का प्रतिक्रमण कहा।

अब अनर्थ दण्ड विरमण नामक तीसरे गुण व्रत में अनर्थ दंड है। स्व शरीर अथवा अपने स्वजन आदि के लिए करे वह 'अर्थ' = सप्रयोजन है उसके बिना निष्प्रयोजन-निरर्थक करता है वह 'अनर्थ' है। इस तरह पुण्य रूपी धन का नाश होता है और पाप कर्म से लिप्त होता है, दण्डित होता है। जो प्रयोजन रहित प्रवृत्ति होती है उसे **'अनर्थ दण्ड'** कहा है। इसके 'अपध्यान अनाचरित' आदि चार भेद हैं। उसका मुहूर्त्त आदि अमुक काल तक त्याग करे उसे 'अनर्थ दंड विरमण' व्रत कहते हैं। इन चार में (१) अपध्यान अनाचरित और (२) पापोपदेश- इनका स्वरूप पहले कह गये हैं। शेष (३) हिंसक वस्तु का प्रदान तथा (४) प्रमादाचरण- ये दो बड़े पापों का कारण रूप होने से वंदित्तु सूत्रकार स्वयं दो गाथाओं से कहते हैं -

सत्थग्गि मुसल जंत गतण कट्ठे मंतमूल भेसज्जे ।
दिन्ने दव्वाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२४॥

ण्हाणुव्वट्टण वण्णगवि लेवणे सद्द रूव रस गंधे ।
वत्थासण आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्व ॥२५॥

अर्थात् - "शस्त्र, अग्नि, मूसल, चक्की आदि यन्त्र, तृण, काष्ट, मंत्र मूल-जड़ी बूटी और औषधि आदि बिना कारण दूसरों को स्वयं दी हो अथवा दिलवायी हो तो वह दिन सम्बन्धी पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ ।२४॥ तथा स्नान उद्वर्तन-(मैल निकालने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के लिए उबटन आदि पदार्थ शरीर पर लगाना), वर्णक (गाल आदि स्थान पर कस्तूरी या रंग-चित्रकारी करना) विलेपन, शब्द रूप, गंध, रस, वस्त्र, आसन, आभूषण के विषय में दिन सम्बन्धी जो अतिचार लगा हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ - 'सत्थग्गि मुसल' = शस्त्र, अग्नि, मूसल आदि **'जंतग'** = गाड़ी आदि यंत्र, **'तणं'** = तृण घास जिससे बड़ी रस्सी वस्त्र आदि बनते हैं, शण जाति आदि के घास अथवा **'क्षतधा'** आदि में कृमि आदि जीवों का नाश करने वाली घास, बुहारी-झाड़ू आदि, रेंड की लकड़ी आदि काष्ठ, **'मंत'** = जहर उतारने का, वंशीकरण आदि के मंत्र, या **'मूल'** "जड़ी बूटी' नाग दमनी नामक औषधि, बुखार आदि उतारने की जड़ी बूटी, गर्भपात करवाने, पाप कार्य कराने वाला 'मूल कर्म' और **'भेसज्जे'** = अनेक वस्तु मिलाकर बनाई हुई उच्चाटन-संताप, क्लेश आदि कराने वाली औषधि, अनेक जीवों का नाश कराने वाले शस्त्र, अग्नि आदि हिंसक साधन दाक्षिण्यता आदि कारण बिना ही **'दिन्ने'** = स्वयं अन्य किसी को दिया **हो 'वा'** = अथवा **'दवाविए'** = दिलवाया हो तो उस सम्बन्धी जो पाप आज के दिन लगा हो, उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ।" इति हिंसा प्रदान अनर्थ दण्ड।

अब शरीर में **'ण्हाणुवट्टण'** = तेलादि मर्दन पूर्वक करने में यतना नहीं रखने से, त्रस जीवों युक्त जमीन में अथवा सम्यक् प्रकार से जल को छाने बिना स्नान किया हो तथा त्रसादि व्याप्त चूर्ण आदि से शरीर पर मसलना हो, अथवा मसले हुए पदार्थ शरीर पर से उतारने के बाद उस पर राख डालना भूल जाने से और उस पर चींटी आदि समूह लग गया हो और उसको कुत्ता आदि भक्षण किया हो या अन्य का पैर द्वारा कुचला गया हो उससे जीवों का नाश हो जाये, इस तरह जयणापूर्वक उद्वर्तन (मर्दन) आदि करने से **'वन्नग'** = कस्तूरी आदि द्वारा गाल आदि स्थान पर शोभा की जाती है, वह वर्णक कहलाता है एवं **'विलेवणे'** = ग्रीष्म ऋतु में चन्दन, केसर, वरास वगैरह शरीर पर विलेपन होता है। इन दोनों द्रव्यों में उड़कर आ गिरे जीवों की यतना बिना उपयोग में लिया हो **'सद्द'** = कुतूहल से वीणा बांसुरी आदि के शब्द को सुनाया या रात में ऊंचे स्वर से बोला हो जिससे छिपकली आदि दुष्ट जीव जाग जायं और मक्खी आदि जीवों का नाश करे या अन्य जन पापकारी आरंभ करे। इस तरह रात्रि में ऊंचे स्वर में बोला हो कि जिससे **आउज्जीव वण वणित** (ओघनिर्युक्ति-भाष्य गाथा ६०) में - ऊंचे सुनकर आरंभी जन जागकर अपने अपने आरंभ प्रवृत्ति करते हैं। स्त्रियां पानी भरने नदी-कुएं पर जाती है, कोई रहट आदि पानी यंत्र प्रारंभ करते हैं, अनाज पीसना, व्यापारी, किसान, तेली, धोबी, लुहार, मच्छीमार, कसाई, जाल डालने वाला, घातक, चोर, पर स्त्री लंपट, सेना की छावनी डालने वाले आदि जागकर अपना कार्य आरंभ कार्य में प्रवृत्ति करते हैं इत्यादि पापारंभ में निमित्त होने से रात्रि में बड़े आवाज के बोलने से होता है।

तथा **'रूव'** = नाटक, सिनेमा, टी.वी., वीडियो, सरकस आदि में स्त्री आदि का रूप रागपूर्वक देखना अथवा अन्य के पास वर्णन करना **'रस'** = श्रेष्ठ स्वाद वाले मिष्ठान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

साग आदि भी आसक्ति पूर्वक खाना और अन्य के आगे वर्णन भी करना, **'गंध'** = इसी तरह सुगंधित तेल, इत्र उपयोग करना तथा दूसरे को आसक्ति जागृत हो, इस तरह सुगंध की प्रशंसा करना तथा **'वत्थासण आभरणे'** = वस्त्र, आसन, आभूषण आदि राग पूर्वक उपयोग करना और अन्य को आसक्ति की वृद्धि हो इस तरह दूसरों के सामने वर्णन करना। इसी तरह शब्द रूप आदि पांचों इन्द्रिय के विषय में बताया है, इससे उसके सजातीय, सुरापान, विषय सेवन, कषाय, निद्रा और विकथा रूप पाँच प्रकार के प्रमाद को भी समझना अथवा तो आलस-प्रमाद से घी, तेल पानी आदि के पात्र खुले रखना, मार्ग होने पर भी हरी वनस्पति के ऊपर चलना, चलते हुए फल, फूल, पत्ते आदि तोड़ना, निष्ठुरता पूर्वक मार्मिक बोलना, हास्य, निन्दा, विनोद आदि प्रमादाचरित सेवन करने से जो भी पाप कर्म बन्धन हुआ हो, उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ इत्यादि पूर्व गाथा के समान।" अब उसके अतिचार कहते हैं।

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरिअहिगरण भोग इरित्ते ।
दंडमि अणट्ठाए, तइअंमि गुणव्वए निंदे ॥२६॥

अर्थात्- "(१)कन्दर्प (२) कौकुच्य, (३) मौखर्य, (४) संयुक्ताधिकरण और (५)भोगाधिरिक्त, इन पांच अतिचारों अनर्थ दण्ड विरमण तीसरे गुण व्रत में जो अतिचार लगा हो उसकी मैं निन्दा रूप प्रतिक्रमण करता हूँ।

भावार्थ- **'कंदप्पे'**- अर्थात् विषय वासना स्वयं और दूसरों को उत्पन्न हो- इस प्रकार के विकार भरे वचन बोलना, हंसना आदि **'कुक्कुइए'** =कुत् का अर्थ है-कुत्सित अर्थात् बुरी तरह-अनुचित चेष्टा करना, विदूषक या भांड के समान भ्रमर नेत्र, होठ, नाक, हाथ, पैर, मुख आदि की विकार पूर्वक हास्य जनक चेष्टा करना जिससे स्वयं और अन्य को काम विकार अत्पन्न हो। **'मोहरि'**= मूर्खता से बिना सोचे विचारे बोलना, धृष्टता, असभ्यता आदि से अंटसंट बोलना और बिना पूछे बकवास करना, आवश्यकता से अधिक बोलना, ऐसी वाचालता से पापोपदेश हो जाता है। **'अहिगरणं'**= 'अधिकरण'= शब्द से संयुक्ताधिकरण समझाना, जिसके द्वारा आत्मा नरकाआदि दुगति का अधिकारी होता है वह अधिकरण कहलाताहै जैसे ऊखल के पास मूसल रखना, हल के साथ कोश, धनुष्य के साथ बाण, बन्दूक भरकर रखना। अत विवेकी श्रावक को ऐसे अधिकरण संयुक्त नहीं रखने चाहिएं, अपितु अलग-अलग करके रखने चाहिएं संयुक्त पड़े हों तो और कोई मांग बैठे तो उसे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि वह तितर बितर पडे हों तो अनायास इन्कार कर सकते हैं। अलग पड़ा तो वह मांगता ही नहीं है। **'भोग अइरित्त'**= उपभोग परिभोग की वस्तुओं का अधिक संग्रह करना, आवश्यकता से अधिक भोग परिभोग करे- आवश्यक चूर्णि के अनुसार श्रावक घर में अल्प जल से स्नान करे परन्तु ऐसा न कर के तलाब आदि पर स्नान करते समय अधिक मात्रा में तेल, आंवला, साबुन आदि प्रयोग करता है यह सब पापाचरण है। अत: इन पांच अतिचारों से **'दंडमि अणट्ठाए'**= अनर्थ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दंड विरमण नामक **'तइअंमि गुणव्वए निंदे'** तीसरे गुणव्रत के विषय में जो कोई कर्म बन्धन रूप अतिचार लगा हो उसका मैं निंदा रूप प्रतिक्रमण करता हूँ। इत्यादि पूर्व गाथा के समान।''

इस प्रकार तीन गुण व्रतों का प्रतिक्रमण करके अब चार शिक्षा व्रत कहे जाते हैं, उसमें प्रथम 'सामायिक व्रत' कहते हैं। इसका स्वरूप व्रतों के अधिकार में पहले कह दिया है। अब उसके अतिचारों का प्रतिक्रमण कहते हैं :-

तिविहे दुप्पणि हाणे, अणवट्ठाणे तहा सइ विहूणे।
समाइ अं वितह कए, पढमे सिक्ख वए निंदे ॥ २७ ॥

अर्थात्- ''तीन प्रकार का दुष्प्रणिधान (मन, वचन, काया का दुर्ध्यान), अनवस्थान और स्मृति विहीन (उपयोग बिना)- इन पांच अतिचार द्वारा प्रथम शिक्षा व्रत सामायिक में जो दोष लगा हो उसकी मैं निदा करता हूँ।''

भावार्थ- ''सामायिक करते समय ''तिविहे दुप्पणि हाणे ''= मन, वचन और काया- इन तीन को अयोग्य विषय में जोड़ना वह तीन का दुष्प्रणिधान रूप तीन अतिचार हैं। उसमें १. मन से घर दुकान, जमीन, कुटुम्ब, परिवार आदि का पापकारी चिन्तन करना वह मनोदुष्प्रणिधान अतिचार है। २. वचन से पापकारी वचन बोलना जिससे पाप आरंभ हो या राग द्वेष कषायादि उत्पन्न हों ऐसा कठोर वचन बोलना वचन दुष्प्रणिधान है। ३. काया से स्थान पर देखे बिना, प्रमार्जन किये बिना बैठना अथवा शरीर के विभिन्न अवयवों को बारम्बार हिलाते रहना इत्यादि काया दुष्प्रणिधान अतिचार है। ४. **अणवट्ठाणे**-='अनवस्थन'- सामायिक का समय पूर्ण नहीं करना अथवा सामायिक अनादर पूर्वक जैसे तैसे पूरा करना, किन्तु कोई उत्साह या आदर उसके प्रति नहीं रखना इत्यादि, और ५. **'सइ विहूणे'**= स्मृति हीनता- निद्रादि प्रमाद की प्रबलता अथवा मकान, दुकान, आदि की चिन्ता के कारण व्यग्रता से शून्य मन वाला बनकर सामायिक उपयोग भूल जाना। इत्यादि- इन पांच अतिचारों में **'सामाइ अं'** = सामायिक नामक **'पढमे सिक्खावए'**= प्रथम शिक्षा व्रत में जो कोई **'वितह कए'**= विपरीत आचरण किया हो- अतिचार सेवन किया हो, यथा योग्य पालन न किया हो उसकी मैं निंदा करता हूँ इत्यादि पूर्व कहे अनुसार समझना।''

अब देशावकाशिक व्रत कहते हैं- छठे दिक् परिमाण व्रत में जाने आने का नियम ग्रहण करते समय पूर्व में १०० योजन की मर्यादा रखी हो वहां तक हमेशा जाने की आवश्यकता नहीं होती है, उसमें अमुक इष्ट समय तक घर, शय्या, अथवा अमुक स्थान से दूर नहीं जाने का नियम रूप संक्षेप करना वह अथवा पूर्व व्रतों में छूट-खुले रखे को अमुक समय के लिए विशेष संक्षेप करना वह देशावकाशिक दसवां व्रत कहलाता है। उसके पांच अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के लिए कहते हैं:-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अणावणे पेसवणे, सद्द रूवे य पुग्गलक्खेवे ।
देसावगासियंमी, बीए सिक्खावए निंदे ॥ २८ ॥

अर्थात्– ''दूसरे शिक्षा देशावकासिक व्रत में (१) आनयन-प्रयोग (२) प्रेष्य प्रयोग, (३) शब्दानुपात, (४) रूपानुपात और (५) पुद्गल प्रक्षेप रूप जो पांच अतिचार लगे हों उसमें मैं दिन्दा करता हूँ।''

भावार्थ– ''घर उपाश्रय आदि इष्ट स्थान में देशावकाशिक व्रत स्वीकार किया हो 'अमुक भूमि से बाहर नहीं जाने का नियम किया हो,' उस के बाद उस भूमि से दूर-बाहर रही कोई वस्तु अन्य किसी के पास से मंगवाना वह **'आणक्खे'**=(१) आनयन प्रयोग नामक अतिचार है। स्वयं निश्चय किये क्षेत्र के बाहर कार्य करने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जाकर नौकर आदि को भेजना वह **'पेसवणे'**= (२) प्रेष्य प्रयोग अतिचार है। स्वयं जिस मकान में हो उसके बाहर नहीं जाने का नियम ले रखा हो फिर भी बाहर का कार्य आ जाये, स्वयं बाहर नहीं जा सकता, दूसरे को बुला नहीं सकता अतः स्वयं वहां खड़ा होकर बाहर वाले को बुलाने या कोई चीज मंगाने के उद्देश्य से छींकना या खांचना इत्यादि अव्यक्त शब्द करना जिससे दूसरा नजदीक आये। यह (३) **शब्दानुपात** अतिचार लगता है। निश्चय की भूमि में स्वयं स्थिर हो और कोई खोज करने आये तब नियत क्षेत्र से बाहर हो तो स्वयं बाहर निकल कर रूप बताकर 'मैं यहां पर हूँ' ऐसा दिखावे या झरोखा आदि से अपना होना बतावे वह **'रूवे'**= (४) रूपानुपात अतिचार है। इस नियम में रहा हुआ, बाहर स्थान पर नौकर आदि को अपना कार्य स्मरण कराने के लिये 'पुग्गलक्खेवे'= कंकड़, लकड़ी आदि फैंके, जिससे वह संकेत को समझ जाये और पास पर वह कार्य करने से (५) **पुद्गल प्रक्षेप** नाम अतिचार लगता है। इस तरह **'देसावगासियंमी'**= देशावकाशिक नाम के **'दूसरे सिक्खावए'** दूसरे शिक्षा व्रत में लगे अतिचार की निंदा रूप प्रतिक्रमण करता हूँ। इत्यादि पूर्व के समान।''

अब ग्यारहवां पौषधोपवास का स्वरूप कहते हैं– उसमें पोषपुष्टि अर्थात् धर्म का अधिकर होने से धर्म की पुष्टि को ध= धत्ते अर्थात् धारण करे उसे पौषध कहते हैं। अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में अवश्य करने योग्य एक व्रत है, उसमें 'उपवसन्' आत्मा में रहना, निवास करना वह 'पौषधोपवास' है। इसके भेद आदि पहले कह गये हैं। अब यहां अतिचारों का प्रतिक्रमण कहते हैं।

संथारूच्चार विही, पमाय तह चेव भोयणा भोए ।
पोसह विहि विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥२९॥

अर्थात्– ''संथारा और उच्चार– प्रस्रवण-भूमि की प्रति लेखना एवं प्रमार्जन में प्रमाद होने से तथा भोजनादि की चिन्ता द्वारा पौषधो वास नामक तीसरे शिक्षाव्रात में कोई विपरीत आचरण किया हो, अतिचारों का सेवन किया हो उसकी मैं निंदा करता हूँ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावार्थ = 'संथार' = संथारा, कम्बल आदि शयन सामग्री, उपलक्षण से शय्या, वसति, पट्टा आदि और **'उच्चार'** = कहने से मल मूत्र परठने के लिए बारह बारह भूमि स्थान-मांडला, उसकी विधि में प्रमाद अर्थात् शय्या में या संथारा में देखे बिना बैठना, सोना आदि पहला अतिचार। इसी तरह उस संथारा, वसति आदि को रजोहरण-चखले से अच्छी तरह प्रर्माजन बिना या देखे बिना लापरवाही से शीघ्रतापूर्वक उपयोग शून्यता पूर्वक देखे पूछे बिना बैठना आदि अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित दूसरा अतिचार है। इसी तरह पौषध में लघु नीति, बड़ी नीति सम्बन्धी परठने के स्थान पर आखों से अच्छी तरह देख-भाल बिना, यतना रहित परिष्ठान करे- यह तीसरा अतिचार है। इसी ही तरह उन्हीं स्थानों को प्रमार्जन बिना या जैसे-तैसे प्रमार्जन प्रतिलेखना करे वह चौथा अतिचार है। इस विषय में पुनः **'तह चेव'** = जिस तरह से संथारा में उच्चारणादि में चार अतिचार जैसे प्रमाद से होते हैं वैसे **'भोयणाभोए'** = अनाभोग होने से, १उपयोग शून्यतापूर्वक करने से अथवा भूल जाने से भी होते हैं और 'पोसह विहि विवरीए' = पौषध की विधि में विपरीत करने से- यथार्थ पालन नहीं करने से पांचवां अतिचार लगता है। जैसे कि - भूख आदि की पीड़ा से "पौषध पूर्ण होते ही कल अपने लिए अमुक आहार करवाऊँगा।" इत्यादि दुष्ट ध्यान रूप अविधि करना, वह पांचवा अतिचार है। अथवा **'भोयणा भोय'** यह पाठान्तर है। उसमें भोजन + आभोग अर्थात उपभोग तथा उप लक्षण से स्नानादि शरीर सत्कार का ध्यान करना और आभोग-उपभोग से अर्थात् 'कब पौषध पूर्ण हो कि जिससे मैं भोजन आदि करूँ' इत्यादि तत्परतादि का ध्यान करने से पांचवां अतिचार है। इन पांच अतिचार द्वारा पौषध विधि में विपरीत वर्तन करने से **'तइए सिक्खावए निंदे'** = तीसरे शिक्षाव्रत में जो कुछ कर्म बन्धन हुआ हो उसकी निदा करता हूँ। इस तरह सम्बन्ध जोड़ना। इत्यादि पूर्व गाथा के समान।"

अब चौथा 'अतिथि संविभाग' नामक शिक्षा व्रत कहते हैं। उसमें 'तिथि पर्व आदि लौकिक व्यवहार नियत न हो, जिसका कोई उत्सव आदि न हो ऐसे आहारादि के लिए पधारे हुए साधु श्रावक के लिए अतिथि कहलाते हैं। उनको **'स'** = निर्दोष-सम्यग् और **'विभाग'** = भू दोष रहित अपने लिए तैयार किए आहार में से अमुक अंश (विभाग) साधु को देना अतिथि संविभाग कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह आहार पानी आदि देने योग्य वस्तु न्यायोपार्जित हो, निर्जीव या प्रासुक् हो, दोष रहित साधु के लिए कल्पनीय हो- ऐसा आहार पानी आदि मैं पूर्व कर्म, पश्चात् कर्मादि दोष न लगे इस तरह देश, काल, श्रद्धा-सत्कार, क्रमपूर्वक, उत्तम भक्ति भावों से युक्त होकर आत्मोपकार की बुद्धि से संयमी मुनि को अमुक अंश-विभाग में देना वह 'अतिथि संविभाग' कहलाता है। इसमें विधि इस तरह है कि - श्रावक को पौषध पूर्ण करके साधु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का योग हो तो अवश्य अतिथि संविभाग करके पारणा करना चाहिए। अन्य दिनों में ऐसा नियम नहीं है। उपदेश माला ग्रन्थ में कहा है कि -

पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पण मि ऊण पारेइ।
असईं अ सुविहि आणं, भुंजेइ कय दिसा लोओ ॥२३८॥

अर्थात - "श्रावक प्रथम साधु को वंदन कर स्वयं आहार देकर फिर पच्चक्खान पारे। यदि सुविहित साधु न हो तो दिशावलोकन करके 'गुरु महाराज का योग मिले तो कृतार्थ हो जाऊँ' इस तरह भावपूर्वक चिन्तन करते भोजन करे।" इस व्रत में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण कहते हैं-

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस मच्छरे चेव।
कालाइक्कम दाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे ॥३०॥

अर्थात् - "(१) सचित्त निक्षेपण, (२) सचित्त पिधान, (३) पर व्यपदेश, (४) मात्सर्य और (५) कालातिक्रम दान- इन पांच अतिचारों में चौथे शिक्षाव्रत में जो अतिचार लगा हो उसकी मैं निंदा रूप प्रतिक्रमण करता हूँ।"

भावार्थ - "मुनिराज के दान देने योग्य आहारादि वस्तु नहीं देने की बुद्धि से, अतिक्रम-व्यतिक्रमादि द्वारा अनुपयोगादि होने से "**सच्चित्ते**' = सजीव पृथ्वीकाय पानी आदि ऊपर '**निक्खिवणो**' रख से (१) **सचित्त निक्षेपण** अतिचार लगता है। तथा देने के योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु द्वारा '**पिहिणे**' ढकने से (२) **सच्चित्त पिधान** अतिचार है। दान देने योग्य वस्तु नहीं देने की भावना से बहाना बनाकर टरका देना कि - 'गुरुदेव! यह खाद्य पदार्थ दूसरे का है' अथवा दूसरों की वस्तु को दान देने की बुद्धि से अपना कहना वह- '**ववएस**' = व्यपदेश करने से (३) **पर व्यपदेश** अतिचार है। '**मच्छर**' क्या मैं उससे कम हूँ कि यह देता है मैं नहीं दे देता सकता ? आदि दूसरे दाता के प्रति मत्सर (ईर्षा) रखकर देना (४) **मत्सर** अतिचार है। और देना न पड़े इस बुद्धि से साधु को आहार के समय से पहले अथवा बाद में समय जाने के बाद निमंत्रण देना कि जिससे साधु न आ सके और दान की भावना बता सके, इस बुद्धि से काल को बिताकर विनती करना (५) **कालातिक्रम** अतिचार है। इन पांच अतिचारों द्वारा '**चउत्थे सिक्खावए**'= चौथे शिक्षाव्रत में जो कोई अयोग्य वर्तन किया हो उसकी निंदा करता हूँ आदि पूर्व के समान।" अब राग द्वेष आदि के कारण से दान दिया हो उसका प्रतिक्रमण कहते हैं -

सुहिएसु य दुहिएसु य जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - ''यदि मुझसे सुहित, दुःखित और अस्वयत साधुओं की भक्ति राग अथवा द्वेष बुद्धि से हुई हो तो उसकी मैं निंदा करता हूँ और गर्हा करता हूँ।''

भावार्थ - ''इस गाथा में **सुहिएसु, दुहिएसु** और **अस्संजएसु**, ये तीन विशेषण हैं, परन्तु विशेष्य साधु पद नहीं कहा, लेकिन अतिथि संविभाग व्रत का अधिकार चालू होने से वह विशेष्य यहां अध्याहार से ग्रहण करना चाहिए। इसमें उन साधुओं के विषय में कहते हैं कि जो '**सुहिएसु**' = सु + हितेषु अर्थात् सुन्दर हित वाले यानी ज्ञान, दर्शन और चारित्र- ये रत्नत्रयी रूप सुन्दर हित हैं वे सुहित तथा '**दुहिएसु**' = **दुःखितेषु** रोग से अथवा तपस्यादि से अस्वस्थ अथवा वस्त्र पात्रादि यथा योग्य उपधि-संयम सामग्री से विहीन (अल्प मात्र) होने से दुःखी साधुओं में तथा '**अस्संजएसु**' = अ + स्वं + यतेषु अर्थात् '**स्व**' - स्वयं = स्व इच्छा अनुसार '**यत्**' = चारित्र पालने वाले '**अ**'= नहीं है अर्थात् जो स्वछंदता प्रवृत्ति नहीं करते -गुरु की आज्ञा अनुसार विचरने वाले साधुओं में '**जा मे अणु-कम्पा**' = मैंने जो भक्ति को हो, यहां अणुकम्पा शब्द भक्ति सूचक समझना। ओघ निर्युक्ति भाष्य में कहा है कि-

आयरि अणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिअ महाभागो।
गच्छाणुकंपणाइ, अव्वुच्छित्ती कया तित्थे ॥१२७॥

अर्थात् - ''आचार्य की अनुकम्पा (भक्ति) करने से महा भाग्यशाली सम्पूर्ण गच्छ की अनुकम्पा (भक्ति) करता है ऐसा जानना और गच्छ की अनुकम्पा से जिन शासन रूप तीर्थ (धर्म) विच्छेद (नाश) होने से रोकता है।''

अपनी आत्मा का उद्धार करने वाले और वर्तमान शासन के मालिक आचार्य और उनकी आज्ञा में चलने वाले पूज्य निर्ग्रन्थ मुनिराज अपनी दया के पात्र नहीं होते, परन्तु भक्ति के पात्र ही होते हैं। इस श्लोक में अनुकम्पा शब्द का उपयोग किया है वह भक्तिवाचक रूप किया है। वह भक्ति किस तरह करना ? '**रागेण**' = गुणानुराग से नहीं अर्थात् यह मेरा साधु सम्बन्धी है, मित्र, परिचित है, पुत्रादि के प्रति स्नेह राग के वश होकर भक्ति की हो तथा '**दोसेण**' = निंदा रूप द्वेष से जैसे- 'इन साधुओं ने पूर्व में दान नहीं दिया, धन धान्यादि रहित दरिद्री है, सर्व अंगों पर पूर्ण रूप में मैल लगा है, बिचारों को ज्ञातिजनों ने छोड़ दिया है, भूख से पीड़ित है, आहारादि प्राप्ति करने में सर्वथा उपाय रहित है, अशरण है, इसलिए मुझे कुछ आलम्बन (सहायता) देना चाहिए', इत्यादि द्वेषपूर्वक निंदा से भक्ति करना अनुचित है, क्योंकि उत्तम साधुओं को इस प्रकार निंदा पूर्वक दया करके दान देने से दुर्गति का लम्बा आयुष्य बन्धन होता है। आगम में कहा है कि -

''तहा रूवं समणं वा माहणं वा माहणं वा संजय विरय पडिहय पच्चक्खाय पाव कम्मं होलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता अमणुन्नेणं अपाई

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कारणेणं अपाइ कारणेणं असण पाण खाइम साइमेणं पडिलामित्ता असुहदीहाउय त्ताए कम्मं पकरेइ॥'' अर्थात् इस प्रकार उत्तम श्रमण अथवा माहण या पाप से रहित संयमी, विरत, पाप कर्म प्रतिहत पच्चक्खान करने वाले साधुओं की हीनता करके, निंदा करके, घृणा करके, गर्हा करके तथा अपमान करके, असुन्दर एवं प्रीति रहित अशन, पान, खादिम या स्वादिम द्वारा बहोराता है तो जीव दीर्घकाल का अशुभ आयुष्य कर्म उपार्जन करता है ।

अथवा इस गाथा का दूसरा अर्थ इस प्रकार है - **'सुहिएसु'** = सुख का अनुभव करते सुखी अथवा **'दुहिएसु'** = दुःखी, **'असंयतेसु'** = पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि असंयमी-शिथिलाचारी साधुओं में मैंने यदि भक्ति राग से अथवा द्वेष ''**दग पाणं पुप्फ फलं अणेसणिज्जं गिहत्थ किच्चाइं। अजया पडिसेवंति, जइवेस विडं बगा नवरं॥** उपदेश माला गा० ३४६॥'' अर्थात् - 'जो असंयमी सचित्त पानी पीते हैं, पुष्प या फल आदि खाते हैं, आधा कर्म दोष वाले आहार पानी आदि का उपयोग करते हैं एवं गृहस्थों के सावध-पाप कार्यों को करते हैं, इस तरह प्रतिकूल आचरण को करने वाले केवल साधु वेश की निंदा करने वाले हैं, अल्प मात्र भी परमार्थ की साधना नहीं है ।'' इत्यादि दोष देखने से ईर्ष्यापूर्वक किया हो ऐसा समझना ।

इस गाथा का तीसरा अर्थ - **'असंयत'** = छः काय जीवों की विराधना करने वाले कुलिंगी विधर्मी को **'रागेण'** = इस साधु ने मेरा गांव में जन्म लिया, मेरे सम्बन्धी है, कुलीन या प्रतिष्ठित है, इत्यादि राग के वश होकर प्रीतिपूर्वक तथा **'द्वेषेण'** = यह साधु कंगाल है, निर्लज्ज होकर बार बार आता है, जिन शासन का शत्रु है- कुछ देकर जल्दी निकाल दो इस तरह घृणा अप्रीतिपूर्वक भक्ति करना । इस तरह तीनों अर्थ के अनुसार मैंने जो कोई अयोग्य दान किया हो **'तं निंदे तं च गरिहामि'** = उसकी मैं निंदा करता हूँ, उसकी गर्हा करता हूँ , इत्यादि पूर्व कहे अनुसार । यहां उन कुलिंगी या पासत्थादि असंयत को भी औचित्य से दिया हुआ दान निन्दनीय नहीं है । क्योंकि श्री जिनेश्वर देव ने वार्षिक दान द्वारा उचित दान देने का अनुकरणीय बताया है ।'' अब साधु को देने योग्य सामग्री होने पर भी नहीं दे, उसका प्रतिक्रमण करते हैं कि-

साहु सु संविभागो, न कओ तव चरण करण जुत्तेसु ।
संते फासुय दाणे, त निंदे, त च गरिहामि ॥३२॥

अर्थात् - ''साधु को देने योग्य आहारादि प्रासुक् दान होने पर, तप-चरण-करण युक्त सुसाधुओं का मैंने अतिथि सत्कार नहीं किया हो तो उससे लगे हुए प्रमादाचरण जन्य अतिचारों की मैं निंदा करता हूँ एवं गुरु महाराज के समक्ष गर्हा (स्वीकार) करता हूँ ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावार्थ - ''साधु सदा के लिए तप, चरित्र और क्रिया से युक्त होते हैं । उनमें बारह प्रकार का तप, चरण अर्थात् चरण सत्तरी के ७० प्रकार के चारित्रशील, और करण अर्थात् करण सत्तरी के ७० प्रकार के क्रियापात्र आदि गुणों से युक्त साधु होते हैं **'फासुय दाणे'**= ऐसे साधु को दान देने योग्य वस्तुएं **'सन्ते'** उपस्थित होते हुए भी **'तव चरण करण जत्तसु'** = तप-चरण-करण के गुणों से युक्त **'साहूसु'** = सुसाधु को **'संविभागो न कओ'**= संविभाग न किया, अर्थात् उनको दान न दिया हो तो, **'तं निदे तं च गरिहामि'**= उस दुष्कृत्य की मैं निंदा और गर्हा करता हूँ इत्यादि पूर्ववत् । यहाँ चरण चित्तरी में बारह प्रकार का तप आ गया है, फिर भी इस गाथा में **'तव'** पद अलग से आया है, वह कारण से अलग बतलाया है, इस तप में निकाचित कर्मा को नष्ट करने की समर्थता है- ऐसी मुख्यता बताने के लिए अलग कहा है ।'' अब संलेखना के अतिचारों का परिहार करने के लिए कहते हैं -

इह लोए पर लोए, जीविय मरणे य आसंसप ओगे ।
पंच विहो अइयारो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ॥३३॥

अर्थात् - ''(१) इस लोक में आशंसा प्रयोग, (२) पर लोक में आशंसा प्रयोग, (३) जीवन में आसक्ति, (४) मरणशंसा प्रयोग, (५) **'अ'** = च शब्द से काम भोग आशंसा प्रयोग- ये पांच प्रकार के अतिचार मुझे मरण के अन्तिम समय तक न होवें ।''

भावार्थ - ''यहां **'आसंसपओग'** पद प्रत्येक स्थान पर जोड़ना । यहां प्रतिक्रमण करने वाले को कहा है कि -**'इह लोए'** = इस मनुष्य लोग में **'आसंसा'** = अभिलाषा अर्थात् मैं राजा बनूँ, सुखी-सौभाग्य परिवारादि इच्छा रखने का **'पओग'** = व्यापार करना वह **१. इहलोक अशंसा प्रयोग अतिचार** है । **'पर लोए'** = अन्य जन्म में देव लोक में जन्म लूँ, देव या इन्द्र आदि महाऋद्धि वाला बन जाऊँ तो अच्छा है इत्यादि इच्छा करना वह **२. परलोक आशंसा प्रयोग** अतिचार है । तथा कोई अनशन करे, तब बहुत नगर जन बड़ा उत्सव करे, बहुत मनुष्य वंदन करे, उनको हर्ष पूर्वक वंदन करते देखकर अनेक विवेकी लोगों के सत्कार भरे प्रशंसा के वचन सुनकर, उत्तम धर्मी जन बारम्बार पास में आकर उत्साह बढाने वाले वचन कहे वह सुनकर और निष्पाप समस्त श्री संघ की सभा में उसके निमित्त में सिद्धान्त-शास्त्र पढ़ना प्रारंभ होने से तथा वस्त्र-पुष्प आदि से अपना सत्कार इत्यादि देखकर अपने मन में ऐसा विचार करे कि -'यद्यपि मैंने अनशन स्वीकार किया है फिर भी मेरा आयुष्य दीर्घ हो तो अच्छा है, जिससे मेरी इस तरह मान-प्रतिष्ठा आदि सम्मान बना रहे,' इस तरह **'जीवियं'** = लम्बी जीने की आशा करना वह **(३) जीविताशंसा प्रयोग** अतिचार है । तथा कोई आत्मा जहाँ गरमी ठंडी आदि दुःसह परीषह हों- ऐसे कठोर प्रदेश में अनशन स्वीकार करे और पूर्वोक्त कहे अनुसार पूजा,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सम्मान, महोत्सव आदि न हो अथवा तो भूख प्यास आदि से पीड़ित होकर विचार करे– 'अभी मेरी मृत्यु नहीं हुई कब मरूँगा ? जल्दी मृत्यु हो जाय तो अच्छा है' इस तरह दुःख से घबड़ाकर **'मरणे'** = मरने की इच्छा करना वह (४) **'मरणाशंसा प्रयोग** अतिचार है । तथा शब्द व रूप– ये दोनों काम कहलाते हैं और गन्ध, रस तथा स्पर्श– ये तीनों भोग कहलाते हैं । काम–भोग रूप पांचों विषयों की इच्छा करना, जैसे कि – 'मेरी इस तपस्या के प्रभाव से अगले जन्म में दिव्य काम भोगादि प्राप्त हो अथवा सौभाग्यादि की प्राप्ति हो तो अच्छा है' इत्यादि **'आसंसपओग' = काम भोगाशंसा प्रयोग** अतिचार लगता है । ये **'पंचविहो अइआरो'** पांच प्रकार की अतिचारों की आकांक्षाएं, **'मा मंज्झ हुज्ज मरणंत'** मुझे मरण समय के अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक भी नहीं होनी चाहिएं ।''

अब सर्व अतिचार तीन योग से प्रतिक्रमण कहते हैं –

काएण काइयस्सा, पडिक्कमे वाइयस्स वायाए ।
मणसा माणसियस्सा, सव्वस्स वयाइ यारस्स ॥३४॥

अर्थात् – ''काया की अशुभ प्रवृत्ति को शुभ काया योग से, वचन की अशुभ प्रवृत्ति को शुभ वचन योग से, मन की अशुभ प्रवृत्ति को शुभ मनोयोग से, इस तरह सर्व व्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ ।''

भावार्थ – **''काएणं'** = काया से जीव हिंसा वध बंधनादि करने वाली, पापकारी काया के द्वारा लगे हुए अतिचार को **'काइयस्स'** काया योग से निवृत्त होता हूँ अर्थात् तप काउस्सग्ग आदि धर्मानुष्ठान कारक काया के द्वारा **'पडिक्कमे'** प्रतिक्रमण करता हूँ । **'वाइयस्स'** = सहसा अर्थात् विचार किये बिना किसी को अचानक झूठा कलंक देना 'तू चोर है, लंपट है' इत्यादि दुष्ट वचनों के द्वारा लगे अतिचारों को **'वायाए'** = वचन योग से अर्थात् 'मिच्छामि दुक्कड' वचन द्वारा बोलकर प्रतिक्रमण करता हूँ । तथा **'माणसियस्सा'** = देवगुरु धर्म में अथवा जीव अजीव आदि श्री जिन कथित तत्वों में शंकादि से मन मलिन करना वह मानसिक अतिचार है। इससे सातवें नरक के योग्य उपार्जित किये कर्म को **'मणसा'** मन द्वारा निंदा करते 'हा! मैंने गलत विचार किया, दुष्ट चिन्तन किया' इत्यादि मन द्वारा आत्मनिंदा रूप प्रतिक्रमण करता हूँ । इस तरह **'सव्वस्स वयाइ यारस्स'** सभी व्रतों के अतिचारों का मैं तीन योग से प्रतिक्रमण करता हूँ । यहां सामान्य से तीन योग का प्रतिक्रमण कहा है ।'' अब इन तीन योग के ही अलग अलग विषय से विशेष प्रतिक्रमण के लिए कहते हैं ।

वंदण वय सिक्खा गारवेसु सन्नकसाय दंडेसु ।
गुत्तीसु समिईसु य, जो अइयारो तयं निंदे ॥३५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – "वंदन, व्रत, शिक्षा, गारव, संज्ञा, कषाय, दण्ड, गुप्ति और समिति- इन सब विषयों में जो कोई अतिचार लगा हो उन सबकी मैं निंदा करता हूँ।"

भावार्थ – "**वंदण**' = वंदन दो प्रकार का– चैत्य वंदन और गुरुवंदन '**वय**' = स्थूल प्राणातिपात विरमण आदि श्रावक के बारह व्रत, अथवा पौरसी आदि पच्चक्खान रूप नियम '**सिक्खा**' = ग्रहण और आसेवन, दो प्रकार की शिक्षा। उसमें सामायिक आदि मूल सूत्र तथा अर्थ पढ़ना वह 'ग्रहण शिक्षा' है। कहा है कि-

"**सावगस्स जहन्नेणं अट्ठप्पवयण मायाओ, उक्कोसेणं छज्जीवणिया सुत्तओ वि अत्थओ वि, पिंडे सणज्झयण न सुत्तओ, अत्थओ पुण उल्लावेणं सुणइ ति**" अर्थात् – श्रावक को जघन्य से अष्ट प्रवचन माता से लेकर उत्कृष्ट छः जीवनिकाय अध्ययन (श्री दशवैकालिक सूत्र चौथा अध्ययन) तक मूल सूत्र और अर्थ पढ़ने का अधिकार है, 'पिंडेषणा' पांचवां अध्ययन आदि पढ़ना नहीं कल्पता, परन्तु श्री गुरु मुख से व्याख्यानादि सूत्र आलापक सहित अर्थ से सुनना कल्पता है। इस तरह ज्ञान पढ़ना वह 'ग्रहण' शिक्षा है और नवकार महामन्त्र के स्मरणपूर्वक जागना इत्यादि अर्थात् जागे वहां से लेकर सोये वहां तक श्रावक के लिए श्री पंचाशक आदि शास्त्रों के कथनानुसार दिनचर्या रात्रिचर्या का विधिपूर्वक आचरण करना वह '**आसेवन**' शिक्षा है। शिक्षा अर्थात् बार बार करण रूप अभ्यास।

'**गारव**' = अर्थात् जातिमद आदि आठ मद--गर्व अथवा रस-ऋद्धि शाता गारव ये सब कर्मबन्धन के कारण हैं तथा '**सन्ना**' = आहार-भय-मैथुन और परिग्रह– ये चार संज्ञा अथवा उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ और लोक– ये छह मिलाकर दस संज्ञा कहलाती हैं। इन दस में से लोक संज्ञा को निकालकर सुख, दुःख, मोह, वितिगिच्छा, शोक और धर्म– इन छः को मिलाने से पंद्रह संज्ञा, अगर उसमें लोकसंज्ञा को भी मिलायें तो ये सोलह संज्ञा होती हैं। तथा '**कषाय**' = जिससे 'कष' अर्थात् संसार और 'आय'= का अर्थ लाभ हो अर्थात् संसार बढ़ने का लाभ हो उसे कषाय कहते हैं। इस कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ– चार भेद हैं। यह कषाय संसार का मूल कारण है। '**दण्ड**'= जिसके द्वारा जीव धर्म धन के अपहरण से दण्डित हो वह दण्ड कहलाता है वह दुष्ट मन दण्ड, वचन दण्ड, काया दण्ड रूप अशुभ योग है। यही तीन दण्ड अथवा माया शल्य, निधान शल्य और मिथ्यात्व शल्य को भी तीन दण्ड गिना जाता है। तथा '**गुत्तीसु**'= अशुभ योग के निरोध रूप तीन गुप्ति अर्थात् अशुभ चिन्तन से मन को रोकना वह मनोगुप्ति है, पापकारी वचन नहीं बोलना अथवा सर्वथा मौन रहना वह वचन गुप्ति है और काया को सावध (पापकारी) व्यापार से रोकना वह कायागुप्ति है। '**समिईसु**' ईर्या समिति आदि पांच समितियां प्रसिद्ध हैं 'सम' यानी सम्यक् प्रकार से और 'इति' अर्थात् गति या प्रवृत्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समिति कहलाती है और '**य**' (च) शब्द से दर्शन प्रतिमा आदि श्रावक की ११ प्रतिमा रूप अभिग्रह इत्यादि समस्त प्रकार के धर्म कार्यो में जिसका निषेध है उसे किया हो, करने योग्य नहीं किया हो तथा '**जो अइयारो तयं निदे**' = जो भी अतिचार लगा हो उसकी निंदा रूप प्रतिक्रमण करता हूँ। इस तरह भिन्न भिन्न अनुष्ठानों में जो अतिचार लगा उसका प्रतिक्रमण किया।'' अब सम्यग्दर्शन की महिमा कहते हैं -

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हू पावं समायरइ किंचि ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धं धंम कुणइ ॥३६॥

अर्थात् - ''सम्यग्दृष्टि जीवात्मा यद्यपि पापमय-प्रवृत्ति को करता है, तो भी उसे कर्मबन्ध अल्प होता है, क्योंकि वह पाप उसको कठोर परिणाम पूर्वक नहीं करता है।''

भावार्थ - ''**सम्मद्दिट्ठी**' इसमें '**सम्म**' = सम्यग् अर्थात् विपरीत रहित '**दिट्ठी**'= दृष्टि-ज्ञान वाला '**जीवो**' = जीव समकित दृष्टि कहलाता है '**जइ वि**' वह जो कि अपने निर्वाहादि के लिए '**किंचि**' = अल्प मात्र '**पावं**' पाप व्यापार को अवश्य '**समायरइ**'= आचरण करता है, '**हू**' = तो भी मिथ्यात्व गुण स्थानक की अपेक्षा कर्म बन्धन '**अप्पो**'= बहुत अल्पमात्र, '**सि**' = उस श्रावक को '**होइ बन्धो**' ज्ञानावरणीयादि आदि कर्मों का बन्धन होता है। '**जेण न निद्धं धसं कुणइ**' = क्योंकि श्रावक जीवन में जीव दया का मुख्य स्थान होता है, सर्व कार्य यतानपूर्वक रहता है, वह इसमें खराब-निर्दयता या कठोर परिणामपूर्वक आरंभ नहीं करता। पशु वध हो, ऐसा व्यापार करने वाले चारुदत्त का यहां दृष्टान्त जानना। अर्थात् समकितधारी कोई उपाय न हो तब पाप करता है, इससे अल्प मात्र कर्मबन्धन होता है।''

यहां प्रश्न करते हैं कि - समकित दृष्टि जीव को अल्प पाप बंधन वाला कहा है, परन्तु विष अल्प होने पर भी मारता है वैसे ही वह अल्प पाप भी संसार भ्रमण का ही हेतु रूप है, वह प्रतिक्रमण से कैसे रुक सकता है ? अल्प पाप भी हमेशा करने से बहुत सारा प्रमाण में हो जाता है। इस शंका का समाधान करते हैं कि -

तं पि हु सप्पडिक्कमणं, सप्परियावं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेई, वाहिंव्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥३७॥

अर्थात् - ''जैसे सुशिक्षित वैद्य व्याधि को शीघ्र शान्त करता है वैसे ही सम्यग् दृष्टि जीव उस अल्प कर्मबन्धन का भी प्रतिक्रमण द्वारा, पश्चात्ताप द्वारा और प्रायश्चित्त द्वारा शीघ्र नाश कर देता है।''

भावार्थ - ''**तं पि**' = सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रथम मंद परिणाम से और यतना आदि से बहुत अल्प पाप बन्धन करता है और उस अल्प पाप को '**सप्पडिक्कमण**' = छः

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आवश्यक रूप प्रतिक्रमण विधि पूर्वक करने से, इसके अतिरिक्त **'सप्परियावं'** = पश्चात्ताप सहित अर्थात् हा ! मैंने यह पाप किया है, हा ! मेरे से विपरीत आचरण हो गया है, वह युक्त नहीं है इत्यादि संताप-पश्चात्ताप करने से यहां **'प्परियाव'** में **'प्प'** प्राकृत के **'आर्ष'** नियम से डबल है। **'उत्तर गुण'** = उसे गुरु महाराज के सामने प्रकाशित कर उसे निवारण करने का उपाय पूछता है, इसस गुरुदेव उसके योग्य प्रायश्चित्त देते हैं। उस प्रायश्चित्त को उत्तर गुण कहते हैं। उस प्रायश्चित्त को करने से **'खिप्पं उवसामेइ'** = जल्दी उपशान्त कर देता है अर्थात् अल्प बन्धन वाले पाप को प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त आदि से निर्बल बना देता है, अथवा मूल से भी क्षय करते हैं। यहां **'हुँ'** जकारपूर्वक (भारपूर्वक) कहते हैं, किस तरह ? **'वाहिं वि सुसिक्खिओ विज्जो'** = सुशिक्षित अर्थात् रोग निदान की चिकित्सा करने में कुशल वैद्यराज जैसे व्याधियों को शान्त अथवा क्षय करते हैं वैसे सुश्रावक उपशम करते हैं।'' दूसरा मंत्रवादी का दृष्टांत देकर समझाते हैं कि-

जहा विसं कुट्ठ गयं, मंत मूल विसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं तो तं हवइ निव्विसं ॥३८॥

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग दोस समज्जियं ।
आलोयंतो य निदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ॥३९॥

अर्थात् - ''जैसे पेट में गये हुए जहर को मंत्र और जड़ी-बूटी के जानकार वैद्य मंत्रों से उतारते हैं और उससे वह विषरहित हो जाता है वैसे ही सुश्रावक भी प्रतिक्रमण से अल्प पाप से मुक्त होता है। ३८॥ इस तरह किए हुए अपने पापों की आलोचना तथा निन्दा करता हुआ राग और द्वेष से उपार्जित आठ प्रकार के कर्म को शीघ्रता से नष्ट करता है। ३९॥''

भावार्थ - **''जहा विसं कुट्ठ गयं'** = जैसे विष किसी के पेट में जाकर शरीर में फैल गया हो उसे **'मंत मूल विसारया विज्जा'** = मंत्र तंत्रादि के विशारद गुरु निपुण वैद्य मंत्रवादी आदि **'मंतेहिं तं हणंति'** = मंत्र, जड़ी, बूटी, तंत्र आदि से जहर नष्ट कर देते हैं। **'तो हवइ निविव्स्सं'** = इससे सम्पूर्ण शरीर विष रहित होता है, वैसे ही सम्यग् दृष्टि का अल्प पाप बन्धन रूप विष भी मन्त्रादि के समान प्रतिक्रमण आदि से उतर जाता है अर्थात् जिसको जहर चढ़ा हो वह मनुष्य मन्त्राक्षरों का अर्थ कुछ भी नहीं जानता, स्वयं उच्चारण भी नहीं करता है, केवल मंत्राक्षरों को सुनता है फिर भी उसका जहर जैसे उतर जाता है, वैसे ही गणधर भगवन्त रचित मन्त्राक्षर समान प्रतिक्रमण सूत्र के भावार्थ का नहीं जानकार श्रावक भी अल्प पाप रूपी विष का नाश करता है, जिस तरह मणि, मन्त्र, औषधियों का अचिन्त्य प्रभाव है, वैसे ही श्रद्धापूर्वक केवल प्रतिक्रमण श्रवण करने से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उसके प्रभाव से सभी कर्मों का नाश होता है । ३८॥ इसी बात को कहते हैं कि -'**एवं**'= इस प्रकार से '**राग दोष समज्जियं अट्ठ विहं कम्मं**' = राग द्वेष से उपार्जित आठ प्रकार के कर्मों को '**आलायं तो अ निंदं तो सुसावओ खिप्पं हणइ**' = गुरुदेव के पास आलोचना करता हुआ और आत्म साक्षी से निंदा (पश्चात्ताप) करता हुआ सुश्रावक जल्दी नाश कर देता है '**सुसावओ**' में '**सु**' शब्द (पूजार्थ) प्रशंसा वाचक है और जो पूर्व में कह गये हैं वह '**कयवय कम्मो**' आदि छह स्थान लक्षण वाला भाववाचक रूप सूचक है अर्थात् (१) जो व्रतधारी हो, (२) शील पालन करने वाला हो, (३) गुण ग्रहण करने वाला हो, (४) माया रहित सरल व्यवहार वाला हो, (५) गुरु की सेवा सुश्रुषा करने वाला हो और (६) गुरु मुख से सुने तत्व सिद्धान्त को कहने समझाने में कुशल हो, वही निश्चय रूप में भाव श्रावक जानना । अर्थात् इन छः गुण वाला भाव श्रावक ही पाप की आलोचना और निंदा से कर्मक्षय करता है । ३९॥'' इसी बात को स्पष्ट विस्तृत समझाते हैं -

कय पावो वि मणुस्सो, आलोइय निंदिओ गुरु सगासे।
होइ अइरे गलहुओ, ओहरिय भरूव्व भारवहो ॥४०॥

अर्थात् - ''जिस तरह भारवाहक मजदूर बोझा उतार देने से हलका हो जाता है, वैसे ही पाप करने वाला मनुष्य भी गुरु के समक्ष अपने पापों की आलोचना करके आत्मा साक्षी निंदा करने से पाप भार से हलका होता है ।''

भावार्थ - '**कय पावो वि मणुस्सो**' = जीव वधादि पाप करने वाला मनुष्य ही, किन्तु तिर्यंच देव और नरक के जीव नहीं, क्योंकि वे जीव पाप का प्रतिक्रमण नहीं कर सकते अतः प्रतिक्रमण करने की योग्यता मनुष्य में ही होती है । '**आलोइय निंदिओ**'= बड़ी अच्छी तरह से विधिपूर्वक आलोचना तथा आत्म निंदा करने वाला होता है- किसके समक्ष ?'**गुरु सगासे**' = गीतार्थ गुरु भगवन्त के पास में '**अइरे गलहुओ होई**' = कर्मभार से अतिशय हलका होता है । जैसे - '**ओहरिय भरूव्व भारवहो**' = जैसे भार वाहक भार उतार कर रख देने से अत्यन्त हलका होता है वैसे ही वह भी हलका होता है । क्योंकि आत्म का पाप ही भार है । तात्पर्य यह है कि आलोचना स्वयं नहीं करना तथा अगीतार्थ गुरु के पास भी नहीं करना चाहिए परन्तु आलोचना आदि गीतार्थ गुरु महाराज के पास ही स्वीकार करना चाहिए । कुगुरु-अगीतार्थ गुरु या स्वयं अपने आप प्रायश्चित्त करने से विशुद्ध नहीं होते हैं ।'' अब पाप में अति रत श्रावक भी यह आवश्यक करने से दुःख मुक्त होता है । वह कहते हैं -

आवस्सएण एएण, सावओ जई वि बहुरओ होइ ।
दुक्खाण मंत किरियं, काही अचिरेण कालेण ॥४१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''यद्यपि श्रावक पापकारी आरंभों से बहुत कर्म-रज रूप होता है तथापि आवश्यक क्रिया करने से अल्प समय में पाप रूपी दु:खों का नाश होता है ।''

भावार्थ – ''आवस्सएण एएण'' = दतून, धावन, स्नान, शौचादि कर्म द्रव्य आवश्यक हैं और सामायिकादि छः आवश्यक भाव आवश्यक हैं । यहां पर द्रव्य आवश्यक नहीं, परन्तु भाव आवश्यक करने से **'सावओ'** = श्रावक, **'जई वि बहुरओ होइ'** = जो कि बहुत अशुभ कर्म बन्धन वाला होता है अथवा अनेक प्रकार के पाप कार्यों में आसक्ति वाला होता है, फिर भी **'दुक्खाणं'** = दु:खों की, **'अंतकिरियं'** = अन्त क्रिया (विनाश) **'काही'** = करेगा **'अचिरेण कालेण'** = थोड़े ही काल में । तात्पर्य यह है कि श्रावक कभी बहुत कर्म वाला अथवा बहुत पापासक्त हो, फिर भी वह छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण करने से अल्प काल में ही दु:खों का विनाश करता है । जो कि दु:खों के सर्वनाश में आखिरी कारण शैलेशी रूप यथाख्यात चारित्र है, फिर भी सुदर्शन सेठ आदि के समान श्रावक के लिए प्रतिक्रमण भी सर्व दु:खों के नाश में परम्परा कारण होने से 'प्रतिक्रमण से सर्व दु:खों का विनाश करता है ।'' अब विस्मृति अतिचार का प्रतिक्रमण कहते हैं–

आलोयणा बहु विहा, न य संभरिया पडिक्कमण काले ।
मूल गुण उत्तर गुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४२॥

अर्थात् – ''मूल गुण और उत्तर गुण सम्बन्धी आलोचना बहुत प्रकार की होती है, यदि वे सभी प्रतिक्रमण करते समय याद नहीं आयी हों तो उनकी यहाँ मैं निंदा व गर्हा करता हूँ ।''

भावार्थ – ''आलोयणा बहु विहा' = बहुत प्रकार की आलोचना होती है । अपने द्वारा जो अशुभ आचरण हो गया हो उसे गुरुदेव के सामने कहना– उसे आलोचना कहते हैं, फिर भी यहाँ कार्य में कारण का उपचार करके दोषों में कारण भूत प्रमाद क्रिया–आचरण को भी आलोचना कहा है, इसलिए यहां आलोचना बहुत प्रकार की प्रमाद रूप क्रिया समझना । **'न य संभरिया पडिक्कमण कालं'** = इससे ही उपयोग की जागृति रखने वाले आत्म को भी प्रतिक्रमण करते समय पर प्रमाद रूप क्रिया स्मरण न आया हो, किस विषय में ? **'मूल गुण-उत्तर गुण'** = मूल गुण और उत्तर गुणों में जो अतिचार लगा हो वह विस्मरणादि के कारण प्रतिक्रमण के समय याद न आया हो **'तं निंदे तं च गरिहामि'** उसकी भी आत्मनिंदा व गुरु साक्षी गर्हा करता हूँ ।''

इस तरह प्रतिक्रमण करने वाला श्रावक अपने द्वारा दुष्कृत कर्मों के अतिचार की निंदा व गर्हा करके, धर्म का मूल रूप विनय है इसलिए खड़े होकर **'तस्स धम्मस्स केवली पण्णा तस्स'** इस पद को बोलकर मंगल गर्भित गाथा बोलते हैं –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओ विराहणाए अ ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वदामि जिणे चउव्वीसं ॥४३॥

अर्थात् – "अब मैं केवली भगवन्त कथित श्रावक धर्म की आराधना के लिए सावधान बना हूँ और विराधना से विरत बना हूँ। अत: मन, वचन और काया द्वारा सम्पूर्ण दोषों से निवृत्त होता हुआ चौबीस जिनेश्वर भगवान को मैं वन्दन करता हूँ।"

भावार्थ – "श्री केवली भगवन्त के बतलाये हुए और गुरुदेव के पास स्वीकार किए उस श्रावक धर्म की **'अब्भुट्ठिओ आराहणाए'** = आराधना के लिए तैयार हुआ हूँ **'विरओ विराहणाए'**= और उसकी विराधना से रुकता हूँ– निवृत्त होता हूँ, वह भी वास्तव में मन, वचन काया से वापिस पीछे हटता हूँ **'तिविहेण पडिक्कंतो'** इस तरह अतिचारों का तीन योग से प्रतिक्रमण करके मंगल के लिए आसन्नोपकारी **'वंदामि जिणे चउव्वीसं'** –अर्थात् मैं श्री ऋषभदेव आदि चौबीस जिनेश्वरों को वंदन करता हूँ।"

इस तरह भाव जिनेश्वर को नमस्कार करके सम्यकत्व की शुद्धि के लिए तीन लोक में रहे शाश्वता-अशश्वता स्थापना जिनेश्वर को वंदन करने के लिए गाथा कहते हैं –

जावंति चेइ आइं, उडठे य अहे य तिरिय लोए अ ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥४४॥

अर्थात् – "ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और तिरछा लोक में रही जो जिन प्रतिमा हैं उन सबको, वहां रही सब प्रतिमाओं को यहाँ रहा हुआ मैं वंदन करता हूँ।"

भावार्थ – "चौदह राज लोक के मुख्य तीन विभाग हैं। ऊर्ध्व लोक, अधोलोक और तिरछा लोक अर्थात् स्वर्ग, पाताल और मनुष्य लोक। ऊर्ध्व लोक में बारह देव लोक, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर और सिद्ध शिला आदि आते हैं। अधोलोक में सात नारकी तथा भुवनपति देव रहते हैं और तिरछा लोक में असंख्यात् द्वीप, समुद्र, व्यंतर तथा ज्योतिष्चक्र आदि हैं। स्वर्ग लोक में शाश्वत जिन प्रतिमा है। 'सकल तीर्थ वंदुकर जोड़' में स्वर्ग स्थित जिन बिम्ब का अधिकार आया है। वहाँ से जान लेना। अधो लोक के सात नारकी में जिन चैत्य नहीं होते हैं, परन्तु अधो लोक में आये भवनपति निकाय के भवनों में शाश्वत चैत्य होते हैं तथा महा विदेह की अधोलौकिक कुबड़ी विजय में अशाश्वत चैत्य होते हैं। तिरछा लोक में व्यंतर और ज्योतिषी में शाश्वत अशाश्वत चैत्य है तथा नदीश्वर द्वीप अष्टापर, कुन्डल द्वीप, मेरू गिरि, भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र और महा विदेह आदि स्थानों पर अशाश्वत। शाश्वत जिन बिम्ब हैं, उनको मैं यहां हुआ वंदन करता हूँ।"

अब साधुओं को करने के लिए कहते हैं–

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जावत केवि साहू भरहेरवयमहाविदेहे अ ।
सव्व सिं तेसिं पणओ तिविहेण तिरण्ड विरयाणं ॥५५॥

अर्थात् – "भरत क्षेत्र, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र में स्थित जो कोई भी साधु मन, वचन और काया से पाप-प्रवृत्ति नहीं करते, कराते नहीं और करते हुए का अनुमोदना भी नहीं करते, उन सबको मैं नमन करता हूँ ।"

भावार्थ – "जावत' = जिन कल्प वाले-स्थविर कल्प वाले जो **'के वि साहू'**= कोई भी साधु (अनेक भेद वाले) उत्कृष्ट से नौ हजार करोड़ और जघन्य से दो हजार करोड़ होते हैं, वह कहाँ पर ? **'भरहेर वय महाविदहे'** = पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच महाविदेह मिलकर पन्द्रह क्षेत्रों में साधु रहते हैं तथा **'य'** (च) शब्द दिया है अर्थात् कर्मभूमि क्षेत्र में जिन्होंने जन्म लिया हो वही मनुष्य ही चारित्र ग्रहण करने को अधिकारी हैं, परन्तु किसी व्यंतर आदि देवों ने द्वेषादि कारण से उन साधु को तीस अकर्म भूमि अथवा छप्पन अन्तर्द्वीप में रख दिया हो अथवा स्वयं अपनी लब्धि द्वारा मनुष्य क्षेत्र से बाहर नंदीश्वरादि द्वीप में यात्रा के लिए गए हों इससे अकर्म भूमि क्षेत्रों में भी साधुओं का सद्भाव होता है । तथा **'तिदण्ड विरयाणं'** = तीन दण्ड अर्थात् मन, वचन और काया की मलिनता से रहित शुभ योग वालों को **'सव्वेसिं तेसिं'** उन सब साधुओं को **'तिविहेण पणओ'**= मन, वचन और काया से नमस्कार करता हूँ ।"

इस तरह समस्त जिन चैत्यों को और सभी साधु मुनिराज को वंदन नमस्कार करके शुभ परिणाम धारा की अतीव वृद्धि करते हुए प्रतिक्रमण करने वाले सुश्रावक के लिए भविष्य काल में शुभ भावना की अभिलाषा कहते हैं–

चिरसंचिय पावपणा सणीइ, भव सयसहस्समहणीए ।
चउवीस जिण विणिग्गइ कहाइ बोलंतु मे दिअहा ॥४६॥

अर्थात् – "दीर्घ काल से इकट्ठे किए हुए पापों का विनाश करने वाली और लाखों जन्मों को मिटाने वाली श्री चौबीस जिनेश्वरों के मुख से निकली हुई कथाओं के स्वाध्याय में मेरे दिन व्यतीत हों ।"

भावार्थ – "चिरसंचिय पावपणा सणीइ' = बहुत काल से एकत्रित किए पाप कर्मों का विनाश करने वाली, **'भव सयसहस्समहणीए'** लाखों जन्म उपलक्षण से अनंत जन्मों की परम्परा मिटाने वाली **'चउवीस जिण विणिग्गह कहाइ'** = श्री चौबीस जिनेश्वर भगवान के मुख से निकली हुई कथाओं (उपदेश, प्रवचनों) के स्वाध्याय से, उनका नाम जाप, गुणों का कीर्तन, उनके चारित्र का वर्णन, प्रशंसा करने में **'बोलंतु मे दिअहा'** = मेरे दिन रात (भविष्य काल) व्यतीत हों । कहने का तात्पर्य यह है कि –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परमात्मा का गुण कीर्तन की कथा द्वारा शुभ भाव उत्पन्न होता है । उसमें ऐसी कोई अलौकिक शक्ति है कि अशुभ कर्म का बन्धन नहीं होता है परन्तु काल में चिर काल से अपनी आत्मा पर सत्ता जमा कर बैठे अशुभ कर्मों का विनाश होता है और जन्म मरण की परम्परा का अन्त हो जाता है । अतः जीवन की प्रत्येक समय, घड़ी, दिन, रात इसी में व्यतीत हो'' अब जन्म जन्मान्तर में मंगलपूर्वक समाधि और बोधि बीज की आत्मिक भाव से प्रार्थना करते हैं –

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सूअं च धम्मो अ ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दित्तु समाहि च बोहिं च ॥४७॥

अर्थात् – ''अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रुत और चारित्र धर्म मुझे मंगल रूप हों, तथा सम्यग् दृष्टि देव मुझे समाधि और बोधि की प्राप्ति में सहायक बनें ।''

भावार्थ – 'अरिहंत, सिद्ध, सर्व साधु तथा अंग उपांग आदि आगम रूप श्रुत (ज्ञान) और आश्रवों का त्याग रूप चारित्र धर्म– ये सर्व मेरा मंगल हैं, सर्व विघ्नों के वे नाशक हैं । गाथा में '**य**' (च) शब्द से अरिहंतादि को जगत में सर्वोत्तम स्वरूप माना है तथा जन्म, जरा, मृत्यु की पीड़ा से मुक्त होने के लिए अरिहंत आदि की शरण स्वीकार करता हूँ । यद्यपि अन्य स्थान पर '**चत्तारि मंगल**' = मंगल चार ही कहे हैं । वहाँ श्रुत धर्म को चरित्र धर्म में गिना है, फिर भी यहाँ '**श्रुत**' और धर्म दो कहने से ज्ञान और चारित्र दोनों को अलग कहा है, वह ज्ञान और क्रिया के सहयोग से ही मोक्ष प्राप्ति होती है इस बात के समर्थन के लिए कहा गया है । अब उत्तरार्थ गाथा में कहा है – मेरी धर्म की आराधना में कोई भी विघ्न–बाधा न आए, और अखण्ड आत्म साधना चलती रहे इस भावना को लेकर सुश्रावक प्रार्थना करता है '**समद्दिट्ठी देवा देवा**' = श्री अरिहंत देव के शासन के पक्ष वाले, उनकी सेवा करने वाले समकित दृष्टि देव देवी = यक्ष यक्षिनी, धरणेन्द्र, अम्बिका आदि चित्त की स्वस्थता स्वरूप समाधि मुझे दो, समाधि = मन की प्रसन्नता है, चित्त की प्रसन्नता–स्वस्थता बिना विशिष्ट धर्म क्रिया नहीं होती इसलिए सम्यग्दृष्टि देव से समाधि की प्रार्थना की गई है । श्रावक केवल समाधि की प्रार्थना ही नहीं करता अपितु '**च बोहि**' = भविष्य में जिन धर्म की प्राप्ति रूप बोधि रत्न दो । अर्थात् 'समकित दृष्टि देव देवियां मुझे समाधि तथा बोधि की प्राप्ति में सहायक बनो ।' आत्म मंगल का अभिलाषी सुश्रावक इस तरह भाव का चिन्तन करता है ।

यहाँ प्रश्न करते हैं कि –क्या इस तरह श्रावक को सम्यग् दृष्टि देव समाधि और बोधि देने में समर्थ हैं ? यदि देने में असमर्थ हैं तो उनसे प्रार्थना करना व्यर्थ है, और यदि वे समाधि बोधि देने में समर्थ हैं तो अभव्य और दुर्भव्य जीव को क्यों नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समाधि देते ? यदि समर्थ हैं तो भी योग्य जीव को ही वे समाधि और बोधि देते हैं, अयोग्य आत्मा को नहीं देते तो फिर वस्तुतः समाधि और बोधि की प्राप्ति में जीवों की योग्यता ही कारण भूत है, अतः बकरी के गले में आंचल के समान देवों के पास प्रार्थना किसलिए करनी चाहिए?

इसका उत्तर देते हैं-सर्वत्र योग्यता ही प्रमाण भूत मानी जाती है। परन्तु हम शास्त्र और युक्ति से अयोग्य (झूठे) नियतिवाद आदि के समान एकान्तवादी नहीं हैं, हम तो जिन मत के अनुयायी हैं, इसलिए नैगामादि सर्व नय के समुदाय रूप अनेकान्तवाद (स्याद्वाद मुद्रा) के आधार पर ही हमारा सर्व कथन है, और अपेक्षा से वस्तु में योग्यता होने पर भी निमित्त कारण को उचित सामग्री मिले तभी ही कार्य की उत्पत्ति होती है जैसे-घड़ा बनाना हो तो मिट्टी में घड़ा बनाने की योग्यता होने पर भी कुम्हार, चक्र, दण्ड, धागा आदि के सहकार (निमित्त) कारण की जरूरत होती है, वैसे ही यहां पर भी भव्यात्मा में समाधि और बोधि लाभ की योग्यता होने पर भी उसकी प्राप्ति में आने वाले विघ्न समूह को दूर करने की आवश्यकता है, और जो भव्य जीव हों उन जीवों का विघ्न दूर करने की सम्यग्दृष्टि देवों में शक्ति होती है । मेतार्य मुनिवर को पूर्व जन्म का मित्र देव जिस तरह सहायक बना था उसी तरह यहाँ भी समाधि और बोधि लाभ की प्राप्ति के लिए सहकारण कारण भूत बनने में समर्थ है, इसलिए उनकी प्रार्थना सफल हो सकती है ।

प्रश्न – 'व्रत जिसने स्वीकार किया हो उसे प्रतिक्रमण आवश्यक है क्योंकि प्रतिक्रमण से अतिचारों की आलोचना लगती है और व्रत के बिना अतिचार दोष नहीं लगता है, इसलिए क्या व्रत रहित को प्रतिक्रमण करना चाहिए ?' उत्तर – केवल अतिचार लगे तभी प्रतिक्रमण करना चाहिए, ऐसा नहीं है, परन्तु चार कारण से प्रतिक्रमण करने को कहा है । वह कारण आगे की गाथा में कहते हैं –

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाण करणे अपडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ परूवणाए य ॥४८॥

अर्थात् – "(१)निषेध किए हिंसादि पाप कार्य करने से, (२) करने योग्य सामायिक देव पूजा आदि नहीं करने पर, (३) प्रभु कथित तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं करने पर और (४) जिनागम से विपरीत उपदेश देने पर, इन चार कारण से व्रती अव्रती को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए । "

भावार्थ – "सम्यकत्व को मलिन करने वाली शंका तथा व्रतों को मलिन वाला वधादि जो कार्य है वह, **'पडिसिद्धाणं'** = निषेध किए है वह, **'करणे'** अट्ठारह पाप स्थान आदि करने से (१), पूजा सामायिक, वंदन, स्वाध्याय आदि नियम आदि जो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'किच्चाण' = करने योग्य है वह नहीं करने से (२), निगोद आदि सूक्ष्म पदार्थों पर **'असद्दहणे'** = अश्रद्धा करने से (३), **'तहा'**-तथा **'विवरीअ परूवणाय'** = प्रभु कथित मार्ग से विपरीत मार्ग का उपदेश देने से जैसे मरीची आदि के समान उन्मार्ग का उपदेश देकर जीवों को चार गति रूप महा संसार में परिभ्रमण कराने वाला है वह अनजाने रूप में करने से (४), इस तरह चार कारणों से **'पडिक्कमणं'** प्रतिक्रमण करना चाहिए।

यहाँ प्रश्न करते हैं-क्या श्रावक को धर्म उपदेश देने का अधिकार है कि जिससे उसे उन्मार्ग का उपदेश देने का प्रसंग आता है ? इसका उत्तर देते हैं-हाँ, श्रावक को उपदेश देने का अधिकार है। वह कैसे श्रावक को ? गीतार्थ गुरु से जिसने सूत्र अर्थ को जाना है और गुरु ने जो व्याख्यान दिये हों उनका अर्थात् गुरु ने जैसे समझाया हो उसी तरह धर्म उपदेश देने में कौन सी बाधा है ? इस तरह सूत्र और अर्थ कहने का अधिकार होता है। शास्त्र में श्रावक के लिए कहा है कि **"पढइ सुणेइ गुणेइ जणस्स धम्मं परिकहेइ"** अर्थात् श्रावक प्रथम अभ्यास करे, सुने, उसे बारम्बार चिन्तन करे और योग्य आत्मा को धर्म का उपदेश (प्रेरणा) दे। आवश्यक चूर्णि में भी कहा है कि- **"सो जिणदास सावओ अट्ठमि चउद्दीसीसु उव्वासं करेइ पुत्थ यं च वाएइ"** इत्यादि अर्थात् 'वह जिनदास श्रावक अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास करता है और पुस्तक को पढ़ता है इत्यादि'। इसलिए श्रावक को भी गुरुगम से पढ़ा हुआ अथवा सुना हुआ सूत्र-अर्थ अन्य को कहने का अधिकार है और उपयोग शून्यता आदि के कारण श्रावक को विपरीत उपदेश दे दिया गया हो तो उसका अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए। इन चार कारणों से प्रतिक्रमण व्रत रहित को भी उपर्युक्त प्रतिक्रमण करना योग्य है।" अब संसार समुद्र में अनादिकाल से परिभ्रमण करते अन्योन्य जीवों के साथ वैर विरोध हो जाने से इस वैर विरोध की क्षमापना द्वारा प्रतिक्रमण करते हैं -

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु वैरं मज्झ न केणई ॥४६॥

अर्थात् - "मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैर भाव नहीं है।"

भावार्थ - 'अनन्त जन्मों में अज्ञान और मोह में फँसे हुए **'सव्व जीव'** = जिस जिस जीवों को हैरान-परेशान किया हो, पीड़ाएं दी हों, अब वह अज्ञान-मोहादि हट जाने से **'खामेमि'** = उन सब जीवों से मैं क्षमा याचना करता हूँ **'सव्वे जीवा खमंतु मे'** = वे सभी जीव भी मेरे अपराध को भूल जाएं और मेरे अपराध की माफी दें। क्योंकि- **'मित्ती मे स्वव भूएसु'** = मुझे सर्व जीवों पर मैत्री भाव है, **'वैरं मज्झ न केणई'** = किसी के साथ मेरा वैर विरोध नहीं है अर्थात् उत्तम श्रावक की यह भावना है कि-मैं स्वयं वैर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भाव का त्याग करके मुक्ति सुख प्राप्त करूं और अन्य सभी जीवों को भी मोक्ष साधन-अनुष्ठान आदि हेतुओं में जोड़कर मुक्ति दिलाऊँ। उसमें से कोई जीव मेरे मोक्ष मार्ग में विघ्न करे तो भी मैं उसके मार्ग में विघ्न नहीं करूँगा क्योंकि पार्श्वनाथ के पूर्व जन्म में कमठ और मरूभूति आदि के समान वैर की परम्परा अनेक जन्मों तक चलती रही। इस तरह वैर-विरोध जन्म-जन्मान्तर में महान अनर्थकारी होता है।" अब प्रतिक्रमण (वंदित्तु) सूत्र का उपसंहार करते हुए अन्तिम मंगल करते हैं -

एवमहं आलोइय, निंदिय गरहिय दुगंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥५०॥

अर्थात् - "इस प्रकार मैं अच्छी तरह पापों की आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा करके, मन, वचन और काया से सम्पूर्ण दोषों से निवृत्तिपूर्वक चौबीस जिनेश्वर भगवन्त को वंदन करता हूँ।"

भावार्थ - "**एवमहं**' इस प्रकार अभी तक जो कहने में आया वह '**आलोइय निंदिय गरहिय**' = अपने पाप कर्मों की गुरुदेव के पास सम्यक् रूप से आलोचना करके, आत्म की साक्षी में निंदा करके, इसी प्रकार गुरु महाराज के समक्ष गर्हा (स्वीकार) करके और '**दुगंछिउ सम्म**' = सम्यग् जुगुत्सा-अरुचि व्यक्त करके अर्थात् वह पापी मेरे आत्मा को धिक्कार हो ! आदि तिरस्कार करके, '**तिविहेण पडिक्कंतो वंदामि जिणे चउव्वीसं**' = मन, वचन, काया से उन पापों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, और इस तरह प्रतिक्रमण जैसी मंगलमयी क्रिया करने से शुद्ध बना मैं विशेष आत्म शुद्धि के लिए चौबीस श्री जिनेश्वर भगवन्त को वंदन करता हूँ।"

इस तरह अल्प रुचि वाले जीव को तथा अन्य जीवों को प्रतिबोध करने के लिए प्रतिक्रमण सूत्र का संक्षिप्त अर्थ कहा है। विस्तृत अर्थ तो वृहद् वृत्ति, अर्थ दीपिका, प्रतिक्रमण चूर्णि आदि टीकाओं से जान लेना चाहिए।

अब यहां प्रसंगानुसार शेष रहे अन्य भी सूत्रों की व्याख्या कहते हैं -

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे अ ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥१॥

अर्थात् - "आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, समान धर्म वाले साधिर्मक, कुल और गणों के प्रति मैंने जो कोई कषाय किये हों, उन सबके लिये मैं त्रिविध = मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ।"

सव्वस्स समण संघस्य, भगवओ अंजलिं करिय सीसे।
सव्व खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''सकल श्रमण संघ के पूज्य-भगवन को दो हाथ से मस्तक पर अंजली करके, सबसे क्षमा याचना करके मैं भी उन सबके अपराधों को क्षमा करता हूँ।''

सव्वस्य जीव रासिस्स, भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता खमामि, सव्वस्स अहयं पि ॥३॥

अर्थात् – 'जगत् के सर्व जीव समूह ने भाव पूर्वक धर्म में चित्त को स्थापित किया है, इस तरह मैं धर्म बुद्धि से अथवा राग-द्वेष को छोड़कर सर्व जीवों से क्षमा याचना कर, मैं भी उन सबको क्षमा करता हूँ।'' ये तीनों गाथा पयन्ना सूत्र की हैं।

अब श्रुत देवता की स्तुति का अर्थ कहते हैं –

सुअदेवया भगवई, नाणावरणीय कम्म संघायं ।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुअसायरे भत्ती ॥१॥

अर्थात् – ''हे भगवती श्रुत देवी ! आगम रूपी समुद्र में जिनकी सदा भक्ति है अर्थात् ज्ञान की- जिन की लगातार उपासना करते हैं, उनके ज्ञानावरणीय कर्म के समूह को क्षय करो।''

जीसे खित्ते साहू, दंसण नाणे हिं चरण सहिए हिं ।
साहंति मुक्ख मग्गं, सा देवी हरउ दुरि आइं ॥१॥

अर्थात् – ''जिनके क्षेत्र में साधु समुदाय सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र सहित मोक्ष-मार्ग की साधना करते हैं, उनके क्षेत्र देवता दुरितों -विघ्नों को दूर करें।'' अब नमोस्तु वर्धमानाय की स्तुति कहते हैं-

नमोऽस्तु वर्धमानाय, स्पर्धमानाय कर्मणा ।
तज्जयाऽवाप्त मोक्षाय, परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ॥१॥

अर्थात् – ''**नमोऽस्तु वर्धमानाय**' = श्री वर्द्धमान स्वामी को मेरा नमस्कार हो। वे कैसे हैं '**स्पर्द्धमानाय कर्मणा**' जो कर्म रूपी वैरी के साथ में जीतने की स्पर्धा करने वाले, और कैसे हैं ? **तज्जयायाऽवाप्त मोक्षाय,** = उन कर्मों का पराभव प्राप्त करके जो मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं। तथा '**परोक्षाय कुतीर्थिनाम्**' = कुतीर्थि अर्थात् अन्य धर्मी – मिथ्यात्वियों के लिए दर्शन अगम्य है, उनको मेरा नमस्कार हो।

येषाविक चार विन्द राज्या ज्यायः क्रम कमला बर्लिदधत्या ।
सदृशैरिति संड़तं प्रशस्यं, कथितं सन्तु सिवाय ते जिनेन्द्राः ॥२॥

अर्थात् – ''जिस जिनेश्वर के उत्तम सुवर्ण वाले चरण रूपी कमलों की श्रेणी को धारण करने वाली, देवरचित विकसित सुवर्ण कमलों की पंक्ति को देखकर ऐसा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लगता है मानो समान के साथ मिलन हो- इस तरह समागम होना वह पंडित जनों से प्रशंसनीय है। वे जिनेश्वर भगवान सबके कल्याण के लिए हों।''

कषाय तापार्दित जन्तु निर्वत्ति ।
करोति यो जैन मुखाम्बुदोद्गतः ।।
स शुक्र मासोद् भव वृष्टि सन्निभो ।
दधातु तुष्टिमयि विस्तरो गिराम् ।।

अर्थात् - ''श्री जिनेश्वर भगवन्त के मुख रूपी मेघ से प्रकटित होने पर जो वाणी समूह कषाय अग्नि के ताप से जलते जीवों को जेठ महीने में हुई वर्षा के समान शान्ति प्रदान करता है, वही मुझे भी शान्ति प्रदान करे।''

इस तरह तीन गाथाओं में से प्रथम गाथा में श्री वीर परमात्मा की, दूसरी गाथा में सर्व जिनेश्वरों की, तीसरी गाथा में जिन वाणी की स्तुति की। अब ''विशाल लोचन'' की स्तुति कहते हैं -

विशाल लोचन दलं, प्रोद्यद्दंतां शुकेसरम् ।
प्रात वीरं जिनेन्द्रस्य, मुख पद्मं पुनातु वः ।।१।।

अर्थात् - ''विशाल नेत्र रूपी पत्र वाले, देदीप्यमान दाँतों की किरण रूप केसर वाले श्री वीर जिनेश्वर का मुख रूपी कमल प्रातः काल में तुमको पवित्र करे।''

यह वीर परमात्मा की स्तुति कहकर अब सर्व जिनों की स्तुति कहते हैं-

येषामभिषेक कर्म कृत्या, मत्ता हर्षभरात् सुखं सुरेन्द्रा ।
तृणमपि गणयन्ति नैव नाकं प्रातः सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्रा ।।२।।

अर्थात् - ''मेरु पर्वत के ऊपर जिनेश्वर भगवन्त का जन्माभिषेक का कार्य करने से हर्ष के समूह से मत्त = आनंदी बने देवेन्द्र अपने स्वर्ग के सुखों को तृण मात्र भी नहीं गिनते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान प्रातःकाल में कल्याण सुख के लिए हों।'' अब जिन वचन की स्तुति करते हैं -

कलङ्क निर्मुक्तममुक्त पूर्णतं कुतर्क राहुग्रसनं सदोदयम् ।
अपूर्व चन्द्रं भाषितं दिनागमे नौमि बुधैर्नमस्कृतम् ।।३।।

अर्थात् - ''श्री जिन वचन (कष-छेदन और ताप से शुद्ध) कलंक रहित है, जबकि चन्द्र तो मृग का कलंक (दाग) है, जिन वाणी पूर्णता का त्याग नहीं करती, हमेशा सम्पूर्ण रूप में रहती है, चन्द्र तो हमेशा क्षीण होता है। तथा कुविचार रूपी राहू जिसे ग्रहण नहीं करता है अर्थात् जिन वाणी के सामने कुतर्क नहीं टिक सकते, जबकि चन्द्र

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को तो राहू ग्रहण करता है एवं हमेशा उदय होने वाली कभी अस्त नहीं होने वाली वाणी रूपी चन्द्र है, जबकि इस चन्द्र का तो अस्त होता है । इसीलिए ही, वह अपूर्व चन्द्र के समान है– ऐसा श्री जिनेश्वर भगवान का कथित वचन है जिसे कि पंडित जनों ने नमस्कार किया है, उस आगम रूपी अपूर्व चन्द्र की मैं प्रभात काल में स्तुति करता हूँ = नमस्कार करता हूँ ।'' अब एक सौ सत्तर जिनेश्वर भगवन्त की स्तुति करते हैं–

वर कनक शंख विद्रुम मरकत धनसन्निभं विगत मोह ।
सप्ततिशतं जिनानां, सर्वामर पूजितं वंदे ।।१।।

अर्थात् – '' श्रेष्ठ सोना (पीला वर्ण), शंख (सफेद वर्ण), परवाल (लाल वर्ण), मरकत (नील रत्न वर्ण) तथा पानी से भरे बादल (काले वर्ण) की वस्तुओं के समान, तथा मोह रहित सर्व देवों से पूजित एक सौ सत्तर श्री जिनेश्वरों को मैं वंदन करता हूँ ।''

इस सूत्र से उत्कृष्ट १७० जिनों को वंदन किया जाता है । जम्बू द्वीप के महाविदेह क्षेत्र में ३२ विजय हैं, भरत और ऐरावत एक एक क्षेत्र है अर्थात् सब मिलाकर ३४ विजयादि। धातकी खण्ड में जम्बू द्वीप से दुगुना– इसमें ६८ क्षेत्र हैं और अर्ध पुष्करावर्त खण्ड में धातकी खण्ड जितना होने से कुल ३४+६८+६८ = १७० क्षेत्र होते हैं । जब श्री अजित नाथ प्रभु विचरते थे, उस समय प्रत्येक क्षेत्र में तीर्थंकर भगवन विद्यमान होते हैं । उस समय उनकी उत्कृष्ट संख्या १७० की होती है ।

इस तरह प्रतिक्रमण का अधिकार पूर्ण करके अब मूल ६५ वीं गाथा में **'गुरोर्मिश्रामणा चैव'** = प्रतिक्रमण करने के बाद अवश्य गुरु की विश्रामणा करना, वह गृहस्थ का विशेष धर्म है । यहां गुरु = धर्माचार्य और उसकी विश्रामणा = श्रम–थकावट दूर करना, अथवा भक्ति के कारण पैर शरीर दबाना इत्यादि सेवा करना, उपलक्षण से उनकी संयम यात्रा कुशलता–सुख शाता आदि पूछना इत्यादि भी समझ लेना । यद्यपि साधु उत्सर्ग से सेवा नहीं करवाते । दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन की तीसरी गाथा में **'सवाहणा दंतपहोअणा य'** अर्थात् शरीर दबाना, दांत साफ करना आदि साधु का त्याग होता है तो भी कारण अपवाद से साधुओं द्वारा या उनके अभाव में श्रद्धालु श्रावक आदि द्वारा भी सेवा करवा सकते हैं तथा श्रम–थकावट दूर करना करवाना आदि भी करते हैं और परिणाम की शुद्धि पूज्य भाव पूर्वक सुविहित साधु की सेवा करने से कर्म निर्जरा रूपी लाभ तथा विनय भी होता है ।

गुरु महाराज की सेवा भक्ति करने के बाद श्रावक के व्रत तथा उनके पालन करने की विधि आदि याद करना, श्री महामंत्र नमस्कार मंत्र का जाप माला करना, अथवा पांच

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार का स्वाध्याय करे- (१) **वाचना** = शास्त्र का ग्रन्थ पढ़ना, (२) **पृच्छना** = उसके विषय में प्रश्न पूछना, (३) **परावर्तना** = पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत न हो जाये, इस दृष्टि से बारम्बार उसे दोहराना-आवृति करना, (४) **अनुपेक्षा** = सूक्ष्म पदार्थों के सम्बन्ध में परस्पर चर्चा करके निःशंक बनना अथवा तदनुकूल चिन्तन-मनन करना, (५) **धर्मकथा**= शास्त्रीय विषयों पर धर्मकथा या व्याख्यान या प्रवचन कहना सुनना ।

यदि किसी समय साधु के उपाश्रय में व्याख्यान- उपदेश सुनने जाने का शक्य अथवा शक्ति न हो या कोई राजा, मन्त्री अथवा महाऋद्धिमान एवं व्यवसायी श्रावक हो या बाहर जाने में अड़चन या कठिनाई हो तो वह अपने स्थान में ही आवश्यक (प्रतिक्रमण) स्वाध्याय आदि करे । शास्त्र में स्वाध्याय का महाफल कहा है । दशवैकालिक निर्युक्ति में कहा है कि-

बारस बिहम्मि वि तवे, सब्भिंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
नवि किंचि अत्थि होही सज्झायसमं तवो कम्म ॥११८॥

अर्थात् - "श्री जिनेश्वर भगवान ने बाह्य और अभ्यन्तर रूप से बारह प्रकार के तप बतलाए हैं । उनमें स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है, न होगा, न हुआ है अर्थात् स्वाध्याय अति उपकारक तप है ।" उपदेश माला में भी कहा है कि-

सज्झाएण पसत्थं झाणं, जाणाइ य सच्च परमत्थं ।
सज्झाए वट्टं तो, खणे खणे जाइ वेरग्गं ॥३३८॥

अर्थात्- "शास्त्र सम्बन्धी स्वाध्याय करने वाला आत्मा प्रशस्त ध्यान में लीन होता है और स्वाध्याय से वह सारे परमार्थ तत्त्व को अच्छी तरह से जान लेता है, स्वाध्याय में तन्मय बना हुआ आत्मा क्षण-क्षण में वैराग्य प्राप्त करता है और वह वैराग्य स्वाध्याय के साथ बढ़ता जाता है ।" इस तरह 'श्रावक के दिन कृत्य' अधिकार यहां समाप्त हुआ।

अब रात्रि कृत्य का अधिकार कहते है :-

गत्वा गृहेऽथ कालेऽर्हद् गुरु स्मृति पुरस्सरम् ।
अल्प निद्रोपासनं च, प्रायेणाऽब्रह्म वर्जनम् ॥६६॥

गाथार्थ- "स्वाध्याय आदि करने के बाद उचित समय पर गृह जाकर श्री अरिहंत और गुरु का स्मरणपूर्वक अल्प निद्रा करे एवं प्रायः अबह्मचर्य का त्याग श्रावक करे ।"

भावार्थ - "रात्रि के समय प्रथम पहर में उपाश्रय के अन्दर स्वाध्यायदि करे । उसके बाद घर जाकर एक पहर के बाद यदि शरीर की स्वस्थता के अच्छी हो तो अर्धरात्रि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तक के समय में अर्थात् घर जाने के बाद पुत्र पुत्री आदि परिवार को धर्म सुनाना, फिर निद्रा का समय हो तब अल्प निद्रा का सेवन करना । यह गृहस्थ का विशेष धर्म है । श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि–

काऊण सयण वग्गस्स, उत्तमं धम्म देसणं ।
सिज्जा ठाणं तु गंतूणं तओ अन्न करे इमं ॥२६४॥

अर्थात् – ''स्वजन वर्ग को उत्तम प्रकार का धर्म उपदेश देकर, शयन करने के स्थान पर जाकर, फिर अन्य कार्य इस तरह करे ।''

यहां '**अल्प निद्रा करे**' इस तरह कहा है। उसमें 'निद्रा' विशेष्य और 'अल्प' विशेषण है। उसमें विधान विशेषण का है क्योंकि– जब वाक्य विशेषण सहित हो तब कार्य में विधि निषेध विशेषण लगता है । यहा 'निद्रा' विशेष्य है, इसलिए उसका विधान नहीं है । निद्रा तो जीव को दर्शनावरणीय कर्म के उदय से उपदेश बिना स्वत: सिद्ध है, इसलिए उसका आदेश देना निरर्थक है । शास्त्र वचन तो जिस कर्तव्य का पालन स्वयमेव नहीं होता हो उसके लिए कहना ही सार्थक है । इसलिए यहां 'निद्रा' यह पुनरुक्ति और 'अल्प' यह विधान है अर्थात् निद्रा अल्प करनी चाहिए, इस तरह कहने का भावार्थ है। वह निद्रा किस तरह करनी चाहिए ? '**अर्हद् गुरु स्मृति पुरस्सरम्**' = अरिहंत श्री तीर्थंकर देव एवं गुरुदेव = धर्माचार्यों का स्मरणपूर्वक– उनको मन में धारण करते हुए निद्रा करना। यहा 'स्मरणपूर्वक' यह विशेषण समझना । और देव गुरु के उपलक्षण से चार शरण स्वीकार करना, पापमय दुष्कृत की निन्दा करना और सुकृत की अनुमोदना करना, सर्व जीवों से क्षमायाचना करना, पच्चक्खान करना, अठारह पाप स्थानकों का त्याग करना और पंच परमेष्ठि नवकार मंत्र का स्मरण आदि समझ लेना, क्योंकि ये सारे कार्य किए बिना श्रावक को सोना योग्य नहीं है। उसमें श्री वीतरागदेव का स्मरण इस तरह करे– ''**णमो बीअ रागाणं सव्वन्नूणं देविंद पूइ आणं जहट्ठिय वत्थू वाइणं तेलुक्क गुरुणं अरूहताणं भगवंताणं जे एवं आइक्खंति इत्यादि**'' अर्थात् – 'श्री वीतराग सर्वज्ञ, इन्द्रों से पूजित, यथा स्थित वस्तु तत्त्व को कहने वाले, तीन लोक के गुरु, संसार में पुन: अवतार नहीं लेने वाले भगवन्त इत्यादि विशेषण विशिष्ट श्री अरिहंत परमात्मा को मेरा नमस्कार हो आदि, पंच सूत्र में से प्रथम सूत्र में कहे अनुसार स्मरण करना । इसके बाद गुरुदेवों को भी इसी प्रकार स्मरण करना – ''**धन्यास्ते ग्राम नगर जनपदादया ऐषु मदीया धर्माचार्या विहरन्ति**' अर्थात ''उस गांव, नगर, देश, प्रान्त आदि को धन्य है जहां मेरे धर्माचार्य श्री गुरुदेव विचरण कर रहे हैं ।'' इत्यादि स्मरण करना, अथवा देव वंदन तथा गुरु वंदन आदि करके नमस्कार करने रूप स्मरण करना । श्राद्ध दिन कृत्य प्रस्ताव ८ गाथा २६५ में कहा है कि '**सुमरित्ता भुवणानाहे**' उसकी टीका में '**सुमरित्ता**' = धातुओं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के अनेक अर्थ होने से यहां पर वंदन करके **भुवणानाहे** = जगत् प्रभु को अर्थात् स्मरण का अर्थ 'वंदन करके' इस तरह भी अर्थ समझना। फिर चार शरण स्वीकार किस तरह करना ? वह कहते हैं–

क्षीण रागादि दोषौधाः सर्वज्ञा विश्वपूजिताः ।
यथार्थ वादिनोऽर्हन्तः, शरण्याः शरणं मम ॥१॥

ध्यानाग्निदग्ध कर्माणः, सर्वज्ञाः सर्व दर्शिनः ।
अनन्त सुख वीर्येद्धाः सिद्धाश्च शरणं मम ॥२॥

ज्ञान दर्शन चारित्र युताः स्वपरतारकाः ।
जगत्पूज्याः साधवश्च, भवन्तु शरणं मम ॥३॥

संसार दुःख संहर्त्तां, कर्त्ता मोक्ष सुखस्य च ।
जिण प्रणीत धर्मश्च, सदैव शरणं मम ॥४॥

अर्थात् – "जिनके राग द्वेषादि दुर्गुण–दोषों के समूह का नाश हुआ है, जो सर्वज्ञ हैं, तीन जगत् के जीवों से जो पूजित हैं, यथा स्थित वस्तु तत्त्व के जानकार हैं एवं शरण स्वीकार करने योग्य श्री अरिहंत भगवन्त का मुझे शरण हो ! (१)॥ ध्यान रूप अग्नि से जिन्होंने कर्मों को मूल से जला दिया है, जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं और अनंत सुख तथा अनंत बल–शक्ति से शोभित हैं उन सिद्ध परमात्मा का मुझे शरण हो ! (२)॥ ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तीनों रत्नों से युक्त, स्व पर के तारक और जगत् पूज्य श्री साधु मुनिराज का मुझे शरण हो ! (३)॥ एवं संसार के दुःखों को नाश करने वाला तथा मोक्ष सुख को प्रगट करने वाला श्री जिनेश्वर कथित धर्म का मुझे हमेशा के लिए शरण हो ! (४)॥" इस तरह चार शरण श्रावक को स्वीकार करनी चाहिएं। ये शरण स्वीकार करने से महागुणकारी होती हैं। कहा है कि–

चउरंगो जिण धम्मो न कओ चउरंग सरणमवि न कयं ।
चउरंग भवच्छेओ, न कओ हा ! हारिओ जम्मो ॥१॥

अर्थात् – "दान, शील, तप और भाव रूप चार प्रकार का धर्म न किया, अरिहंतादि चार का शरण स्वीकार नहीं किया तथा चार गति रूप चार अंग वाले संसार का छेदन नहीं किया। हा ! खेद की बात है कि उसने अपना जन्म हार दिया है।" अब दुष्कृत भी निंदा करते हैं–

जं मण वय काएहिं, कय कारिअ अणु मईहिं आयरिअं ।
धम्म विरुद्धमसुद्धं, सव्वं गरिहामि तं पावं ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – "मन, वचन और काया द्वारा करना, करवाना एवं अनुमोदना रूप जो कोई धर्म विरुद्ध अशुद्ध आचरण किया हो, उन सब पापों की गर्हा करता हूँ।" दुष्कृत= पापकारी कार्य की निंदा करना। अब सुकृत की अनुमोदना कहते हैं–

अहवा सव्वं चिय, बीअरायव यणाणुसारि जं सुकयं।
कालत्तए वि तिविहं, अणुमोएमो तयं सव्व ॥१॥

अर्थात् – "अथवा तीनों काल में मन, वचन, काया से श्री जिनाज्ञा के अनुसार जो कोई सुकृत = पुण्य या निर्जरा का कार्य किया हो, उन सब की अनुमोदना करता हूँ। इसी तरह अन्य द्वारा जो सुकृत हो रहा है उसकी अनुमोदना करता हूँ।" सर्व जीवों से क्षमा याचना करे–

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा समंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसुं, वैर मज्झ न केणई ॥१॥

अर्थात् – "मैं सर्व जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मेरे अपराध क्षमा करें, मेरा सब जीवों के साथ मैत्री भाव (मित्रता) है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है।" इत्यादि क्षमापना करे।

उसके बाद साकार पच्चक्खान के लिए गंठिसही के साथ में चार प्रकार के आहार का त्याग करने रूप 'चउविहार' का और सर्व व्रतों का संक्षेप रूप 'देशावगासिक' का पच्चक्खाण करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि निद्रा में निरुपयोगी सर्व पापारंभ-परिग्रह आदि का त्याग करने के लिए साकार पच्चक्खान करे। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि–

पाणिवहमुसादत्तं मेहुण दिण लाभऽणत्थ दंडं च।
अंगीकयं च मुत्तुं, सव्वं उवभोग परिभोगं ॥३००॥

गिहब्भं मुत्तूण दिसि गमणं मुत्तू मसगजू आई।
वय काए हिं न करे, न कारवे गंठि सहिएणं ॥३०१॥

अर्थात् – "मच्छर, जूं आदि के बिना की हिंसा, मृषावाद, अदत्ता दान, मैथुन, उस दिन का अर्थलाभ सहित परिग्रह, अनर्थ दंड, निद्रा में आवश्यक कपड़े या शयनादि बिना के सर्व उपयोग-परिभोग और घर के मध्य शयन, स्थान बिना सर्व दिशा में गमनागमन– इन सब का मन से त्याग अशक्य होने से वचन और काया से करना-करवाने का त्याग ग्रंथि सहित पच्चक्खान पूर्वक करे अर्थात् गांठ न छोड़े तब तक ऐसा संकेत पूर्वक त्याग करे इत्यादि पूर्व में कहा है। शेष पाप स्थानक के लिए श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तहा कहं च माणं च मायां लोभं तहेव य ।
पिज्जं दोषं च वज्जेमि अब्भक्खाणं तहेव य ॥३०२॥

अरइरई पेसुन्नं परपरिवायं तहेव य ।
माया मोसं च मिच्छत्तं, पावठाणाणि वज्जिमो ॥३०३।

अर्थात् - "तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ और राग-द्वेष तथा अभ्याख्यान (व्यर्थ ही किसी पर झूठा दोष आरोपण करना) का भी त्याग एवं अरति, रति, पैशुन्य (पीठ पीछे चुगली खानी), पर परिवाद-दूसरे को बुरा कहना और अपनी प्रशंसा करना, माया मृषावाद-प्रवंचना, ठगाई, मिथ्यात्व दोष देना- इन सब पाप स्थानों का मैं त्याग करता हूँ।" इस तरह सब पाप स्थानकों का निद्रा के पूर्व त्याग करना चाहिए। संथारा पोरिसी सूत्र में कहा है कि-

जइ में हुज्ज पमाओ, इम्मस देहस्सि माइ रयणीए ।
आहार मुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअ ॥४॥

अर्थात् - "यदि मेरे इस शरीर का इस रात्रि में प्रमाद (मरण) हो जाये तो अभी से मैं सर्व प्रकार का आहार, पानी, वस्त्र, उपकरण (जीवन के साधन) एवं शरीर- इन सबका मन, वचन और काया से त्याग करता हूँ।"

इस प्रकार श्री नवकार मंत्र पूर्वक यह गाथा तीन बार स्मरण कर साकार-संकेत पूर्वक अनशन स्वीकार करना। पच्चक्खान के बाद शयन के पहले पांच बार श्री नवकार मंत्र का स्मरण करना और अलग शैय्या मे सोना। क्योंकि स्त्री आदि के साथ सो जाने से अनादि काल का लगातार अभ्यास और वेदोदय की उत्कटता के योग से पुनः फिर विषय वासना से विकारी बनता है। इसलिए अलग सोना लाभ दायक होता है, सर्व प्रकार से मोह-विषय कषाय को उपशम करके तथा धर्म-वैराग्य आदि शुभ भावों से जीवन में चिन्तन करके निद्रा लेनी चाहिए। मूल गाथा में **'प्रायेण'** शब्द है, इसलिए सर्वथा त्याग नहीं कर सकता हो तो भी जितना हो सके उतना मैथुन संज्ञा का त्याग करना और एवं जावज्जीव अशक्य हो उसे भी पर्व तिथियों आदि बहुत दिनों में ब्रह्मचारी रूप में रहना चाहिए। जब रात को नींद खुल जाय, तब क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं कि-

निद्राक्षयेऽङ्गनाऽङ्गना मशौचादेर्विचिन्तनम् ।
इत्याहोरात्रिकी चर्या, श्रावकाणामुदीरिता ॥६७॥

गाथार्थ - "रात को जब नींद खुल जाय तब स्त्रियों के अंगों की मलिनता, निःसारता आदि का विचार करना। इस प्रकार से श्रावकों को दिन रात चर्या (करनी) कही है।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावार्थ – ''रात्रि बहुत शेष हो, उस समम नींद खुल जाये तो अनादि संसार में सेवन किए विषय सेवन के अभ्यास रस से उछलते दुर्जय काम के विकार को जीतना। स्त्रियों के अंगों की अपवित्रता, जुगुप्सनीयता और नि:सारता का विशेष प्रकार का चिन्तन करना और मूल गाथा में 'आदि' शब्द आया है इससे श्री जम्बू स्वामी, श्री स्थूल भद्र जी आदि महर्षि, विजय सेठ श्रावक तथा चंदन बाला आदि का दुष्पालन शील पालन से सुवासित पवित्र चरित्र का चिन्तन करना, कषायों को जीतने का उपाय का तथा संसार स्थिति की दुष्टता का ध्यान करना तथा धर्म मनोरथों का चिन्तन करना इत्यादि गृहस्थ का विशेष धर्म है ।'' अब स्त्री शरीर की अपवित्रता के लिए विचार करना कि–

मंसं इमंमुत्त पुरीसमीसं सिंहाण खेलाण य निज्झरंतं ।
एअं अणिच्चं किमिआण वासं पासं नराणं मइवाहि राणं ॥१॥

अर्थात् – ''स्त्री का शरीर मांस रूप है, मल मूत्र से भरा हुआ है, श्लेष्म और कफ थूक आदि अशुचि झरती है, कृमि आदि जीवों का घर है, क्षण विनश्वर है और निर्बुद्धि पुरुषों को फंसाने वाले मोह का फांसा है ।'' इत्यादि –

इस विषय पर श्री जम्बूस्वामी जी, श्री स्थूल भद्रस्वामी जी आदि महा मुनियों का चारित्र तो प्रसिद्ध ही है । एवं कषायादि जीतने का उपाय उसके प्रतिपक्ष के सेवन से होता है, जैसे कि १– क्रोध को क्षमा से विजय करना, २– मान को निरभिमान – विनय से, ३– मान को ऋजुता – सरलता से, ४– लोभ को संतोष से, ५– राग को वैराग्य से, ६– द्वेष को मित्रता से, ७– मोह–मूढ़ता को विवेक से, ८– काम विकार को स्त्री के शरीर की अपवित्रता का विचार करने से, ९–मत्सर को अन्य की सुख संपत्ति में बढ़ती देखकर भी क्लेश नहीं करने से, १०–विषयों को, इन्द्रियों तथा मन को संयम से ११–मन, वचन और काया के अुशभ योगों को तीन गुप्ति से, १२–प्रमाद को अप्रमाद– चेतना से और १३–अविरति को विरति धर्म से, इस तरह प्रतिपक्ष का आचरण करने से वे दोष सरलता से जीते जा सकते हैं । एवं संसार स्थिति की दुष्टता का विचार करना कि चार गतियों में प्राय: अनुभव किए अति दु:खों का चिन्तन करना । उसमें नर्क और तिर्यंचो के महा दु:ख तो प्रगट ही हैं । क्या है कि–

अच्छि निमीलण मित्तं, णत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।
नरए नेरइ आणं, अहो निसं पच्च माणाण ॥१।

जं नरए नेरइ आ, दुक्खं पावंति गोयमा ! तिक्खं ।
तं पुण निगोअ मज्झे, अणंत गुणिअं मुणे अव्वं ॥२॥

अर्थात् – ''नरक गति में दिन रात विविध पीड़ाओं से जलते हुए नरक के जीवों को हमेशा दु:ख ही है। आँख के झपकने जितने समय भी वहां सुख नहीं है । (१)॥ हे

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गौतम! नरक में नारकी जीवों को बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं, इससे भी अनंत गुणा दुःख निगोद में समझने चाहिएं। (२)॥"

मनुष्य जन्म में भी जीवों को गर्भावास के दुःख, जन्म के दुःख, वृद्धावस्था के दुःख, मृत्यु के दुःख तथा अनेक जाति की मानसिक चिन्ता, शरीर के नाना प्रकार के रोग, दरिद्रता आदि उपद्रवों के दुःख होते हैं। देवता रूप में भी वहां से च्यवन का, दासत्व का, पराभव का, इर्ष्या आदि अनेक प्रकार के दुःख होते हैं। और कहा है कि-

सुईहिं अग्गिवण्णाहि संमिण्णस्स निरंतरं ।
जारिसं गोयमा ! दुक्खं गब्भे अट्ठगुणं तओ ॥१॥

गब्भाओ नीहरंतस्य, जीणीजंत निपीलणे ।
सय साहस्सिअं दुक्खं, कोडा कोडी गुणं पि वा ॥२॥

चारग निरोहवह बन्ध रोग धण हरण मरण वसणाइं ।

मणसंतावो अजसो, विगोवण या य माणुस्से ॥३॥
चिंतासंतावेहि अ, दारिद्दरू आहि दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूणवि माणुस्सं मरंति केई सुनिव्विण्णा ॥४॥

इसा विसायमय कोह-मायलोहेहिं एव माईहिं ।
देवा वि समभिभूआ, तेसिं कत्तो सुहं नाम ॥५॥

अर्थात् – "श्रमण भगवान श्री महावीर प्रभु कहते हैं कि-हे गौतम ! तपी हुई अग्नि के समान सुई एक साथ में पूरे शरीर में चुभा दी जायं, उससे जो दुःख-वेदना होती है उससे आठ गुणी वेदना-दुःख गर्भावास में होता है। (१)॥ गर्भ में से निकलते समय माता की योनि रूप यंत्र में पिलता है उस समय गर्भावास से लाख गुणा अथवा क्रोड़ा क्रोड़ी गुणा दुःख होता है। (२)॥ जन्म होने के बाद भी कारागृह वास, दण्डों का प्रहार आदि विविध बंधन, रोग, धन का हरण, अन्त में मृत्यु की व्यथा, इसके अतिरिक्त चिन्ता, संताप, अपयश, निद्रा आदि अनेक दुःख मनुष्य जीवन में भोगने पड़ते हैं। (३)॥ कई तो चिंता से, संताप से, रोक न सके ऐसी दरिद्रता से अथवा असाध्य रोगों से अत्यंत घबड़ाकर आत्महत्या भी कर लेते हैं। (४)॥ देव लोक के देवता भी ईर्ष्या, विषाद, मद, क्रोध, माया, लोभ आदि से अति दुःखी होते हैं, उनको भी सुख कहां पर है ? (५)॥" इत्यादि चार गति रूप संसार की विषमता का ध्यान करना। फिर धर्म मनोरथ की भावना का इस तरह चिन्तन करना चाहिए-

सावय धरंमिवर हुज्ज, चेऽओ नाण दसंण समेओ ।
मिच्छातमोद्रि अमई. मा राया चक्कवट्टी वि ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कइआ संविग्गाणं, गीअत्थाणं गुरुण पय मूले ।
सयणाइ संगर हिओ, पवज्जं संपवज्जिस्सं ॥२॥

भयभेरव निक्कंपो, सुसाण माइसु विहिअउस्सग्गो ।
तव तणु अंगो कइआ, उत्तम चरिअं चरिस्सामि ॥३॥

अर्थात् – ''ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुण वाले श्रावक के घर में दास रूप रहना स्वीकार है, किन्तु मिथ्यात्व से मूढ़मति वाला राजा महाराज चक्रवर्ती मैं बनना नहीं चाहता। क्योंकि धर्म के बिना वह पद नरक में ले जाता है।(१)॥ अपने स्वजन सम्बन्धियों का सम्बन्ध छोड़कर मैं संविग्न और गीतार्थ गुरु के चरण कमल में कब दीक्षा अंगीकार करूँगा ? (२)॥ साधु बनकर मैं तप द्वारा शरीर को सुखाकर भय भेरव-वोहान आदि में भी निडर बनकर श्मशान आदि में काउस्सग्ग करता हुआ उत्तम चारित्र का पालन कब करूँगा ? (३)॥ इत्यादि मनोरथों का चिन्तन करना चाहिए।'' इस प्रकार श्रावक के योग्य पूरे दिन रात करणीय रूप यह सम्पूर्ण गृहस्थ का विशेष धर्म समझना चाहिए।

प्रकरण चौथा
पर्वादि कर्त्तव्य

यहाँ तक श्रावक के दिन कर्त्तव्य को गृहस्थ द्वारा अपने धर्म रूप में आचरण करना चाहिए। इस तरह विस्तारपूर्वक कहकर अब पर्व दिन आदि में करने योग्य कर्त्तव्य पूर्व में बहुत सारा वर्णन किया गया है। उसको यहां कुछ स्पष्ट रूप में विषेष कहते हैं–

एवं पर्वसु सर्वेषु, चतुर्मास्यां च हायने ।
जन्मन्यपि यथाशक्ति, स्वस्व सत्कर्मणां कृतिः ॥६८॥

गाथार्थ – ''इस दिन कर्त्तव्य के समान सभी पर्व दिनों में, चौमासी में, वर्ष में एवं सम्पूर्ण जन्म में भी करने योग्य अपने अपने सत्कार्यों को शक्ति अनुसार करना चाहिए।''

व्याख्या – ''**एवं**' = पूर्व कहने के अनुसार '**सर्वेषु**' = एक दो नहीं परन्तु सभी '**पर्वसु**' = चतुर्दशी आदि पर्वों में। '**चतुर्मास्या**' = चार महीने के चौमासी में '**हायने**'= पूरे वर्ष में तथा '**जन्मन्यपि**' = सम्पूर्ण जन्म में भी '**यथा शक्ति**' = अपने चित्त की सामर्थ्य अर्थात् भाव और संपत्ति आदि सामग्री के अनुसार धर्म अनुष्ठान करना चाहिए, अपनी शक्ति को छुपाना नहीं चाहिए और अपने परिणाम गिरें भी नहीं इस तरह करना। '**स्वस्व सत्कर्मणां**' = पर्व में पर्व कार्य, चौमासी में चौमासी कर्त्तव्य, वर्ष में वार्षिक कृत्य और जन्म में जीवन के सम्बन्ध में करने योग्य '**सत्**' = सुन्दर अर्थात् धर्म के कार्यों को, '**कृति**' करना चाहिए, यह गृहस्थ का विशेष धर्म है। यहां जैसे दिन कृत्य हमेशा करने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

योग्य है वैसे ही पर्व कृत्य आदि भी उस पर्व आदि में करने योग्य हैं। उसमें पर्व के लिए श्राद्ध विधि में कहा है कि-

अट्ठमी चउद्दसी पुण्णिमा य, तहामावसा हवइ प व्वं ।
मासंमि पव्वछक्कं तिन्नि अ पव्वाइं पक्खं मि ॥१॥

अर्थात् - "दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या- इस तरह पर्व दिन एक महीने में छः और एक पक्ष में तीन आते हैं ।"

तथा **'चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासीसु'** = अर्थात् 'चतुर्दशी अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा में' इस सूत्र पाठ से मूल आगम में भी ये छः पर्व कहे हैं । श्री महानिशीथ सूत्र में तो ज्ञान पंचमी को भी पर्व रूप में कहा है । वहाँ कहा है- **'अष्टमी चउद्दसीसु नाणपंचमीसु उपवासं न करेइ पच्छित्तं'** = अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, तथा ज्ञान पंचमी के दिन उपवास न करे तो प्रायचित्त आता है । अन्य ग्रन्थों में तथा श्राद्ध विधि प्र० ३ गाथा ११ की टीका में कहा है-

बीआ पंचमी अट्ठमी, एगारसी चउद्दसी पण तिहीउ ।
एआओ सुअतिहीओ, गोयम गण हारिणा भणिआ ॥१॥

बीआ दुविहे धम्मे, पञ्चमी नाणेसु अट्ठकम्मे अ ।
एगारसी अंगाणं, चउद्दसी चउदपुव्वाणं ॥२॥

अर्थात् - "द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी- इन पांच पर्व-तिथियों को श्री गौतम गणधर ने श्रुत तिथियां कही हैं । (१)॥ उसमें द्वितीया दो प्रकार के धर्म की है अर्थात् निश्चय और व्यवहार से अथवा श्रुत और चारित्र या श्रावक धर्म और साधु आदि अनेक रूप में दो प्रकार की है और पंचमी पांच ज्ञान की आराधना के लिए है, अष्टमी आठ कर्मों को क्षय करने के लिए है, एकादशी ग्यारह अंग रूप श्रुत ज्ञान की है और चतुर्दशी चौदह पूर्व की आराधना के लिए है । (२)॥"

इन पाँच तिथियों में पूर्णिमा अथवा अमावस्या को मिलाने से प्रत्येक पक्ष में उत्कृष्ट से छः पर्व आते हैं । इन पर्व के दिनों में मुख्य रूप से पौषध का कर्त्तव्य है । यदि वह प्रत्येक पर्व में न कर सके तो भी अष्टमी आदि तिथि में अवश्य करना चाहिए । आगम (श्राद्ध विधि) में कहा है कि-

सव्वेसु काल पव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो ।
अट्ठमी चउद्दसीसु अ, नियमेण हविज्ज पोसहिओ ॥

अर्थात् - "जिन मत के अन्दर सर्व काल के पर्वों में प्रशस्त योग से अर्थात् मन,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति रूप धर्म ध्यान आदि करना चाहिए, और उसमें भी अष्टमी-चतुर्दशी में तो अवश्य पौषध करना ही चाहिए।''

तथापि मूल गाथा में **'यथाशक्ति'** कहा है इसलिए अष्टमी आदि में भी पौषध शक्ति अनुसार करना चाहिए। परन्तु उनको उस दिन दोनों समय सुबह-शाम प्रतिक्रमण, जितनी हो सके उतनी ज्यादा सामायिक एवं बहुत संक्षेप वाला (कम खुला वाला) देशावगाशिक व्रत आदि धर्म कार्य करना चाहिए तथा पापकारी आरंभ कम करना चाहिए। पौषध आदि विधि पहले कह गये हैं। वहां से जान लें।

पर्व के दिनों में स्नान करना, सिर में से जूं आदि खोजना, बाल बनाना, वस्त्र आदि धोना, रंगना, गाड़ी-हल आदि चलाना, अनाज भरना या वनस्पति आदि के भण्डार भरना, कोल्हू, रहट, चक्की आदि यंत्र चलाना, दलना, पीसना तथा पत्ते-पुष्प फल आदि तोड़ना, सचित्त (सजीव) पदार्थ तथा मिट्टी इत्यादि का चूर्ण करना, बोये अनाज को काटना, भूमि, दीवार को लीपना, मिट्टी खोदना, काटना, पीसना, घर बनाना, बढ़ई, राज, मिस्त्री आदि के काम करवाना या चालू रखना, सचित्त भोजन करना इत्यादि सर्व पाप कार्यों को छोड़ना चाहिए।

प्रतिदिन जो तप करते हो उससे पर्व दिन में तपस्या विशेष करना, स्नात्र पूजा, चैत्य परिपाटी, सर्व मुनिराज को वंदन करना, सुपात्र दान और ब्रह्मचर्य का पालन आदि धर्म कार्य अवश्य करना चाहिए तथा प्रतिदिन जो करते हो उससे भी पर्व दिनों में विशेष आराधना करनी चाहिए। श्राद्ध विधि में कहा है कि -

जइ सव्वेसु दिणेसुं पालह किरिअं तओ हवइ लट्ठं।
जं पुण तहा न सक्कह, तह विहु पालिज्ज पव्वदिणं ॥११॥

अर्थात- ''जो सर्व दिनों में धर्म क्रिया का पालन होता है, वह उत्तम है वैसे यदि न कर सके तो भी पर्व दिनों में तो अवश्य पालन करना ही चाहिए। तथा-''

नावण चीवर धोअण-मत्थयगुंथणम बंभचेरं च।
खंडण पीसण लिप्पण, वज्जे अव्वाइं पव्व दिणे ॥२॥

अर्थात्-''स्नान करना, वस्त्र धोना, बाल बनाना-गूंथना, मैथुन सेवन करना, और दलना, पीसना, लीपना इत्यादि कार्यों का पर्व दिनों में त्याग करना चाहिए।'' आगम में भी पर्व दिन के पालन करने से शुभ आयुष्य का बन्धन आदि महाफल बताया है। कहा है कि -

''भयवं! बीअपमुहासु पंचसु तिहीसु विहिअं धम्माणुट्ठाणं किं फलं होइ? गोयमा! बहु फलं होइ जम्हा ए आसु तिहीसु जीवो परभवाउअं समज्जिणइ तम्हा तवोवहाणाइ धम्माणुट्ठाणं कायव्वं जम्हा सुहाउअं समज्जिणइ इति।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''यहाँ प्रश्न करते हैं कि- हे भगवन् ! द्वितीया आदि पांच पर्व तिथियों में धर्म अनुष्ठान की आराधना करने से क्या फल मिलता है ? उत्तर- हे गौतम । इससे महान् फल मिलता है क्योंकि इन तिथियों में जीव के आगामी जन्म का आयुष्य बंधन होता है । इसलिए पर्व के दिनों में तप-उपधान आदि धर्म अनुष्ठान करने से शुभ आयुष्य का बन्धन करता है, इत्यादि ।''

आश्विन और चैत्र मास की शाश्वती दो ओली, चौमासी की तीन अढाई और पर्यूषण की एक- इस तरह कुल छह अट्ठाहियों के दिन, तीन चौमासे के दिन और संवच्छरी का एक दिन आदि के अतिरिक्त श्री जिनेश्वरों के च्यवन, जन्म, दीक्षा आदि पाँच कल्याणक के दिन भी पर्व जानना । इन सब पर्व दिनों में पूर्व कहे धर्म कार्य विशेष करना चाहिए । श्राद्ध विधि में कहा है -

सवंच्छर चाउम्मासिएसु अट्ठाहिआसु अ तिहीसु ।
सव्वायरेण लग्गइ, जिणवर पूआ तव गुणेसुं ॥१॥ टीका

अर्थात् – ''सांवत्सरिक (पर्यूषण की) और चौमासी आदि अट्ठाहियों में तथा प्रत्येक पर्व तिथियों में सर्व प्रकार के प्रयत्न पूर्वक जितना अधिक हो सके उतना श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा, तप तथा ब्रह्मचर्य आदि गुणों की साधना में लग जाना चाहिए ।'' उसमें भी चैत्र और आसोज की दो अट्ठाहियां शाश्वती हैं । उन दिनों वैमानिक देव भी श्री नंदीश्वर आदि तीर्थों में जा जाकर महोत्सव करते हैं । उत्तराध्यन वृति में कहा है कि-

दो सासय जत्ताओ, तत्थेगा होइ चित्तमासंमी ।
अट्ठाहि आदि महिमा, बीआ पुण अस्सिणे मासे ॥१॥

ए आओ दो वि सासय जत्ताओ करंति सव्वदंवावि ।
नंदी सरंमि खयरा, अहवा निअएसु ठाणेसु ॥२॥

तह चउमासिअ तिअगं पज्जोसवणा य तहय इअ छक्कं ।
जिण जम्मदिक्ख केवल-निव्वाणाइसु असासइआ ॥३॥

अर्थात् – ''दो अष्टाह्निका यात्राओं में एक अष्टाह्नका महोत्सव चैत्र में और दूसरा आसोज में होता है । ये दोनों शाश्वती यात्रायें हैं । इनमें सारे देवता, विद्याधर उन अट्ठाहियों में नदीश्वर द्वीप में अथवा अपने अपने स्थान पर उत्सव करते हैं । इसके अतिरिक्त तीन चौमासा की एक पर्यूषण की- इस प्रकार कुल अट्ठाईयां छः हैं और श्री जिनेश्वर भगवान के जन्म दीक्षा-केवल-निर्वाण आदि कल्याणक की सब अट्ठाईयां अशाश्वती हैं। जीवाभिगम में भी कहा है कि -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

"तत्थणं बहवे भवण वइ वाणमंतर जोइस वेभाणिका देवा तिहिं चउमासि एहिं पज्जो सवणाए-अट्ठाहिआओ महामहिमाओ करिंति ।" अर्थात्- 'वहानं दीश्वर द्वीप में बहुत भवन पति वाण व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक देव तीन चौमासे में और पर्यूषण में आठ दिनों के अन्दर बड़ा महोत्सव करते हैं ।'

तिथि निर्णय – सुबह को पच्चक्खान लेने के (सूर्योदय के) समय में जो तिथि हो उसके अनुसार तिथि मानना । लोगों में भी सूर्योदय के अनुसार दिन आदि का व्यवहार होता है । श्राद्ध विधि के प्रस्ताव तीसरे गाथा ११ की टीका में कहा भी है कि-

चाउम्मासी अ वरिसे, पक्खिअ पंचट्ठमीसु नायव्वा ।
ताओ तिहीओ जासिं, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१॥

पूआ पच्चक्खाणं, पडिक्कमणं तहय नियम गहणं च।
जीए उदेइ सूरो, तीइ तिहीए उ कायव्वं ॥२॥

उदयंमि जा तिही, सा पमाणमिअरीइ कीरमाणीए ।
आणाभंगणावत्था, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥३॥

अर्थात् – "चातुर्मासिक, वार्षिक, पाक्षिक, पंचमी तथा अष्टमी में उन तिथियों का प्रमाण करना, जब जिस तिथि में सूर्योदय हो वही तिथि प्रमाण भूत है, उसके बिना तिथि आदि प्रमाण भूत नहीं है । (१)॥ तथा पूजा पच्चक्खान-प्रतिक्रमण और नियम अभिग्रहादि कार्य जिस दिन, पर्व तिथि का सूर्योदय हो वही दिन कहलाता है, उसी दिन वह करना । (२)॥ सूर्योदय के समय जो तिथि हो उसे ही वह दिन प्रमाणभूत रखना, क्योंकि उसके बिना की अन्य तिथि मानने से १-आज्ञा भंग, २-अनवस्था, ३-मिथ्यात्व और ४-विराधना- इस तरह दोष लगते हैं । (३)॥"

आदित्योदय वेलायां, या स्तोकापि तिथिर्भवेत् ।
सा सम्पूर्णेति मन्तव्या, प्रभुता नोदयं बिना ॥

अर्थात् – "सूर्योदय के समय में जो तिथि थोड़े समय तक भी हो वह तिथि ही सम्पूर्ण रूप माननी चाहिए, परन्तु सूर्योदय बिना की वह तिथि लम्बे काल तक पूरे दिन-रात तक हो तो भी वह तिथि उस दिन नहीं मानी जाती है ।" उत्सर्ग से औदयिक तिथि के विषय में यह नियम कहा है, परन्तु पंचांग के हिसाब से क्षय या वृद्धि तिथि आती है, उस समय क्या करना ? उसके लिए वाचक प्रवर श्री मद् उमास्वाति जी महाराज का कथन (वृद्ध परम्परा से) इस तरह सुना जाता है –

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षये पूर्वा तिथिः कार्या तथोत्तरा ।
श्री वीर ज्ञान निर्वाणं (मोक्ष कल्याणम्) कार्यलोकानुगैरिह ॥१॥

अर्थात् – "क्षय तिथि हो तब उसकी आराधना पूर्व की तिथि में करना और वृद्धि तिथि हो तब उसकी आराधना पहली तिथि छोड़कर उत्तरा तिथि अर्थात् दूसरी तिथि में करना एवं श्री वीर परमात्मा का केवल ज्ञान और निर्वाण (मोक्ष कल्याणक) लोगों के अनुसार करना चाहिए अर्थात् लोगों में जिस दिन दिवाली पर्व मनाया जाय, उस दिन में मनानी चाहिए।" श्री गौतम स्वामी जी के केवल ज्ञान का सम्बन्ध प्रभु के निर्वाण के साथ होने से उसकी भी आराधना उसी रात्रि के अन्तिम प्रभात में करने का व्यवहार है। इस प्रकार से पर्व तिथि आदि के दिनों में पौषध आदि धर्म कार्य द्वारा आराधना करना योग्य है। इस तरह पर्व कृत्य कहा है।

॥ इति पर्व कृत्य समाप्तं ॥

चौमासा कर्त्तव्य

अब चातुर्मासिक कर्त्तव्य का विधान कहते हैं। उसमें जिसने जो व्रत लिए हों उसने उन व्रतों में जो खुला रखा हो वह चौमासे में उपयोग रहित हो उसका भी त्याग करके, भोग उपभोग का संक्षेप करना। व्रत स्वीकार न किया हो तो भी कारण बिना अविरति जन्य पापारंभ-कर्म बन्धन से बचना। प्रत्येक चौमासे में अपनी अनुकूलता के अनुसार नये नियम करना। उसमें वर्षा काल अषाढ़ चौमासे में तो सम्यकत्व अधिकार में जो नित्य नियम पूर्व कह गये हैं, उस नियम में वृद्धि करना जैसे कि – दो अथवा तीन बार अष्टप्रकारी आदि जिन पूजा करना, सम्पूर्ण बड़े देव वंदन करना, सर्व जिन भगवान की हमेशा पूजा करना, ऐसा न हो सके तो दर्शन वन्दन करना, स्नात्र महोत्सव बड़ी, पूजा-प्रभावना आदि करना, गुरु महाराज को बड़े-द्वादशावर्त्त वंदन करना, अंग पूजा, ज्ञानी गुरु महाराज की पूजा करना, प्रभावना-स्वस्वित- गहूंली आदि करना, ज्ञानी की भक्ति करते हुए व्याख्यान सुनना, गुरू महाराज की शारीरिक भक्ति- पैर सिर दबाना आदि करना, नया ज्ञान पढ़ना, अभ्यास करना, अनेक प्रकार से स्वाध्याय करना, पानी प्रासुक-अचित्त करा हुआ पीना, सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग करना, सर्वथा त्याग न कर सके तो निरुपयोगी सचित्त खाने पीने की वस्तु का त्याग करना चाहिए।

घर, दुकान या मकान की दीवार, थंभे, खाट, पलंगादि, पाट पट्टे, सीका, घी, तेल पानी, आदि पात्र, ईंधन, कोयले, उपले आदि तथा अनाज आदि सब वस्तुओं में निगोद, नील, फूल, काई, सिवार या इयल आदि जीवों की उत्पत्ति न हो, इसके लिए उनकी जिस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तरह रक्षा हो उस तरह भंडार मकान आदि में पहले से ही चूना आदि लगाना, अनाज आदि में राख आदि मिलाना, सब वस्तुओं को साफ करना, सुखाने योग्य वस्तु धूप में रखे तथा नमी-तरी न लगे ऐसे स्थान पर रखे, ठंडे स्थान में रखने योग्य वस्तु अनाज आदि ठंडे स्थान में रखने की जयणा रखना, तथा पानी दिन में दो बार छानना, घी, तेल, गुड़, छाछ, पानी के आदि बर्तन अच्छी तरह ढककर रखना, गरम मांड का पानी तथा स्नान का मैला पानी आदि नील-फूलण आदि जीव जहां पर न हों इस तरह रेती वाली जमीन पर थोड़ा-थोड़ा अलग अलग स्थान पर डाले, जिससे जल्दी सूख जाय और जीवोत्पत्ति न हो। चूल्हा, दीपक आदि अग्नि को खुला नहीं रखना चाहिए तथा पीसने, पकाने, में वस्त्र धोने में, बर्तन धोने आदि कार्य में अच्छी तरह से देखकर प्रमार्जन का उपयोग रखना चाहिए।

जिन मंदिर, पौषध शाला आदि दस स्थान पर चंदरवा बांधना चाहिए, तथा सर्व कार्यों में पूर्ण जयणापूर्वक करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो, जीव उत्पत्ति होने पर धोने, साफ करने से, प्रथम व्रत का नाश होता है, इसलिए प्रथम से ख्याल रखना चाहिए। दूसरे व्रत की रक्षा के लिए अभ्याख्यान-कलंक किसी को देना, चुगली खाना, कठोर वचन बोलना तथा बिना ही कारण झूठे बोलना इत्यादि वचन के दोषों को छोड़ना। तीसरे व्रत की रक्षा के लिए झूठ माप तोल से लेना देना आदि नहीं करना, चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य का पालन करना, सर्वथा पालन न हो तो पर्व तिथियों में अवश्य पालन करना चाहिए और सामान्य तिथियों में दिन में मैथुन का सर्वथा त्याग करना, एवं रात्रि में परिमाण करना चाहिए। पांचवें व्रत में इच्छा रूप परिणाम में जितना खुला रखा हो, उससे अधिक हो, उसे घटाकर इच्छा को रोकना। छठे व्रत में सर्व दिशा में जाने आने का जितना रखा हो उन सबका त्याग करना, वैसा शक्य न हो तो भी आवश्यक बिना दिशाओं में जाने का अवश्य त्याग करना। सातवें व्रत में शक्यता अनुसार स्नान करना, बाल गूंथना, दातून का उपयोग, जूते चप्पल आदि का त्याग करना। इसके अतिरिक्त मिट्टी, खान खोदना, वस्त्र आदि रंगना, गाड़ी, मोटर, ट्रैक्टर आदि चलाना इत्यादि पाप कार्य बन्धन करना चाहिए।

बादल के समय या बरसात के समय से खिरनी आम में इयल जीव होते हैं। आर्द्रा नक्षत्र की हवा से उनमें जीवोत्पत्ति होती है। इसलिए आर्द्रा नक्षत्र के प्रारम्भ होते ही इनका त्याग करना चाहिए तथा सुपारी, बादाम, नारियल आदि भी उसी दिन फोड़ा हो तो खाने का व्यवहार है। पत्ते की भाजी का वर्षा चौमासे में विशेष त्याग करने के लिये कहा। पत्तों का त्याग फाल्गुण चौमासे से त्याग करने का व्यवहार है। पका हुआ बासी भोजन, द्विदल (कच्चा गोरस के साथ में द्विदल अनाज) और पूरी आदि, पापड़, बड़ी आदि सूखा साग, पान, खोपरा (नारियल का सूखा गोला), छुहारा, खजूर, द्राक्ष, कच्ची खांड

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि प्रत्येक में नील, फूल, कुंथुवे, इयल आदि होने की संभावना होने से त्याग करना चाहिए। कभी औषधादि विशेष कार्यों में आवश्यकता हो तो भी उसे अच्छी तरह देखकर जयणापूर्वक उपयोग करना इत्यादि पहले कह गये हैं। तथा पंद्रह कर्मादानों में एवं बहुत पापकारी-आरंभ वाले कठोर कर्मों का भी त्याग करना। आठवें व्रत में में जल क्रीड़ा, तालाब, नदी आदि में स्नान करना नहीं चाहिए, तथा तेल मालिश आदि करना, भोजन पकाना आदि न करना इत्यादि का नियम करना। इस तरह पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत के पालन, रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जो देशावकासिक, सामायिक और पौषध करते हैं- उसमें वृद्धि करना अर्थात् पर्व के दिनों में विशेष से विशेष करना। अतिथि संविभाग हमेशा करना चाहिए, ऐसा न बने तो भी तप के पारणे पर अवश्य करना चाहिए। इस तरह शिक्षाव्रतों की आराधना करना। इसके अतिरिक्त शक्ति के अनुसार उपधान तप, संसार तारण तप, अट्ठाई तप, या पंद्रह उपवास, सोलह उपवास, मास क्षमण आदि नाना प्रकार की तपस्या विशेषता पूर्वक करना, रात में चउविहार करना, वह न हो सके तो तिविहार भी पच्चक्खान करना, दीन अनाथ आदि दु:खी जीवों को सहायता देना इत्यादि चातुर्मासिक कर्त्तव्य जानना।

इस अर्थ को बताने वाली चौमासी अभिग्रह के वर्णन की पूर्वाचार्य की रचित गाथाएं हैं, वह देते हैं। यह गाथाएं श्राद्ध विधि प्रकरण की गाथा १२वीं की टीका में इस तरह आयी हैं-

चाउम्मासि अभिग्गह, नाणे तह दंसणे चरित्रे अ ।
तव विरिआयरम्मि अ दव्वाइ अणेगहा हुंति ॥१॥

परिवाडी सज्झाओ, देसण सवणं च चिंतणी चेव ।
सत्तीए कायव्वं, सिअपंचमि नाणपूआ य ॥२॥

संमज्जणो वलेवण, गूंहिलिया मंडणं च चिइ भवणे ।
चेइअ पूआवं ण निम्मल करणं च बिबाणं ॥३॥

चारित्तंमि जलूआ जूआगं डोल पाडणं चेव ।
वण कीड खारदाणं, इंधण जलणन्नतस रक्खा ॥४॥

वज्जइ अब्भखाणं अक्कोसं तहय रूक्ख वयणंच ।
देव गुरु सवह करणं, पेसुन्नं पर परिवायं ॥५॥

पिइ माइदिट्ठ वंचण, जयणं निहिसुंक पडिअविसयमि ।
दिणिबंभ रयणि वेला, पर नर सेवाइ परिहारो ॥६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धण धन्नाई नव विह-इच्छा माणंमि निअम संखेवो ।
परपेसण संदेस य, अह गमणाई अदिसि माणे ॥७॥

ण्हाणंगराय धूवण विलेवणाहरण फुल्लतं बोलं ।
धणसारा गुरु कुंकुम पोहि समय नाहि परिमाणं ॥८॥

मंजिट्ठ लक्ख कोसुंभ गुलि अरागाण वत्थु परिमाणं ।
रयणं वज्जमणि कणग रूप्पसुत्ताइ परिमाणं ॥९॥

जंबीर अंब जंबुअ राइण नारिंग बीजपूराणं ।
कक्कडि अखोड वायम कविट्ठटिं वरू अविल्लाणं ॥१०॥

खज्जूर दक्ख दाडिम उत्तत्ति अनालि केर केलाइं ।
चिचि णि अ बोर बिल्लअ फल चिक्भड चिब्डीणं च ॥११॥

कयर करमं दयाणं, भोरंड निंबुअ अ अंबिलीणं च ।
अत्थाणं अकू रिअनाण विहफु ल्लपत्ताणं ॥१२॥

सच्चित्तं बहुबीअं, अणंत कायं च वज्जए कमसो ।
विगई विगइ गयाणं, दव्वाणं कुणइ परिमाणं ॥१३॥

अंसु अधो अणलिंपण खत्तक्खणणं च न्हाण दाणं च।
जूआकड्ढणमन्नस्स, खित्त कज्जं च बहूभेअं ॥१४॥

खंडण पीसण माईण, कुडसक्खाइ कुणइ संखेवं ।
जल झिल्लणन्नरं धण उव्वट्टण माइ आण च ॥१५॥

देसावगासि अवए, पुढवी खणणे जलस्स आणयणे।
तह चीर धोअणे ण्हाण पि अण जलणस्स जालणए ॥१६॥

तह दीव बोहणे बाय बीअणे हरिअछिंदणे चेव ।
अणि बद्ध जंपणे गुरु जणेण य अदत्तए गहणे ॥१७॥

पुरिसासण सयणीए, तह संभासण पलोयणाई सुं ।
ववहारे परिमाणं, दिसिमाणं भोग परिभोगे ॥१८॥

तह सव्वणत्थ दंडे, सामाइअ पोसहेऽतिहि विभागे ।
सव्वेसुवि संखेवं, काहं पइ दिवस परिमाणं ॥१९॥

खंडण पीसण रंधण भुंजण विक्खणण वत्थ रयण च ।
कत्तण पिंजण लोढण धवलण लिंपण यसोहणए ॥२०॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाहण रोहण लिक्खाइ जोअणे वाण हाण परिभोगे ।
निंदण लूणण उंछण रंधण दलण इकम्मे अ ॥२१॥

संवरणं कायव्वं, जह संभव मणु दिणं तहा पढणे ।
जिण भवण दंसणे सुणण गुणण जिण भवण किच्चे अ ॥२२॥

अट्ठमी चउद्दसीसुं कल्याण तिहीसु, तव विसेसेसुं ।
काहामि उज्जममहं, धम्मत्थं वरिस मज्झंमि ॥२३॥

धम्मत्थं मुंहपत्ती, जल छाणण ओसहाइ दाणं च ।
साहम्मि अवच्छल्लं, जह सत्ति गुरुणं विणओ अ ॥२४॥

मासे मासे सामाइअं, च वारिसंमि पोसहं तु तहा ।
काहामि ससत्तीए, अति हीणं संविभागं च ॥२५॥

अर्थात् – "ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वीर्य इन- पाँच आचारों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव आदि रूप चातुर्मासिक अभिग्रह अनेक प्रकार से कर सकते हैं । (१)॥ ज्ञानाचार, ज्ञान-परिपाटी पढ़ना, अध्ययन करना, पूछना आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय, व्याख्यान श्रवण करना तथा सुने हुए धर्म शास्त्र का चिन्तन करना एवं शक्ति अनुसार ज्ञान पंचमी के दिन श्रुत ज्ञान की पूजा आदि विशेष रूप में करना । (२)॥ दर्शनाचार में जिन मंदिर में संमार्जन (सफाई आदि) करना, चूना आदि लगाना । गूंहली करना, मोती आदि का स्वास्तिक बनाना एवं जिन पूजा करनी, देव वंदन करना और जिन प्रतिमाओं क पूजा आंगी विलेपन आदि से निर्मल करना। (३)॥ चारित्राचार में-शरीर पर पानी नहीं डालना, सिर पर से जूं नहीं निकालना, मारना नहीं, शरीर में कीड़े हों तो उसे दवा आदि से मारना नहीं, शरीर पर फोड़ा फुंसी आदि में पड़े जीवों को क्षार देकर अथवा जहरी वस्तु आदि लगाकर मारना नहीं, ईंधन देख भालकर उपयोग करना, अग्नि-चूल्हा-दीपक आदि में पड़कर जीव मर न जाय इस तरह जयणा रखना, अनाज में पड़े त्रस जीव न मरें इस प्रकार उनकी रक्षा करना । इस तरह प्रथम व्रत का पालन करना । (४)॥ दूसरे व्रत में किसी को झूठा कलंक नहीं देना, आक्रोश नहीं करना, कठोर-अप्रिय वचन नहीं बोलना, देव-गुरु- धर्म आदि की कसम नहीं खाना और चुगली या निंदा आदि नहीं करना, । (५)॥ तीसरे व्रत में माता पिता आदि की दृष्टि वंचना नहीं करना, ठगकर अलग गठरी नहीं रखना, किसी की धरोहर खत्म नहीं करना, कर चोरी नहीं करना और किसी की खोई हुई पड़ी हुई वस्तु में भी जयणा रखना अर्थात् चोरी की बुद्धि से लेना नहीं । चौथे व्रत में दिन के अन्दर ब्रह्मचर्य का पालन करना और रात में अमुक वार तिथि के दिनों का नियम रखना, इसके अतिरिक्त पुरुष ने पर स्त्री को तथा स्त्री ने पर पुरुष को भोग का त्याग

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आदि का नियम करना । (६)॥ पाँचवें व्रत में धन, अनाज आदि नौ प्रकार के परिग्रह में रखा हो उसे इच्छा परिमाण का संक्षेप करना और छठे व्रत में नियमित भूमि के बाहर अन्य को नहीं भेजना, संदेश भी नहीं भेजना, मंगवाना नहीं एवं नियम की भूमि से बाहर भूमि- अधिक भूमि में नहीं जाना इत्यादि । (७)॥ सातवें व्रत के अन्दर स्नान करने का, अंगराग करने का, शरीर पर धूप करना, विलेपन करना, आभूषण अलंकार धारण करना, पुष्प, हार-पान आदि का उपयोग करना तथा बरास, अगुरु, कुंकुम, केसर, कस्तूरी आदि उपयोग करने का अमुक परिमाण का नियम करना । (८)॥ मजीठ, लाख, कुसुंभ, रंग, नील आदि रंगों से रंगने में तथा वस्त्रों में पहनने आदि में एवं रत्न, हीरा, मणी, सोना, चांदी, मोती, सूत्र आदि भी पहनने में उपभोग के विषय में परिमाण करना । (९)॥ भोजन के विषय में जंबीर (फल विशेष), आम, जामुन, खिरनी, नारंगी, बीजोरा, ककड़ी, अखरोट, वायम, कोठा, टिम्बरू, बीलीफल । (१०)॥ खारिक, छुहारा, किशमिश, अनार, नारियल, केले आदि तथा आँवला, बेर, बील के फल, फूट, आरिया, । (११)॥ तथा केर, करमेद, भोरड़, नींबू, इमली आदि आचार जिसमें नये अंकुर उत्पन्न हुए हों, तथा अनेक प्रकार के पुष्प पत्ते आदि । (१२)॥ इन द्रव्यों में सचित्त-बहुत बीज वाले, अनंतकाय आदि का क्रमानुसार विशेष प्रकार से त्याग करना चाहिए अर्थात् संचित न छोड़ सके तो बहु बीज का त्याग करे, बहु बीज का त्याग न कर सके तो अनंत काय का त्याग करना चाहिए । यथा शक्य घी-दूध आदि विगइयों का, उसके नीवियाता का तथा सरस द्रव्य आदि का परिमाण करना चाहिए । (१३)॥ आठवें व्रत में वस्त्र धोना, लिपाई करना, खान खोदना, पुण्यार्थ के लिए स्नान-दान करना, अन्य की जूं बीनना या अनेक प्रकार का क्षेत्र-खेती का कार्य करना । (१४)॥ ऊखल में कूटने, दलने आदि कार्यों में जितना बने उतना संक्षेप करना और झूठी साक्षी को संक्षेप करना, विवेक करना, जलाशयों में स्नान करना, अनाज पकाना, उद्वर्तन करना, तेल साबुन आदि लगाने आदि में संक्षेप करना अर्थात् कम से कम उपयोग करना । (१५)॥ देशावगाशिक व्रत में-जमीन खोदना, पत्थर तोड़ना आदि-पृथ्वी काय है, पानी लाना, वस्त्र धोना, स्नान करना, पानी पीना आदि अपकाय हैं, अग्नि जलाना । (१६)॥ दीपक जगाना आदि अग्निकाय हैं, हवा करना, पंखा चलाना, फूंकना इत्यादि वायुकाय हैं । हरी वनस्पति छेदन करना, रौंदना इत्यादि वनस्पतिकाय हैं। इन पाँचों स्थावर जीवों की विराधना को संक्षेप (थोड़े) में करना, विशेष आरंभ संमारंभ नहीं करना । असंबद्ध बोलने में, बजुर्ग न जानें इस तरह गुप्त वस्तुएं प्राप्त करना इत्यादि में संक्षेप करना । (१७)॥ परस्पर पुरुष-स्त्री के आसन पर बैठना, शयन करना, परस्पर बोलना, अंगोपांग आदि देखना इत्यादि अनुचित वर्तन बन्द करना अथवा संक्षेप करना, व्यापार कार्य का प्रमाण भी निश्चय करना कि इतने से अधिक व्यापार नहीं करना, दिशाओं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

का परिमाण करना और भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करना। (१८)॥ सर्व प्रकार के अनर्थ दण्ड के कार्यों का संक्षेप करना, सामायिक, पौषध, अतिथि संविभाग के विषय में भी कम करते हों अथवा न करते हों, उसे प्रतिदिन करना या उसे बढ़ाना। (१९)॥ पीसना, दलना, कूटना में, भोजन पकाने में, नाटक, सिनेमा, टी० वी० आदि देखने में, वस्त्र रंगने में, रुई पिंजन में, कपास उठाने या एकत्रित करने में, भीत आदि में, सफेदी कराने में, भूमि लीपने में तथा वस्तु साफ-शुद्ध करने में इत्यादि जितना बने उतना संवर (संक्षेप) करना चाहिए। (२०)॥ मोटर, गाड़ी, रिक्षा, स्कूटर आदि चलाने में, घोड़े आदि पर बैठना, शरीर का शोधन, करना। जूते, चप्पल पहनने में तथा खेत में खोदना, बोना, काटना, पकाना, दलना आदि कार्य में। (२१)॥ हमेशा यथाशक्ति संक्षेप करना, उसका नियम रखना। इस तरह सर्व व्रतों के संक्षेप रूप देशावकाशिक करना। ज्ञान, ध्यान, अभ्यास में, जिन मंदिर दर्शन-पूजा करने में, धर्म उपदेश सुनने में, स्वाध्याय करने में तथा जिन मंदिर आदि के कार्यों में हमेशा विशेष उद्यम करना चाहिए। (२२)॥ "धर्म की आराधना के लिए इस वर्ष में अष्टमी, चतुर्दशी आदि अथवा श्री जिनेश्वर के कल्याणक आदि दिनों में सविशेष तप-जप आदि करूँगा इस तरह निर्णय करना चाहिए। (२३)॥ धर्म की साधना के लिए साधर्मियों को मुंहपत्ति, पानी छानने का छनना तथा औषध आदि देकर यथा शक्य साधर्मिक वात्सल्य-भक्ति आदि में उद्यम करना। (२४)॥ इस प्रकार चौमासे में धर्म करणी में अपनी शक्ति अनुसार वृद्धि करनी चाहिए तथा 'कम से कम प्रत्येक महीने में एक सामायिक, वर्ष में एक पौषध और अतिथि संविभाग यथाशक्ति करूँगा' इत्यादि प्रमाण करना चाहिए। (२५)॥" इस तरह चार गुणव्रतों की आराधना करना, उसी तरह से क्रमशः बारह व्रत आदि की आराधना रूप चातुर्मासिक कार्य जानना।

॥ इति चातुर्मासिक कर्त्तव्य ॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्रावक के वार्षिक कर्त्तव्य

अब वार्षिक कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं। 'संघ पूजा' आदि वार्षिक कर्त्तव्य अनेक प्रकार के हैं। उसका वर्णन श्राद्ध विधि प्रकरण में ग्यारह द्वारों से इस प्रकार कहा है –

पइ वरिसं सङ्घच्चण, साह म्म अभत्ती जत्त तिगं ॥१२॥
जिण गिहणहवणं जिणधण वुड्ढी महपूअ धम्म जागरिआ।
सुअ पूजा उज्जमणं, तह तित्थ पभावणा सोही ॥१३॥

अर्थात्– "श्राव को प्रति वर्ष (१) संघ पूजा, (२) साधर्मिक भक्ति, (३) तीन प्रकार की यात्रा, (४) जिन मंदिर में स्नात्र महोत्सव, (५) देव द्रव्य की वृद्धि, (६) महापूजा, (७) धर्म जागरण, (८) श्रुत ज्ञान की पूजा, (९) उद्यापन, (१०) शासन की प्रभावना और (११) शोधी अर्थात् प्रायश्चित्त ग्रहण– इन ग्यारह कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।" वह इस प्रकार हैं–

१-संघ पूजा – अपने वैभव-संपत्ति के अनुसार अतीव आदर और बहुमान पूर्वक साधु साध्वी के योग्य 'आधा कर्म' आदि बयालीस दोष रहित-निर्दोष और वह भी संयम में उपकारक वस्त्र-कम्बल, रजोहरण सूत्र, ऊन, पात्र, दण्डा, सोय, कांटे निकालने वाला साधन, कागज, दवात, कलम, पेन्सिल, पुस्तक आदि गुरु महाराज को समर्पण करना। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है –

वत्थ पत्तं च पुत्थं च, कंबलं पायपुंछणं ।
दंडं संथारयं सिज्जं, अन्नं जं किंचि सुज्झइ ॥१७८॥

अर्थात् – "वस्त्र, पात्र और पुस्तक, कम्बल, पादप्रोच्छन (रजोहरण), दण्डा, संथारा, शय्या तथा अन्य भी संयम की उपकारक जो कोई योग्य शुद्ध कल्पनीय वस्तु हो वह साधु को देनी चाहिए।"

इसी तरह पाट, तख्ता आदि जो संयम की उपकारक हो, वह सर्व वस्तुएं भी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक साधुओं को देना चाहिए। साधु जीवन में सुई आदि भी उपयोगी है। वृहदकल्प में कहा है कि- "**असणाई, सूत्थाई सआइ, चउक्कगा तिन्नि**" अर्थात् अशन आदि चार, वस्त्र आदि चार और सुई आदि चार– इस तरह कुल बारह अर्थात् "१-अशन, २-पान, ३-खादिम, ४-स्वादिम, ५-वस्त्र, ६-पात्र, ७-कम्बल, ८-पाद प्रोच्छन (रजोहरण), ९-सुई, १०-पिप्पलक (मुंडन आदि के लिए अस्त्र), ११-नाखून उतारने का अस्त्र तथा १२-कर्ण-कान शोधन की शली– ये बारह वस्तुएं, जिस स्थान पर रात्रि निवास किया हो उस शय्यातर की, साधु को नहीं कल्पतीं।" अर्थापत्ति से वह अन्य को कल्पनीय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं, इसलिए संयम में उपकार करें ऐसी निर्दोष वस्तुएं गुरु महाराज को समर्पण कर साधु-साध्वी रूप श्रमण संघ की पूजा भक्ति करना चाहिए। शक्ति अनुसार भक्तिपूर्वक वस्त्रादि देकर श्रावक श्राविका रूप संघ का भी सत्कार करना, तदुपरान्त देव, गुरु, धर्म आदि के गुणगान करने वाले अन्य याचक, योजक, सेवक, भाट आदि का भी यथोचित सत्कार करना चाहिए।

श्री संघ की पूजा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- तीन प्रकार से होती है। उसमें अपनी शक्ति से समस्त संघ को सर्वप्रकार का विशिष्ट वेश आदि देकर सत्कार करना, वह उत्कृष्ट पूजा है। शक्ति के अभाव में केवल सूत्र (धागा) समान अल्प कीमत की वस्तु द्वारा सत्कार करना अथवा केवल एक ही साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका की भक्ति करना वह जघन्य संघ पूजा है और इन उत्कृष्ट और जघन्य बीच की मध्यम भक्ति समझना। यदि अधिक खर्च करने की शक्ति न हो तो भी श्रावक को प्रति वर्ष में गुरु महाराज को केवल एक मुंहपत्ति के समान अल्प दान भी करना चाहिए और श्रावक श्राविका को केवल सुपारी आदि सामान्य वस्तु देकर भी सत्कार करना चाहिए। निर्धन को इतने से भी महाफल मिलता है। इसलिए थोड़ी भी भक्ति करके 'संघ की पूजा' का नियम पालन करना चाहिए। अपनी शक्ति को छुपाये बिना श्री संघ की पूजा करने से महान फल मिलता है। प्रतिष्ठा पंचाशक में कहा है कि -

सत्तीइ संघ पूजा, विसेस पूजाउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ, तित्थ यराणं तरो संघो ॥३८॥

अर्थात् - "शक्ति अनुसार श्री संघ पूजा अवश्य करनी चाहिए, चतुर्विध श्री संघ की पूजा के अवयव रूप आचार्य आदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति की पूजा करने से बहुत गुणों को करने वाली है क्योंकि आगम में श्री संघ को भी श्री तीर्थंकर भगवंत से दूसरे नम्बर से अथवा उनके बराबर या तीर्थंकर के भी पूज्य होने से उनसे भी श्रेष्ठ कहा है।" यह श्री संघ पूजा की विधि कही है।

२. साधर्मिक भक्ति-(वात्सल्य) - श्रावक को प्रतिवर्ष अपने समान धर्म वाले भाइयों-साधर्मिकों का वात्सल्य अवश्य करना चाहिए। जो सभी का न कर सके उनको भी कम से कम एक दो भी श्री श्रावक श्राविकाओं की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि समान धर्मियों का योग-मिलाप बड़ा दुर्लभ है। श्राद्ध विधि प्रकरण गाथा पांचवी की टीका में कहा है कि-

सवैः सर्वे मिथः सर्व सम्बधा लब्धपूर्विणः ।
साधर्मिकादि सम्बन्ध-लब्धारस्तु मिताः क्वचित् ॥१॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''संसार में जन्म मरण करते सर्व जीवों को परस्पर सर्व के साथ में माता, पिता, भाई, बन्धु आदि सब सम्बन्ध पूर्व काल में अनेकशः बन्धन किए हैं, परन्तु साधर्मिकत्व आदि धार्मिक सम्बन्ध बन्धन करने वाला तो कोई अल्प जीव ही होता है ।'' उसमें महापुण्य से मिला हुआ उन साधर्मिओं की सेवा का फल तो अतुल्य है । श्राद्ध विधि में कहा है कि –

एगत्थ सव्व धम्मो साहम्मि अवच्छलं तु एगत्थ ।
बुद्धि तुलाए तुलिआ, दोविअ तुल्लाई भणिताइं ॥१॥

अर्थात् – ''एक ओर दानादि सारा धर्म रख दिया जाय और दूसरी ओर केवल एक साधर्मिक-वात्सल्य को रखकर यदि बुद्धि रूप तराजू से तोला जाय तो दोनों समान होते हैं । ऐसा जिनेश्वर भगवान ने कहा है ।'' क्योंकि साधर्मिक सर्व धर्मों का आधारभूत होने से उसकी सेवा करने से सर्व धर्मों की सेवा रूप है ।

मुनिराज को राजपिंड नहीं कल्पता है । इससे राजाओं को तो अतिथि संविभाग व्रत की भी साधर्मिक वात्सल्य से ही आराधना हो सकती है । साधर्मिक वात्सल्य की विधि इस तरह है –

१-द्रव्य साधर्मिक वात्सल्य –स्वयं यदि शक्ति सम्पन्न हो तो हमेशा शक्ति अनुसार एक दो आदि साधर्मिक भाइयों की भक्ति करे । वह हमेशा करने में अशक्य हो तो पुत्रादि के जन्मोत्सव अथवा अन्य प्रसंग पर साधर्मिक को विनयपूर्वक आमंत्रण देकर भोजन समय में स्वयं उनके पैर धोना आदि विनयपूर्वक उत्तम आसन पर बैठाकर उत्तम सुवर्ण, चांदी आदि के पात्र-थाली में अलग-अलग साग सहित उत्तम मीठे भोजन से, पान, इलायची और वस्त्र आभूषणों से उनका सत्कार करना । संकट काल में हों तो उनको अपना धन खर्च करके भी उस संकट में से मुक्त करना, आपत्ति में से बचाना-छुड़ाना और अंतराय कर्म के उदय से किसी का वैभव नष्ट होता हो तो उसको अपना धन देकर भी पूर्व के समान संपत्ति वाला बना देना । श्राद्ध विधि में कहा भी है कि–

न कयं दीणद्धरणं न कयं साहम्मि आणं वच्छल्लं ।
हिअयंमि बीअराओ, न धारिओ हारिओ जन्मो ॥

अर्थात् – ''जिसने जीवन में दीन दुःखियों का उद्धार नहीं किया, साधर्मिक वात्सल्य नहीं किया और हृदय में श्री वीतराग परमात्मा को धारण नहीं किया, वह अपने जन्म को हार गया है । ''

२-भाव साधर्मिक वात्सल्य – किसी तरह से शिथिल बना जिसको धर्म दुष्कर हो उसकी प्रतिकूलता दूर करके, आवश्यक वस्तु देकर धर्म कार्य में स्थिर करना, प्रमाद-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आलस करने वाले को उस कर्त्तव्य को याद करवाना, भूल करने वाले को विवेपूर्वक भूल से बचाना, वात्सल्यपूर्वक सन्मार्ग की प्रेरणा करना, एक बार प्रेरणा करने पर भी नहीं समझे तो भी नाराज न होकर उसे सद्भावपूर्वक बार-बार प्रेरणा देना। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि -

सारणा वारणा चेव चोयणा पडिचोयणा ।
सावएणावि दायव्वा, सावयस्स हिआवहा ॥२०६॥

अर्थात्- "इसका अर्थ वहां कहा है कि-भूले हुए धर्म कार्य को याद करवाना, वह 'स्मारणा' है और कुसंगति आदि अकार्यों से रोकना, उसे 'वारणा' कहते हैं। स्मारणा और वारणा बारम्बार करने पर भी कोई अति प्रमादी अपने कर्त्तव्य नियमों आदि में भूल करे तो उसे 'श्रावक समान उत्तम कुल में जन्मे हुए को इस तरह करना क्या योग्य है ?' इत्यादि वाक्यों से कुछ उपालंभ देकर प्रेरणा करना वह 'नोदना' कहलाता है, और जब एक ही विषय में बारम्बार भूल आदि करता है तब 'तेरे जन्म को धिक्कार हो !' इत्यादि कठोर शब्दों से विशेष प्रेरण देना वह 'प्रतिनोदना' समझना।" कठोर कहने पर भी वात्सल्य भाव टूटना नहीं चाहिए नहीं तो अन्य का हित करते हुए अपनी ही हानि होती है। फलस्वरूप असद् भाव होते धर्मी मिटकर अधर्मी बन जाता है। श्राद्ध विधि प्रकरण में कहा है कि -

पम्हुट्ठे सरणावुत्ता, अणायारस्स वारणा ।
चुक्काणं चोयणा होइ, निट्ठुरे पडिचोयणा ॥१॥

अर्थात् - "विस्मृत को याद करवाना- वह स्मारणा है, उल्टा आचरण करने से रोकना- वह वारणा है, फिर भी भूल जाय तो सावधान करना- वह नोदना है और निष्ठुर वचन से उपालंभ देना- वह प्रतिनोदना कहा है।"

इसलिए श्रावक को भी साधर्मिक के हित के लिए धर्मकार्यों में यथायोग्य स्थान पर पूर्व कहे अनुसार सारणा-वारणा आदि करना चाहिए। यह भाव से साधर्मिक वात्सल्य का स्वरूप जानना। श्राद्ध कृत्य में कहा है कि-

साहम्मि आण वच्छल्लं, एवं अन्नं विआहिअं ।
धम्मट्ठाणेसु सीअंतं, सव्व भावेण चोयणा ॥२०८॥

अर्थात् - "यह प्रथम द्रव्य साधर्मिक वात्सल्य कहा। दूसरा भाव वात्सल्य इस प्रकार कहा है कि-पूजा, अनुष्ठान आदि धर्मकायों में शिथिल- प्रमादी साधर्मिक को सर्व प्रयत्नों से सारणा, वारणादि प्रेरणा शिक्षा देनी चाहिए। वह भी भाव वात्सल्य समझना।" इसलिए साधर्मिक की विनयादि रूप सेवा करना, वही कल्याणकारी है। उनके साथ में झगड़ा- क्लेश आदि अनुचित कुछ भी करना, वह हितकारी नहीं है। श्राद्ध दिन कृत्य में कहा है कि-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विवायं कलहं चेव, सव्वहा परिवज्जए ।
साहम्मिएहि सद्धिं तु, जओ एअं विआहियं ॥२०२॥

जो किर पहणइ साहम्मि अंभि कोवेण दंसण मयंमि ।
आसायणं तु सो कुणइ, निक्किवो लोगं बंधूणं ॥२०३॥

अर्थात् – ''साधर्मिकों के साथ में विवाद एवं कलह सर्वथा नहीं करना चाहिए क्योंकि दर्शनमय जैन शासन के आधारभूत साधर्मिक को क्रोध से जो मारता है, वह निर्दय त्रिलोक बन्धु श्री तीर्थंकर परमात्मा की आशातना करता है ।'' यह दूसरा वार्षिक कर्त्तव्य कहा ।

३-यात्रा त्रिक – प्रसंग के अनुसार यहां 'श्री जिनेश्वर प्रभु की तीन यात्राएं' समझना चाहिए । उसमें १-'**जिन यात्रा**' शब्द का अर्थ पंचाशक में कहा है कि–

जता महू सवो खलु उद्दिस्स जिणे स कीरई जोउ ।
सो जिण जत्ता भण्णइ, तीइ विहाणं तु दाणाइ ॥१॥

अर्थात् – ''यात्रा अर्थात् महोत्सव जिनेश्वरों का उद्देश्य लेकर जो महोत्सव किया जाता है उसे जिन यात्रा कहा जाता है । परदेश जाना, घूमना उसे यात्रा नहीं समझना चाहिए। इस जिन यात्रा में दान आदि किया जाता है ।'' यात्रा पंचाशक में कहा है कि–

दाणं तवो वहाणं, सरीर सक्कारमो जहा सत्ति ।
अचिअं च गीय वाइअ थुइ थोत्ता पेच्छ णाइआ ॥६-५॥

अर्थात् – ''यथाशक्ति दान देना, तप करना, वस्त्रादि से शरीर की शोभा करना और महोत्सव के उचित गीत, बाजे, स्तुति-स्तवन तथा नाटक आदि करना– ये यात्रा के कर्त्तव्य हैं ।''

नाटक, गीत, बाजे बजाने आदि तो महोत्सव के आरंभ में मध्य में, और अन्त में भी करना चाहिए । यात्रा पंचाशक में कहा है कि -''**पत्थावो पुण णेओ, इमे सिमारंभ भाईओ**'' अर्थात् नाटक आदि का प्रस्ताव तो प्रारम्भ में, बीच में और आखिर में भी करना चाहिए और दान तो महोत्सव के प्रारम्भ में ही करना चाहिए क्योंकि वहीं आगे की गाथा में कहा है कि–

आरम्भे च्चिअ दाणं दीणादीण मणतुट्ठि जणणत्थं ।
रण्णाम धाय कारण मणहं गुरुणा ससत्तीए ॥१२॥

अर्थात् – ''महोत्सव में रंक दीन, दु:खी आदि सर्व की चित्त प्रसन्नता प्रगट करने के लिए दान तो प्रारंभ में ही करना चाहिए । व्याख्यानकार गुरुदेव ने भी अपनी शक्ति

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के अनुसार राजा या वहाँ के अधिकारी आदि को उपदेश देकर जीवों की प्राणलक्ष्मी तथा धनलक्ष्मी की रक्षा करानी चाहिए अर्थात् कसाई, मच्छीमार आदि हिंसा से आजीविका-निर्वाह चलाने वालों की आजीविका का प्रबन्ध करवाकर हिंसादि पाप रुकवाकर अमारि प्रवर्तन करवाना चाहिए। गुरु महाराज का योग न हो तो तो श्रावक आदि को भी धन खर्च करके 'अमारि, अचौर्य आदि करवाना चाहिए'। इस तरह प्रारंभ में ही अमारि प्रवर्तन-अचौर्य आदि करवाकर श्री जिनेश्वर के गुणगान करना, बाजे बजवाना तथा नाटक-प्रेक्षण द्वारा सर्व जीवों को आनंद उत्पन्न करवाना चाहिए तथा सुन्दर वस्त्र, आभरण आदि पहनकर जिन मंदिर आदि में महोत्सव करना-करवाना, उसे यात्रा कहा है। उसके तीन प्रकार हैं। श्राद्ध विधि में कहा है कि -

अष्टाह्निकाभि धामेकां, रथ यात्रामथा पराम्।
तृतीयां तीर्थं यात्रां चेत्याहुर्यात्रां त्रिधा बुधाः ॥५॥

अर्थात् - "प्रथम अष्टाहिका नाम का आठ दिन का महोत्सव, दूसरा रथयात्रा का, तीसरा चतुर्विध संघ के साथ में तीर्थ यात्रा- इस तरह ज्ञानियों ने यात्रा तीन प्रकार की कही है।"

इस प्रकरण में पूर्व में जो कहा है उसके अनुसार सर्व पर्व एवं अष्टाह्निकाओं में बाजे-गाजे आदि आडम्बर पूर्वक सब मंदिरों में अंग रचना, विशिष्ट पूजा, विस्तार पूर्वक महोत्सव आदि करना चाहिए। उसके पहले 'अष्टाह्निका यात्रा' जानना, इसे चैत्य परिपाटी (यात्रा) भी कहते हैं। अच्छी तरह सजाकर, सोना, चांदी या काष्ट आदि के उत्तम रथ में जिन प्रतिमा को विराजमान कर महोत्सवपूर्वक स्नान, पूजादि भक्ति-सत्कार करते हुए समस्त नगर में अथवा गांव शहर में घुमाकर उसकी पूजा करनी, करवानी इत्यादि 'रथ यात्रा' कहलाती है। पूज्य ने श्री हेमचन्द्राचार्य श्री परिशिष्ट पर्व में सर्ग ११-६६ से इस प्रकार रथ यात्रा का वर्णन किया है-

"आर्य श्री सुहस्ति सूरि जी अवंती में पधारे थे। उस समय श्री संघ ने चैत्य यात्रा महोत्सव किया था। उस समय आर्य श्री सुहस्ति सूरि जी महाराज भी श्री संघ के साथ में हमेशा मंडप में पधारकर मंडप को शोभायमान करते थे और उनसे प्रतिबोध प्राप्त करने वाला उनका शिष्य संप्रति राजा दो हाथ जोड़कर, बड़प्पन छोड़कर उनके सन्मुख बैठता था। चैत्य यात्रा के निमित्त श्री संघ ने यह रथ यात्रा निकाली थी, क्योंकि चैत्य यात्रा रथ यात्रा निकालने से पूर्ण होती है। उसमें सुवर्ण, मणिक आदि की कान्ति से चमकता, सर्व दिशाओं में प्रकाश करता, सूर्य के रथ के समान उत्तम रथ रथशाल में से बाहर निकाला और विधि के जानकार श्रावकों ने उसमें विराजमान श्री जिन प्रतिमा की स्नात्र पूजा आदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भक्ति प्रारंभ की। उसमें जन्माभिषेक के समय जैसे मेरु पर्वत ऊपर से नीचे गिरता है वैसे ही स्नात्र जल रथ में से नीचे गिरता है, उसका प्रवाह बहने लगा। फिर मुखवस्त्र (मुख कोष) बांधे हुए श्रावकों ने प्रभु को विनति करना चाहते हो इस तरह प्रतिमा जी को सुगन्धित द्रव्यों से विलेपन किया और मालती-शतपत्र आदि पुष्पों की मालाओं से पूजा की, तब जैसे शरद ऋतु में बादल से ढके हुए चन्द्र की कला के समान प्रकाशमान होता है वैसे प्रभु प्रतिमा प्रकाश मान होने लगी अर्थात् जैसे बादलों में चन्द्र कला शोभती है वैसे ही पुष्प मालाओं में प्रतिमा शोभायमान होने लगी। अगुरु आदि से धूप पूजा भी इसी तरह की कि - धुंए से ढकी हुई प्रतिमा जी मानो नील वस्त्र धारण किये हों इस तरह शोभने लगे। फिर दैदीप्यमान दीपक की शिखा वाली जब आरती उतारी जाती थी तब जिन प्रतिमा जी इस तरह दिखती थी कि उसके सामने देदीप्यमान औषधियों से शोभित मेरू पर्वत का शिखर भी लज्जित होता था। फिर अर्हत् धर्म के उपासक वे श्रावक श्री अरिहंत भगवंत का चैत्य वन्दन करके वृषभ (बैल) के समान स्वयमेव रथ को खींचने लगे। इसी तरह रथ प्रतिदिन शहर में फिरता, तब नगर की स्त्रियां आकर रथ के चारों तरफ प्रदक्षिणा से रास नृत्य करती थीं, चारों प्रकार के बाजों के नादपूर्वक नृत्य नाटक होता था और रथ के चारों तरफ श्राविकाएं सुन्दर मांगलिक गीत गाती थीं। इस प्रकार हमेशा घर-घर में पूजा सत्कार को प्राप्त करता और उत्तम केसर आदि की सुगन्ध वाले पानी के छिड़काव वाली भूमि पर चलता वह रथ अनुक्रम से संप्रति महाराजा के महल के द्वार पर आया, उस समय कटहल फल के कांटे के समान उसके रोम रोम हर्ष से विकस्वर हो गये। उस संप्रति राजा ने भी अपूर्व आनंद रूपी सरोवर में हंस के समान आनंदपूर्वक नाचते हुए रथ में शुशोभित श्री जिन प्रतिमा की अष्ट प्रकारी पूजा की" इत्यादि वर्णन है।

इसी प्रकार महापद्म चक्री ने भी माता के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए अतीव आडंबर पूर्वक रथ यात्रा की थी। परमार्हत् राजा कुमार पाल ने रथ यात्रा की थी। उसका वर्णन इस तरह किया है कि-"चैत्य शुद्ध अष्टमी के दिन चौथे पहरे में अति शोभायमान रथ रथशाला में से निकाला उस समय अति हर्ष से आए नागरिकों ने अचानक मंगल रूप 'जय जय' शब्दों का उच्चारण किया। जब जिनेश्वर भगवान का सुवर्णमय वह रथ चलता था तब मेरु पर्वत के समान दिखता था, उसके ऊपर स्वर्ण दंड पर बड़ा ध्वज लहरा रहा था तथा छत्र चामर आदि से अतिशय दैदीप्यमान था। वह रथ रथघर में से निकलकर कुमार विहार-जिन मंदिर के प्रांगण में आया, तब महाजन ने शानपूर्वक स्नात्र, विलेपन, पुष्पहार, अलंकार, आभूषण आदि से विभूषित श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा को बड़े आडम्बर से रथ में विराजमान किया। फिर बाजों की नाद से आकाश को भी गुंजाते रथ

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के सामने युवतियों का समूह आनंदपूर्वक नाचता था, सामंत, राजा, मंत्री आदि साथ में चलते थे, इस प्रकार वह रथ राजमहल की ओर चला और वहां पहुँचा। तब राजा कुमार पाल ने स्वयमेव रथ में विराजमान श्री अरिहंत परमात्मा की मूर्ति की रेशमी वस्त्र तथा स्वर्ण आभूषण आदि से पूजा की एवं विविध नाटक नृत्य करवाए। इस तरह महोत्सव पूर्वक रात्रि पूर्ण करके रथ सिंहद्वार के बाहर, जहाँ पर अनेक ध्वजाएं वायु से लहराती नाच कर रही थी, वहाँ सुन्दर पंडाल में आया। उसके बाद प्रभात में राजा ने स्वयमेव चतुर्विध श्री संघ के समक्ष रथ में रही जिन प्रतिमा की उत्तम प्रकार से पूजा करके आरती भी उतारी, फिर हाथी जोड़े। वह रथ स्थान-स्थान पर पट्ट मंडप बाँधे हुए, अनेक स्थानों पर रुकते हुए, पूजनीय बनते सारे नगर में घूमा।" इत्यादि रथयात्रा का स्वरूप जानना।

तीसरी '**तीर्थ यात्रा**' इसमें श्री शत्रुंजय गिरिराज, गिरिनार, सम्मेद शिखर जी आदि तीर्थ तथा श्री तीर्थंकर देवों का जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा निर्वाण भूमि एवं विहार की भूमियां- इन प्रत्येक स्थान से भव्य जीवात्माओं को शुभ भाव प्रगट होता है। इस प्रकार यह संसार से तारता है, इसलिए तीर्थ कहलाता है। वहां सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए जिनेश्वर के निमित्त विधिपूर्वक महोत्सव करना वह तीसरी 'तीर्थ यात्रा' कहलाती है। उसमें मुख्य रूप में प्रथम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, कम से कम एकासना का तप करना, पैदल चलना इत्यादि अभिग्रह करना, वाहन आदि की सामग्री हो फिर भी तीर्थयात्रा पैदल चलकर करना योग्य है। क्योंकि श्राद्ध विधि में कहा है कि-

एकाहारी दर्शन धारी यात्रासु भूशयन कारी।
सचित परिहारी, पदचारी ब्रह्मचारी च ॥१॥

अर्थात् - "तीर्थ यात्रा के अन्दर (१) एक आहारी, (२) दर्शनधारी अथवा आवश्यक कारी, (३) भूमि शयनकारी, (४) सचित्त परिहारी, (५) पादचारी और (६) ब्रह्मचारी ये छह 'री' का पालन करना चाहिए। यह यात्रा का प्रथम कर्त्तव्य है।"

इसके अतिरिक्त राजा की आज्ञा लेकर शक्ति अनुसार यात्रा के लिए युक्ति वाला (जो साथ रख सके- फोल्डिंग) मंदिर को तैयार करवाना, अनेक जाति के वस्त्र मंडप (पंडाल) आदि रहने के लिए साधन, बड़े कढ़ाई आदि रसोई के साधन, चलते कुएं-सरोवर अर्थात् पानी के लिए टंकी, जिसमें हर समय पानी भरा रहे, एवं गाड़ी आदि अनेक जात के वाहन आदि सामग्री तैयार करना, फिर बहुमान पूर्वक गुरु महाराज, श्री संघ को तथा स्वजन वर्ग को निमंत्रण करना, तदुपरान्त अमारि उद्घोषणा (हिंसा बन्द करवानी), जिन मंदिर में बड़ी पूजा आदि महोत्सव करना, दीन दुःखी आदि को दान देना और

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जिसको धन-वाहन आदि की अनुकूलता न हो, उसको वह सारी सामग्री देने की उद्घोषणा करवाकर तीर्थ यात्रा के लिए उत्साहित करना एवं श्री संघ की रक्षा के लिए बख्तर आदि सामग्री सम्मानपूर्वक देकर अनेक सुभटों को रक्षा के लिए साथ में रखना। गीत, नृत्य, बाजे आदि एकत्रित करना। ये सब सामग्री तैयार करके शुभ दिन में प्रस्थान रूप मंगल करना और वहां समग्र समुदाय को विशिष्ट भोजन, ताम्बूल तथा उत्तम वस्त्र आदि से सम्मान करके, प्रतिष्ठावान्, धर्मनिष्ठ, पूज्य बुजुर्ग अति भाग्यवंत पुरुषों के हाथ से संघपति का तिलक करवाना, फिर वहां श्री संघ पूजा का महोत्सव करना और प्रयाण के बाद मार्ग में श्री संघ की सुन्दर सार संभाल रखना। गांव-गांव और नगर-नगर में जिन मंदिर में स्नात्र पूजा, ध्वज का दान, चैत्य परिपाटी आदि महोत्सव तथा यथाशक्ति जीर्णोद्धार भी करवाना, इस तरह सारी चिन्ता करते हुए श्री तीर्थ स्थान पर पहुँचाना, वहां दूर से दर्शन होते ही रत्न मोती आदि से तीर्थ को बंधाना, स्तुति करना और उत्तम लड्डू की प्रभावना करना।

तीर्थ भूमि में पहुँचने के बाद वहाँ अष्टप्रकारी आदि महा पूजा पढ़ानी, विधि पूर्वक स्नात्र महोत्सव करना, तीर्थ माला पहनना, घी की धारा देना, जिनेश्वर भगवान के नौ अंग पर पूजा करना, रेशमी आदि मूल्यवान् बड़ी ध्वजा चढ़ाना, रात्रि में जागरण करना, गीत, नृत्य आदि उत्सव करना, तीर्थ की आराधना के निमित्त उपवास, छट्ठ-अट्ठम आदि यथा शक्ति तप करना, अलग अलग जाति के फल नैवेद्य आदि भेद-चढ़ाना, वस्त्र रखने, देखने वाले को भी आश्चर्य हो- इस तरह सुन्दर दर्शनीय चंद्रुआ भगवान के ऊपर बांधना, दीपक के लिए तेल, घी, पूजा के लिये धोती, केशर चन्दन अगुरु, पुष्प दानी आदि समस्त पूजा की सामग्री भेंट देना, नया मंदिर आदि बनाने वाले सुतार मिस्त्री आदि का सत्कार करना, वहां आशातना आदि होती हो तो उसे दूर करना, तीर्थ रक्षा करने वाले का सम्मान करना, तीर्थ के निर्वाह के लिए फंड को कायम करना, साधर्मिक वात्सल्य करना तथा श्री संघ की वस्त्र आदि से भक्ति करना और याचकों को तथा दीन दु:खियों को उचित दान देना, इत्यादि सत्कार्य करना। इस तरह यात्रा करके, वापिस आकर सुन्दर महोत्सव पूर्वक नगर प्रवेश करना। जब घर पहुँचे तब शासन देव का आह्वान आदि का ओच्छव करना। श्री संघ को भोजन आदि से सत्कार करके विसर्जन (विदाय) करना और अमुक वर्ष तक तीर्थ यात्रा की तिथि के दिन उपवास आदि तप करके उस दिन आराधना करना। यह तीर्थ यात्रा की विधि जानना। ये यात्राएं श्री जिनेश्वरों के कल्याणक दिनों में विशेष लाभदायक होती हैं। यात्रा पंचाशक में कहा है कि-

ता रह निक्खमणाइ वि, एते उ दिणे पडुच्च कायव्वं।
जं एसो च्चिअ विसओ, पहाणमो तीए किरिआए ॥४२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् – ''उसके लिए अर्थात् कल्याणक दिनों में श्री तीर्थंकर का बहुमान आदि करने से विशेष लाभ होने से रथ निष्करण (रथ यात्रा) आदि के लिये भी उन दिनों का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि यात्रा रूप उस कार्य के लिए कल्याणक का दिन ही मुख्य विषय रूप है ।''

जैसा पर्व कृत्यों में कह गये हैं, उसी तरह ''वार्षिक और चातुर्मासिक तिथियों में, अट्ठाइयों में तथा पर्व तिथि के दिनों में सर्व आदर पूर्वक-शक्य सारी सामग्री पूर्वक श्री जिन पूजा, तपस्या और ब्रह्मचर्य आदि गुणों की आराधना करनी चाहिए।'' यह आगम का प्रमाण होने से कल्याणक दिनों के समान अष्टाह्निका एवं पर्वों के दिनों में भी यात्राएं विशेष लाभदायक समझना । ये यात्राएं दर्शन शुद्धि मिथ्यात्व के क्षय के लिए भी उत्तम कारण-भूत होने से उसका उद्यम करने से कल्याणकारी ही होता है । यात्रा पचाशंक में कहा है कि-

''दंसण मिह मोक्खंगं, परम ए अस्स अट्ठहायारो ।
निस्संकादि भणितो, पभावणं तो जिणिं देहिं ॥२॥

पवरा पभावणा इह, असेस भावंमि तीए सब्भावा ।
जिण जत्ता य तयंगं जं पवरं तप्प यासोऽ ॥३॥

अर्थात् – ''मोक्ष का मुख्य अंग सम्यग् दर्शन है । इस दर्शन के लिए श्री जिनेश्वर भगवन्त ने 'नि:शंकता आदि प्रभावना तक' आठ प्रकार का दर्शन आचार कहा है । उसमें प्रभावना नामक आठवां आचार श्रेष्ठ कहा है क्योंकि शेष सात हों तभी प्रभावना हो सकती है । इस प्रभावना का अंग जिन यात्रा अर्थात् यात्रा त्रिक है । इसलिए उस यात्रा का प्रयत्न करना चाहिए, यही सर्वोत्तम मार्ग है ।'' इस तरह यात्रात्रिक का तीसरा कृत्य कहा ।

४. श्री जिन मंदिर में स्नात्र महोत्सव – श्री जिनेश्वर भगवन्त की स्नात्र पूजा भी हमेशा करनी चाहिए । यदि वह न बने तो पर्व के दिनों में और वह भी न बने तो प्रति वर्ष आखिर एक भी बाजे गीत आदि आडंबर पूर्वक सर्व उत्तम सामग्री एकत्रित करना, साधर्मिक आदि को निमंत्रण करके श्री सकल संघ के साथ में स्नात्र महोत्सव करना चाहिए, जिससे जिन शासन की प्रभावना-महत्व बढ़े ।

५. देव द्रव्य की वृद्धि – देव = परमात्मा सम्बन्धी द्रव्य की वृद्धि के लिए प्रत्येक वर्ष में अपनी शक्ति अनुसार इन्द्रमाला अथवा अन्य बोली बोलकर उपधान माला, भगवान के प्रक्षाल आदि पूजा आदि के द्वारा देव द्रव्य की वृद्धि करनी चाहिए तथा मंदिर में जो आवश्यक हो उसे चढ़ाना चाहिए तथा अपनी संपत्ति अनुसार जिन प्रतिमा के लिए मुकट आदि नये आभूषण, चदरवा, छोड़ आदि बनाकर मंदिर में भेंट करने चाहिएं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

६. महापूजा – भगवान के सर्व अंगों पर आभूषण चढ़ाना, विशेष प्रकार से अंग रचना करना, शरीर पर पत्र भंगी–कस्तुरी आदि का लेप करना, सुन्दर रचना करना, पुष्प तथा केले के वृक्ष के घर बनाना, पुतली की आकृति वाला पानी का फुव्वारा आदि बनाना तथा अलग–अलग राग के सुन्दर गीत गाना, नृत्य करना, बाजे बजाना इत्यादि महोत्सव पूर्वक बड़ी बड़ी पूजाएं करना, पढ़ाना ।

७. रात्रि जागरण – इन महोत्सव आदि प्रसंगों पर रात्रि में जागरण करना चाहिए ।

८. श्रुत पूजा – श्रुत ज्ञान के साधन रूप पुस्तक आदि की वासक्षेप आदि से पूजा करना– वह तो प्रतिदिन भी कर सकते हैं । वह हमेशा करनी चाहिए । जो ऐसा करने में अशक्य हो उसे प्रत्येक वर्ष में एक बार तो अवश्य इस प्रकार श्रुत पूजा करनी चाहिए तथा उसके लिए उपयोगी वस्त्र आदि भी देना चाहिए ।

९. उद्यापन – पंच परमेष्ठि श्री नवकार महामंत्र, श्री आवश्यक सूत्र, श्री उपदेश माला इत्यादि ज्ञान के विषय, दर्शन के विषय तथा अलग–अलग प्रकार के तप के विषय में उद्यापन करने का नियम शास्त्र में बतलाया है । उसमें प्रत्येक वर्ष कम से कम एक तो उद्यापन विधि पूर्वक अवश्य करना चाहिए । उसमें विधि इस प्रकार है कि–श्री नवकार महामंत्र का लाख अथवा करोड़ आदि जाप पूर्ण करके श्री जिन मंदिर में स्नात्र महोत्सव, साधर्मिक वात्सल्य, संघ पूजा इत्यादि बड़े आडम्बर पूर्वक जितना जाप किया हो उतने लाख या करोड़ चावल के दाने अथवा स्वस्तिक (साथिया) करना, श्री नवकार मंत्र के अक्षर हैं उतने– अड़सठ सोना, चांदी की कटोरी, स्लेट, कलम, मणि, मोती, परवाल, रोकड़े, रुपया आदि द्रव्य, श्री फल आदि अनेक जात के फल, नाना प्रकार की मिठाई, अनाज, खादिम, स्वादिम तथा वस्त्र आदि वस्तुओं की भेंटपूर्वक नवकार मन्त्र का उद्यापन करना चाहिए । उपधान, वहन आदि विधि पूर्वक करके, माला परिधान करके भी आवश्यक सूत्र का उजमणा (उद्यापन) करना । इस तरह प्रकीर्ण आदि ग्रंथों का उद्यापन भी उसकी गाथाओं की संख्या अनुसार करना । जैसे – उपदेश माला की ५४४ गाथा होने से उतने लड्डू, नारियल आदि फल, नैवेद्य, रोकड़े, रुपये आदि वस्तु भेंट करना, इत्यादि उपदेश माला आदि ज्ञान का उद्यापन करना, तथा अन्दर सोना, मोहर आदि रखकर तैयार किये लड्डू, (दर्शन लड्डू) की प्रभावना करके शासन की प्रभावना रूप दर्शन आदि का उद्यापन करना और शुक्ल–शुद्ध पंचमी आदि अलग अलग तप का उद्यापन भी उस तप में किए उपवास आदि की संख्या अनुसार रोकड़े, रुपये अथवा सोना आदि द्रव्य, कटोरी, नारियल लड्डू आदि विविध वस्तुए भेंट रखकर करना चाहिए । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, तप आदि के उद्यापनों में प्रति वर्ष कम से कम स्वशक्ति अनुसार एक उद्यापन तो करना ही चाहिए ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१०. तीर्थ प्रभावना - श्री जैन शासन की शोभा के लिए प्रति वर्ष में कम से कम एक बार गुरु का प्रवेश महोत्सव, श्री संघ को परिधान देना और प्रभावना आदि करना। उसमें गुरु का प्रवेश महोत्सव तो 'सर्व प्रकार के बाजे आदि बड़े आडम्बर से चतुर्विध श्री संघ के साथ में मिलकर करना, गुरु के सम्मुख जाना और श्री गुरु आदि सर्व संघ का सत्कार करना इत्यादि यथा शक्ति आडम्बर से गुरु महाराज को नगर में प्रवेश करवाना चाहिए। उपदेश माला में कहा है कि-

अभिगमण वंदण नमं सणेणं पडिपुच्छणेण साहूणं।
चिर संचिअं पि कम्मं, खणेण विरलत्तण मुवेइ ॥१६६॥

अर्थात् - "गुरु महाराज के सामने जाने से, वंदन करने से, नमस्कार करने से एवं सुख शाता आदि पूछने से चिरकाल के भी संचित किए कर्मों का क्षण में नाश हो जाता है।"

साधु का प्रवेश महोत्सव अनुचित है- ऐसी कभी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सिद्धान्त में भी उसके विशेष विधान का प्रतिमान किया है। व्यवहार भाष्य में साधु की प्रतिमा के अधिकार में कहा है कि-

तीरिअ उब्भामग निउग दरिसणं सन्नि साहू मप्पाहे।
दंडिअ भोइअ असई, सावग संघो न सक्कारं ॥

अर्थात्-"इस श्लोक भावार्थ इस तरह है कि-"प्रतिमा धारी साधु-मुनि प्रतिमा-अभिग्रह विशेष पूर्ण करके नजदीक के गांव में जिस रास्ते पर बहुत साधुओं का गमना-गमन होता हो- वहां जाकर सभी देख सकें, इस तरह 'मैं प्रतिमा (वहन) धारण करके आया हूँ।" इस प्रकार साधुओं को जाहिर करे, तब वे साधु राजा आदि वहां के अग्रसरों को कहे कि- "अमुक नाम वाले महा तपस्वी साधु तपस्या पूर्ण करके गांव के बाहर पधारे हैं, उनका अच्छे सत्कार पूर्वक गच्छ में प्रवेश कराने योग्य है। इससे राजा प्रवेश करवाएं, राजा के अभाव में गांव का मुख्य अधिकारी, वह न हो तो समृद्धिशाली श्रावक और ऐसा श्रावक भी न हो तो चतुर्विध श्री संघ मिलकर भी सत्कार पूर्वक नगर प्रवेश करवाना चाहिए। ऐसा प्रसिद्ध आचार है।" ऐसा आगम वचन होने से गुरु का प्रवेश महोत्सव बड़े आडम्बर पूर्वक करवाना योग्य है। तथा श्री श्रावक संघ को भी नारियल-लड्डू आदि उत्तम वस्तुओं की प्रभावना आदि करनी चाहिए क्योंकि शासन की प्रभावना करने वाला 'तीर्थंकर' नाम कर्म आदि उपार्जन करता है। उपदेश पद में कहा है कि-

अपुव्व नाण गहणे, सुअभती पवयणे पभावणया।
ए एहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥५०२॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "अपूर्व-नया ज्ञान प्राप्त करने से (पढ़ने से), श्रुत ज्ञान की भक्ति करने से और जिन शासन की प्रभावना करने से- इन तीनों कारणों से जीव 'तीर्थंकर' नाम कर्म उपार्जन करता है।" तथा श्राद्ध विधि गाथा पांचवीं की टीका में कहा है कि-

कारणादधिका मन्ये भावनातः प्रभावनाम् ।
भावना मोक्षदा स्वस्य, स्वान्ययोस्तु प्रभावना ॥१॥

अर्थात् - "भावना और प्रभावना में महा अन्तर है, भावना तो अपनी ही होती है और प्रभावना अपने को और अन्य को भी मोक्ष देने वाली है। इसलिए भावना से भी प्रभावना अधिक है, इस तरह मैं जानता हूँ।" अतः प्रतिवर्ष यथाशक्ति शासन प्रभावना करना चाहिए। यह दसवां वार्षिक कृत्य कहा है।

११. शोधी - अर्थात् जीवन की शुद्धि अर्थात् अपराध का प्रायश्चित्त गुरु महाराज का योग मिले तो प्रत्येक वर्ष में कम से कम एक बार अपनी भूलों को प्रगट करके आत्म शुद्धि करनी चाहिए। श्राद्ध विधि गाथा ५वीं की टीका में कहा है कि-

प्रति संवत्सर ग्राह्यं प्रायश्चित्तं गुरो पुरः ।
शोध्यमानो भवेदात्मा, येनादर्श इवोज्ज्वलः ॥

अर्थात् - "प्रति वर्ष गुरु महाराज के आगे प्रायश्चित्त लेना चाहिए कि जिससे शुद्ध होने से आत्मा आरिसा के सदृश उज्जवल बनता है।" आवश्यक निर्युक्ति में तो उसका समय बतलाया है। आलोचना पंचाशक प्रथम में कहा है कि-

पक्खि अचा उम्मासिअ, आलोयणा नियम सो उदायव्वा ।
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वग्गहिए णिवेदेउं ॥१०॥

अर्थात् - "प्रत्येक पाक्षिक और चौमासी में तो गुरुदेव के पास में आलोचना अवश्य लेना और उस समय पूर्व लिये अभिग्रहों का भी निवेदन करके पुनः विशेष रूप में ग्रहण करना चाहिए।"

उसमें प्रथम '**आलोचना**' शब्द का अर्थ कहते हैं - '**आ**' सर्व प्रकार से अपने मन, वचन, काया रूप तीन अशुभ योगों से जो जो अकार्य हुए हों उन्हें शुद्ध भावपूर्वक अर्थात् आत्म शुद्धि के उद्देश्य से '**लोचना**' = प्रगट रूप में गुरु के सन्मुख यथा स्थिति बताना, वह '**आलोचना**' कहलाता है। आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

आलोयणं अकिच्चे, अभिविहिणा दंसणं तिलिंगे हिं ।
वयमाइए हिं सम्मं गुरुणो आलोयणा णेया ॥१५-२॥

अर्थात् - "आलोचना = समस्त प्रकार से स्वयं परोक्ष में किए अकृत्य अर्थात्

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं करने योग्य कार्य को करते समय मन, वचन, काया से जिस तरह वह सेवन किया हो उसे यथार्थ रूप वचनादि योग से बताना अर्थात् अशुभ कार्य करते समय जैसे-जैसे मन, वचन, काया के अशुभ विकार-व्यापार या परिणाम हुए हों, उस हेतु आदि सहित गुरु को वे दोष निवेदन करना, उसे आलोचना जानना।'' उसकी विधि श्राद्ध जित कल्प पंचाशक आदि में इस तरह कहा है-

एत्थं पुण एस विही, अरिहो अरिहंमि दलय अ कमेणं ।
आसेवणा इणा खलु, सम्मं दव्वाइ सुद्धस्स ॥१५-८॥

व्याख्या - इस प्रकार है कि-अब उस आलोचना की विधि इस तरह कही जायेगी- **१. योग्य** = आलोचना करने वाला आलोचक के योग्य होना चाहिए। **२. योग्य के पास**= जिसके सन्मुख आलोचना करनी हो वह गुरु भी योग्य होना चाहिए। **३. क्रम से** = आसेवन तथा आलोचना के क्रम से वह देना चाहिए। **४. सम्यग्** = 'दर्प-आकुट्टी' आदि वे अकृत्य करते समय अपने जैसे भाव-अध्यवसाय हुए हों वह छुपाए बिना स्पष्ट बताने चाहिएं। और **५. द्रव्यादिक की शुद्धि** = द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की शुद्धि पूर्वक आलोचना करनी चाहिए। इस तरह आलोचना के पांच द्वार हैं। उसमें

१. **आलोचना का स्वरूप** = पंचाशक में कहा है कि-

संविग्गो उ अमायी, मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी ।
पण्ण वणिज्जो सड्ढो, आणा उत्तो दुकडता वी ॥१५-१२॥

तव्विहिसमुसगो खलु, अभिग्गहा सेवणाइ लिंगजुओ ।
आलोअणा पयाणे, जोग्गो भणिओ जिणिं देहिं ॥१५-१३॥

अर्थात् - ''**संविग्गो**' = संवेगी यानि जो संसार से भयभीत बना हो उसे ही आलोचना करने वाला योग्य समझना, क्योंकि जहाँ संसार का भय लगा हो वहीं दुष्कर कार्य करने के परिणाम आ सकते हैं, और वह दुष्कर कार्य आलोचना करना है। उसमें अपने दोषों को अपने मुख से स्वीकार किया जाता है। कहा है कि ''**अवि सया चए रज्जं न य दुच्चरिअं कहे**'' अर्थात् - राजा अपने राज्य का त्याग करता है, परन्तु मान हानि के भय से अपने दुराचरण को (मैं हार गया हूँ इत्यादि) नहीं कह सकता। इसलिए आलोचना करने वाला संसार से भय भीरु होना चाहिए। २. '**अमायी**' - कपट रहित होना चाहिए, जो मायावी होगा वह अपने दुष्चरित्र को यथा योग्य पूर्ण रूप में स्पष्ट नहीं कर सकता। ३. '**मइमं**' = आलोचक बुद्धिमान होना चाहिए। जो आलोचक बुद्धिहीन होगा वह अपने अपराध आदि को समझ भी न सकेगा, तो वह उसकी आलोचना ही किस तरह करेगा? ४. '**कप्पट्ठिओ**' = आलोचक स्थविर कल्प, जात कल्प अथवा समाप्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कल्पादि में रहा हुआ होना चाहिए। उसके बिना अजात कल्पादि वालों को तो अतिचार की जुगुप्सा-घृणा आदि नहीं होती, इससे वह आलोचना नहीं कर सकता है। ५. **'अणासंसी'** = इच्छा बिना का, आचार्य आदि को अपना पक्षकार बनाने इत्यादि इच्छा वाला अथवा किसी सांसारिक सुख-फल की इच्छा रहित होना चाहिए। क्योंकि ऐसी इच्छा वाला समग्र अतिचारों की आलोचना करे- ऐसी संभावना नहीं होती, एवं इस तरह कुछ भी इच्छा करना- वह भी अतिचार ही है। इसलिए ऐसी दुष्ट इच्छा रखकर आलोचना करने पर भी शुद्धि नहीं होती है। ६- **'पन्नवणिज्जो'** = सुखपूर्वक समझा सके ऐसा होना चाहिए। यदि ऐसा न हो उसको उसके दुराग्रह के योग से अकार्य से रोक नहीं सकते। ७- **'सड्ढो'**= श्रद्धालु होना चाहिए। जो श्रद्धालु होगा वही गुरु महाराज के द्वारा दिए प्रायश्चित्त को श्रद्धा पूर्वक करेगा। ८- **'आणा उत्तो'** = आप्त अर्थात् हितेच्छु-पूज्य पुरुषों की आज्ञा-शिक्षा के अनुसार चलने वाला होना चाहिए। ऐसी आत्मा पूज्यों को समर्पित होने से प्रायः कर अकार्य को नहीं करता है। ९- **'दुकड़तावी'** = अपने किए अकार्यों का पश्चात्ताप करने वाला होना चाहिए, ऐसा हो तभी वह आलोचना कर सकता है। १०- **'तव्विहिसमुस्सुगो खलु'** = आलोचना करने की विधि में लालच-प्रीति वाला न होना चाहिए, ऐसी आत्मा को आलोचना में अविधि न हो इस तरह पूर्ण सावधानी रखना चाहिए, और अविधि का त्याग करे। ११- **'अभिग्गहा सेवणाइ लिंगजुओ'** = द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के अभिग्रह करना, करवाना, अनुमोदना इत्यादि चिह्न रूप आलोचना करने की योग्यता के लक्षण वाला देखकर अर्थात् द्रव्यादि नियम करना, करवाना, अनुमोदना करने में प्रीति वाला होना चाहिए। इस तरह श्री जिनेश्वर भगवन्त ने ग्यारह गुणों से युक्त आत्मा को आलोचना देने के लिए योग्य कहा है।'' यह आलोचना के स्वरूप का प्रथम द्वार कहा है।

२- **आलोचनाचार्य का स्वरूप** - इसका स्वरूप श्राद्ध जिन कल्प में इस तरह कहा है कि-

गीअत्थो कड जोगी, चरित्तो तह य गाहणा कुसली।
खेअन्नो अविसाई, भणिओ आलोअणायरिओ ॥८॥

अर्थात् - '' १- **गीअत्थो'** = गीतार्थ, जो 'निशीथ' आदि शास्त्र को सूत्र तथा अर्थ सहित देखता हो अर्थात् उत्सर्ग अपवादादि भावों का यर्थाथ ज्ञाता हो। २- **'कृत जोगी'**= जिसने मन, वचन, काया के व्यापार रूप योगों का अभ्यास किया हो अर्थात् शुभ योग का लगातार परिशीलन किया हो अथवा जिसने विविध प्रकार का बाह्य अभ्यंतर शुभ तप किया हो वह 'कृत योगी' जानना। कहने का तात्पर्य है कि-विविध शुभ ध्यान से और अनेक प्रकार के तप आदि से जिसने आत्मा तथा शरीर को सम्पूर्ण रूप में काबू किया हो। ३- **'चारित्तो'** = अतिचार से रहित निर्मल चारित्रवान हो।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४-**'तह य गाहणा कुसलो'** = तथा प्रायश्चित्त ग्रहण कराने में चतुर, आलोचना की अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा विविध तप आदि प्रायश्चित्त सुखपूर्वक ग्रहण करा सके- ऐसा होना चाहिए। ५-**'खेअन्नो'** = सम्यग् रूप में प्रायश्चित्त देने की विधि के परिश्रम-अभ्यास का जानकार होना चाहिए। ६-**'अविसाई'** = जो आलोचक के मोटे और बहुत दोषों को सुनकर भी खेद नहीं करते, और उसे उस विषय के दृष्टान्त देकर वैराग्य वचनों को कहकर उत्साह बढ़ाने वाला हो। जो इन छः गुणों से युक्त हो उसे श्री जिनेश्वर परमात्मा ने आलोचनाचार्य कहा है।" पंचाशक में तो कहा है कि -

तह पर हियंमि जुतो, विसेसओ सुहुम भाव कुसल मती।
भावाणु माणवं तह जोग्गो आलोअणायरिओ ॥१५॥

अर्थात् -"तथा परोपकार करने में उद्यमशील-अर्थात् परोपकारी स्वभाव वाला, आलोचक के सूक्ष्म भी मनोगत भाव आदि को जानने में अन्य आचार्यों की अपेक्षा से विशेष बुद्धिवाला-कुशल और इससे ही इंगिताकार आदि से भी दूसरे के चित्त को समझने वाला- उसे आलोचनाचार्य (विकटना गुरु) कहा है। जो इन गुणों से रहित हो उसे आलोचक की शुद्धि करने में असमर्थ जानना।" अब आलोचनाचार्य के आठ गुण श्राद्ध जित कल्प में इस तरह कहे हैं-

आयारवं माहारवं, ववहारूव्वीलए पकुव्वी अ।
अपरिस्सावी निज्जव, अवायदंसी गुरु भणिओ ॥६॥

व्याख्या -"१- **आयारवं'** = आचारवान, ज्ञान और क्रिया द्वारा 'ज्ञानादि पाँच आचारों का पालन करने वाला, क्योंकि ऐसे गुणी का वचन श्रद्धा करने के योग्य बनता है, २- **'आहारवं'** = अवधारण वान अर्थात् स्मरण रखने की शक्ति वाला हो वही आलोचक द्वारा कहे सर्व अपराधों को हृदय में धारण कर सके। ३-**'ववहार'** = व्यवहार वान अर्थात् 'आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जित' इन पाँच में से किसी एक व्यवहार का जानकार हो। जो व्यवहार को जानता हो वही यथा योग्य शुद्धि कर प्रायश्चित्त दे सकता है, उसमें पहला 'आगम व्यवहार' केवल ज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधि ज्ञानी तथा चौदह पूर्वधर, दस पूर्वधर और नौ पूर्वधर के आश्रित उस काल में होता है, दूसरा 'श्रुत व्यवहार' आठ पूर्वधर से लेकर घटते हुए एक अथवा आधा पूर्व के ज्ञान वाले को तथा ग्यारह अंग और निशीथ आदि समग्र श्रुत के ज्ञाताओं के लिए होता है, तीसरा 'आज्ञा व्यवहार' परस्पर दूर देश में रहे दो गीतार्थ आचार्य-आलोचक और प्रायश्चित्त देने वाले को होता है, उसके गूढ़ पद-शब्द द्वारा आलोचना और प्रायश्चित्त देने वाला-लेने वाला होता है, अर्थात् संदेश ले जाने वाला न समझे ऐसे सांकेतिक शब्दों में गीतार्थ आलोचक अपने अपराध दूसरे साधु द्वारा आलोचनाचार्य को कहे और उसका जवाब उसी ही तरह सांकेतिक शब्दों में

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आलोचनाचार्य भेजे, इस तरह वे दो ही समझें । इस तरह आलोचना देने वाले लेने और वाले को आज्ञा व्यवहार जानना । चौथा 'धारणा व्यवहार' गुरु ने छोटा-बड़ा जिस अपराध से जिस तरह में जिस तरह से जो प्रायश्चित्त दिया हो, वह जानकर मन-हृदय में धारण कर रखने वाला अन्तेवासी शिष्य गुरु के स्वर्गवास के बाद वैसे अपराध वाले को वह प्रायश्चित्त उसी तरह से देना वह धारणा व्यवहार है और पांचवां 'जित व्यवहार' आगम में जितना कहा हो उससे भी कम अथवा अधिक प्रायश्चित्त देने की परम्परा से जो चालू हो वह 'जित' कहलाता है और उससे चले वह जित व्यवहार समझना । वर्तमान काल में यह मुख्य व्यवहार है । इन पांचों में से किसी भी व्यवहार का जो जानकार हो वह 'व्यवहारवान्' कहलाता है । ४- **'उव्वोलए'** = लज्जा को दूर कराने वाला अर्थात् आलोचक लज्जा से दोषों को न कह सके, उसकी लज्जा दूर करवाकर यथार्थ स्वरूप में दोष बताने के लिए उत्साही बनाने वाले, वस्तुतः इस गुण वाले आलोचनाचार्य आलोचक को अतीव उपकारी हो सकते हैं । ५- **'पकुव्वी'**= आलोचक द्वारा कहे अतिचारों का प्रायश्चित्त देकर उसकी अत्यन्त शुद्धि कराने वाले, पूर्व कहे वह 'आचारवान्' आदि गुणवान् होने पर भी दूसरे को प्रायश्चित्त न दिया हो, वह आलोचनाचार्य नहीं हो सकते । इस तरह बताने के लिए **'पकुव्वी'** विशेषण है अर्थात् 'शुद्धि करना' इस अर्थ में **'कुर्व'** धातु आगम में प्रसिद्ध है जिसका **'विकुर्वणा'** रूप बनता है, इसी धातु से **'पकव्वी'** शब्द बनता है । ६- **'निज्जवं'** = प्राकृत के नियम अनुसार **'निर्यापक'** शब्द बनता है अर्थात् आलोचक का निभाव-पालन करने वाला । आलोचक में जैसी सामर्थ्य हो उसके अनुसार प्रायश्चित्त देने वाला हो । ७- **अवायदंसी** = 'अपायों का जानकार' अर्थात् दुष्काल, शरीर का दौर्बल्य आदि आलोचक के दोष सेवन में हेतु भूत बना हो, ऐहिक कारणों को समझने वाला अथवा अन्य अर्थ 'अपायों को दिखाने वाला' आलोचक को उसने सेवन किए अतिचार के योग से भविष्य काल में होने वाले 'दुर्लभ बोधित्व' आदि अपायों को समझाने वाला, इस कारण से ही उस आलोचक के उपकारी होते हैं । ८-**'अपरिस्सावी'** दूसरे को नहीं सुनाने वाला, अर्थात् आलोचक द्वारा कहे दोषों को दूसरे किसी को नहीं कहने वाले, आलोचक के दोषी जानकर जो अन्य को कहे, वह आलोचक भी निन्दा लघुता करने वाला होता है । इन आठ गुण वाले गुरु को जिनेश्वर देव ने आलोचनाचार्य कहा है । जित कल्प में और भी कहा है कि-

आलोअणा परिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरु सगासे ।
जइ अंत रावि कालं, करेज्ज आराहओ तह वि ॥३६॥

अर्थात् - "आलोचना करने के परिणाम वाला आत्मा आलोचना के लिए गुरु के पास में जाने के लिए निकले और वहां पहुंचने के पहले रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो जाय, तो भी उसकी आराधना समझना । अर्थात् वहां केवल जाने पर ही और आलोचना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होने पर भी, वह विराधक नहीं होता अपितु आराधक होता है।'' अब इसमें अपवाद मार्ग कहते हैं, जित कल्प में कहा है कि-

आयरिआइ सगच्छे, संभोइ अइ अरगीअ पासत्थो ।
सारूपी पच्छा कड़, देवय पडिमा अरिह सिद्धो ॥१२॥

अर्थात् - ''आलोचक को पूर्व कहे अनुसार गुणवान गुरु के पास में आलोचना लेना चाहिए, वह भी साधु अथवा श्रावक को नियम से अपने गच्छ में ही करना, उसमें भी मुख्यतया तो गच्छ के आचार्य के पास में करना, आचार्य का योग न मिले तो प्रवर्तक के पास, उसके अभाव में स्थाविर के पास और वह भी न मिले तो गणावच्छेदक के पास में करना चाहिए। इस तरह अपने गच्छ के अन्दर पांच में से कोई एक भी हो, तो उसके पास ही आलोचना लेना। अपने गच्छ में से पांचों का अभाव हो तो **'सांभोगिक'** = एक समाचारी-समान आचार वाले अन्य गच्छ में आलोचना करना। वहां भी आचार्य के पास में, उसके अभाव में तो अनुक्रम से पूर्व पूर्व के अभाव में फिर बाद के उपाध्याय प्रवर्तक-स्थविर या गणावच्छेदक के पास में आलोचना लेना। एक समाचारी वाले अन्य गच्छ में भी आलोचना करने वाले का योग न मिले तो **'इतर-असांभोगिक'** अर्थात् जो भिन्न समाचारी वाला हो उस अन्य संवेगी गच्छ में जैसा पूर्व कहा उसके अनुसार आचार्य आदि क्रम से आलोचना करना। अन्य गच्छ में भी इसी प्रकार संवेगी आचार्यादि का योग न मिले तो गीतार्थ 'पासत्था' के पास में करना, उसके अभाव में गीतार्थ 'सारूपिक' के पास में और उसके अभाव में गीतार्थ 'पश्चात्कृत' के पास करना।

'सारूपिक' उसे कहते हैं कि जो सफेद वस्त्र धारी हो, मस्तक पर मुंडन करवाया हो, लंगोट न बाँधता हो,आधोवस्त्र साधु के समान पहनता हो, ओघा छोड़ दिया हो, शेष साधु वेश रखा हो, अब्रह्मचारी-चतुर्थ व्रत विराधक हो, फिर भी स्त्री रहित हो और भिक्षा से आजीवन चलाने वाला हो। 'सिद्ध पुत्र' वह कहलाता है कि जो मस्तक पर चोटी रखने वाला हो तथा स्त्री घर बार आदि हो, और 'पश्चात्कृत' वह कहलाता है कि जो चारित्र का वेश भी छोड़कर घर बारी गृहस्थ बन गया हो। उसमें पूर्व कहे अनुसार संवेगी गुरु का योग न मिलने से गीतार्थ, पासत्था, सारूपी आदि के पास में आलोचना करनी पड़े तो उनको भी गुरु समान वंदन करना इत्यादि आलोचना की विधि करना। क्योंकि धर्म का मूल विनय है। यदि वह पासत्था आदि गीतार्थ होने से अपने से हीन गुण वाला समझकर वन्दन करने न दे फिर भी उसको आसन बिछाकर देना-बैठाकर नमस्कार मात्र भी करके आलोचना लेना चाहिए। अर्थात् इतना भी विनय करना, और 'पश्चाकृत' के पास आलोचना करने का प्रसंग आ जाए तो उसे इत्वर अर्थात् अमुक समय के लिए सामायिक उच्चारण करवाकर और वेश देकर विधिपूर्वक आलोचना लेना चाहिए।

पूर्व कहे अनुसार यदि उसे गीतार्थ पासत्थादि का भी योग न मिले, तो राजगृह नगरी का गुण शैल चैत्य आदि स्थान में जहां श्री अरिहंत परमात्मा तथा गणधर भगवन्त

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वारा प्रायश्चित्त देते कई बार जिन शासन देव देवियों ने देखा-सुना हो, इससे जो आलोचना का स्वरूप जानता हो उस शासन देव का अट्ठम आदि तप से विराधना करके उसे प्रत्यक्ष करके उसके सामने आलोचना करना, यदि उसका स्वर्ग का आयुष्य पूर्ण होने से च्यवन हो गया हो और उसके स्थान पर अन्य उत्पन्न हुआ हो, तो उसे अट्ठम आदि तप से प्रत्यक्ष करके अपने दोष कहना, वह देव-देवी-महाविदेह में में विचरते श्री अरिहंत परमात्मा को पूछकर जो प्रायश्चित्त लाकर दे वह स्वीकार करना। इस प्रकार भी न बने तो श्री अरिहंत देव की प्रतिमा के समक्ष आलोचना कर स्वयं प्रायश्चित्त स्वीकार करना, और प्रतिमा का भी योग न मिले तो पूर्वोत्तर-इशान के सन्मुख रहकर श्री अरिहंत-सिद्धों के समक्ष आलोचना करना, परन्तु आलोचना किए बिना नहीं रहना, क्योंकि-शल्य वाले-आलोचना न करे उसे आराधकत्व नहीं रहता। इस तरह आलोचना गीतार्थ पासत्थादि के पास में करना चाहिए, संवेगी हो परन्तु अगीतार्थ हो उसके पास नहीं करना चाहिए। क्योंकि जित कल्प में कहा है कि-

अगीओ नवी जाणइ, सोहिं चरणस्स देइ ऊणहिअं।
तो अप्पाणं आलो अंग च पाडेइ संसारे ॥२०॥

अर्थात् - "अगीतार्थ अर्थात् सूत्र अर्थ उत्सर्ग अपवाद तदुभय विधि उद्यम प्रशंसा भय आदि कहने वाले सूत्र को तथा रूप में नहीं समझने वाला तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-पुरुष आदि को नहीं जानने वाला हो वह चारित्र की शुद्धि को नहीं समझ सकता, उस दोष में कैसा प्रायश्चित्त देना इत्यादि की जानकारी नहीं होती, इससे कम ज्यादा प्रायश्चित्त दिया जाय तो वह स्वयं और आलोचक दोनों को संसार में डुबाता है।" व्यवहार सूत्र के पहले उद्देश्य में भी यही कहा है। उसका पाठ इस प्रकार है -

"भिक्खू अन्नयरं अकिच्चठाणं पडि सेवित्ता, ईच्छिज्जा आलोइ अत्तए पडिक्कमित्तए निंदित्तए वा विउट्टित्तए वा विसोहित्तए वा अकरणयाए अब्भूट्ठित्तए वा अहारिहं तवो कम्मं पायच्छित्तं पडि वज्जित्तए वा जत्थेण अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासिज्जा, कप्पइ से तस्सं तिए आलोइत्तए जाव पडि वज्जित्तए। णो चेव णं अप्पणो आयरिअ-उवज्झाए पासिज्जा, जत्थेव संभोइअं साहम्मि अं बहुस्सुअं बज्झागमं पासेज्जा, कप्पइ से तस्सं तिए आलोइत्तए जाव पडि वज्जित्तए वा। णो चेव ण संभोइअं साहम्मिअं बहुस्सअं बज्झागमं पासेज्जा, जत्थेव अन्न संभोइअं बहुस्सअं बज्झागमं पासेज्जा, कप्पइ से तस्सं तिए आलोइत्तए जाव पडि वज्जित्तए वा। णो चेव णं अण्ण संभोइअं साहम्मिअं बहुस्सुअं बज्झागम, जत्थेण सारूविअं बहुस्सुअं वज्झागमं पासेज्जा, कप्पइ से तस्सं तिए आ लोइत्तए जाव पडि वज्जित्तए वा। णो चेव णं सारूविअं बहुस्स अ बज्झागमं पासेज्जा, जत्थेवं समणोवासगं पच्छाकडं बहुस्सअं बज्झागमं पासेज्जा कप्पइ से तस्सं तिए आलोइत्तए जाव पंडि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वज्जित्तए वा । णो चेव णं समणो वा सगं पच्छाकडं बहुस्सअं पज्झागमं पासेज्जा, जत्थेव सम्मं भावि आइं चेइ आइं पासेज्जा, कप्पइ से तस्सं तिए आलोइत्तए जाव पडि वज्जित्तए वा । णो चेव णं सम्मं भावि आइं चेइ आइं पासेज्जा, कप्पइ से तस्सं तिए आलोइत्तए जाव पडि वज्जित्तए वा । णो चेव णं सम्मं भावि आइं चेइ आइं पासेज्जा, बहिआ गामस्स नायरस्स वा करयल परिग्गहिअं सिर सावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु, कप्पइ से एवं वइत्तए 'एवइआमे अवराहा, एवतिखुत्तो अहं अवरद्धो, अरहंताण सिद्धाणं अंतिए आलोइज्जा पडिक्कमेज्जा जाव पायच्छित्तं पडि वज्जेज्जा सित्ति बेमि ॥''

अर्थात् - ''साधु किसी प्रकार के अकार्य का प्रतिसेवन-आचरण करने के बाद यदि उसकी आलोचना करने की, प्रतिक्रमण करने की, निंदा करने की, विगोपन = दोष निकालने की, विशुद्धि की, फिर से नहीं करने का निर्णय करना और यथायोग्य तप कर्म रूप प्रायश्चित्त अंगीकार करने की इच्छा हो तो वह अपने गच्छ आचार्य उपाध्याय को देखे कि वे कहां पर विराजमान हैं । वहां जाकर उनके पास में वह आलोचना आदि लेना चाहिए और स्वगच्छ के आचार्य उपाध्याय न मिलें, वे योग्य न हों तो जहां अपने सांभोगिक साधर्मिक बहुश्रुत-परिचितागम अन्य गच्छ वाले को देखे, वहां जाकर उनके पास वह आलोचनादि करना कल्पनीय है । यह सांभोगिक = एक समाचारी वाला साधर्मिक-बहुश्रुत, परिचितागमन से भी न दिखे तो जहां अन्य सांभोगिक अर्थात् अन्य समाचारी वाले साधर्मिक बहुश्रुत परिचितागमन से भी न देखे तो जहाँ सारू पिक-बहुश्रुत परिचितागमन से देखना चाहिए, वहां जाकर उनके पास में आलोचनादि करना कल्पनीय है, अन्य सांभोगिक साधर्मिक, बहुश्रुत परिचितागमन से भी न देखे तो जहाँ सारूपिक-बहुश्रुत परिचिता गमन से देखना चाहिए, वहां जाकर उसके पास में आलोचना करना कल्पता है, यदि ऐसे सारूपिक-बहुश्रुत परि-चितागमन से भी न दिखें तो जहां 'पश्चात्कृत'= चारित्र में से वापिस गिरे हों ऐसे श्रावक-बहुश्रुत-परिचितागमन से देखे, वहां जाकर उसके पास में आलोचनादि करना कल्पता है, यदि ऐसे पश्चात्कृत-बहुश्रुत परिचितागमन श्रावक को न दिखें तो जहां सम्यग् भाव वाली श्री जिन प्रतिमा रूप चैत्य को देखे वहां उनके सामने वह आलोचनादि करना कल्पता है, यदि वैसा सम्यग् भावित चैत्य भी न दिखे तो गांव या नगर के बाहर दो हाथ की अंजलि से मस्तक आवर्त करके इस तरह कहना कल्पता है कि-'इस प्रकार मेरे अमुक अपराध हैं, मैं इतने बार अपराधी बना हूँ' इस तरह कहकर अरिहंत तथा सिद्धों के समक्ष आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, यावत् प्रायश्चित्त स्वीकार करे, इस तरह कहा है । ''

इसीलिए ही यदि ऐसे गीतार्थ आलोचनाचार्य का योग दुर्लभ हो तो काल से बारह वर्ष और क्षेत्र से सात सौ योजन तक खोज करना चाहिए परन्तु अगीतार्थ के पास में आलोचना नहीं करनी चाहिए । कहा है -

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुल्लुद्धरण निमित्तं, गीअत्थ गवेसणा उ उक्कोसा ।
जो अण सयाइं सत्त, वारस वरिसाइं कायव्वा ॥

अर्थात् -''शल्य अर्थात् अतिचारों की शुद्धि के लिए गीतार्थ की खोज क्षेत्र से उत्कृष्ट सात सौ योजन तक और काल से बारह वर्ष तक करनी चाहिए ।''

'गीअत्थो कडजोगी' पूर्व में गाथा के अंदर कहा है, अन्य विशेषणों को छोड़कर यहां केवल 'गीतार्थ' की खोज करने के लिये कहा है । यदि वहां कथित सकल गुण युक्त आलोचनाचार्य का योग न मिले तो केवल संविग्न भी गीतार्थ के पास में भी आलोचना तो करनी ही चाहिए । ऐसा बताने के लिए है । यह दूसरा द्वार कहा । अब तीसरा द्वार 'क्रमपूर्वक आलोचना करना चाहिए' उसका क्रम कहते हैं -

३- **आलोचना अनुक्रम** = इसके लिए आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

दुविहेणणुलोमेणं, आसेवण विअडणा भिहाणेणं ।
आ सेवनाणु लोभं जं जह आसेविअं विअडे ॥१७॥

आलोयणा णुलोभं, गुरु गवराहे उ पच्छओ विउडे ।
पण गाइणा कमेणं, जह जह पच्छित्त वुड्ढी उ ॥१८॥

अर्थात् - ''इसकी व्याख्या इस तरह है कि- एक 'आसेवना' = सेवन किए अतिचारों के क्रम से और दूसरा 'विकटना' = आलोचना (प्रायश्चित्त) के क्रम से- इस तरह दो क्रम से आलोचना करनी चाहिए । उसमें आसेवना क्रम = जो अतिचार जिस क्रम से जिस तरह सेवन किया हो उस क्रम से उसी तरह से उसकी आलोचना करना वह, और आलोचना (विकट) का क्रम ऐसा है कि-बड़े अपराधों की आलोचना छोटे अपराध के बाद में करना, वह **'पणगाइ'** = जैन सिद्धान्त की परिभाषा के अनुसार 'पंचक, दशक, पंच दशक' आदि क्रम से करना, अर्थात् जिन अपराधों का प्रायश्चित्त उत्तरोत्तर अधिक हो उस अपराध को बाद में कहना, यहां छोटे अपराध में 'पंचक', इससे बड़े अपराध में 'दशक', इससे भी बड़े में 'पंच दशक' आदि प्रायश्चित्त कहा है । यह 'पंचक' आदि प्रायश्चित्त की सांकेतिक संज्ञा है । इन दो क्रमों में आलोचना करने वाला अपराधी स्वयं गीतार्थ हो तो आलोचना के क्रम से ही आलोचना करे । क्योंकि वह जानता है अर्थात् स्वयं गीतार्थ होने से किस अपराध का प्रायश्चित्त थोड़ा है, कौन से अपराध का अधिक इत्यादि जानने से वह इस क्रम से आलोचना कर सकता है । आलोचक गीतार्थ नहीं होता, वह आसेवना के अर्थात् जिस क्रम से अपराध हुआ हो उस क्रम से आलोचना करे, क्योंकि उसे ऐसी आलोचना-प्रायश्चित्त का क्रम का ज्ञान नहीं होता, आसेवना क्रम से उसे अतिचारों का अच्छा स्मरण होता है । तात्पर्य यह है कि-पूर्व कहे अनुसार गीतार्थ आलोचना क्रम से और अगीतार्थ आसेवना क्रम से आलोचना करे । यह तीसरा क्रम द्वार कहा अब-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

४- **आलोचना में सम्यकत्व** - आलोचना सम्यग् प्रकार करनी चाहिए । आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

तह आउट्टिय दप्प प्पमायओ कप्पओ व जयणाए ।
कज्जे वाऽजयणाए, जहट्ठिअं सव्वमालोए ॥१६॥

अर्थात् -''**तह**' = इसी तरह से अर्थात् 'आलोचक, आलोचनाचार्य और अनुक्रम' ये जैसे आलोचना के अंग हैं उसी तरह से 'आकुट्टी, दर्प प्रमाद' आदि इस गाथा में कहलाते अतिचार के कारण भी आलोचना के अंग हैं । आकुट्टी से, दर्प से, प्रमाद से, कल्पनीय के कारण जयणा से अथवा अचानक कार्य प्रसंग से अजयणा से, इस तरह जिस जिस हेतु से जो जो अपराध हुए हों उन उन हेतुओं के साथ में उन उन अपराधों को यथास्वरूप कहना, वह आलोचना 'सम्यग्' कहलाती है । उसमें '**आकुट्टी**' = इरादापूर्वक अर्थात् जानबूझकर अपराध सेवन किया हो, '**दर्प**' = वल्गन अर्थात साधु के आचार से विरुद्ध दौड़ना, कूदना, दीवार फांदना इत्यादि करने से और '**प्रमाद**' से = सुरापान आदि पांच प्रकार के प्रमाद से भूल करना अथवा विस्मृति-अनुपयोग आदि प्रमाद से भूल होना वह, 'कल्प से' = अशिव-मारी, मरकी आदि उपद्रव रूप सबल कारण से वैसा करने का कल्प होने से, ऐसे प्रसंग पर अपवाद सेवन करना, ऐसे सबल कारण से तो यतनापूर्वक-जितना हो सके उतना कम अपवाद सेवन करने का होता है, इसलिए 'जयणा से' यथा शक्ति संयम की रक्षा, यतना सावधानी रखकर अपवाद सेवन किया हो अथवा तो '**कज्जे**' अचानक प्रयोजन से संभ्रम हो जाने से, मकान में अग्नि जलने से, सर्पादि का उपद्रव होने आदि अचानक कार्य के समय कार्याकार्य के ख्याल बिना-अयतना से अपराध हुआ हो, इस तरह जो अपराध जैसे रूप में हुआ हो उसी तरह से यथार्थ रूप में आलोचनाचार्य के सामने प्रगट रूप में कहना वह 'सम्यग्' आलोचना कहलाती है । आत्मशुद्धि की भावना वाले जीव इस प्रकार अपना अपराध का निवेनदन करना । लज्जा, भय आदि से अल्प भी नहीं छुपाना चाहिए । पंचाशक में कहा है कि-

जह वालो जयंतो, कज्जम कज्जयं च उज्जुअं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामय विप्प मुक्को अ ॥४७॥

अर्थात् - ''अज्ञानी समझ बिना का बालक कार्य-अकार्य का, अच्छा-बुरा का विचार किए बिना ही जैसा जानता है वैसा ही सरल भाव से बोलता है, वैसे ही आलोचक को कपट-बड़प्पन आदि दूषणों को छोड़कर जो अपराध जिस तरह सेवन किया हो उसी तरह प्रगट रूप में कहना चाहिए ।'' तथा सम्बोध प्रकरण, एवं आलोचना अधिकार में कहा है कि-

मायाइदो सर हिओ, पइ समयं वड्ढमाण संवेगो ।
आलोइज्ज अकज्जं न पुणो काहं ति निच्छ यओ ॥२७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लज्जाइ गारवेणं, बहुस्सु अमएण वा वि दुच्चरिअं ।
जां न कहेइ गुरुणं न हुतो आराहगो भणिआ ॥२८॥

अर्थात् - "माया, मद आदि दोषों का त्याग करके, समय-समय पर संवेग भाव में वृद्धि करते आलोचक को पुनः वैसा नहीं करने के निश्चय से किए कार्य की आलोचना करना। यदि लज्जा से और गारव = बड़प्पन से अथवा रस गारव, ऋद्धि गारव और शाता गारव में आसक्ति के कारण तप करने की इच्छा के अभाव में अथवा बहुश्रुत तप के मद से आचरण किए दोषों को गुरु के आगे नहीं कहता, उसे आराधक नहीं कहा।" इसलिए आलोचक को सर्व अपराधों का यथा स्वरूप में निवेदन करना चाहिए, उसे 'सम्यग्' द्वार कहा है ।

५- **द्रव्यादि शुद्धि** - अब पाँचवें द्वार में द्रव्यादि शुद्धि के लिए कहते हैं । आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

दव्वाईसु, सुहेसुं, देआ आलोअणा जओ तेसुं ।
होंति सुहंभाव वुड्ढी, पाएण सुहा उ सुह हेऊ ॥१९॥
दव्वे खीर दुमाई, जिण भवणाई अ होंति खित्तमि ।
पुण्णतिहिपभिइ काले, सुहोव ओगाइ भावेसुं ॥२०॥

अर्थात् - "इसमें प्रशस्त-उत्तम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का योग मिलाकर आलोचना करना, क्योंकि उस द्रव्यादि के भाव शुभ हों तभी आलोचक को भविष्य में सुख देने वाली-सुखस्वरूप शुभ भावना की वृद्धि होती है। प्रायः कर किसी को ही जीव को छोड़कर बहुत को शुभ निमित्त ही शुभ भाव के कारण होता है ।"

प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र आदि का स्वरूप इस प्रकार है : १- **उत्तम द्रव्य** में क्षीर वृक्ष = बड़चंपक, अशोक आदि उत्तम वृक्ष जानना। कहा है कि- **'दव्वे सुवण्ण गाइसु खीर दुमाइसु आलोए'** अर्थात् द्रव्य से अच्छे वर्ण-गन्ध रस आदि वाले क्षीर वृक्षादि के नीचे आलोचना करना ।

२-**उत्तम क्षेत्र** में अथात् श्री जिन मंदिरादि उत्तम स्थल में आदि शब्द से अन्य भी शुभ स्थान जानना। कहा है कि-

उच्छु वणे सालि वणे, चेइ हरे चेव होइ खेत्तंमि ।
गंभीर साणुणाए, पयाहिणा वत्त उदगे अ ॥१॥

अर्थात् - "उत्तम क्षेत्र = गन्ने का वन, चावल-धान का वन, चैत्य घर (मंदिर) और जलाशय अथवा जो गंभीर, गहरा स्थान, गंभीर आवाज (प्रति ध्वनि) आती हो तथा पानी गोलाकार फिरता हो इत्यादि स्थान उत्तम मानना।" अर्थात् वहां आलोचना करना ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

३- **उत्तम काल** में अर्थात् 'पंचमी, दशमी, पूर्णिमा' तिथियों में- 'आदि' शब्द से अच्छी तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदि देखकर अशुभ सिवाय की तिथि में आलोचना करना। वह उत्तम काल जानना। कहा भी है कि-

पडिकुले अ दिवसे, वज्जेज्जा अट्ठमि च नवमिं च।
छट्ठिं च चउत्थि च, वारस दोण्हं पि पक्खाणं ॥११॥

अर्थात् - "प्रतिकूल योग आदि से अशुभ अथवा लतादि निषिद्ध दिन में तथा दोनों पक्ष की अष्टमी, नौमी, षष्ठी, चतुर्थी एवं द्वादशी की तिथियों में आलोचना नहीं करना।" अर्थापत्ति से इनके सिवाय अन्य तिथियों में शुभ योगादि हो- उस दिन आलोचना करनी चाहिए।

४- **उत्तम भाव** में अर्थात् शुभ उपयोग (अध्यवसाय) आदि से युक्त होकर। यहां भी 'आदि' शब्द है, इससे निमित्त शास्त्र में कहे शुभ शकुन- निमित्त प्राप्त कर और शुभ भावों से युक्त होकर आलोचना करनी चाहिए। इस तरह उत्तम द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव का योग प्राप्त कर आलोचना लेनी चाहिए। इस प्रकार 'द्रव्यादि शुद्धि' नामक मूल गाथा में बताया था, वे पांच द्वार कहे हैं।

पूर्व कहे अनुसार पाँच प्रकार से विधिपूर्वक आलोचना करने से आत्मा भाव शल्य से मुक्त हो जाता है। अपने द्वारा सेवन किए दुश्चरित को यथा योग्य पर साक्षी में प्रगट नहीं करना- उसे भाव शल्य कहा है। आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

सम्मं दुच्चरि अस्सा, परसक्खि अमप्प गासणं जंतु।
एअं च भाव सल्लं, पण्णत्तं बीअराए हिं ॥३६॥

अर्थात् - "स्वयं द्वारा आचरण किए दुष्चरित्र को दूसरे की साक्षी में सम्यक् प्रकार से जो प्रगट नहीं करता, उसे श्री वीतराग भगवान ने 'भाव शल्य' कहा है।"

'दूसरे की साक्षी में आलोचना करने से ही भाव शल्य की निवृत्ति होती है।' इस प्रकार कहने से 'स्वयं अपने आप आलोचना करके स्व कल्पनानुसार प्रायश्चित्त करने से वह शल्य वाला ही रहता है' इसलिए पर साक्षी बतलाया है। आलोचना पंचाशक में कहा है -

आलोअणं अदाउं, सइ अण्णंमि तहप्पणो दाउं।
जे विहु करेंति सोहिं, ते वि ससल्ला विणिद्दा ॥३६॥

अर्थात् - "अन्य आलोचनाचार्य के होने पर भी लज्जादि कारण से, जो उनके पास में आलोचना नहीं लेता, उनके देते हुए भी स्वयं अपने आप ही आलोचना करके जो अपनी कल्पनानुसार प्रायचित्त करता है, उसे भी शल्य युक्त जानना।" इससे यह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अवगत कराया है कि आलोचनाचार्य आदि अन्य का योग हो तो उनके पास में ही आलोचना करने वाला शुद्ध होता है । जित कल्प में कहा है कि-

छत्तीस गुण समन्ना गएण तेण वि अवस्स कायव्वा ।
परसक्खिआ विसोही-सुट्ठु वि ववहार कुसलेणं ॥१६॥

अर्थात् - ''स्वयं छत्तीस गुणों से युक्त आचार्य हो, साथ में अच्छी तरह व्यवहार कुशल हो, उसे भी आलोचना अवश्य परसाक्षी में ही लेनी चाहिए । ''

हाँ ! इतना है कि दूसरे के अभाव में स्वयं आलोचना करने वाला भी शुद्ध होता है, परन्तु उसमें सिद्धों की भी साक्षी तो होनी ही चाहिए, क्योंकि कहा है - ''**सिद्धा वसाणे अ त्ति**'' अर्थात् - 'किसी आलोचनाचार्य का संयोग न मिलता हो तो आखिर में सिद्धों की साक्षी में भी आलोचना तो करनी ही चाहिए ।' इसलिए जिस तरह शक्य हो उस तरह से भी आत्मा को शुद्ध निःशल्य करना चाहिए, सशल्य मरने का बहुत बड़ा दोष है । आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

जं कुणइ भाव सल्लं, अणुद्धि अं उत्तमट्ठ कालंमि ।
दुल्लह वोही गत्तं, अणंत संसारि अत्तं च ॥३८॥

अर्थात् - ''मृत्यु के समय भी उद्धर्या बिना अर्थात् आलोचना बिना आत्मा में रह गया भाव शल्य आत्मा को दुर्लभ बोधि करता है तथा अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है ।'' इस तरह शल्य रह जाने से उपर्युक्त विपाकों (दुःखों) को जानता हो, वही 'सम्यग्' आलोचना के लिए उत्साही हो सकता है । आलोचना पंचाशक में कहा है कि-

संवेग परं चित्तं, काऊणं तेहिं तेहि सुत्तेहि ।
सल्लाणुद्धरण विवाग दंसगाईहि आलोए ॥३५॥

अर्थात् - ''शल्य की शुद्धि नहीं करने से विपाक-दुःख होने को जानने वाला आदि उन सूत्रों-आगम के वचनों से चित्त को संवेग रंग में उत्साही बनाकर आलोचना अवश्य करनी चाहिए ।''

आलोचना के दूषण - इसके दस दूषण कहते हैं कि-

आकंपइत्ता अणुमाण इत्ता, जं दिट्ठं वायरं च सुहुमं वा ।
छन्नं सद्दाउलयं, बहुजण अवत्त तस्सेवी ॥१॥

अर्थात् - ''१- **आकंपइत्त** = कंपाकर अर्थात् वैयावच्च आदि से गुरु महाराज को वश में करके आलोचना करना जिससे 'वे कम प्रायश्चित्त दें' इस तरह अभिप्राय वैयावच्चादि करना एवं उनसे आलोचना लेना । २- '**अणुमाण इत्ता**' = अनुमान करके, अर्थात् 'अति छोटे अपराध कहने से हलका दण्ड देते हैं ।' इत्यादि गुरु के स्वभाव का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अनुमान करके आलोचना करना। ३-**'जं दिट्ठे'** = जो अपधान दूसरों ने देखा हो उसी की ही आलोचना करना, गुप्त अपराधों की आलोचना नहीं करना। ४-**'वायरं'** = बड़े दोषों की आलोचना करे एवं छोटे दोषों को रूप नहीं माने, अर्थात् अवगणा करके उनकी आलोचना न करे। ५-**'सुहुमं वा'** = अथवा सूक्ष्म की आलोचना करे जैसे कि- आज्ञा बिना घास की शलाका ली हो, ऐसे भी छोटे अपराधों की आलोचना करे एवं मन में माने कि- 'सूक्ष्म अपराधों से डरने वाला बड़े बड़े अपराध की या नहीं आलोचना करता ?' इसे गुरु महाराज समझेंगे अर्थात् इस तरह बड़े अपराधों को छुपाकर केवल छोटे की ही आलोचना करता है। ६-**'छन्नं'** = अस्पष्ट स्वर से गुरु पूर्ण रूप में सुन न सके इस तरह अस्पष्ट आलोचना करे। ७-**'सद्दा उलयं'** = शब्दाकूल, बड़े शब्द आदि से इस तरह बोले कि गुरू महाराज समझ न सके अथवा अन्य की सुने इस प्रकार आलोचना करे। ८-**'बहुजन'** = बहुत के पास अर्थात् अनेक आलोचनाचार्यों के आगे एक-एक ही दोषों की आलोचना करे। ९-**'आयकत'** = जो छेद ग्रन्थों का रहस्य जानते न हों ऐसे अनजान के पास आलोचना करे, और १०-**'तस्सेवी'** = स्वयं ने जैसे अपराध किया हो वैसा ही अपराध। जिस गुरु ने किया हो वह तस्सेवी कहलाता है, उनके पास में आलोचना करे। समान दोष-आचार वाले के सामने सुखपूर्वक लज्जादि बिना अपने अपराध कह सकता है। इस तरह जो अपराध जिस जिस गुरु में हों, उस अपराध की उस गुरु के पास में आलोचना करना, दूसरे की नहीं करना। ये दस दूषण आलोचना के त्याग करने चाहिएं। अविधि से आलोचना करने से उलटा अपाय का संभव होता है। पंचाशक में कहा है कि-

इहरा विवज्ज ओ विहु कुवेज्ज किरि याइ णायओ णेओ।
अवि होइ तत्थ सिद्धि, आणा भंगा न उण एत्थं ॥१५-५॥

अर्थात् - "अविधि से आलोचना करने में मूर्ख वैद्य के औषध के समान या अविधि से विद्या साधना आदि के समान अधिक ही हानि होती है, कभी पुण्य का बल हो तो 'मूर्ख' भी वैद्यादि से कार्य सिद्ध होता है, परन्तु यहां तो श्री तीर्थंकर भगवन्त की आज्ञा का भंग होने से इष्ट सिद्धि नहीं होती।" अब विधिपूर्वक 'सम्यग्' आलोचना करने से जो लाभ होता है, वह कहते हैं। सम्बोध प्रकरण, आलोचना २८ तथा श्राद्ध जित कल्प में कहा है कि-

लहुआ ल्हाई जणणं, अल्प पर निवत्ति अज्जवं सोही।
दुक्कर करणं, आणा, निस्सल्लं त्तं च सोहि गुणा ॥१८॥

अर्थात् - "बोझ उठाने वाला जैसे बोझ उतार कर हलका होता है वैसे आलोचक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी अपना शल्य निकाल जाने से १- **'लघुता'** प्राप्त करता है अर्थात् कर्म कम हो जाते हैं, आलोचना करने से आत्म को २- **'ल्हादि'** = प्रमोद-आनंद उत्पन्न होता है, ३- **'आत्म पर निवृत्ति'** = स्व और पर दोष की निवृत्ति होती है, वह इस तरह से आलोचक का अपना दोष टल जाता है और उसे देखकर अन्य भी आलोचना लेने के लिए तैयार होते हैं, इससे दूसरे के भी दोष हट जाते हैं। ४- **'आर्जव'** = यथा स्वरूप में दोष स्व मुख से कहने वाले का 'माया-कपट का नाश' होता है। ५- **'शोधि'** = दोष रूप मैल जाने से 'आत्मा की शुद्धि' होती है। ६- **'दुष्कर करण'** = इससे दुष्कर कार्य होता है, क्योंकि दोषों का सेवन करना दुष्कर कारण नहीं, यह तो आनादि अभ्यास से सभी के द्वारा होता है, परन्तु आलोचना करना अति दुष्कर है, क्योंकि मोक्ष का साधक अत्यन्त वीर्य-उल्लास प्रगट किए बिना आलोचना नहीं हो सकती। निशीथ चूर्णि में भी कहा है कि- **''तं न दुक्करं जं पडि सेविज्जइ, तं दुक्करं जं सम्मं आलोइज्जइ त्ति''** अर्थात् वह 'दुष्कर नहीं है कि अपराध करना, दुष्कर तो वह है कि अपने किए अपराध को सम्यग् रूप में स्व मुख से जाहिर करना- इसीलिए ही वह अभ्यंतर तप है 'सम्यग् आलोचना करना' वह 'मास क्षमण' एक महीने के उपवास आदि बाह्य अनेक प्रकार के तप करते हुए भी अति दुष्कर 'प्रायश्चित्त' नामक तप है। ७- **'आज्ञा'** = श्री जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा का पालन करने से होता है और ८- **'निःशल्यत्व'** = आत्मा को शल्य रहित होना श्री उत्तराध्ययन सूत्र में २९ वें अध्ययन में कहा है कि-

''आलोयणायाए णं भंते ! जीवे कि जणइ ? आलोयणायाए णं मामा नियाण मिच्छादं सण सल्लाणं अणंत संसार वड्ढणाणं उद्धरणं करेइ उज्जु भावं च ण जण यइ ! उज्जु भावं पडिवन्ने अ णं जीवे अमायी इत्थी वेअं नपुंसग वेअं च न बंधइ, पुष्प बद्धं च णं णिज्जरेइ।'' अर्थात्-'हे भगवन्त ! आलोचना करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?' भगवन्त उत्तर देते हैं कि-'आलोचना करने से जीव अनंत संसार को बढ़ाने वाले माया शल्य, नियाण शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य तीनों का नाश करता है और आत्मा को ऋजु-सरल भाव प्रगट करता है। इस ऋजु भाव को प्राप्त करने वाला जीवात्मा इससे माया रहित बनता है और स्त्री वेद-नपुंसक वेद सदृश दुष्ट कर्मों का बन्धन नहीं करता तथा जो पूर्व में बंधन किया हो, उसे निर्जरा करता है।'' इत्यादि आलोचना करने से गुणों की प्राप्ति होती है।

इस तरह यहां पर श्राद्ध जित कल्प, उसकी टीका तथा पंचाशक और उसकी टीका में से निकालकर आलोचना की विधि संक्षेप में अल्प मात्र कही है। अत्यन्त तीव्र अध्यवसाय से किया हुआ बड़े से बड़े निकाचित बंधन वाला 'बाल हत्या स्त्री हत्यादि' महापाप किया हो उसकी भी सम्यग् आलोचना करने से और गुरु महाराज द्वारा दिये हुए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रायश्चित्त को पूर्ण करने से 'दृढ़ प्रहारी' आदि महापुरुषों के समान उसी जन्म में भी क्षय करते हैं, इसलिए प्रति वर्ष अथवा प्रति चौमासे में आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यह श्रावक का ग्यारहवां वार्षिक कर्त्तव्य कहा। इस तरह से श्रावक के ग्यारह वार्षिक कृत्य जानना।

卐 इति वार्षिक कृत्यानि 卐

श्रावक के जन्म कृत्य

'जन्म कृत्य' अर्थात् श्रावक को मानव जन्म में करने योग्य धर्म कृत्य-कार्य करने चाहिएं। इस विषय में श्राद्ध विधि में कहा है कि-

चेइअ पडिय, परट्ठा सुआइ पव्वावणा य पयट्ठ वणा।
पुत्थय लेहण वायण पोसह सालाइ कारवणं ॥१५॥

अर्थात् - "१-चैत्य (मंदिर) बनाना, २-जिन प्रतिमा (भरानी) बनाना, ३-प्रतिष्ठा करवानी, ४-पुत्रादि को प्रवज्या-दीक्षा दिलवानी, ५-गुरु को आचार्य पदवी पर स्थापना करना, ६-धर्म ग्रन्थ (आगम) साहित्य लिखना लिखाना, पढ़ना पढ़ाना और ७-पौषध शालादि बनाना- ये श्रावक के जीवन कर्त्तव्य हैं।" उनमें-

१- **जिन मंदिर बनाना**- 'चैत्य' का अर्थ जिन मंदिर है। वह श्रावक को जीवन काल में बनाना चाहिए। यह कर्त्तव्य रूप तो सात क्षेत्र के अन्दर धन व्यय करने के अधिकार में पहले कहा गया है। यहां उसकी विधि कहते हैं, उसी तरह 'जिन प्रतिमा बनानी तथा आगम सिद्धान्त लिखाना हो तो वह भी करणीय है' यह भी पहले लिख दिया है, यहां उसकी विधि ही कही जायेगी, इस तरह समझ लेना। उसमें सर्व प्रथम जिन मंदिर बनाने का अधिकार कैसा होता है उसके लिए छठे षोडशक प्रकरण में कहा है कि -

न्यायार्जित वित्तेशो, मतिमान् स्फीताशयः सदाचारः।
गुर्वादिमतो जिन भवन-कारणस्याधिकारीति ॥२॥

अर्थात् - "न्याय उपार्जित धनवान, प्रतिभाशाली, बुद्धि वाला, धर्म कार्यों के सुन्दर मनोरथ वाला, सदाचारी, औचित्य, विवेक, विनयादि युक्त गुर्वदि बुजुर्ग को तथा राजा, मन्त्री आदि को माननीय श्री जिन मंदिर बनाने का अधिकारी जानना।" पंचाशक में भी कहा है कि -

अहिगारी उ गिहत्थो, सुह सयणो वित्त संजुओ कुल जो।
अखुद्दो धिइ बलिओ, मइमं तह धम्म रागी अ ॥४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गुरु पूआ करण रई, सुस्सूसाइ गुण संगओ चेव ।
णायाहि गय विहाणस्स, धणिय माणा पहाणो य ॥५॥

अर्थात् - "श्री जिन मन्दिर बनाने में अधिकारी गृहस्थ है, वह अच्छा-सदाचारी, स्वजन वाला, अच्छे न्याय से उपार्जित धन वाला, उत्तम कुल में जन्म लेने वाला, अक्षुद्र = कृपणता तथा क्रूरता रहित, धैर्य रूप बल वाला = बहुत खर्च करने पर भी स्थिर आशय वाला, बुद्धिमान और श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का रागी, गुरुजन = माता पितादि तथा धर्माचार्य आदि की सेवा करने में प्रीति-पूज्य भाव वाला हो, सुनने की इच्छा आदि शुश्रुषादि बुद्धि के आठ गुणों से युक्त हो। श्री जिन मंदिर बनाने में न्याय से उपार्जन किया द्रव्य होना चाहिए, इत्यादि विधि का जानकार और अत्यन्त जिनाज्ञा प्रधान = जिन वचन में अति श्रद्धालु हो, जिनाज्ञा के अनुसार आचरण करने वाला होना चाहिए।" यह अधिकारी का स्वरूप बताया। अब श्री जिन मंदिर बनाने की विधि कहते हैं। इस विषय पर सप्तम पंचाशक में कहा है कि-

जिण भवण कारण विही, शुद्धा भूमी दल च कट्टाई ।
मि अगाणइ संधाणं, सासय वुड्ढी अ जयणा य ॥६॥

अर्थात् - "जिन मंदिर करने में १-भूमि शुद्धि, २-दल शुद्धि अर्थात् उसमें उपयोगी लकड़ी-पत्थर ईंट आदि वस्तुओं की शुद्धि, ३- काम करने वाले मिस्त्री-मजदूर आदि को ठगना नहीं, ४-अपने आशय अर्थात् शुभ अध्यवसाय की वृद्धि और ५-जयणा= यथाशक्ति दोषों का त्याग। इन पांच विषयों की शुद्धि होनी चाहिए।"

भूमि शुद्धि के लिए कहते हैं कि-

दव्वे भावे अ तहा, सुद्धा भूमी पएसऽकीला य ।
दव्वेऽपत्ति गरहिआ, अन्नसिं होइ भावे उ ॥१०॥

अर्थात् - "भूमि शुद्धि द्रव्य से और भाव से- दो प्रकार से कही है। उसमें उत्तम पुरुष जहां आते जाते हों अथवा रहते हों ऐसे उचित प्रदेश में, जहां कील आदि वस्तुएं और उपलक्षण से हड्डी-कोयले आदि अनिष्ट वस्तुएं गाड़ी न हों, वह भूमि 'द्रव्य से शुद्ध' है और जहां मंदिर बनाने से अन्य लोगों को अप्रीति न हो वह 'भाव से शुद्ध' जानना अर्थात् मंदिर बनने से सभी के भाव उत्साह बढ़ते हों वह भाव से शुद्ध समझना। इस तरह भूमि की दो प्रकार से शुद्धि होती है, वहीं जिन मंदिर बनाना चाहिए।" षोडशक में भी कहा है कि-

शुद्धाऽत्र वास्तु विधा-विहिता सन्न्यायतश्च यो पात्ता ।
न परोपताप हेतुश्च सा जिनेन्द्रैः समाख्याता ॥६-४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "वस्तु शास्त्र में कहे लक्षण के अनुसार जो न्याय से प्राप्त हुई हो और जहां मंदिर बनाने में अन्य लोगों को क्लेश, कषाय आदि न हो, उस जमीन को शुद्ध कहा हैं ।"

दल शुद्धि के लिए कहते हैं कि -

कट्ठाई वि दलं इह, शुद्ध जं देवता दुव वणाओ ।
णो अविहिणो वणीअं सयं च कारावि अं जं णो ॥१७॥

अर्थात् - "वह लकड़ी, ईंट आदि वस्तुएं शुद्ध हैं जो व्यंतरादि देवों से अधिष्ठित जंगल में से न लाया हो, क्योंकि- वहाँ से लाने में उनको द्वेष आदि होने की संभवना हो सकती है तथा मनुष्य या पशुओं आदि को दु:खी करके, अवधि पूर्वक नहीं लाना चाहिए, तथा वह वृक्ष आदि को स्वयं कटवाया न हो अथवा ईंटें आदि स्वयं पकवाई न हों, श्री जिन मंदिर में ऐसी वस्तुओं का उपयोग करना- वह दल शुद्धि जानना।" षोडशक प्रकरण में कहा है कि-

दलमिष्टाकादि तदपि च, शुद्धं तत्कारि वर्गतः क्रीतम् ।
उचित क्रयेण यत्स्या दानीतं चेव विधि ना तु ॥६-७॥

अर्थात् - "दल अर्थात् ईंट आदि भी शुद्ध उपयोग करने के लिये कहा है कि जो बनाने वाले हों उन लोगों के पास से उचित मूल्य देकर लेना चाहिए तथा विधिपूर्वक लाया गया हो ।" इस जिन मंदिर में उपयोगी लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि दल की शुद्धि अशुद्धि को जानने का उपाय कहते हैं । सप्तम पंचाशकम् में कहा है कि-

तस्सवि अ इमो णेओ, सुद्धासुद्धपरि जाणणो वाओ ।
तक्कह गहणादिम्मी, सउणे अरसण्णि वाओ जो ॥७-१८॥

अर्थात् - "लकड़ी, पत्थर, ईंट, चूना आदि दल की तथा 'अपि' शब्द से मंदिर की भूमि की भी शुद्धि-अशुद्धि को जानने का यह उपाय जानना जैसे कि-उस वस्तु को खरीद करते, विचारणा-मंत्रणा आदि करने के समय में, खरीद करते अथवा अपने स्थान लाते इत्यादि उस समय में शुभ-अशुभ छींक आदि आए, अच्छे बुरे शकुन-शब्द आदि हों उनके अनुसार से शुद्धि-अशुद्धि समझना । तात्पर्य यह है कि- उस समय में शकुनादि अच्छे हों तो शुद्धि और खराब हों तो अशुद्धि समझना । शुभाशुभ शकुन का स्वरूप इस तरह सप्तम पंचाशंक में कहा है कि-

णंदादि सुद्दो, भरिओ कलसो य सुंदरा पुरिसा ।
सुह जोगाइ य सउणो, कंदिय सद्दादि इअरो उ ॥१६॥

अर्थात् - "भंभा, मृदंग, मर्दल, कलंब, झल्लरी, हुडुक्क, कांसी का शब्द, वीणा,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वंसली, पडह, शंख और प्रणव' ये बारह प्रकार के मांगलिक बाजे नंदी वाद्य कहे गये हैं। ऐसे किसी प्रकार के बाजे बजे हों तथा आदि शब्द से घंटा आदि का कोई मांगलिक शब्द सुनाई दे, पानी से भरा हुआ घड़े आदि का जलपात्र अथवा आकृति और वस्त्रादि से सुशोभित उत्तम पुरुष, इत्यादि सामने से मिले, अथवा देखने में आए तथा 'योग' अर्थात् उस समय में मन वचन काया की चेष्टायें शुभ हों या अन्य रूप से 'योग' अर्थात् वार, तिथि, चन्द्रबल, नक्षत्र, योग, करण आदि ज्योतिष की पंचांग शुद्धि हो अथवा शुभ सम्बन्ध आदि हो, इत्यादि योग्य शुभ हो तो वह 'शुभ शकुन' इष्ट कार्य की सिद्धि का सूचक जानना। और 'आक्रंद आदि' अर्थात् यदि किसी का रोने का अथवा झगड़े आदि की दुष्ट आवाज आदि सुनाई दे तो अथवा कोई निषेधात्मक (नकार) करे, आदि हो तो वह अपशकुन का-इष्ट कार्य का विघातक निमित्त जानना।" षोडशक प्रकरण में भी कहा है कि-

दार्वपि शुद्ध मिह, यन्नानीतं देवताद्युपवनादेः ।
प्रगुणं सारवदभिनव मुच्चैर्ग्रन्थ्यादि रहितं च ॥८॥

सर्वत्र शकुन पूर्वं ग्रहणादावत्र वर्तितव्य मिति ।
पूर्ण कलशादि रूप-श्चितोत्साहानुगः शकुनः ॥६-६॥

अर्थात्-"श्री जिन मंदिर करवाने में लकड़ी आदि भी उस प्रकार से शुद्ध जानना कि जहां किसी व्यंतरी आदि देवी अधिष्ठात्री हो अथवा कोई व्यतंर देव अधिष्ठाता हो, ऐसे वन के पास का, किसी तिर्यच या मनुष्य के स्वामित्व वाले जंगल में से नहीं लाया हो, मजबूत हो, जीर्ण न हो, नया हो, उत्तम जाति का हो और गांठ रहित, दूषण रहित हो वे लकड़ी आदि लाना इत्यादि मंदिर के सभी कार्य शुभ-शकुन पूर्वक करना अर्थात् उन वस्तुओं को ग्रहण करने में, लाने में, खरीद करने आदि सारा कार्य शुभ-शकुन में करना चाहिए। शकुनों में भी पानी से पूर्ण भरा हुआ कलश, घड़ा आदि जल पात्र हो, दही, घृत, अक्षत आदि मिलें, वह बाह्य शकुन जानना और मन का उत्साह आदि अभ्यंतर शकुन जानना। उसमें बाह्य शकुन भी मन का जैसा उत्साह हो उसके अनुसार सफल होता है।" यह भूमि शद्धि और दल शुद्धि का स्वरूप कहा है। अब मंदिर के काम करने वालों को ठगना नहीं, उसके विषय में पंचाशतक में कहा है कि-

कारवणेऽविअ तस्सिह, मितगाणति संघणं कायव्वं ।
अवि आहि गप्प दाणं, दिट्ठादिट्ठा फलं एअं ॥७-२१॥

अर्थात्-"जिन मंदिर बनाने वाले में सुतार, बढ़ई, सलाट, कारीगर, मजदूर आदि नौकर को भी जो तनखाह-मजदूरी आदि देना तय किया हो उसे देने में ठगना नहीं चाहिए,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

परन्तु उनको तय की हुई मजदूरी-तनख्वाह से अच्छे प्रमाण में-अधिक देना, क्योंकि उससे प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का फल मिलता है, एक तो वह गरीब मनुष्य अधिक धन मिलने से खुश होकर अच्छी तरह अपना समझकर काम करता है- यह प्रत्यक्ष फल और कई तो इससे जिन धर्म की प्रशंसा करते बोधि बीज की भी प्राप्ति कर जाते हैं- यह परोक्ष फल है ।'' षोडशक में भी कहा है कि-

भृतका अपि कर्त्तव्या, य इह विशिष्टा स्वभावतः केचित् ।
यूयमपि गोष्ठिका इह वचनेन सुखं तु ते स्थाप्याः ॥६-१०॥

अति सन्धानं चैषां, कर्त्तव्यं न खलु धर्म मित्राणाम् ।
न व्याजादिह धर्मो, भवति तु शुद्धाशया देव ॥६-११॥

अर्थात् - '' श्री जिन मंदिर बनाने के लिए कारीगर, मजदूर आदि भी ऐसे रखने चाहिएं कि जो स्वभाव से ही लोक व्यवहार में उत्तम हों । और ' तुम भी इस जिन मंदिर में हमारे सहायक हो ' इत्यादि सम्मान भरे वचनों से उनका उत्साह बढ़ाकर, वह अपनी इच्छा अनुसार सुखपूर्वक ही रहें, इस तरह रखना । धर्म में मित्र समान उनको किसी भी प्रसंग पर नहीं ठगना, क्योंकि धर्म कपट से नहीं होता परन्तु निष्कपट भाव रूप शुद्ध आशय से ही होता है । ''

स्वाशय शुद्धि- अब अपनी आशय (भाव) की वृद्धि करने के लिए कहते हैं । सातवें पंचाशक में कहा है कि-

सासयवुड्ढीऽपि इहं, भुवन गुरु जि णंद् गुण परिण्णाए ।
तब्विवठा वणत्थं, सुद्धप वित्तीए णि अ मेणं ॥२५॥

पेच्छि रंस इत्थ महं, वंदण गणि मित्तमागए साहू ।
कयपुण्णे भगवंते, गुणरयणणिही महासते ॥२६॥

पडि बुज्झिस्संति इहं, दट्ठूण जिणि बिंबमकलंकं ।
अण्णेऽवि भव्व सत्ता, काहिंति ततो पर धम्मं ॥२७॥

ता एअं मे वित्तं, जमित्थमुव ओग मेइ अण वरयं ।
इअ चिंताऽपरिवडिआ, सासयवुड्ढीअ मोक्ख फला ॥२८॥

अर्थात् - ''तीन जगत् के गुरु श्री जिनेश्वर परमात्मा के गुणों के समान या तीन जगत् में पूजनीय, महत्वशील, सामान्य जिन में ईश्वरत्व, सर्वज्ञता तथा अन्य भव्य जीवों को संसार अटवी से पार उतारने की सामर्थ्य' आदि उत्तमता समझकर, उनकी प्रतिमा की स्थापना के लिए श्री जिन मंदिर करवाने की उत्तम प्रवृत्ति करने से आत्मा को अवश्यमेव

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने शुभ भाव की वृद्धि होती है । (२५)॥ यह आशय वृद्धि किस तरह होती है ? वह कहते हैं - मंदिर में प्रतिष्ठित की हुई श्री जिन प्रतिमा को वंदन करना, जब शुभ कर्म वाला-पुण्यशाली, ज्ञानादि गुणरूपी रत्नों का निधान भूत और महासत्त्वशाली श्री साधु मुनिराज आयेंगे तब उनके मैं दर्शन करूंगा । (२६)॥ तथा 'इस मंदिर में माला, शस्त्र, स्त्री आदि कलंकों से रहित वीतरागतामय श्री जिन मूर्ति के दर्शन करके दूसरे भी अनेक भव्य जीव प्रतिबोध-सम्यक् बीज को प्राप्त करेंगे, इससे वह भी उत्तम श्री जिन धर्म की आराधना करेगा ।' (२७)॥ इत्यादि महान लाभों का कारण होने से, यह मंदिर बनाने में जो धन खर्च होता है वही मेरी आत्मा का कल्याण करने वाला है, उसके अतिरिक्त संसार के कार्यों में उपयोग होता धन पर का ही है, वह मेरे को कोई लाभकर्ता नहीं है । (२८)॥" इस तरह लगातार चिन्तन स्वरूप अखण्ड भावना होती है, वह अपने आशय (भावना) की वृद्धि जानना । ऐसी अखण्ड भावना की वृद्धि होने से जीव को मोक्ष फल प्राप्त होता है ।

५-अब 'यतना' द्वार कहते हैं, पंचाशक में कहा है कि -

जयणा य पयत्तेणं कायव्वा एत्थ सव्व जोगे सुं ।
जयणा उ धम्मसारो, जं भणिआ बीअरागेहिं ॥२६॥

सा इह परिणय जल दल विसुद्धि रूवा उ होइ णायव्वा ।
अण्णारं भणि वित्तीए, अप्पणाहिट्ठणं चैव ॥३३॥

अर्थात् - "यह जिन मंदिर बनाने में लकड़ी, पत्थर, ईंट, पानी आदि सारी वस्तुएं लेना, दूसरों के द्वारा ग्रहण करवाना, उपयोग करना इत्यादि प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय जीव रक्षा के लिए पूर्णतया आदरपूर्वक यतना करना चाहिए । क्योंकि श्री वीतराग परमात्मा ने जयणा को धर्म का सार अथवा प्राण कहा है ।" इस जयणा का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं कि- "श्री जिन मंदिर निर्माण करने में पानी, लकड़ी, पत्थर आदि प्रत्येक वस्तु परिणत अर्थात् अचित हो गयी हो- उसका उपयोग करना शक्य हो- उतनी जीव हिंसा कम हो- उस तरह से पानी छानकर और पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि भी अचित्त हो गयी हो, उसका उपयोग करना चाहिए । इसके उपरान्त खेती आदि अन्य आरम्भ का त्याग करके, श्री जिन मंदिर के कार्यों में स्वयं-आप उपस्थित रहने से जयणा होती है, क्योंकि - वहाँ स्वयं उपस्थित श्रावक रहने से स्वयं उन कार्यों में यथोचित जीवों की रक्षा कर सकता है एवं कारीगर, मजदूर आदि भी यतना-सावधानीपूर्वक करें इस प्रकार उन कार्यों में वह लगा सकता है । स्वयं उपस्थित न हो तो वे कारीगर-मजदूर आदि यतना बिना जैसे तैसे काम करते हैं, इसलिए स्वयं देख-रेख रखनी चाहिए । यह स्वयं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देख-रेख रूप समझना। मंदिर के विषय में ऐसी स्वयं की प्रवृत्ति, संसार के अन्य पापारंभों का त्याग रूप होने से वस्तुतः तथाविध दुष्ट कार्यों से रुकने रूप निवृत्ति स्वरूप ही है। इस तरह श्री जिन मंदिर बनाते समय जयणा करने की विधि कही है। इस प्रकार पांच द्वारों से नया जिन मंदिर बनाने की विधि कही गई है। अब जीर्णोद्धार की विधि कहते हैं। यह भी विशेष आदर पूर्वक प्रयत्न से करना चाहिए। कहा है कि-

नवीन जिन गेहस्य, विधाने यत् फलं भवेत्।
तस्मादष्ट गुणं पुण्य, जीर्णो द्धारेण जायते ॥१॥

जीर्णे समुद्धृते यावत्, तावत्पुण्यं न नूतने।
उपपर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्य ख्याति धिरपि ॥२॥

अर्थात् - "नया जिन मंदिर करवाने में जो फल मिलता है उससे जीर्णोद्धार करने में आठ गुणा पुण्य प्राप्त होता है। (१)॥ 'जीर्ण जिन मंदिर का उद्धार करने में जो पुण्य मिलता है उतना पुण्य नया मन्दिर कराने में नहीं होता, क्योंकि नया मंदिर कराने में जीवों की हिंसा आदि बहुत होती है, और 'मंदिर अपना करवाया' ऐसा अभिमानपूर्वक कहलाता है अथवा कीर्ति की लालसा भी संभव हो सकती है। (२)॥" इसलिए जीर्णोद्धार करने में विशेष लाभ होता है। जिन कल्पी अथवा जो संघ-साधु समुदाय की सारी जवाबदारी से मुक्त है, उसे भी जिन मंदिर के उद्धार की जवाबदारी है। तथा कहा है कि-

राया अमच्च सिट्ठी, कोडं बोए वि देसणं काउं।
जिण्णे पुव्वाययणे, जिणकप्प वावि कारवइ ॥१॥

जिण भवणाइं जे उद्धरंति भत्तीइ सडि अपडि आइं।
ते उद्धरंति अप्पं, मीमाओ 'भव समुद्दाओ ॥२॥

अर्थात् - "अथवा = अन्य चिन्ता करने के अभाव में, जिन कल्पी साधु को भी राजा, मंत्री, नगर सेठ, साहूकार या बड़े कुटुम्ब वालों को उपदेश देकर भी जीर्ण बने प्राचीन जिन मंदिर का उद्धार कराना चाहिए। तथा कहा है कि 'जो आत्मा टूटे-खण्डित भूमि दोष हुए जिन मंदिर का भक्ति पूर्वक उद्धार करता है या करवाता है, वह इस भयंकर संसार समुद्र में से वस्तुतः अपना ही उद्धार करता है।"

पहले जीर्ण शीर्ण चैत्य का उद्धार करते हुए ही यदि अधिक सामर्थ्य हो तो नया मंदिर कराना उचित है। इसीलिए ही श्री संप्रत्ति महाराजा ने ८६ हजार मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया था और नये मंदिर केवल ३६ हजार करवाए थे। इसी तरह परमार्हत् कुमार पाल, राजा मन्त्रीश्वर, श्री वस्तुपाल आदि पूर्व श्रावकों ने भी नये मंदिर बनवाने की अपेक्षा प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार अधिक करवाया है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री जिन मंदिर बनाने वाले को कुंडी, कलश, शीशा, दीपक, आरती इत्यादि जिन पूजा में उपयोगी सर्व प्रकार की साग्री भी मंदिर में रखनी चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार धन का भंडार देना, मंदिर में भाग अर्थात् व्यापारादि में मंदिर का हिस्सा हमेशा रखना, और पुष्पों के लिए बाग-बगीचा आदि की योजना भी करनी चाहिए। उसमें भी राजा या किसी बड़े धनवान आदि ने जिन मंदिर बनाया हो, उसे तो भंडार में बहुत सारा धन देना चाहिए तथा उसके भविष्य के निर्वाह के लिए अमुक शहर, गांव, गोकुल आदि देना चाहिए कि जिससे श्री जिन पूजा लगातार चलती रहे। यह पहला जन्म कृत्य कहा। अब दूसरा कृत्य कहते हैं।

२- **जिन प्रतिमा** करवाना- पूर्व कहे अनुसार जिन मंदिर तैयार होते ही, उसमें शीघ्रता से- जितना बने उतना जल्दी श्री जिन प्रतिमा की स्थापना करनी चाहिए। श्री हरिभद्र सूरि जी ने षोडशक प्रकरण में कहा है कि -

जिन भवने जिन बिम्बं कारयितव्यं द्रतं तु बुद्धिमता।
साऽधिष्ठानं ह्येवं, तद् भवनं वृद्धिमद् भवति ॥७-१॥

अर्थात् - "बुद्धिमान पुरुष को जिन मंदिर के अन्दर श्री जिन प्रतिमा की जल्दी स्थापना करनी चाहिए, क्योंकि श्री जिन प्रतिमा के आधिपत्य से मंदिर की दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है।" श्री जिन प्रतिमा बनाने की विधि सातवें षोडशक में इस तरह कही है कि-

जिन बिम्ब कारण विधिः, काले पूजा पुरस्सरं कर्तुः।
विभवो चित्त मूल्यार्पण, मनधस्य शुभेन भावेन ॥२॥

नार्पण मितरस्य तथा, युक्त्या वक्तव्यमेव मूल्यमिति।
काले च दानमुचितं, शुभ भावे नैव विधि पूर्वम् ॥३॥

अर्थात् - "प्रतिमा बनाने वाला कारीगर दुष्ट व्यसनी न होना चाहिए। परन्तु उसे उचित समय पर अच्छा भोजन करवाकर, पान, पुष्प, हार, फल आदि से सत्कार करके प्रतिमा बनाने वाले को औदार्य-बहुमान आदि शुभ-भावपूर्वक अपनी संपत्ति (वैभव) के अनुसार प्रतिमा का मूल्य देना चाहिए। यदि प्रतिमा बनाने वाला ऐसा सदाचारी न मिले शराबी, जुआरी, परस्त्री सेवन आदि व्यसन वाला हो तो उसे इस तरह से मूल्य नहीं देना चाहिए, परन्तु लोक नीति से उचित गिना जाय वैसी अमुक कीमत अमुक प्रमाण की प्रतिमा तुम्हें बनानी है- उसका मूल्य तुम जैसे जैसे प्रतिमा तैयार करोगे वैसे वैसे देता जाऊँगा, आदि पहले से तय करना, अर्थात् जिस काल में जितनी उचित कीमत हो उतनी कीमत उसे देनी चाहिए। क्योंकि किसी समय में छोटी प्रतिमा का मूल्य बहुत होता है

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और किसी समय में बड़े बिम्ब की भी मूल्य थोड़ा होता है । वह मूल्य कृपणता पूर्वक नहीं देना, परन्तु शुभ भाव से देना चाहिए, अर्थात् "प्रतिमा के लिए कल्पना किये धन के भक्षण से शिल्पकार संसार में परिभ्रमण न करे– ऐसी उसकी रक्षा की भावना से कम देना चाहिए।" जिन मंदिर, श्री जिन प्रतिमा इत्यादि कराने वाले को अपने भाव की शुद्धि के लिए गुरु और श्री संघ के समक्ष जाहिर करना चाहिए कि 'इस कार्य में अविधि से यदि कुछ थोड़ा भी धन अन्य का उपयोग किया हो तो उसका पुण्य उनको प्राप्त हो ।' षोडशक में कहा है कि–

यद्यस्य सत्कमनुचित मिहवित्तं तज्जमिह पुण्यम् ।
भवतु शुभाशय करणादिव्येतद्भाव शुद्धं स्यात् ॥७-१०॥

अर्थात् – " इस प्रतिमा कराने के खर्च में जिस किसी का जितना द्रव्य अयोग्य मार्ग में मेरा द्रव्य एकत्रित आया हो, उसका पुण्य उसे होवे ।' इस तरह आशय निर्मल करने से अपने धन का उपयोग हो वह 'भाव से शुद्ध' गिना जाता है।" अब जिन बिम्ब में मंत्र स्थापना (प्राण प्रतिष्ठादि) करने के लिए भी षोडशक में कहा है कि–

मंत्र न्यासश्च तथा, प्रणव नमः पूर्वकं, च तन्नाम ।
मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मन नत्राणे ह्य तो नियमात् ॥११॥

अर्थात् – "जिस भगवन्त का बिम्ब करवाना हो उसके नाम की स्थापना '**ॐ**' और '**नमः**' पूर्वक करना चाहिए । जैसे '**ऋषभदेव**' नाम के लिए' ॐ नमः ऋषभदेवाय' मन्त्र से स्थापना करना । इस मंत्र से निश्चय रूप '**मनन**' = ज्ञान और '**त्राणं**' = रक्षण होता है, इसलिए 'मं + त्र' कहलाता है ।"

इस तरह संक्षेप में श्री जिन प्रतिमा बनाने की विधि कही है । यह जिन प्रतिमा मणि, रत्न, स्फटिक आदि, सुवर्ण आदि उत्तम धातु की, चन्दन आदि काष्ठ की, हाथी दांत की, पाषाण अथवा आखिर उत्तम मिट्टी की बनानी चाहिए । प्रमाण में उत्कृष्ट से पांच सौ धनुष्य की, जघन्य से एक अंगूठे जितनी छोटी शक्ति अनुसार बनानी चाहिए। अब श्री जिन मूर्ति बनाने का फल शास्त्र में कहा है कि–

दालिद्दं दोहग्गं, कुजाइ कुसरीर कुगइ कुमई ओ ।
अवमाण रोग सोगा, न हुंति जिण बिंब कारीणं ॥१॥

अर्थात् – "जिनेश्वर भगवान की मूर्ति बनाने वाले को दरिद्रता, दुर्भाग्य, हीन जाति में जन्म, रोगी, अथवा खराब रूप आदि वाला दुष्ट शरीर, नरकादि दुष्ट गति, दुष्ट कार्य करने वाली हीन बुद्धि तथा अपमान, रोग या शोक आदि नहीं होते हैं ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इतना ही नहीं अपितु वास्तु (शिल्प) शास्त्र के कथनानुसार विधि से बनायी हुई सुन्दर लक्षण वाली जिन प्रतिमा इस जन्म में भी अभ्युदय गुण की हेतु होती है। विपरीत करने से हानि होती है। अतः कहा है कि-

अन्याय द्रव्य निष्पन्ना, पर वास्तु दलोद्भवा ।
हीनाधिकाङ्गी प्रतिमा, स्वपरोन्नति नाशिनी ॥१॥

मुह नक्क नयण ना ही कडि भंगे मूल नायकं चयइ ।
आहरणवत्थ परिगर चिंधाउहभंगि पूइज्जा ॥२॥

वरिस सयाओ उड्ढं, जं बिम्बं उत्तमेहिं सठ विअं ।
विअलं गुवि पूइज्जइ, तं बिंबं निक्क (प्फ) लं न ज ओ ॥३॥

बिम्ब परिवार मज्झे, सेलस्स य वण्ण संकरं न सुहं ।
सम अंगुलप्पमाणं, न सुन्दरं होइ कइआ वि ॥४॥

इक्कं गुलाइ पडिमा, इक्कारस जाव गेहि पूइज्जा ।
उड्ढं पासाइ पुणो, इअ भणिअं पूव्व सूरी हि ॥५॥

निरयावलि सुत्ताओ, लेवोवलदंत कट्ठ लोहाणं ।
परिवार माण रहिअं, घरंमि नो पूअए बिम्बं ॥६॥

गिह पडिमाणं पुरओ, बलि वित्थारो न चेव कायव्वो ।
निच्चं ण्हवण तिसंझ मच्चणं भाओ कुज्जा ॥६॥

अर्थात् - "अन्याय से उपार्जित किये धन द्वारा, दूसरे मकान आदि की लकड़ी, पत्थर आदि में से निकला हुआ तथा अंगों में कम ज्यादा प्रमाण वाली बनी हुई जिनेश्वर की प्रतिमा से बनाने वाले और दूसरे की भी उन्नति का नाश होता है ॥१॥ मुख, नाक, नेत्र, नाभि, पेट तथा कटि विभाग में से खंडित रूप में श्री जिन मूर्ति हो उसे मूल नायक रूप त्याग करना चाहिए। आभूषण, वस्त्र, परिवार-परिकर, लंछन-चिह्न अथवा आयुध से खण्डित हो तो उसकी मूल नायक रूप में पूजा कर सकते हैं ॥२॥ कम में से कम एक सौ वर्ष पहले उत्तम गुरु महाराज द्वारा प्राण प्रतिष्ठा की हुई प्रतिमा खंडित अंग वाली हो फिर भी उसकी पूजा कर सकते हैं, क्योंकि वह प्राचीन होने से शोभा रहित (निष्फल) नहीं मानी जाती ॥३॥ प्रतिमा और परिकर-'छत्र धर-यक्ष-चामर धर' आदि परिवार में अलग अलग रंग के पत्थर आदि का उपयोग करना शोभा कारक नहीं है तथा दो, चार, छह, आठ इत्यादि सम अंगुल प्रमाण वाली प्रतिमा भी कभी श्रेष्ठ उन्नति कारक नहीं होती है ॥४॥ एक से ग्यारह अंगुल के प्रमाण तक की प्रतिमा की घर में पूजा कर सकते हैं, इससे बड़ी प्रतिमा की संघ के मंदिर में पूजा करनी चाहिए, इस तरह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पूर्वाचार्यों ने बतलाया है । ५॥ निरयावलि सूत्र के वचन से चूने आदि लेप से बनी हुई, किसी भी जात के पाषाण की, हाथी दांत की अथवा चंदनादि लकड़ी की तथा सुवर्ण, चांदी, तांबा, पीतल, कांसा, सीसा, जस्ता और लोहा की बनी हुई अथवा परिकर बिना की अथवा परिमाण रहित प्रतिमा की घर में पूजा नहीं करनी चाहिए । घर के मंदिर में जिन प्रतिमा के आगे नैवेद्य पूजा नहीं करनी चाहिए । परन्तु हमेशा भावपूर्वक स्नात्र-प्रक्षाल और त्रिकाल पूजा करनी चाहिए । ६॥" श्री मुनि सुव्रत स्वामी के चारित्र में सर्ग ६, श्लोक ३५-३६ के अन्दर "दांत, काष्ट, पत्थर और लोहे की प्रतिमा को घर मंदिर में कुल नाशक कहा है । इस विषय पर अनुभवी के पास से विशेष समाधान करना आवश्यक है ।

मुख्य वृत्ति में तो जिन प्रतिमाएं परिकर वाली, तिलक, वस्त्रादि युक्त, कच्छ, कटोरा, कुन्डल, बाजूबंद, कंकण आदि की तथा भाल में तिलक आदि की आकृति सहित करवाना । उसमें भी मूल नायक की प्रतिमा तो अवश्य वैसे परिकर-आभूषण आदि से युक्त बनाना चाहिए, क्योंकि इससे ही वह शोभा वाली बनती है और उससे विशेष पुण्यानुबन्धी पुण्य आदि उपार्जन होता है । और कहा है कि-

पासाईआ पडिमा, लक्खण जुत्ता समत्थलंकरणा ।
जह पलूहाएइ मणं निज्जरमो विआणाहि ॥१॥

अर्थात् -"सम्पूर्ण लक्षण वाली तथा सर्व अलंकारों से युक्त, प्रसन्नता प्रगट हो ऐसी मनोहर जिन प्रतिमा का दर्शन करने वाले के मन में जैसे जैसे अधिक हर्ष उल्लास उत्पन्न होता है वैसे वैसे कर्म निर्जरा अधिक होती है ऐसा समझना ।" इस तरह जन्म कृत्यों में 'जिन बिम्ब' नामक दूसरा कृत्य कहा, अब तीसरा कृत्य कहते हैं ।

३- **जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा करवानी** -उपरोक्त विधिपूर्वक तैयार हुई श्री जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा जल्दी करवानी चाहिए । षोडशक प्रकरण में कहा है कि-

निष्पन्नस्यैवं खलु, जिन बिम्बस्योदिता प्रतिष्ठाऽऽशु ।
दश दिवसाभ्यन्तरतः सा च त्रिविधा समासेन ॥१॥

अर्थात् -"उस तरह विधि पूर्वक तैयार की हुई जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा दस दिन के अन्दर करवानी चाहिए । वह प्रतिष्ठा संक्षेप से तीन प्रकार की है ।"

आगे प्रतिष्ठा षोडशक गाथा २-३ में कहा है कि "व्यक्ति प्रतिमा, क्षेत्र प्रतिमा और महा प्रतिमा, इस तरह तीन प्रकार की प्रतिमाएं होती हैं ।" उसमें जिस काल में जो तीर्थंकर होते हैं उस काल में उनकी प्रतिमा को श्रुतधर मुनियों ने 'व्यक्ति प्रतिमा' कहा है । भरतादि किसी एक क्षेत्र के ऋषभदेव आदि सर्व (चौबीस) तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमा एक पट में एकत्रित प्रतिमा बनाई गई हो उसे 'क्षेत्र प्रतिमा' जानना और सर्व क्षेत्रों

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

के एक सौ सत्तर तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमा एक ही पट पर बनायी गयी हो उसे 'महा प्रतिमा' जानना । चैत्य वंदन वृहद् भाष्य में भी कहा है कि-

वत्त पइट्ठा एगा, खित्त पइट्ठा महा पइट्ठा य ।
एग चउवीस सत्तरि सयाण सा होइ अणुकम सो ॥३५॥

अर्थात् - ''अनुक्रम से एक जिनेश्वर की मूर्ति हो वह व्यक्ति प्रतिष्ठा, चौबीस के चौबीस यगवन्त की मूर्तियों का एक पट हो वह क्षेत्र प्रतिष्ठा है और एक सौ सत्तर जिन प्रतिमाओं का समग्र एक पट पर हो वह महा प्रतिष्ठा कहलाती है ।''

प्रतिष्ठा के अन्दर पहले प्रतिष्ठा में उपयोगी सर्व प्रकार के उपकरणों-साधनों को प्राप्त करना, अलग-अलग गांव नगर के श्री संघों को तथा उस-उस स्थान पर विचरण करने वाले श्री गुरु महाराजों को भी आमंत्रण पूर्वक बुलाना, वे पधारें तब 'बड़े आडम्बर-शोभा बढ़े' इस तरह 'नगर प्रवेश' करवाना इत्यादि उनका स्वागत करना । उत्तम भोजन खिलाना, वस्त्रादि देकर उनका सत्कार करना, कैदी को बन्धन से मुक्त करवाना, जीव हिंसा बंद करवानी, सबको भोजन के लिए अभंग-खुले द्वार रूप दान शालाएं प्रारम्भ करना अर्थात् किसी को भी निषेध नहीं करना, रंक, याचक आदि सर्व को हर्ष बढ़े- इस तरह भोजन देना, बढ़ई, सुतार आदि कारीगर को भी यथा योग्य सत्कार कर संतोष देना, उत्तम संगीत तथा बाजों के नाद आदि से आश्चर्य उत्पन्न हो- इस प्रकार अपूर्व महोत्सव की योजना आदि बनाना और प्रतिमा के अट्ठारह अभिषेक करवाना इत्यादि प्रतिष्ठा कल्प (प्रतिष्ठा विधि) आदि ग्रन्थों में कहे अनुसार सर्व विधि-विधान करना । यहां प्रतिष्ठा पंचाशक में कही विधि में से कुछ अल्प मात्र कहते हैं -

णिप्फण्णस्स य सम्मं, तस्स पइट्ठा वणे विही एसो ।
सुह जोएण पवेसो, आयतणे ठाण ठावण या ॥८-१६॥

अर्थात् -''इस प्रकार सम्यग् विधि पूर्वक तैयार हुई जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा करने की विधि इस तरह है कि-''उत्तम चन्द्र, नक्षत्रादि ज्योतिष का योगबल अथवा शुभ ध्यान आदि, मन, वचन, काया के शुभ योगों का बल हो तब उस जिन प्रतिमा का मंदिर में प्रवेश करवाकर योग्य आसन पर स्थापना करनी चाहिए ।''

तेणेव खेत्त सुद्धी, हत्थ सयादि विसया णि ओगेणं ।
कायव्वो सक्कारो गंध पुप्फाइ एहिं तहि ॥१७॥

अर्थात् - ''तथा पूर्व कहे अनुसार शुभ मुहूर्त अथवा मन, वचन, काया के शुभ योग पूर्वक प्रतिष्ठा के समय में चारों दिशा में एक सौ हाथ प्रमाण या उससे भी अधिक भूमि में अवश्य शुद्धि करवानी चाहिए, अर्थात् चारों दिशा में भूमि देख-तलाश कर यदि वहां हड्डी-मांस अथवा अशुचि आदि हो तो उसे अवश्य दूर करवाना तथा जिन मंदिर में सुगन्धित चूर्ण, पुष्प तथा धूप आदि से सत्कार करना ।''

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दसि देव याण पूआ, सव्वेसिं तह य लोग पालाणं ।
ओसरण कमेणण्णे, सव्वेसिं चेव देवाणं ॥१८॥

अर्थात् – "उसके बाद इन्द्र आदि दस दिग्पालों की तथा सोम, यम, वरुण और कुबेर चार लोक पाल देव जो अनुक्रम से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में अधिष्ठाता हैं और अनुक्रम से खड़ग, दण्ड, पाश और गदा– इन आयुध वाले हैं । इनकी समवरण के क्रम से पूजा करना । इस क्रम का वर्णन दीक्षा पंचाशक की गाथा १२ से २२ तक में किया है, वहां से समझ लेना । कई आचार्यों ने कहा है कि–केवल दिग्पाल या लोकपालों की ही नहीं परन्तु सर्व देवों की पूजा करना ।

ततो सहु जोएणं, सट्ठाणे मंगलेहि ठवणा उ ।
अहि वासण मुचि एणं गंधोदग माइणा एत्थ ॥२१॥

अर्थात् – "उसके बाद चन्द्र, नक्षत्र, लग्न आदि शुभ हों– ऐसे उत्तम मुहूर्त्त में जिन प्रतिमा को गीत, गान, बाजे आदि मंगल युक्त अथवा चन्दन आदि का मंगल करने पूर्वक, जहाँ प्रतिष्ठा करवानी हो वहाँ विराजमान करना, फिर प्रतिष्ठा कल्प के कथनानुसार से सुगन्धित चूर्ण, वास आदि से मिश्रित किए उत्तम पवित्र जल तथा लाल उत्तम मिट्टी आदि से उसकी 'अधि वासना' करना अर्थात् जिन प्रतिमा की शुद्धि करना, उसे प्रतिष्ठा के योग्य बनाना ।"

चत्तारि पुण्ण कलसा, पहाण मुद्दा विचित्र कुसुम जुआ ।
सुह पुण्ण चत्त चउतंतु गोत्थया होंति पासेसु ॥२॥

अर्थात् – "उसके बाद जल से पूर्ण भरे कलश (घड़े) हों जिनमें सोना, मोहर, चांदी, धन या रत्न की स्थापना की गई हो, गले में हाथ से काते हुए सूत से भरे हुए चार तार वाला सूती बांधना, अलग-अलग जाति के पुष्पों से जिन घड़ों की पूजा की हो, उनके गले में पुष्प की माला आदि डाली हों उन घड़ों की प्रतिमा की चारों दिशाओं में स्थापना करना ।"

मंगल दीवा य तहा, घय गुल पुष्पा सुभिक्खु भक्खा य ।
जव वारयवण्ण यससत्थि गादि सव्वं महारम्भ ॥२३॥

अर्थात् – "उसके बाद घी, गुड़ से पूर्ण मंगल दीपक करना, कि जिन दीपकों में उत्तम गन्ने साकार आदि रखे हों अथवा दूसरे रूप में घी, गुड़ से पूर्ण मंगल दीपक करना और उत्तम गन्ने के टुकड़े, केले आदि के उत्तम वृक्ष स्तंभ आदि का मंडप करना तथा शराव आदि में बोये जवारे, चन्दन, श्रीखंड आदि के वर्णन विलेपन और स्वास्तिक तथा नंदावर्त आदि जैसे सुन्दर और सुशोभित बनें वैसे वहाँ सर्व सामग्री एकत्रित करना ।"

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मंगल पडि सरणाइं, चित्ताइं रिद्धि विद्धि जुताई ।
पढमदि अहंमि चंदण-विलेवणं चेव गंधड्ढे ॥२४॥

अर्थात् –"फिर पहले अधि वासना के दिन ऋद्धि-वृद्धि नाम की औषधियों से युक्त मंगल स्वरूप विचित्र कंकण धागा = मंगल सूत्र प्रतिमा के हाथ में बांधना तथा केशर, बरास, कस्तूरी आदि से मिश्रित चन्दन का श्री जिनेश्वर की प्रतिमा पर विलेपन करना।"

चउणारी ओमिणणं, णियमा अहिगासु णत्थि उ विरोही ।
णेवत्थं च इमासि जं पवरं तं इहं सेअं ॥२५॥

अर्थात् – "मांगलिक वस्त्र आभूषण आदि धारण कर सधवा स्त्री कम से कम चार के पास से 'अवमानन' अर्थात् पुंखणा करना, पुंखणा में चार से अधिक स्त्रियों का निषेध नहीं है । उन पुंखरने वाली स्त्रियों के वस्त्र आभूषण जितने अधिक उत्तम होते हैं उतना ही यह कार्य अधिक श्रयेस्कर जानना ।"

उक्कोसिआ य पूआ, पहाण दव्वेहिं एत्थ कायव्वा ।
ओसहि फलवत्थ सुवण्ण मुत्त रयणाइ एहिं च ॥२६॥

अर्थात् –"अधिवास के समय में उत्तम जाति के चंदन, अगुरु, कपूर, पुष्प आदि द्रव्यों से जिन प्रतिमा की श्रेष्ठ पूजा करना तथा उत्तम जाति की धान, कमोद, चावल आदि औषधियां, नारियल, अनार आदि फल, वस्त्र, मोती तथा रत्न आदि उत्तम द्रव्यों से उत्कृष्ट पूजा करना ।"

चित्त बलि चित्त गंधेहिं, चित्त कुसुमेहिं चित्त वासेहिं ।
चित्तेहिं विऊहेहिं, भावेहिं विहव सारेणं ॥३०॥

अर्थात् – "अच्छे प्रमाण में धन का व्यय करके, उदारतापूर्वक अनेक जाति के उत्तम नैवैद्य, अलग-अलग जाति के उत्तम गंध, विविध जाति के उत्तम पुष्प और अनेक जाति के उत्तम सुगन्ध वाले चूर्ण, वासक्षेप आदि से पूजा करना तथा अनेक प्रकार की रचनाएं भी करना, रचनाओं में अनेक जाति के भाव-दृश्य द्वारा उत्तम शोभा बढ़े इस तरह प्रतिमा की पूजा करना, अर्थात् शक्ति अनुसार सुन्दर रचना आदि से प्रतिमा की शोभा बढ़ानी चाहिए, अथवा हार्दिक भक्ति के भरे हुए भाव से भाव पूजा करना ।"

चिइवंदण थुइ वुड्ढी उस्सग्गो साहू सासण सूरी ए ।
थय सरण पूअ काले, ठवणा मंगलग पुव्वा उ ॥३२॥

अर्थात् – "अब पूजा के बाद क्या करना चाहिए ? वह कहते हैं कि-उस प्रतिमा के समक्ष चैत्य वंदन करना तथा उत्तरोत्तर जिन स्तुतियों में अक्षर आदि अधिक भाव हों-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

एसी वृद्धि वाली स्तुतियों से स्तुति करना, शासन देव देवी की आराधना के लिए उपयोग पूर्वक श्रेष्ठ काउस्सग करना, उसमें 'लोगस्स' का चिन्तन करना, व पारकर ऊपर प्रगट लोगस्स कहना और इष्ट गुरू आदि का स्मरण करना, फिर प्रतिमा की अथवा प्रतिष्ठा कारक की पूजा करना। इस तरह से सारी विधि करके प्रतिष्ठा के लिए लग्न का जो अंश-समय निश्चित किया हो उस समय में श्री पंच परमेष्ठि नमस्कार महामन्त्र का स्मरण करते हुए प्रतिमा की स्थापना करनी चाहिए।''

पूआ वंदणमुस्सग्ग, पारणा भावथेज्ज करणं वा ।
सिद्धाचल दीव समुद्द मंगलाणं च पाठो उ ॥३३॥

अर्थात् - ''प्रतिष्ठा के बाद प्रतिमा की पूजा करना, फिर चैत्य वंदन करना और उपसर्ग की शान्ति के लिए काउस्सग करना। अन्य ने कहा है कि-प्रतिष्ठा देवी का काउस्सग्ग करना, काउस्सग्ग पारकर भाव-चित्त की स्थिरता अथवा भाव से स्थैर्य अर्थात् आशीर्वाद रूप भाव वचनों का उच्चारण करना, प्रतिष्ठा की स्थिरता करना, प्रतिष्ठा की स्थिरता करने वाले आशीर्वचन बोलना, आशीर्वचनों के लिए कहा है कि 'सिद्धाचल, मेरु पर्वत, जम्बू द्वीप और लवण समुद्र' की उपमा वाली मंगल गाथाएं बोलना। वे गाथा इस प्रकार हैं-

जह सिद्धाण पसिद्धा (पइट्ठा) तिलोक चूडा मणिमि सिद्धिपए।
आ चंद सूरि अंतह, होउ इमा सुप्पतिट्ठन्ति ॥३४॥

अर्थात् -''जैसे तीन जगत् के ऊपर 'सिद्ध शिला' रूप सिद्ध स्थान में विराजमान सिद्धों की प्रतिष्ठा चन्द्र, सूर्य रहें तब तक शाश्वती है, वैसे ही यह भी अर्थात् चन्द्र, सूर्य रहें वहाँ तक स्थिर हो।''

एवं अचला दी सुवि, मेरूप्पमुहेसु होति वत्तव्वं ।
एते मंगल सद्दा, तम्मि सुह निबंधणा दिट्ठा ॥३५॥

अर्थात् - ''इस तरह प्रतिष्ठा को मेरु पर्वत, जम्बू द्वीप और लवण समुद्र आदि की उपमा से भी स्थिर करना। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे जम्बू द्वीप के मध्य में मेरु पर्वत स्थिर रहता है, असंख्यात् द्वीपों के मध्य में जम्बू द्वीप स्थिर रहता है और असंख्यात् समुद्रों में लवण समुद्र स्थिर है वैसे ही यह प्रतिष्ठा भी वहां तक स्थिर रहे। तदुपरान्त दूसरी भी मांगलिक गाथायें बोलनी चाहिएं, उसमें निषेध नहीं है। क्योंकि ऐसे मांगलिक आशीर्वचन प्रतिष्ठा समय में अधिक बोलने से अधिक कल्याणकारी होते हैं। इस तरह शास्त्र के ज्ञाताओं ने देखा है एवं जाना है।''

प्रतिष्ठा के समय में श्री जिनेश्वर भगवन्त की प्रतिमा का स्नात्र-अभिषेक करते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समय श्री जिनेश्वरों की जन्म अवस्था का चिन्तन करना, फल, नैवेद्य, पुष्प, विलेपन, संगीत आदि के द्वारा पूजा करते समय उनकी 'कुमार आदि' गृहस्थावास की उत्तर-उत्तर अवस्थाओं की, छद्मस्थता सूचक वस्त्रों से शरीर आच्छादित करना आदि अधिवास के द्वारा उनकी शुद्ध चारित्र अवस्था है। नेत्र उघाड़ने से-नेत्र में अंजन करने से केवल ज्ञान प्रगट होने की अवस्था का और उसके बाद सर्व प्रकार की पूजा करते समय में जिनेश्वर भगवन्त की समवसरण अवस्था का चिन्तन करना। इस तरह श्राद्ध समाचारी की टीका के अन्दर कहा है। अब प्रतिष्ठा करने के बाद क्या करना ? वह आगे कहते हैं-

सत्तीए संघ पूआ, विसेस पूआउ बहुगुणा एसा ।
जएस सुए भणिओ, तित्थ यराणं तरो संघो ॥३८॥

अर्थात् - "अपनी शक्ति अनुसार चतुर्विध श्री संघ की पूजा करना, श्री संघ के अंगभूत 'धर्माचार्य' आदि एक एक की पूजा करते हुए समग्र श्री संघ की पूजा बहुत गुणों को करने वाली है, क्योंकि आगम में श्री संघ को तीर्थंकर के बाद दूसरे नम्बर से तीर्थंकर तुल्य अथवा तीर्थंकर से भी श्रेष्ठ कहा है।" तथा -

उचिओ जणोवयारो, विसेस आणवरि सयण वग्गमि ।
साहम्मि अवग्गंमि अ, एअं खलु परम वच्छल्लं ॥४७॥

अट्ठाहिआ य महिमा, सम्मं अणुबंध साहिगा केई ।
अन्ने उ तिण्णि देअहे, णिओगओ चेव कायव्वा ॥४८॥

अर्थात् - "योग्यता के अनुसार सभी जन समुदाय का भोजन आदि से सत्कार करना, उसमें स्वजनवर्ग-अपने सम्बन्धी और अन्य साधर्मिकों का सत्कार उत्तम भोजन, वस्त्र प्रदान आदि से अन्य से विशेष करना, वह परम् वात्सल्य है। प्रतिष्ठा के कारण शुभ भाव से आठ दिन तक (अष्टाह्निका) महोत्सव करना। कई आचार्यों का कहना है कि-अष्टाह्नि का महोत्सव से श्री जिन प्रतिमा की पूजा से उनकी आराधना की परम्परा चालू रहती है। अन्य आचार्यों का कहना है कि-'तीन दिन का उत्सव तो निश्चय से करना।" षोडशक में भी कहा है कि-

अष्टौ दिवसान् यावत्, पूजाऽविच्छेदतोऽस्य कर्त्तव्या ।
दानं च यथा विभवं, दातव्यं सर्वसत्त्वेभ्यः ॥१६॥

अर्थात्- "प्रतिष्ठित प्रतिमा की आठ दिन तक अविच्छिन्न रूप में पुष्प, नैवेद्य आदि विशिष्ट प्रकार से पूजा करनी चाहिए एवं संपत्ति के अनुसार शासन की उन्नति के लिए सर्व जीवों को दान देना चाहिए।" पंचाशक में भी कहा है कि-

तत्तो विसेस पूआ पुव्वं विहिणा पडिस्सरोम्मुअणं ।
भूअ बलि दीण दाणं, एत्थं पि ससतिओ किं पि ॥४६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तत्तो पडिदिण पूआ-विहाणओ तह तहेव कायव्वं ।
विहि आणुट्ठाणं खलु, भव विरह फलं जहा होति ॥५०॥

अर्थात्- "पूर्व के दिनों की अपेक्षा से विशेष-उत्तम प्रकार से पूजा करके विधि पूर्वक प्रतिसर अर्थात् बंधन किए कंकण को छोड़ना तथा जिसमें पत्र, पुष्प, फल, अक्षत और सुगन्धि वाला पानी इत्यादि एकत्रित किया हो- ऐसे पकाये हुए धान्य रूप बलि का प्रक्षेप भूत को करना अर्थात् बाकुला उछालना । ये कंकण मोचन तथा भूत बलि करते समय में भी शक्ति अनुसार प्रतिष्ठा की अपेक्षा से थोड़ा भी दीन-दुःखी आदि को अनुकंपा दान देना । उसके बाद प्रतिदिन विधिपूर्वक पूजा, देव, वंदन, दर्शन, रथ यात्रा, स्नात्र महोत्सव इत्यादि कार्य इस तरह उत्तम प्रकार से करना कि जिससे संससर के विरह रूप मोक्ष फल की प्राप्ति हो ।"

प्रतिष्ठा के बाद बारह महीने तक तो हमेशा स्नात्र आदि करवाना । प्रतिष्ठा की तिथि में तो विशेष प्रकार से करवाना । वर्ष पूर्ण हो तब अट्ठाई महोत्सव आदि विशेष पूजा पढ़ाकर उत्तम आयुष्य की गांठ बांधना, अर्थात् इससे जीव को सद्गति का आयुष्य बन्धन होता है । उसके बाद भी उत्तरोत्तर सविशेष भक्ति-पूजा प्रारम्भ रखना । यह तीसरा जन्म कर्त्तव्य कहा ।

४- **पुत्रादि की दीक्षा** - प्रतिष्ठा के समान महान् आडम्बर-महोत्सव पूर्वक श्री संघ और गुरुजनादि सर्व को निमंत्रण देकर, अपने पुत्र, पुत्री, भाई, भतीजा आदि स्वजन, मित्र अथवा परिवार के किसी मनुष्य को दीक्षा दिलानी चाहिए और उपस्थापना-बड़ी दीक्षा भी दिलवानी चाहिए । सुना जाता है कि कृष्ण महाराज एवं चेडा महाराज ने अपने पुत्र पुत्रियों का भी विवाह करने का त्याग किया था और अपनी पुत्री आदि को तथा अन्य भी थावच्चा (सेठानी का) पुत्र आदि हजारों को बड़े आडम्बरपूर्वक दीक्षा दिलवायी थी । दीक्षा दिलवाने में आत्मा को बहुत लाभ होता है । अतः द्वार गाथा में कहा है कि-

ते धन्ना कय पुण्णा, जणओ जणणी अ सयण वग्गोअ ।
जेसिं कुलंमि जायइ, चारित्त धरो महा पुत्तो ॥४॥

अर्थात् - "वे माता-पिता और स्वजनवर्ग धन्य हैं, कृत पुण्य हैं कि जिसके कुल में चारित्र रत्न को धारण करने वाले महा उत्तम पुत्र का जन्म होता है ।"

५- **गुरु की पद स्थापना** - योग्य गुरु महाराज की 'गणि वाचनाचार्य' आदि पद पर प्रतिष्ठा करवाना वह श्रावक का कर्त्तव्य है । इसलिए दीक्षित बने अपने पुत्र आदि को अथवा इस पद के योग्य जो भी अन्य गुरुदेव हों उनको 'शासनोन्नति' आदि उद्देश्य से सुन्दर महोत्सवपूर्वक वह पद प्रदान करवाना चाहिए । शास्त्र में सुना जाता है कि- श्री अरिहंत देव के प्रथम समवसरण में श्री गणधर देवों को गणधर पद की स्थापना

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सौधर्मेन्द्र करवाता है । महा मन्त्रीश्वर श्री वस्तुपाल ने भी इक्कीस आचार्य भगवन्तों की आचार्य पद पर स्थापना करवायी थी । इस तरह यथाशक्य महोत्सव पूर्वक योग्य गुरु महाराज को पद प्रदान करना चाहिए । यह श्रावक का पाँचवां जन्म कृत्य है ।

६-शास्त्र लिखवाना - श्री कल्पसूत्र आदि आगम साहित्य तथा जिनेश्वर भगवान का चरित्र आदि ग्रन्थ न्यायोपार्जित धन से प्राप्त कर सुन्दर-उत्तम जाति के ताड़पत्र, कागज आदि के ऊपर अति शुद्ध-स्पष्ट अक्षरों से, अशुद्धि आदि दोष न रहे- इस तरह सावधानीपूर्वक लिखना चाहिए । हमेशा बड़े आडम्बरपूर्वक संवेगी गीतार्थ गुरू महाराज के पास में पूजा-बहुमान आदि करके पढ़ाना चाहिए अर्थात् व्याख्यान द्वारा स्वयं सुनना और दूसरे भव्य आत्माओं को सुनाना चाहिए । तथा उपलक्षण से उन आगमों को पढ़ने वाले, बांचने वाले आदि ज्ञान ग्राही आत्माओं को वस्त्रादि आवश्यक वस्तुएं देकर सहायक बनना चाहिए । कहा है कि-

ये लेखयन्ति जिन शासन पुस्तकानि ।
व्याख्यानयन्ति च पठन्ति च पाठयन्ति ।।
श्रृण्वन्ति रक्षण विद्यो च समाद्रियन्ते ।
ते मतर्यदेव शिव शर्म नरा लभन्ते ।।१।।

अर्थात्- "जो जैन शासन-जैन धर्म की पुस्तकों को लिखाता है, गुरू महाराज के पास में व्याख्यान द्वारा पढ़ाता है, स्वयं पढ़ता है, दूसरे को पढ़ाता है, सुनता है और उसका रक्षण करने में पूर्ण आदर रखता है- वह मनुष्य स्वर्गलोक के उत्तम सुख प्राप्त कर अन्त में मोक्ष सुख को भी प्राप्त करता है ।" इत्यादि बातें सात क्षेत्र में द्रव्य व्यय करने के अधिकार में पूर्व जिनागम का वर्णन कह गये हैं । वहाँ फिर पढ़ लें ।

७-पौषधशाला बनाना- जो स्थान निष्पाप-पवित्र और धर्मी मनुष्य जहाँ निवास करते हों, उस स्थान पर श्रावक आदि को पौषध आदि धर्म कार्य करने के लिए धर्मशाला-उपाश्रय रूप सर्व साधारण मकान बनाना चाहिए । धर्मी श्रावक आदि के लिये करवाना और अच्छी तरह से संभाल किया हुआ स्थान, संयम की साधना के लिए निर्दोष एवं योग्य होने से समय-समय पर साधु को उतरने के लिए भी देना चाहिए, क्योंकि साधु को उतरने के लिए मकान देने का महान् फल है । अतः कहा है कि-

जो देह उवस्सयं जइ वराण तवणियम जोग जुताणं ।
तेणं दिण्णा वत्थन्न पतसयणासण विगप्पा ।।१।।

अर्थात् - "जो आत्मा तप-नियम और ज्ञानादि शुभ योग से युक्त मुनिवर को उपाश्रय (आश्रय) देता है उसने वस्तुतः स्थान ही नहीं परन्तु अन्न, पात्र, शयन आदि सारा दिया ऐसा समझना" क्योंकि- उपाश्रय के आधार से ही आहारादि सब का भी उपयोग हो सकता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसलिए पौषधशाला करवाना श्रावक का कर्त्तव्य है । जन्म कृत्य की द्वार गाथा का अर्थ पूर्ण हुआ । श्राद्ध विधि में तो धर्म, अर्थ और काम- इन तीन वर्ग की साधना के लिए रहने का घर बनाना चाहिए, तथा विद्याभ्यास करना, विवाह करना तथा मित्र आदि का संग्रह करना इत्यादि भी जन्म कृत्य रूप में गिना जाता है, परन्तु उन कार्यों को गृहस्थ के सामान्य धर्म रूप में हमने पूर्व में गृहस्थ के सामान्य धर्म के अधिकार में ही यथा स्थान बताया है ।

उसके उपरान्त 'व्रत ग्रहण करना' इत्यादि जन्म कृत्यों का वर्णन पहले किया है, इसलिए यहां नहीं कहते । अब 'प्रतिमाओं का वहन करना' श्रावक को विशेष उपयोगी होने से उसे जन्म कृत्य से अलग ही कहते हैं । इसके अनुसार जन्म कृत्य का अधिकार यहां पूर्ण हुआ । अब प्रतिमा पालन का वर्णन स्वतंत्र मूल गाथा से कहते हैं-

विधिना दर्शनाद्यानां, प्रतिमानां प्रपालनम् ।
या सुस्थितो गृहस्थोपि, विशुद्धयति विशेषतः ॥६६॥

मूलार्थ - "जिसके पालन करने से गृहस्थ आत्मा होने पर भी विशेषतया रूप में विशुद्ध होता है वह 'दर्शन' आदि श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विधिपूर्वक पालन करना चाहिए ।"

व्याख्या - "सम्यकत्व को दूषणरहित रूप में पालन करने का अभिग्रह रूप में अथवा सम्यकत्व से युक्त अनेक अभिग्रह विशेष रूप दर्शन नामक प्रथम प्रतिमा है । श्रावक धर्म की ग्यारह प्रतिमाओं की 'दशाश्रुत स्कंध' आदि आगम में कही विधि उत्तम रूप से पालन करना- वह श्रावक का विशेष धर्म है, इस तरह पूर्व के साथ में सम्बन्ध जानना । इन प्रतिमाओं के पालन करने से होने वाला लाभ बतलाते हैं कि - इन प्रतिमा में रहा-पालन करने वाला आत्मा साधु रूप नहीं होने पर भी विशेष या सामान्य श्रावक से असंख्यात् गुणा गुण श्रेणि से आत्म शुद्धि करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य श्रावक से प्रतिमाधारी श्रावक असंख्यात् गुणा पाप कर्मों का क्षय करता है । वे कौन सी प्रतिमाएं हैं ? उसके लिए संबोध प्रकरण ८८ में तथा पंचाशक में कहा है कि-

दंसण वय सामाइअ, पोसह पडिमा अबंभ सच्चिते ।
आरंभ पेसउद्दिट्ठ, वज्जए समण भूए अ ॥१०-३॥

अर्थात् - "१- दर्शन, २- व्रत, ३- सामायिक, ४- पौषह, ५- (काउस्सग्ग ध्यान रूप) प्रतिमा, ६- अबह्म, ७- सचित्त, ८- आरंभ, ९- नौकर आदि की सेवा, १०- उद्दिट्ठ वर्जन और ११- श्रावक भूत प्रतिमा जानना इसमें पाँच पालन रूप और पाँच त्याग रूप जानना इस तरह श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कही हैं ।" उनका स्वरूप इस तरह है-

प्रतिमा का अर्थ है-विशिष्ट साधना की प्रतिज्ञा जिसमें श्रावक संकल्प पूर्वक अपने स्वीकृत यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करता है । **(१) दर्शन प्रतिमा** = शंकादि पांच

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दोष से रहित, प्रशमादि पांच लक्षणों सहित, स्थैर्य आदि पांच भूषणों से भूषित, मोक्ष मार्ग रूप महल की नींव के समान सम्यग् दर्शन (समकित), उसका भय, लोभ, लज्जा आदि विघ्नों से रहित निरतिचार विशुद्ध रूप से लगातार एक मास तक पालन करना अर्थात् भयादि के योग से अल्प भी अतिचार नहीं लगाना। (२) **व्रत प्रतिमा** -इस तरह सम्यग्दर्शन का पालन करने के साथ में अखंडित और अविराधित अर्थात् अतिक्रमादि दोष सेवन किये बिना निरतिचार रूप श्रावक के बारह व्रतों का दो मास तक लगातार पालन करना।(३) **सामायिक प्रतिमा** - पूर्व प्रतिमाओं की साधना सहित दोनों समय अप्रमत्त रूप से ३२ दोषों से रहित शुद्ध सामायिक लगातार तीन महीने तक करना।(४) **पौषध प्रतिमा** - पूर्व प्रतिमाओं के अनुष्ठान सहित निरतिचार रूप से चार महीने तक प्रत्येक चतुष्पर्वी पर पौषध का पालन करना।(५) **कायोत्सर्ग प्रतिमा** - पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का पालन करते हुए पांच महीने तक प्रत्येक चतुष्पर्वी में घर के अन्दर, घर के द्वार पर अथवा चौक में परिषह उपसर्ग में सारी रात भर चलायमान हुए बिना काया के व्युत्सर्ग रूप में कायोत्सर्ग करना। इस प्रकार उत्तरोत्तर की प्रतिमा में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं का अनुष्ठान निरतिचार पालन करना व प्रतिमा के अनुसार काल मर्यादा उतने ही महीने समझना।(६) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा** - पूर्व प्रतिमाओं के अनुष्ठान सहित छः महीने तक त्रिकरण योग से निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करना।(७) **सचित्त वर्जन प्रतिमा** - पूर्वोक्त के समान सात महीने तक सचित्त पदार्थ सेवन का त्याग किया जाता है। (८) **आरम्भ वर्जन प्रतिमा** - आठ महीने तक स्वयं आरम्भ करने का त्याग करना। (९) **प्रेष्य वर्जन प्रतिमा** - नौ महीने तक नौकर आदि दूसरे से भी आरम्भ कराने का त्याग करना। (१०) **उदष्टि वर्जन प्रतिमा** - दस महीने तक अपने लिए तैयार किया हुआ आहार भी खाने का त्याग करना और (११) **श्रमणभूत प्रतिमा** - ग्यारह महीने तक स्वजन आदि का संग छोड़कर, रजोहरण पात्र आदि साधु वेश लेकर, साधु की तरह चर्या करे। बालों का लोच करे या खुर मुंडन करे। अपने गोकुल, उपाश्रय आदि स्वतंन्त्र स्थान में रहकर भिक्षाचरी करते हुए साधना करे। भिक्षा के लिए घरों में जाकर '**प्रतिमा प्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षा दत्तं**' अर्थात् 'प्रतिमा धारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।' इस प्रकार बोलकर आहार ग्रहण करे। आहारदाता को 'धर्म लाभ' शब्द का उच्चारण किए बिना सुसाधु के सदृश सुन्दर आचारों का पालन करे। इस तरह ग्यारह महीने तक पालन करे। पंचाशक में कहा है-

दंसण पडिमा नेया, सम्मत्त जुअस्स सा इहं बुंदी ।
कुग्गह कलंक रहिआ, मिच्छत्तख ओव सम भावा ॥१०-४४॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "दर्शन प्रतिमा वह है जिसमें सम्यकत्वधारी आत्मा का चित्त मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने से शास्त्र विशुद्ध व दुराग्रह रूपी कलंक से रहित होता है ।" 'उपाशकदशा' आदि में दर्शन अभिग्रह को दर्शन प्रतिमा कहा है । और भी कहा है कि-

बीया पडिमाणेया सुद्धाणुव्वय धारणं ।
सामाइअ पडिमा ऊ, सुद्धं सामाइअंपि अ ॥१॥

अट्ठमीमाइपव्वेसु, सम्मं पोसह पालणं ।
सेसाणुट्ठाण जुत्तरस चउत्थी पडिमा इमा ॥२॥

निक्कंपो काउस्सग्गं तु, पुव्वुत्तगुण संजुओ ।
करेइ पव्वराई सुं पंचमीं पडिवन्नओ ॥४॥

अर्थात्- "निरतिचार अणुव्रत आदि बारह वृतों का पालन करना, दूसरी व्रत प्रतिमा है और सामायिक का शुद्ध रूप से पालन करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, और अमावस्या- ये चारों तिथियां मिल कर चतुष्पर्वी कहलाती है। इन पर्वों के दिन सम्यग् रूप से पौषध करना चौथी पौषध-प्रतिमा है। पूर्व कथित समस्त अनुष्ठानों से गुण से युक्त आत्मा होकर चारों पर्व दिनों में रात्रि को घर के अन्दर या घर के बाहर द्वार पर अथवा चौक में परिषह उपसर्ग आने पर भी निश्चेष्ट कायोत्सर्ग धारण रहना, पांचवीं कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसके विषय में प्रतिमा पंचाशक में विशेषत: कहते हैं कि-

असिणाणं विअडभाई, मउलिउडो दिवस बंभयारी अ ।
रतिं परिमाण कडो, पडिमावज्जेसु दियएसु ॥१०-६८॥

झायइ पडिमाए ठिओ, तिलोग पुज्जे जिणे जिअकसाए ।
निअदोसपच्चणीअं अन्नं वा पंच जा मासा ॥१०-१६॥

अर्थात्- "पांचवीं प्रतिमा वाला स्नान न करे, दिन में भोजन समाप्त करके रात में चारों आहार का त्याग करे, अधोवस्त्र (धोती) को कच्छ के बिना धारण करे, तथा प्रतिमा-चतुष्पर्वी बिना के दिनों में दिन में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करे और रात्रि में भी स्त्रियों की तथा भोग की संख्या का प्रमाण निश्चित करे। कायोत्सर्ग में तीनों लोक से पूज्यनीय तथा क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओं का विजेता बने । श्री जिनेश्वर भगवन्त का ध्यान अथवा अपने रागादि दोषों का नाश हो- इस तरह काम की निन्दा इत्यादि दोष के प्रतिपक्षी उपायों का चिन्तन पाँच महीने तक करे ।"

छट्टीए बंभयारी सो, फासु आहार सत्तमी ।
वज्जिज्जा वज्जमाहारं, अट्ठमी पडिवन्नओ ॥५॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात्- ''छठी प्रतिमा में वह छः महीने तक दिन एवं रात्रि में अखंड रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करे, सातवीं प्रतिमा में सात महीने तक उचित आहार का ही उपयोग करने का होता है और आठवीं प्रतिमा वाला आठ महीने तक सावध आहार का स्वयं आरंभ करने का त्याग करे।''

छठी प्रतिमा की विशेषता पंचाशक में कही है कि-

पुव्वोइ अ गुण जुतो विसेसओ विजिय मोहणिज्जो अ ।
वज्जइ अबंभमेग तओ अ राइंपि थिर चित्तो ॥२०॥

सिंगार कहाविरअओ, इत्थीए समं रहंमि नो ठाई ।
चयइ अ अइप्प संगं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥२१॥

एवं जाछम्मासा एसोऽहिगओ इह रहा दिट्ठं ।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एयंमि लोगंमि ॥२२॥

अर्थात्- ''पूर्व कहे अनुसार वह स्नान रहित, रात्रि भोजन का त्यागी इत्यादि अथवा 'सम्यकत्व, अणुव्रत, सामायिक, पौषध और प्रतिमा' गुण वाला श्रावक छठी प्रतिमा में पांचवीं प्रतिमा से विशेष रूप में मोह-वेद का जय करके दिन में ही नहीं, परन्तु रात्रि में भी स्थिरता पूर्वक सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन करे। पांचवीं से छठी में यही विशेषता है। चित्त की स्थिरता के उपाय- स्त्री कथा, काम कथा इत्यादि कामोत्तेजक श्रृंगार की बातें नहीं करना, स्त्री के साथ एकान्त में नहीं रहना, जाहिर में भी स्त्रियों के साथ में अति परिचय नहीं रखना, तथा शरीर पर अलंकार-विलेपन इत्यादि से उत्कृष्ट शोभायमान नहीं करे, सामान्य शरीर रक्षा के लिए जितना आवश्यक हो उतना करे। इस तरह छठी प्रतिमाधारी शरीर शोभा और विकथा त्याग पूर्वक उत्कृष्ट छः महीने तक मैथुन का त्याग करे। वह यहाँ कहते हैं कि अन्यथा सामान्य श्रावक भी जावज्जीव मैथुन का त्याग करते दिखते हैं। उब नौवीं-दसवीं प्रतिमा कहते हैं-

आवरेण वि आरंभं, नवमीए नो करावए ।
दसमीए पुणोद्दिट्ठं, फासुअं पि न भुंजए ॥१॥

अर्थात्- ''नौवीं प्रतिमा वाला श्रावक अपने आहार आदि के विषय में नौकर आदि अन्य द्वारा भी आरंभ नहीं होने दे और दसवीं प्रतिमा में अन्य से प्रेरणा बिना भी प्रतिमाधारी के उद्देश्य से तैयार किया हुआ प्रासुक (निर्जीव) आहारादि भी उपयोग में न ले।'' उसमें विशेषता कहते हैं कि-

णिक्खित्तभरो पायं, पुत्तादिसु अहव सेस परिवारे ।
थेव ममत्तो अ तहा, सव्वत्थ वि परिणओ णवरं ॥२६॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

लोग ववहार विरओ, बहुसो संवेग भाविअ मईअ ।
पुव्वोइ अगुण जुत्तो, णव मासा जाव विहिणा उ ॥३१॥

उद्दिट्ठ कडं भत्तं वि, वज्जए किमुअ सेसमारंभ ।
सो होइ अ खुरमुंडो, सिंहलि वा धारइ कोई ॥३२॥

जं णि हि अमत्थजायं, पुट्ठो णिअ एहिं णवरि सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहइ, अहं णवि तो बेइ णवि जाणे ॥३३॥

जइ पज्जु वासणपरो, सुहुम पयत्थेसु णिच्च तल्लिच्छो ।
पुव्वोदि अगुण जुत्तो दस मासा काल मासेणं ॥३४॥

अर्थात्- "नौवीं प्रतिमा में कुटुम्ब परिवार का तथा व्यापार आदि कार्यों का भी भार प्रायः योग्य पुत्रों को या भाई आदि को अथवा योग्य नौकर आदि को सौंप देना, तथा स्वयं धन्य धान्यादि सर्व परिग्रह में ममत्व को घटा कर-अल्प कर दे, विशेष में सर्वत्र परिणत-बुद्धि वाला विवेकी बने। लौकिक सभी व्यवहारों से निवृत्त बने, बारम्बार मोक्ष की अभिलाषा में दृढ़ता का अभ्यास करते रहना चाहिए, इस तरह नौवीं प्रतिमा में नौ महीने तक आरंभ का त्याग करना। दसवीं प्रतिमा में यह विशेषता है कि - अन्य आरंभों का ही नहीं, परन्तु दुष्कर भोजन के आरंभ का त्याग करे। उसके उद्देश्य से अन्य ने भी तैयार किया हो उस 'उद्दिट्ठ' भी भोजनादि का उपयोग न (खाए) करे, उपरान्त मस्तक से मुंडन करवा दे अथवा कुछ चोटी भी रखे। इस प्रतिमा वाला भूमि आदि में गाड़ा हो, किसी के पास रखा हो या किसी प्रकार गुप्त में संग्रह किया हो इत्यादि धन धान्य लेना देना इत्यादि स्वयं जानता हो, और कुटुम्ब परिवार आदि उसके विषय में पूछे तो यदि जानता हो तो उसके अनुसार ही उसे कहे, यदि न जानता हो तो 'मैं नहीं जानता' इस तरह कहे। जानते हुए भी यदि न कहे तो उनको आजीविका में अन्तराय होता है तथा साधुओं की सेवा में हमेशा तत्पर रहे और सूक्ष्म-निपुण बुद्धि से समझ में आए इस तरह जीव-अजीव आदि तत्त्वों को अथवा निगोदादि पदार्थों को जानने की। हमेशा सतत् लालसा रखनी चाहिए। इस प्रकार दस महीने तक दसवीं प्रतिमा का पालन करना। अब ग्याहरवीं प्रतिमा का स्वरूप पंचाशक में कहा है कि -

एकारसीसु निस्संगो, घरे लिंगं पडिग्गहं ।
कयलोओ सुसाहुव्व पुव्वुत्तगण सा यरो ॥३६॥

पुव्वाउत्तं कप्पइ, पच्छाउत्तं तु ण खलु ए अस्स ।
ओयण भि लिंग सूआइ, सव्व माहार जायं तु ॥३७॥

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अर्थात् - "प्रथम की दस प्रतिमाओं के सारे गुणों का पालन करने वाला श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा में उत्तम साधु के समान गृहस्थावस्था के घर, कुटुम्ब, परिवार, परिग्रह आदि सारे सम्बन्ध को छोड़कर साधु का वेश तथा लकड़ी आदि पात्र स्वीकार करे, केश का लोच करे, भोजन के विषय में जहाँ पर आहार लेने जाय वहाँ गृहस्थ ने उसके जाने के पहले चावल, मसुरादि की दाल आदि जो आहार अपने लिए तैयार किया हो वह ले सकता है, परन्तु जो वहाँ जाने के बाद तैयार किया हो वह इस प्रतिमा वाला नहीं ले सकता है।" आवश्यक चूर्णि में तो कहा है कि -

"राइ भत्त परिण्ण पंचमी, सच्चित्ताहार परिण्ण इति षष्ठी, दिआ बंभचारी, राओ परिमाणकडेत्ति सप्तमी, दियावी राओवि बंभयारी असिणाणए वोसट्ठ केसमं सुरोम न हेत्ति अष्टमी पेसारंभ परिण्णा एति दशमी, उद्दिट्ठ भत्त विवज्जए समण भूएत्ति एकादशीति ॥६६॥ (भा० २) अर्थात् - "रात्रि भोजन का त्याग करना वह पांचवीं प्रतिमा है, सचित्त आहार का त्याग करने में छठी है, दिन में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य और रात्रि में मैथुन का परिमाण करने में आए वह सातवीं है, सम्पूर्ण अहो रात्रि का ब्रह्मचर्य पालन करना, स्नान नहीं करना तथा मस्तक और दाढ़ी, मूंछ के बाल, शरीर के ऊपर की रोम राजी अथवा नाखून आदि के संस्कार का त्याग करना, अर्थात् साफ-सफाई केश कलाप आदि नहीं करना वह आठवीं प्रतिमा है, स्वयं आरंभ का त्याग करना वह नौवीं है, अन्य के द्वारा अपने आहारादि निमित्त में भी आरंभ करवाने का त्याग करना वह दसवीं प्रतिमा है और उद्दिष्ठ भोजन का भी त्याग तथा यहाँ श्रमणभूत प्रतिमा कही है उसका पालन करना, इस तरह दोनों एक साथ-एकत्रित एक ग्यारहवीं प्रतिमा जानना।" इस तरह श्रावक प्रतिमा का वर्णन किया। अब गृहस्थ धर्म का उपसंहार करते हैं।

प्ररूपितो जिनैरेवं, गृहिधर्मो विशेषणः।
सतामनुष्ठेय तया, चारित्र गिरि पद्धिका ॥७०॥

मूलार्थ - "इस प्रकार से श्री जिनेश्वर भगवन्तों ने गृहस्थ का विशेष धर्म कहा है। वह उत्तम आत्मा को यह गृहस्थ धर्म आचरण करना चाहिए। वह चारित्र रूप पर्वत के ऊपर चढने के पैर से प्ररूप बनता है अर्थात् इससे निर्मल आराधना के फल रूप चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम आदि होने से आत्मा को संयम गुण स्थानक की प्राप्ति होती है।"

व्याख्या - इस ग्रन्थ के पहले विभाग में कहा है- वह सामान्य धर्म की अपेक्षा से श्री जिनेश्वर भगवन्तों ने इस दूसरे विभाग में कहा है। उसे गृहस्थ का विशेष धर्म कहा जाता है अर्थात् परम आप्त पुरुषों के वचनों के अनुसार मैत्री-प्रमोद आदि भावना से चिन्तन रूप आत्मा के अनुष्ठान रूप यहाँ वर्णन किया है वह गृहस्थ का विशेष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

धर्म है। यहां कोई ऐसा समझता है कि - "पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप आदि सदा अवस्थित पदार्थ मात्र जानने योग्य हैं, वैसे यह धर्म भी केवल जानने योग्य ही होगा, अथवा तो मिथ्यात्व आदि आश्रव हेय-त्याग करने योग्य हैं, वैसे यह धर्म भी त्याग करने ही योग्य होगा।" उसके समाधान के लिए कहते हैं कि "मार्गानुसारी रूप" आदि सामान्य गृहस्थ धर्म को प्राप्त करने वाले उत्तम आत्माओं को यह धर्म-अनुष्ठान आचरण करने योग्य है, अर्थात् उत्तम आत्माओं को यह गृहस्थ का विशेष धर्म आचरण-पालन करना चाहिए, ऐसा कहा है। वह चारित्र रूप पर्वत के लिए सीढ़ी रूप है अर्थात् आचरण में उतरा हुआ यह धर्म है, जिस धर्म में सर्व पाप व्यापारों का त्याग और निष्पाप प्रवृत्तियां - अनुष्ठान का सेवन करना होता है, वह चारित्र धर्म रूप पर्वत के ऊपर पहुँचने के लिए पगडंडी-मार्ग के समान है, पगडंडी मार्ग के आलम्बन से जैसे सुख पूर्वक बड़े पर्वत के ऊपर भी चढ़ सकते हैं, वैसे निष्कलंक-अतिचार रहित इस विशेष धर्म का पालन करने वाला गृहस्थ भी सर्व विरति रूप चारित्र को सुखपूर्वक प्राप्त कर सकता है।" धर्म बिन्दु में अध्याय तीन में कहा है कि -

पदं पदेन मेधावी, यथाऽऽरोहति पर्वतम् ।
सम्यक् तथैव नियमा-द्वीरश्चारित्र पर्वतम् ॥१७॥

अर्थात् - "बुद्धिमान मनुष्य एक एक कदम चलते पर्वत पर चढ़ जाता है, वैसे श्रावक धर्म का सम्यग् प्रकार से पालन करने वाला धीर पुरुष निश्चय से चारित्र पर्वत (शिखर) पर चढ़ सकता है।"

पहले थोड़े थोड़े गुणों की आराधना करके फिर बहुत बड़े गुणों की आराधना करना न्याय युक्त समझा जाता है, इसलिए यहाँ प्रथम गृहस्थ धर्म के स्वरूप का वर्णन किया है। धर्म बिन्दु के तीसरे अध्ययन में कहा है कि -

स्तोकान् गुणान् समाराध्य, बहूनामपि जायते ।
यस्मादाराधना योग्य-स्तस्मादादावयं मतः ॥६८॥

अर्थात् - "प्रथम थोड़े-थोड़े गुणों की आराधना करके फिर आत्मा बड़े-बड़े गुणों की आराधना के लिए भी योग्य बनता है। इसलिए गृहस्थ धर्म को पहले कहा है।"

यह न्याय भी अमुक के आश्रित के द्वारा ही कहा है क्योंकि तथा प्रकार विशिष्ट अध्यवसायों के योग से निर्बल बना हुआ चारित्र मोहनीय कर्म वाले श्री स्थुलिभद्र जी आदि अनेक पूर्व पुरुषों को गृहस्थ धर्म के बिना ही उत्तम सर्वविरति चारित्र की प्राप्ति हुई थी- ऐसा शास्त्र में सुना जाता है। तथापि काल के तार तम्यता की अपेक्षा से इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्रम के अनुसार आचरण करना योग्य है, क्योंकि इस पंचम आरे में तो सम्यकत्व से आरंभ करके प्रतिमा पालन तक यथा शक्ति सर्व श्रावक धर्म की आराधना द्वारा चित्त का अभ्यास करने वाले जीव को ही साधु धर्म की प्राप्ति होती है। प्रतिमा पंचाशक में कहा है कि-

जुत्तो पुण एस कमो ओहेणं संपयं विसेसेणं ।
जम्हा असुहो कालो, इरणुचरो संजमो एत्थ ॥४६॥

अर्थात्-"यद्यपि पूर्व कहा वैसे श्रावक धर्म में प्रतिमा पालन पूर्वक साधु धर्म की योग्यता प्राप्त करने के लिए यह क्रम ओघ से- सामान्य रूप में योग्य है, एकान्त नहीं है, उसमें भी वर्तमान काल में तो यह विशेषतया योग्य है। क्योंकि अभी पांचवां आरा खराब होने से संयम का पालन दुष्कर (कष्ट साध्य) है। इसलिए दीक्षार्थी को गृहस्थ धर्म में प्रतिमा का अभ्यास करते हुए आत्मा को योग्य बनाना चाहिए।

इस तरह परम भट्टारक श्री विजयानंद सूरि जी शिष्य पंडित प्रवर श्री शान्ति विजय गणि के चरणोपासक महोपाध्याय श्रीमान विजय गणि विरचित स्वोपज्ञ श्री धर्मसंग्रह के दूसरे भाग में 'गृहस्थ का विशेष धर्म' नामक अधिकार का श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानन्द सूरिश्वर जी के दिव्य कृपा पात्र अनेक तीर्थ उद्धारक आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द सूरिश्वर के शिष्य पन्यास पद्म विजय ने हिन्दी अनुवाद वीर सं० २५१६, पोष वदी १२ श्री चन्द्रप्रभ स्वामी के जन्म कल्याणक महोत्सव के दिन दिनांक २१-१२-९२ सोमवार को तमिलनाडु की राजधानी मद्रास नगर के अन्दर आराधना भवन, ३५१, मिंट स्ट्रीट, मद्रास- ७९ में यह ग्रन्थ पूर्ण किया।

इस तरह इस ग्रंथ की संस्कृत टीका के श्लोक प्रमाण ९४२३ गिने जाते हैं। इति श्री धर्म संग्रह द्वितीय भाग समाप्त।

卐 श्रोतु वाचकयो शुभं भूयात् 卐

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

For Private and Personal Use Only